

अध्ययन बोर्ड समिति

डॉ. गिरिजा प्रसाद पाण्डे, प्रोफेसर इतिहास एवं निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा,

अध्यक्ष

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रोफेसर रविन्द्र कुमार, इतिहास विभाग, समाज विज्ञान विद्याशाखा, इग्नू, नई दिल्ली

सदस्य

डॉ. लाल बहादुर वर्मा, प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सदस्य

डॉ. रामेश्वर प्रसाद बहुगुणा, इतिहास विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली

सदस्य

डॉ. मदन मोहन जोशी, सहायक प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास,

सदस्य

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम संयोजन एवं संपादन

डॉ. मदन मोहन जोशी, सहायक प्रोफेसर एवं समन्वयक इतिहास,

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

हल्द्वानी, नैनीताल

ईकाई लेखन

ब्लाक एक-

आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन परंपरा: इलियास हुसैन, असिस्टेंट प्रोफेसर, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

ब्लाक दो-

यूरोपीय प्रतिस्पर्धा एवं ब्रिटिश उच्चता: समर रिजवी, असिस्टेंट प्रोफेसर, आ. नरेन्द्र देव कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

ब्लाक तीन-

औपनिवेशिक विस्तार: डॉ. बी. एम. पाण्डेइय, इतिहास विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर विद्यालय, रामनगर, जनपद, नैनीताल

ब्लाक चार-

आधुनिक भारत का इतिहास: भारतीय प्रतिक्रिया एवं प्रत्युत्तर: सौरभ बाजपेई, सेण्टर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

ब्लाक पाँच-

आधुनिक भारत का इतिहास: आर्थिक पराभव: कुमार नलिन, एन.सी.डब्ल्यू.ई.बी., दिल्ली विश्वविद्यालय

ब्लाक छह-

आधुनिक भारत का इतिहास: नवीन भारत का उद्भव: संजीव कुमार, असिस्टेंट प्रोफेसर, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

ब्लॉक सात-

संकल्पनाएं, विचार तथा शब्दावली: जी.एम. जैसवाल. अवकाश प्राप्त आचार्य, कुमाऊं विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रकाशन वर्ष: मई 2013

कापी राइट:/ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

संस्करण: सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति

प्रकाशक: कुल सचिव उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल

उत्तराखण्ड ।

प्रकाशन वर्ष: मई 2013

कापी राइट:/ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

संस्करण: सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन प्रति

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी

प्रकाशक: कुल सचिव

आधुनिक भारत का इतिहास

		पृष्ठ संख्या
ब्लाक एक-	आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन परंपरा	7-52
इकाई एक-	आधुनिक भारतीय इतिहास की स्रोत सामग्री	8-18
इकाई दो-	भारतीय इतिहास एवं इतिहास लेखन का औपनिवेशिक मत	19-31
इकाई तीन-	स्वातंत्र्य-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन-आर.सी.दत्त एवं दादा भाई नौरोजी	32-42
इकाई चार-	भारतीय इतिहास लेखन में अधुनातन वृत्तियां-परम्परावादी,सम्प्रदायवादी,राष्ट्रवादी तथा मार्क्सवादी	43-54
ब्लाक दो-	यूरोपीय प्रतिस्पर्धा एवं ब्रिटिश उच्चता	55-106
इकाई एक-	भारत में यूरोपीयों का आगमन	56-68
इकाई दो-	ऑग्ल-फ्रॉसीसी स्पर्धा और कर्नाटक युद्ध	69-82
इकाई तीन-	बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना और द्वैध शासन	83-94
इकाई चार-	अंग्रेज और मैसूर का राज्य	95-106
ब्लाक तीन	औपनिवेशिक विस्तार	107-167
इकाई एक-	अंग्रेज और मराठे	108-126
इकाई दो-	बर्मा के साथ अंग्रेजों के सम्बन्ध	127-140
इकाई तीन-	सिक्खों के साथ अंग्रेजों के सम्बन्ध	141-158
इकाई चार-	सिन्ध की विजय	159-167
ब्लाक चार-	आधुनिक भारत का इतिहास: भारतीय प्रतिक्रिया एवं प्रत्युत्तर	168-221
इकाई एक-	1857 का विद्रोह: 1857 के पूर्व के विद्रोह, 1857 का विद्रोह: कारण, प्रमुख नेता, घटनाएँ एवं प्रसार, प्रकृति, असफलता के कारण एवं परिणाम	169-184
इकाई दो-	औपनिवेशिक राज्य के उपकरण: सेना,पुलिस एवं कानून	179-196
इकाई तीन-	लोकप्रिय प्रतिरोध: संथाल विद्रोह(1857), नील विद्रोह(1860)डेक्कन दंगे(1875)	197-210
इकाई चार-	आधुनिक भारत में धर्म तथा समाज सुधार आंदोलन	211-221
ब्लाक पाँच	आधुनिक भारत का इतिहास: आर्थिक पराभव	222-292
इकाई एक-	भू-राजस्व व्यवस्था एवं वन नीति	223-236
इकाई दो-	वाणिज्यीकरण, ऋणग्रस्तता एवं अकाल	237-254

इकाई तीन-	ग्रामीण समाज: परिवर्तन एवं निरंतरता	256-264
इकाई चार-	व्यापार एवं राजकोषीय नीति , अव-औद्योगीकरण, धन का पलायन, महिला प्रश्न	265-292
ब्लाक छह-	आधुनिक भारत का इतिहास: नवीन भारत का उद्भव	293-379
इकाई एक-	शिक्षा: घरेलू एवं आधुनिक	293-313
इकाई दो-	दलित आन्दोलन और डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ,द्रविड़ आंदोलन	314-338
इकाई तीन-	आधुनिक उद्योगों की संवृद्धि	339-360
इकाई चार-	प्रेस एवं समाचार पत्र	361-379
ब्लाक सात-	संकल्पनाएं ,विचार तथा शब्दावली	380-443
इकाई एक-	चौथ, सरदेशमुखी, महाराष्ट्र धर्म,अष्ट-प्रधान, सेना कर्ते, पेशवा, क्षत्रपति,हिन्दू-पाद-पादशाही, मराठा-संघ, देशमुख	381-396
इकाई दो-	उपनिवेशवाद, मुक्त व्यापार, कारखाना, द्वैध शासन, साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद,वाणिज्यवाद	397-411
इकाई तीन-	महाजनी, ब्लैकहोल, दस्तक, भूस्वामी, रैयत, निलहे, ठगी प्रथा, गोद प्रथा,निस्पुन्दन सिद्धान्त	412-428
इकाई चार-	पुनर्जागरण, अन्धविश्वास, थियोसोफिस्ट, शुद्धि आन्दोलन, देवदासी, वुड्स डिस्पैच, सिविल सेवा, गवर्नर जनरल।	429-446

पुस्तक परिचय

प्रिय छात्र / छात्रा

आपको बी.ए. प्रथम वर्ष की पुस्तकों द्वारा भारत के प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास की जानकारी दी गयी थी। आशा है, आपने प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत से संबंधित तथ्यों को भली प्रकार आत्मसात कर लिया होगा। भारत का आधुनिक इतिहास भी बड़ा रोचक है। इस पुस्तक के द्वारा आपको आधुनिक भारत के इतिहास का परिचय दिया जा रहा है। आपने यह तो सुना ही होगा कि भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ ही भारत ब्रिटेन का गुलाम बन गया और अंग्रेजों ने भारत का शोषण एक उपनिवेश के रूप में किया। उपनिवेशवाद में शासित प्रजा के जीवन को प्रभावित करने वाली आधारभूत नीतियों का निर्धारण तथा उनका क्रियान्वयन औपनिवेशिक शक्ति के हितों को ध्यान में रखकर, औपनिवेशिक शासकों की राजधानी में किया जाता है। औपनिवेशिक शक्तियां अधीनस्थ प्रजाजनों के साथ किसी भी प्रकार के सांस्कृतिक समझौते को अस्वीकृत करती हैं, क्योंकि वो खुद को उनसे श्रेष्ठ मानती हैं और यह भी समझती हैं कि, उन्हें शासित शक्तियों पर शासन करने का नैतिक अधिकार है। उपनिवेशवाद के निहितार्थों में उपनिवेश के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, उपनिवेशों के लिए नए बाजार का निर्माण तथा उपनिवेशकों की जीवन शैली को अपनी राष्ट्रीय सीमा से परे विस्तारित करना सम्मिलित है। 'व्हाइट मैन्स बर्डेन' श्वेतों द्वारा उपनिवेशों की स्थापना के बाद वहां के निवासियों के मध्य अपनी संस्कृति के प्रचार-प्रसार को न्यायोचित ठहराने का प्रयास था। यह यूरोपीय जातियों का स्व-आरोपित नैतिक दायित्व था जिसके अनुसार वे अपना कर्तव्य मानती रहीं कि अश्वेत जातियों, विशेषकर अधीनस्थ उपनिवेशों की प्रजा का नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उत्थान उन्हीं को करना है। रुडयार्ड किपलिंग ने अपनी एक कविता में श्वेत जाति के इस नैतिक दायित्व का उल्लेख किया था।

शासकों की 'ग्रीड फ़ॉर गोल्ड एण्ड लस्ट फ़ॉर ग्लोरी' की भावना ने साम्राज्यवाद को प्राचीन काल से ही पोषित किया है। ईरान के साइरस, मैसीडोनिया के एलेक्जेंडर दि ग्रेट, चीन के चिन शी हुआंग, पवित्र रोमन सम्राट चार्ल्स दि ग्रेट और मंगोलिया के चंगेज खां ने अपने सैन्य बल द्वारा विशाल साम्राज्यों की स्थापना की। विश्व-इतिहास में केवल सम्राट अशोक को हम धार्मिक एवं सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रतिनिधि कह सकते हैं। आधुनिक काल में ब्रिटिश साम्राज्य ही एक ऐसा साम्राज्य था जिसमें सूरज कभी डूबता नहीं था। स्पेनिश, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, इटैलियन, बेल्जियन, डच आदि यूरोपीय शक्तियों ने अमेरिका, एशिया और अफ्रीका में अपने उपनिवेश स्थापित कर पराधीन राष्ट्रों की एक अटूट श्रृंखला स्थापित कर दी थी।

आधुनिक उपनिवेशवाद का आरम्भ भौगोलिक खोजों के युग के साथ हुआ। स्पेन और पुर्तगाल ने समुद्र पार नए भू-क्षेत्रों की खोज की और उन्हें जीत कर वहां अपने व्यापारिक बन्दरगाहों की स्थापना की। यूरोपीय औपनिवेशिक काल 15 वीं से 19 वीं शताब्दी तक था। 15 वीं शताब्दी में पुर्तगाल, स्पेन, ब्रिटेन, नीदरलैंड्स और फ्रांस आदि यूरोपीय देशों ने एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका में अपने उपनिवेशों की स्थापना की थी। प्रारम्भ में औपनिवेशिक शक्तियों ने अपने गृह-क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए वाणिज्यवादी नीतियों का पालन किया और यह सुनिश्चित किया कि उनके उपनिवेशों के बाह्य व्यापार पर उनका एकाधिकार हो, (उनके उपनिवेश केवल उनके गृह क्षेत्र के साथ व्यापार करने के लिए बाध्य हों) और उनकी प्रतिद्वन्दी शक्तियां उनके उपनिवेशों में किसी भी प्रकार की व्यापारिक गतिविधियां न कर सकें। भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी युद्धों का कारण भारत में अपना-अपना व्यापारिक एकाधिकार स्थापित करना था। 19वीं शताब्दी के मध्य तक शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य ने वाणिज्यवादी व्यापारिक प्रतिबन्धों का परित्याग कर सीमा-शुल्कों पर सीमित प्रतिबन्धों वाली मुक्त-व्यापार की नीति अपना ली। भारत ब्रिटेन का सबसे बड़ा उपनिवेश था। उपनिवेशों के व्यापार पर एकाधिकार करने, उनकी औद्योगिक प्रगति में अवरोध डालने, उपनिवेशों की कृषि के व्यावसायीकरण करने, की नीति के उदाहरण हम भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बाद देख सकते हैं।

यूरोपीय पुनर्जागरण ने विश्व को और भारतीय पुनर्जागरण ने भारत को आधुनिक युग की प्रगतिशील धारा में प्रविष्ट कराया। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय सुधारकों ने धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में व्याप्त अंधविश्वासों के उन्मूलन हेतु सार्थक प्रयास किए। थियोसोफ़िस्ट रहस्यवादी विचारधारा में आस्था रखता है। श्रीमती एनीबीसेन्ट ने थियोसोफ़िकल सोसायटी के माध्यम से भारतीय पुनरुत्थानवादी आन्दोलन को सशक्त बनाया। हिन्दू पुनरुत्थान के पक्षधर आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन द्वारा धर्मपरिवर्तन करने वालों की हिन्दू समाज में प्रविष्टि को सम्भव बनाया। प्राचीन काल से चली आ रही देवदासी प्रथा धार्मिक विकृति और नारी के शोषण का उदाहरण थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से सुधारकों द्वारा इस कुप्रथा के उन्मूलन हेतु प्रयास किए गए। भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति का दूसरा महत्वपूर्ण चरण वुड्स डिस्पैच था। इसमें निस्युन्दन सिद्धान्त के स्थान पर जन-साधारण में शिक्षा प्रसार की नीति अपनाई गई थी। इण्डियन सिविल सर्विस ब्रिटिश भारतीय शासन-तन्त्र का एक प्रमुख आधार थी। इसके सदस्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के रक्षक थे। 1773 से लेकर 1833 तक बंगाल का गवर्नर जनरल और 1833 से 1950 तक भारत का गवर्नर जनरल भारत का सर्वोच्च प्रशासक रहा। 1858 से यह ब्रिटिश ताज के प्रतिनिधि के रूप में वाइसराय भी कहलाया।

उपनिवेशों में शासित जनता ने राष्ट्रवादी भावना का पोषण कर अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। 1857 के विद्रोह में हजारों भारतीयों ने विविध तरीकों से अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष किया। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में, जैसे- उर्दू पत्र पयामे आज़ादी के कौमी तराने में राष्ट्रवादी भावना के दर्शन होते हैं। बंकिमचन्द्र चटर्जी रचित 'वन्दे मातरम्' गीत, इक़बाल का कौमी तराना 'सारे जहां से अच्छा', हमारा तिरंगा, 'जय हिन्द' का नारा आदि भारत में राष्ट्रवाद की भावना के प्रसार में सहायक सिद्ध हुए। आर्थिक राष्ट्रवाद के उदय ने भारत में आर्थिक स्वदेशी की भावना का विकास किया। आगे चलकर भारत में राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक आत्मनिर्भरता की भावना के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता का भी विकास हुआ और अंततः भारत गुलामी से मुक्त हुआ।

प्रिय छात्र / छात्रा , इस पुस्तक का आप पूरे मनोयोग से अध्ययन करें और अपनी जानकारी को बढ़ायें । आपके सफल भविष्य के लिए समस्त शुभकामनाओं सहित

ब्लॉक एक- आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन परंपरा

- इकाई एक- आधुनिक भारतीय इतिहास की स्रोत सामग्री
- इकाई दो- भारतीय इतिहास एवं इतिहास लेखन का औपनिवेशिक मत
- इकाई तीन- स्वातंत्र्य-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन-आर.सी.दत्त एवं दादा भाई नौरोजी
- इकाई चार- भारतीय इतिहास लेखन में अधुनातन वृत्तियां-परम्परावादी, सम्प्रदायवादी, राष्ट्रवादी तथा मार्क्सवादी

आधुनिक भारतीय इतिहास की स्रोत सामग्री

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 आधुनिक भारतीय इतिहास के औपनिवेशिक स्रोत
 - 1.3.1 अधिनियम एवं कानून
 - 1.3.2 सरकारी रिपोर्ट
 - 1.3.3 गैर-सरकारी सामग्री
- 1.4 आधुनिक भारतीय इतिहास के देशी स्रोत
 - 1.4.1 भारतीय पुनर्जागरण के स्रोत
 - 1.4.2 विद्रोहों, किसान आन्दोलनों एवं जनजाति संघर्षों से संबन्धित सामग्री
 - 1.4.3 राष्ट्रीय आन्दोलन के दस्तावेज़
- 1.5 समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ
- 1.6 सारांश
- 1.7 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारत में आधुनिक इतिहास लेखन का आरम्भ ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के साथ जुड़ा हुआ है। ऐसा भी नहीं है कि ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व भारतीयों में इतिहास दर्शन का पूर्णतः अभाव था। फिर भी स्रोतों की खोज तथा उनके अध्ययन एवं विश्लेषण के आधार पर इतिहास लिखने की एक आधुनिक परम्परा का आरम्भ भारत में उन्नीसवीं शताब्दी तक नहीं था। प्राचीन भारत में जहाँ तथ्यों एवं कालक्रम को महत्व नहीं दिया जाता था, वहीं फारसी में लिखित मध्यकालीन इतिहास में तथ्यों की सत्यता की जाँच का कोई तरीका विकसित नहीं हुआ। इसके विपरीत यूरोप में आधुनिकता के उदय ने एक नवीन इतिहास चेतना को जन्म दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इतिहासकार रैंके ने इतिहासकारों का आह्वान करते हुए कहा कि हमें इतिहास का वह रूप दिखाना चाहिए जैसा वह सचमुच था। इस विचार ने यूरोप में इतिहास लेखन के लिये तथ्यों के संकलन को सबसे महत्वपूर्ण बना दिया। शीघ्र ही यह विचार कि सही इतिहास केवल तथ्यों के आधार पर ही लिखा जा सकता है, महत्वपूर्ण हो गया। इस विचार ने इतिहास लेखन में स्रोतों के महत्व को सर्वोपरि बना दिया। भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना के साथ यह विचार आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन का वैचारिक आधार बन गया। शीघ्र ही यूरोप की भाँति भारत में भी संग्रहालयों की स्थापना की जाने लगी जहाँ सरकारी दस्तावेजों को

रखा जाता था. 20सवीं सदी तक इतिहास लेखन में सरकारी स्रोतों के अतिरिक्त अन्य सामग्री का भी प्रयोग इतिहास लेखन में किया जाने लगा. आगे हम आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन के विभिन्न स्रोतों के बारे में जानेंगे.

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आधुनिक भारत के इतिहास लेखन के विभिन्न स्रोतों के बारे में जानकारी प्राप्त करना है. ये स्रोत प्राथमिक रूप से दो भागों में बाँटे जा सकते हैं – सरकारी और गैर-सरकारी दस्तावेज़. सरकारी दस्तावेज़ों में विभिन्न अधिनियम एवं कानून, सरकारी रिपोर्ट, अधिकारियों के पत्र तथा पुलिस एवं गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट आदि को शामिल किया जा सकता है. वहीं गैर-सरकारी स्रोतों में अधिकारियों के निजी पत्रों एवं समाचार पत्रों को रखा जायेगा. आधुनिक भारतीय इतिहास के स्रोतों को औपनिवेशिक एवं देसी स्रोतों के आधार पर भी वर्गीकृत कर सकते हैं. औपनिवेशिक स्रोतों में सरकार, सरकारी अधिकारियों एवं दूसरे कर्मचारियों से जुड़ी सरकारी एवं गैर-सरकारी सभी सामग्री को रखा जायेगा. देशी स्रोतों में मुख्य रूप से विद्रोहों, किसान एवं जनजाति आन्दोलनों एवं राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ी सामग्री आती है. इसके अलावा क्षेत्रीय भाषाओं के अखबारों एवं साहित्य की भी राष्ट्रीय आन्दोलन में अहम भूमिका रही है. आगे इन सभी के बारे में हम विस्तार से चर्चा करेंगे.

1.3 आधुनिक भारतीय इतिहास के औपनिवेशिक स्रोत

भारत में ब्रिटिश शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा 1757 ई. में प्लासी की सफलता के साथ आरम्भ हुआ. हम जानते हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटिश सरकार द्वारा संचालित नहीं थी जैसे कि फ्रांसीसी कम्पनी थी. अतः बंगाल स्थित गवर्नर को इंग्लैण्ड में बैठे अपने आकाओं से लगातार निर्देश लेने होते थे. साथ ही भारत शासन से सम्बन्धित प्रत्येक जानकारी एवं सूचना को भेजना भी अनिवार्य था. 1773 ई. के रेग्यूलेटिंग एक्ट के माध्यम से एवं इसके पश्चात दूसरे अधिनियमों के ज़रिये ब्रिटिश सरकार ने भी भारत के शासन पर नियंत्रण करना आरम्भ कर दिया. 1857 के पश्चात तो भारत का शासन सीधे ब्रिटिश संसद के अधीन हो गया. इस सब के परिणामस्वरूप विशाल लिखित स्रोत सामग्री इतिहासकारों के लिये उपलब्ध हो सकी. इस खण्ड में हम इसी सामग्री का अध्ययन करेंगे.

1.3.1 अधिनियम एवं कानून

भारत में कम्पनी राज के एकदम आरम्भिक काल (1757-1772) के पश्चात भारत का ब्रिटिश शासन ब्रिटिश संसद के निर्देशन एवं नियंत्रण से ही चलता था. ब्रिटिश क्राउन ने 1599 ई. में कम्पनी को भारत में व्यापार का एकाधिकार दिया था. तभी से कम्पनी इस एकाधिकार को बनाए रखने के लिये लगातार ब्रिटिश शासकों पर निर्भर थी. 18वीं सदी एवं 19वीं सदी के आरम्भ में हरेक बीस वर्ष के पश्चात कम्पनी को अपना एकाधिकार बनाए रखने के लिये संसद

की अनुमति प्राप्त करनी पड़ी थी. भारत में कम्पनी राज की स्थापना के पश्चात ब्रिटिश सरकार ने भारतीय शासन के लिये निर्देश देना भी आरम्भ कर दिया. सर्वप्रथम 1773 ई. में ब्रिटिश संसद ने रेग्यूलेशन पास कर कम्पनी के भारतीय शासन में हस्तक्षेप का आरम्भ किया. इसके माध्यम से बंगाल के गवर्नर जनरल की एक परिषद की स्थापना की गई तथा कलकत्ता में उच्चतम न्यायालय बना. परंतु यह अधिनियम भारतीय शासन को सुव्यवस्थित करने में नाकाम रहा, अतः शीघ्र ही 1784 ई. में पिट्स इंडिया एक्ट लाना पड़ा. इन अधिनियमों के माध्यम से इतिहासकार भारत के कम्पनी राज पर ब्रिटिश शासन के बढ़ते नियंत्रण का अध्ययन करते हैं. 19वीं शताब्दी के आरम्भ से ही भारत में कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार की आलोचना होने लगी थी. इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण ब्रिटेन में मुक्त व्यापार की विचारधारा के उदभव से था. एडम स्मिथ ने अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ 'दी वेल्थ ऑफ नेशंस' के माध्यम से इस विचारधारा को सशक्त आधार दिया था. ये विचार भारतीय शासन पर भी प्रभाव डाल रहे थे. फलस्वरूप 1813 ई. में कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को सीमित कर दिया गया और 1833 ई. में कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार को पूर्णतः समाप्त ही कर दिया गया. ब्रिटेन में उदारवादी विचारधारा के उदय ने भी भारत पर एक व्यापारिक कम्पनी के शासन को कटु आलोचना का पात्र बना दिया था. 1857 के विद्रोह ने यह अवश्यंभावी बना दिया कि भारत का शासन ब्रिटिश क्राउन सीधे अपने हाथ में ले ले. अब भारत का शासन ब्रिटिश संसद प्रत्यक्ष रूप से एक वायसराय के माध्यम से चलाने लगी. परंतु उभरते राष्ट्रीय आन्दोलन के दबाव में लगातार भारतीय शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिये संसद को भारत सरकार अधिनियम पास करने पड़ते थे. इन अधिनियमों को पास करने के पूर्व संसद भारत की सरकार से व्यापक विचार-विमर्श करती थी. अधिनियमों को ब्रिटिश संसद में रखना पड़ता था जहाँ सदस्य प्रत्येक धारा पर बहस करते थे. इसप्रकार भारत में औपनिवेशिक राज से संबन्धित विशाल लिखित सामग्री एकत्र हो गयी. इसमें से अधिकांश सामग्री इंग्लैण्ड स्थित इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित है.

हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि भारत के दैनंदिन प्रशासन में हस्तक्षेप करना या इस पर नियंत्रण रखना संसद अथवा क्राउन के लिये भी सम्भव नहीं था. अतः भारत में शासन के मूलभूत सिद्धांत तो ऊपर वर्णित अधिनियमों द्वारा तय होते थे परंतु वास्तविक शासन एवं उसकी विभिन्न समस्याओं से वायसराय तथा ब्रिटिश अधिकारियों को ही दो-चार होना पड़ता था. अतः गवर्नर जनरल अथवा वायसराय की परिषद भारत पर शासन के लिये विभिन्न कानून या रेग्यूलेशन बनाती थी. आपने सती प्रथा समाप्त किये जाने वाले कानून के बारे में पढ़ा होगा. यह कानून गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक के समय में बना था. हम यह भी जानते हैं कि इस कानून को बनवाने के लिये राजा राममोहन राय के नेतृत्व में भारतीयों के एक वर्ग का भी सरकार पर दबाव था. इस तरह कुछ कानून तो भारतीयों की राय या सहमति से बनते थे, परंतु अधिकांशतः ऐसा नहीं था. उदाहरणस्वरूप बंगाल में स्थाई बन्दोबस्त लागू करने के लिये लार्ड कार्नवालिस ने भारतीयों की सलाह नहीं ली थी. बाद में भूराजस्व के दूसरे कानून बनाने में भी सरकार ने ब्रिटिश अधिकारियों के बीच ही विचार-विमर्श चलाया. फिर भी सरकारी अधिकारियों में भारत के प्रशासन को लेकर अक्सर काफी चर्चा होती थी. इसके परिणामस्वरूप सरकारी स्रोत सामग्री का

एक विशाल भंडार तैयार हो गया. इस तरह की अधिकांश सामग्री को कालांतर में अभिलेखागारों एवं पुस्तकालयों को स्थानांतरित कर दिया गया.

1.3.2 सरकारी रिपोर्टें

सरकारी रिपोर्टें दो तरह की होती हैं – एक तो दैनिक रिपोर्ट, जिसे मुख्यतः पुलिस या गुप्तचर विभाग द्वारा तैयार किया जाता था; दूसरी, किसी विशेष विषय के अध्ययन की रिपोर्ट. औपनिवेशिक शासन एक सुदृढ़ सूचना तंत्र के आधार पर टिका हुआ था. उपनिवेशवाद के प्रारम्भिक चरण में तो सूचना का मूल स्रोत भारतीय ही थे, परंतु धीरे-धीरे अंग्रेजों का भारतीयों से विश्वास उठ गया. इसका एक प्रमुख कारण 1857 का विद्रोह था. इस विद्रोह से सूचना के लिये भारतीयों पर निर्भरता की असफलता सामने आ गई. इसके अतिरिक्त राष्ट्रवाद के उदभव एवं विकास ने भी सूचनाओं के लिये भारतीयों पर पूर्ण निर्भरता को असम्भव बना दिया. अतः भारत सरकार ने सूचनाओं के लिये गुप्तचर विभाग का पुनर्गठन किया ताकि विद्रोही, राष्ट्रवादी एवं क्रांतिकारी भारतीयों की गतिविधियों की व्यापक जानकारी प्राप्त की जा सके और भारत में ब्रिटिश शासन को अक्षुण्ण बनाया जा सके. इन गुप्तचर सूचनाओं को प्रांतीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर विश्लेषित एवं संकलित करने की सुसंगठित प्रणाली थी. जिला स्तर पर सूचनाओं को एकत्र करने का कार्य लोकल इंटेलिजेंस अथवा पुलिस के हाँथ में था. इन सारी सूचनाओं का विश्लेषण एवं इन पर रिपोर्ट बनाने का कार्य गुप्तचर या पुलिस विभाग के अधिकारियों के ही पास होता था. इन रिपोर्टों से हमें न केवल सरकारी दृष्टिकोण का ही पता चलता है, बल्कि विद्रोहियों एवं आन्दोलनकारियों के संबन्ध में भी व्यापक जानकारी मिलती है.

एक दूसरे प्रकार की रिपोर्टें भी हैं, जिन्हें अक्सर भारत की विशिष्ट समस्याओं के परिपेक्ष में तैयार किया गया था. ये रिपोर्टें एकप्रकार से व्यापक अध्ययन के पश्चात् तैयार की जाती थीं. अतः विशिष्ट विषयों के अध्ययन के लिये इनका अत्यंत महत्व है. ऐसी नियमित रिपोर्टें में भारतीय जनगणना सम्बन्धी रिपोर्टें हैं, जिन्हें सेंसस रिपोर्ट कहा जाता है. ब्रिटिश भारत में पहली जनगणना 1872 ई. में हुई, परंतु राष्ट्रीय स्तर पर पहली व्यापक जनगणना 1882 से आरम्भ हुई. इसके पश्चात् तो प्रत्येक दस वर्षों के अंतराल पर भारत में जनगणना होती थी. इन जनगणनाओं के माध्यम से न केवल भारतीय जनानुकी एवं उसमें परिवर्तनों का ही अध्ययन किया जा सकता है, बल्कि भारतीय जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय एवं भाषाई विभिन्नताओं को भी जाना जाता है. दरअसल ब्रिटिश शासन ने भारतीय जनगणना में जाति एवं धर्म को एक प्रमुख पहचान की भाँति प्रयोग किया जबकि यूरोप में ऐसा नहीं किया गया था. इस तरह भारतीयों को पहचानों में बाटने से कालांतर में साम्प्रदायिक एवं जातीय राजनीति को प्रोत्साहन ही मिला. जनगणना के अलावा कुछ दूसरी रिपोर्टें भी बनाई गई जो नियमित तो नहीं थीं, परंतु किसी भी तरह कम महत्व की नहीं थीं. उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में भारत में भीषण अकाल पड़े थे. भारतीय समाचार पत्रों में इन अकालों के लिये ब्रिटिश नीति को दोषी ठहराया जा रहा था. सरकार ने इन आलोचनाओं का जवाब देने के लिये अकाल कमीशन का गठन किया, जिन्होंने भारतीय कृषि,

मानसून एवं फसलों का अध्ययनकर महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराई. इसीप्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था तथा उद्योगों के अध्ययन के लिये भी कमीशनों का गठन किया गया.

1.3.3 गैर-सरकारी सामग्री

निश्चित ही औपनिवेशिक काल के अध्ययन के लिये हमारे पास विशाल सरकारी स्रोत सामग्री का भंडार है, परंतु इस काल के लिये गैर-सरकारी स्रोतों की भी कमी नहीं है. गैर-सरकारी स्रोतों में ब्रिटिश भारत के प्रशासन से जुड़े अधिकारियों के भारत-सम्बन्धी अध्ययनों, अधिकारियों के आपसी एवं निजी पत्र-व्यवहार तथा आत्मकथाओं आदि को रखा जा सकता है. भारत में उपनिवेशवाद के आरम्भिक चरण के अनेक अधिकारियों की भारत को जानने में गहरी रूचि थी. इन अधिकारियों को अक्सर प्राच्यवादी (Orientalist) कहा गया है. इनमें से अनेक ने भारतीय धर्मों, समुदायों, भाषाओं, साहित्य एवं संस्कृति का गहन अध्ययन किया और पुराने इतिहास ग्रंथों को प्रकाश में लाने की महति भूमिका अदा की. अगले अध्याय में हम इन अधिकारियों एवं इनके अध्ययनों के बारे में कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे. यहाँ हमारे लिये ये बात जान लेने की है कि उनके अध्ययनों से हमें उपनिवेशवाद के उस चरण में अंग्रेज शासकों की विचारधारा पर व्यापक सामग्री मिल जाती है.

गैर-सरकारी स्रोतों में सबसे महत्वपूर्ण शासकों एवं महत्वपूर्ण अधिकारियों के निजी पत्र एवं आत्मविवरण तथा आत्मकथाएँ आती हैं. ऐसे निजी पत्र एवं विवरण अक्सर अप्रकाशित ही रह जाते हैं. अतः इतिहास लेखन के लिये उन्हें प्राप्त करना एवं उनका प्रयोग इतिहासकार के निजी प्रयासों तक सीमित है. फिर निजी पत्रों एवं विवरणों की सूचनाओं की वस्तुनिष्ठता की जाँच करना भी आसान कार्य नहीं है. फिर भी, ये हमारे लिये अधिक महत्व के इसलिये है क्योंकि इनसे अक्सर जो सूचनाएँ मिलती हैं वे अन्यत्र उपलब्ध ही नहीं होती. इस प्रकार के कुछेक स्रोतों को प्राप्त कर विभिन्न पुस्तकालयों में रखा गया है जहाँ इनका अध्ययन किया जा सकता है. इतिहासकारों ने अनेक पुराने निजी पत्रों एवं लेखों को संपादित अथवा पुनर्संपादित कर प्रकाशित भी किया है.

1.4 आधुनिक भारतीय इतिहास के देशी स्रोत

जहाँ सरकारी एवं गैर-सरकारी औपनिवेशिक स्रोत सामग्री भारत में ब्रिटिश नीतियों, औपनिवेशिक विचारधाराओं, शासकों की निजी सोच आदि के अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण है वहीं भारतीय स्रोत सामग्री से उपनिवेशवाद के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया का पता चलता है. निश्चित ही यह प्रतिक्रिया एक तरह की नहीं थी. भारतीयों के एक वर्ग ने ब्रिटिश शासन का स्वागत किया, क्योंकि उनका मानना था कि आधुनिक पश्चिमी सभ्यता अधिक विकसित एवं प्रगतिशील है. एक अन्य वर्ग, जो कहीं अधिक जागरूक था, ने पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुकरण नहीं किया, वरन् तर्क एवं बुद्धि के आधार पर इसका विश्लेषण किया. इस वर्ग का भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं अतीत में भी विश्वास था. अतः इन्होंने पूर्व एवं पश्चिम के विलय

से आधुनिक भारतीय सभ्यता के विकास की वकालत की. तीसरे वर्ग में हम उन भारतीयों को रख सकते हैं जिन्होंने आधुनिक सभ्यता का विरोध किया. ये तीनों ही विचारधाराएँ विभिन्न विद्रोहों एवं आन्दोलनों में देखी जा सकती हैं. आगे हम भारतीय प्रतिक्रिया से सम्बन्धित सामग्री का विश्लेषण करेंगे.

1.4.1 भारतीय पुनर्जागरण के स्रोत

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना भारत में आधुनिक सभ्यता का आरम्भ भी था. अतः भारतीयों के एक वर्ग ने पुरानी पड़ चुकी और सड़ी-गली मान्यताओं को त्यागने के लिये आन्दोलन किये. इसका अर्थ यह कदापि नहीं था कि भारतीयों ने आधुनिकता को उसी रूप में स्वीकार कर लिया जैसे यूरोप में उसका विकास हुआ था. तथापि भारतीय पुनर्जागरण के वाहकों ने प्राचीन भारतीय सभ्यता के साथ-साथ आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का मूल्यांकन किया. अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिये इन भारतीयों ने अनेक संगठनों की स्थापना की. इन संगठनों की प्रत्येक कार्यवाही को लिखित रूप से रखा जाता था. हमें ब्रह्म समाज, देव समाज, प्रार्थना समाज आदि संगठनों के लिखित दस्तावेज उपलब्ध हैं. इन संगठनों एवं इनके नेताओं ने अपनी मांगों को लेकर ब्रिटिश सरकार को मांगपत्र अथवा ज्ञापन दिये. भारतीय पुनर्जागरण के नेता अपने विचारों एवं मांगों को प्रचारित करने के लिये पत्र-पत्रिकाएँ भी निकालते थे. उदाहरणस्वरूप राममोहनराय ने अपने विचारों के प्रसार के लिये मिरात-उल-अखबार एवं संवाद कौमुदी नामक पत्र निकाले. इसप्रकार भारतीय पुनर्जागरण के सम्बन्ध में हमें व्यापक सामग्री मिलती है.

1.4.2 विद्रोहों, किसान आन्दोलनों एवं जनजाति संघर्षों से संबन्धित सामग्री

भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के आरम्भ से ही भारतीयों ने उपनिवेशवाद का विरोध करना आरम्भ कर दिया. ब्रिटिश विरोधी आरम्भिक संघर्षों में किसान आन्दोलनों, जनजातियों के संघर्षों के अलावा संगठित एवं गैर-संगठित विद्रोहों को रखा जाता है. इसप्रकार का पहला ब्रिटिश विरोधी संघर्ष बंगाल का सन्यासी विद्रोह या फ़कीर आन्दोलन था. यह संभवतः असंगठित विद्रोह था. संगठित विद्रोह में हम वहाबी आन्दोलन को रख सकते हैं, जिसका उद्देश्य भारत में एक मुस्लिमराज की स्थापना करना था. फिर भी इन आन्दोलनों को संगठित एवं गैर-संगठित जैसी श्रेणियों में विभाजित करना त्रुटिपूर्ण हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के अधिकांश विद्रोहों के लिखित दस्तावेज या तो नहीं मिलते या अति अल्प हैं. ऐसी समस्या का सामना इतिहासकारों को इसप्रकार के सबसे व्यापक विद्रोह यथा – 1857 के विद्रोह में भी करना पड़ता है. फिर भी इतिहासकारों ने इन विद्रोहों के अध्ययन के लिये नवीन सामग्रियाँ खोज निकाली हैं. भले ही सरकार की भाषा (अंग्रेज़ी) में विद्रोहों के सम्बन्ध में व्यापक जानकारी न मिले, क्षेत्रीय भाषाओं एवं दूसरी जनभाषाओं में विद्रोह के वर्णन भरे पड़े हैं. विशेषकर 1857 पर व्यापक एवं

नवीन जानकारी उर्दू के स्रोतों से पता चली है. 1857 का विद्रोह निश्चित ही ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध व्यापक जनचेतना का परिणाम था. यह जनचेतना लोक गीतों एवं लोक स्मृतियों में अभिव्यक्त हुई. इन लोकगीतों एवं लोकस्मृतियों के कुछ प्रमाण हमें आज भी उन इलाकों की बोलियों एवं भाषाओं में मिल जाते हैं. जिनका अध्ययनकर इन विद्रोहों में शामिल लोगों तथा इससे सहानुभूति रखने वालों की चेतना एवं मानसिकता का अध्ययन किया जा सकता है.

ऊपर हमने विद्रोहों के दस्तावेजों की कमी के सम्बन्ध में जिस समस्या की चर्चा की है, वही समस्या कही व्यापक रूप से किसान एवं जनजाति आन्दोलनों के सन्दर्भ में सामने आती है. किसान और जनजाति आन्दोलन के नेता या इसमें भाग लेने वाले पढ़े-लिखे नहीं थे. अतः इन आन्दोलनों के सम्बन्ध में क्षेत्रीय भाषा साहित्य भी मौन है. अतः इन आन्दोलनों के अध्ययन का एकमात्र साधन सरकारी स्रोत ही रहे हैं जो अक्सर विद्रोहियों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि ही रखते हैं. लोकगीतों एवं लोकस्मृतियों के अध्ययन से भी इन आन्दोलनों के बारे में बहुत कम जानकारी ही मिल पाती है. ऐसे में इतिहासकारों के एक वर्ग (सबअल्टर्न इतिहासकार) ने एक नया तरीका निकाला है. उन्होंने सरकारी स्रोतों के पुनराध्ययन एवं पुनर्व्याख्या को किसान एवं जनजाति आन्दोलनों के अध्ययन का माध्यम बनाया है. इस लेखन से कुछ उत्कृष्ट अध्ययन तो सामने आये हैं परंतु इन तरीकों को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है.

1.4.3 राष्ट्रीय आन्दोलन के दस्तावेज

भारत में राष्ट्रवाद का उदय आधुनिक चेतना तथा उपनिवेशवाद-विरोधी भावना के प्रसार का सम्मिलित प्रभाव था. राष्ट्रवाद की राष्ट्रीय स्तर पर अभिव्यक्ति के रूप में 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना हुई. हलांकि इससे पूर्व ही कुछ संगठन आधुनिक राष्ट्रवाद की विचारधारा से प्रभावित होकर स्थापित किये गये थे, जिनमें दादाभाई नौरोजी द्वारा लन्दन में स्थापित ईस्ट इंडिया एसोसिएशन तथा सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी द्वारा कलकत्ता में स्थापित इंडियन एसोसिएशन प्रमुख थीं. अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रतिवर्ष दिसम्बर माह में अपना वार्षिक अधिवेशन करती थी. इस अधिवेशन में विभिन्न प्रस्ताव पास किये जाते थे तथा सरकार को प्रत्यावेदन भेजे जाते थे. कालांतर में कांग्रेस ने आन्दोलन करना आरम्भ किया, तो आन्दोलनों से सम्बन्धित सभी निर्णय व्यापक विचार-विमर्श के पश्चात ही लिये जाते थे. इन सभी बहसों एवं निर्णयों को लिपिबद्ध किया गया था. अतः राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित व्यापक दस्तावेज इतिहास लेखन के लिये मौजूद हैं. अखिल भारतीय कांग्रेस के अलावा दूसरे दल भी थे, जो राष्ट्रीय आन्दोलन में या तो भाग ले रहे थे या अंग्रेजों के पिट्टे थे. इनमें मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा तथा अकाली दल आदि महत्वपूर्ण थे. इनमें से अधिकांश दलों की गतिविधियों के बारे में लिखित दस्तावेज उपलब्ध हैं. फिर भी कई संगठन गैर-कानूनी ढंग से अपनी गतिविधियाँ चलाते थे. इनमें मुख्यतः क्रांतिकारी संगठन एवं वामपंथी दल थे. हलांकि इन संगठनों में भी राष्ट्रवादी कार्यवाहियों के

निर्णय व्यापक बहस एवं चर्चा के पश्चात ही लिये जाते थे. परंतु गैर-कानूनी होने के कारण ये संगठन अक्सर अपने दस्तावेजों को नष्ट कर दिया करते थे. इन संगठनों का इतिहास जानने के स्रोत या तो इनके बचे-खुचे दस्तावेज या सरकारी रिपोर्टें हैं, जिनसे इन संगठनों की गतिविधियों के बारे में ज्ञात होता है.

राष्ट्रीय आन्दोलन एक अत्यंत व्यापक आन्दोलन था, अतैव इसमें काफी बड़ी संख्या में भारतीय जनता के प्रतिनिधियों ने भाग लिया. इनमें से अनेक ने अपने लेख, दस्तावेज तथा पत्र छोड़े हैं. उदाहरणस्वरूप केवल महात्मा गाँधी के लेखों एवं भाषणों को संकलित कर 100 खण्डों में छापा गया है. इसे कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी के नाम से प्रकाशित किया गया है. हिन्दी में इसके संक्षिप्त भाग को गाँधी वाग्मय के नाम से प्रकाशित किया जा चुका है. इसके अलावा सरदार पटेल एवं भीमराव अम्बेडकर के लेखों एवं उनसे सम्बन्धित सामग्री को भी छापा जा चुका है. राष्ट्रीय नेताओं के अलावा राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े अनेक क्षेत्रीय नेताओं के लेख एवं रचनाएँ भी इतिहासकारों के अध्ययन के लिये उपलब्ध हैं. अनेक प्रांतीय एवं स्थानीय अभिलेखागारों में राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित जानकारी के असंख्य दस्तावेज भरे पड़े हैं.

राष्ट्रवाद से सम्बन्धित संगठनों एवं नेताओं से सम्बन्धित सामग्री से हमें नेताओं एवं संगठनों की गतिविधियों, नीतियों एवं विचारधाराओं के बारे में तो जानकारी मिलती है, परंतु उन असंख्य लोगों के बारे में, जिन्होंने इस आन्दोलन में भाग लिया था, अधिक पता नहीं चलता. हाल में सबअल्टर्न इतिहासकारों ने राष्ट्रवाद से संबन्धित ऐसे सारे अध्ययनों की आलोचना करते हुए इसे इलीट इतिहास कहा है जिससे निम्न वर्ग (सबअल्टर्न) की चेतनाओं एवं आन्दोलन में उनकी भागीदारी के बारे में कुछ पता नहीं चलता है. इन इतिहासकारों ने निम्न वर्गों का इतिहास लिखने का दावा तो किया है परंतु अब तक वे इन वर्गों से सम्बन्धित नये स्रोत नहीं ढूँढ पाये हैं और उन्होंने पुराने स्रोतों की नवीन व्याख्या ही की है.

1.5 समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ

भारत में ब्रिटिश शासन के सुप्रभावों को यदि रेखांकित करना हो तो इनमें आधुनिक पत्रकारिता के आरम्भ को महत्वपूर्ण माना जा सकता है. हलांकि समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं का आरम्भ औपनिवेशिक शासन का सीधा परिणाम नहीं था, बल्कि भारत में आधुनिकता के प्रसार का नतीजा था. चूँकि राष्ट्रवादी विचारधारा का सीधा सम्बन्ध आधुनिकता से था, अतः आधुनिक चेतना के साथ-साथ भारत में राष्ट्रवाद का भी प्रसार हुआ. समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं का आरम्भ इसी चेतना के प्रसार का सीधा परिणाम था.

हलांकि सबसे पहले अखबार अंग्रेजों ने ही निकाले, परंतु शीघ्र ही भारतीयों ने भी अखबार निकालना आरम्भ कर दिया. भारतीयों ने पहले पहल अंग्रेजी एवं फारसी के समाचार

पत्र निकाले। जहाँ फारसी पुराने शासकों की सरकारी भाषा थी, वहीं अंग्रेजी नये शासकों की भाषा। स्पष्ट है कि इन पत्रों का उद्देश्य सीमित एवं पड़े-लिखे उच्च वर्ग की भावनाओं को अभिव्यक्त करना या उन्हें प्रभावित करना भर था। फिर भी फारसी के कुछ समाचार पत्र निश्चय ही ब्रिटिश विरोधी भावना भड़का रहे थे। सी.ए. बेयली ने अपने एक महत्वपूर्ण अध्ययन इम्पायर एण्ड इनफॉर्मेशन में यह विचार व्यक्त किया है कि 19वीं शताब्दी के आरम्भ में फारसी को सरकारी कामकाज की भाषा से हटाने में फारसी समाचार पत्रों का सरकार विरोधी रवैये का भी योगदान था। कुछ भी हो जैसे ही अंग्रेजी सरकारी कामकाज एवं शिक्षा की भाषा बन गई, बड़े पैमाने पर इस औपनिवेशिक भाषा में भारतीयों ने समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ निकालना आरम्भ कर दिया। राष्ट्रवादी भावना के प्रसार के साथ-साथ देशी भाषाओं में भी अखबार निकलने लगे। जहाँ अंग्रेजी के समाचार पत्र अधिक राजनयिक भाषा का प्रयोग करते थे, वहीं देशी भाषाओं में निकलने वाले समाचार पत्रों में ब्रिटिश शासन की अधिक तीखी आलोचना होती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक देशी भाषा के समाचार पत्र राष्ट्रवादी भावना के प्रसार का मुख्य माध्यम बन चुके थे। अतः ब्रिटिश राज ने उनकी आवाज़ बन्द करने के लिये प्रेस एक्ट बनाए। फिर भी, अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं में निकलने वाले समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ राष्ट्रवाद के प्रचार का सबसे सशक्त माध्यम बने रहे। यही कारण था कि लगभग प्रत्येक राष्ट्रवादी नेता किसी न किसी समाचार पत्र से जुड़ा था। महात्मा गाँधी ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना पदार्पण यंग इंडिया और नवजीवन के संपादन से आरम्भ किया। बीसवीं सदी के तीसरे दशक के मध्य से, जब दलितों का सवाल राजनीतिक सवाल बन कर उभरा, गाँधीजी ने हरिजन का प्रकाशन आरम्भ किया। इसप्रकार समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन में अहम भूमिका अदा की। ये पत्र एवं पत्रिकाएँ इस काल का इतिहास जानने के अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. भारत में ब्रिटिश शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा 1757 ई. में प्लासी की सफलता के साथ आरम्भ हुआ।
2. 1857 के पश्चात भारत का शासन सीधे ब्रिटिश संसद के अधीन हो गया।
3. ब्रिटिश क्राउन ने 1599 ई. में कम्पनी को भारत में व्यापार का एकाधिकार दिया था।
4. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी नामक ग्रंथ 100 खण्डों में छापा गया है।
5. दादाभाई नौरोजी द्वारा लन्दन में स्थापित संस्था ईस्ट इंडिया एसोसिएशन थीं।

1.6 सारांश

ऊपर हमने आधुनिक भारतीय इतिहास के विभिन्न स्रोतों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। हमने देखा कि उपनिवेशवाद की स्थापना के साथ भारत में लिखित दस्तावेजों एवं इतिहास

लेखन के लिये व्यापक सामग्री का प्रादुर्भाव हुआ. इसका प्रमुख कारण आधुनिक राज का लिखित निर्देशों द्वारा संचालित होना था. आधुनिक शिक्षा एवं आधुनिक चेतना के विकास से भारतीयों ने भी विशाल लेखन सामग्री छोड़ी. इसप्रकार हमें उपनिवेशवादी विचारों, नीतियों एवं प्रक्रियाओं तथा उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों, विरोधों आदि के सम्बन्ध में व्यापक स्रोत सामग्री उपलब्ध है.

1.7 पारिभाषिक शब्दावली

- 1- अभिलेखागारों - दस्तावेजों को सुरक्षित रखने का स्थान
- 2- प्राच्यवादी (Orientalist)- पूर्वी देशों के ज्ञान में रूचि रखने वाले विद्वान
- 3- पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास- भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना से पूर्व का इतिहास
- 4- मार्क्सवादी इतिहासकार – वे इतिहासकार जो मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर इतिहास की व्याख्या करते हैं।

1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य
2. सत्य
3. सत्य
4. सत्य
5. सत्य

1.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

- 1- ई. श्रीधरन, इतिहास-लेख: एक पाठ्यपुस्तक, नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2011
- 2- बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1998
- 3- सुमित सरकार, आधुनिक भारत: 1885-1947, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2002
- 4- द्विजेन्द्रनारायण झा, प्राचीन भारत: सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2000

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1- सब्यासाची भट्टाचार्य, “कोलोनियल हिस्टोरियोग्राफी” सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-19 में, नई दिल्ली: इंदिरा गाँधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005
- 2- रजत रे, “दी कैम्ब्रिज स्कूल” सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-23 में, नई दिल्ली: इंदिरा गाँधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005
- 3- गारलैण्ड कन्नॉन, दी लाइफ़ एंड माइंड ऑफ ओरियण्टल विलियम जॉस: सर विलियम जॉस, दी फ़ॉदर ऑफ़ माडर्न लिंगविस्टिक्स, न्यूयार्क: कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 1990

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

- 1- आधुनिक भारतीय इतिहास की स्रोत सामग्री पर चर्चा कीजिए।

भारतीय इतिहास एवं इतिहास-लेखन का औपनिवेशिक मत

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 यूरोपीय इतिहास-लेखन एवं आधुनिक इतिहास-लेखन में संबन्ध
 - 2.3.1 प्राच्यवादियों द्वारा भारतीय अतीत की खोज
 - 2.3.2 उपयोगितावादी इतिहास-लेखन
 - 2.3.3 उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन
 - 2.3.4 आरम्भिक बीसवीं शताब्दी का साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन
 - 2.3.5 यूरोपीय इतिहास-लेखन में कैम्ब्रिज स्कूल
- 2.4 यूरोपीय इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षण
- 2.5 यूरोपीय इतिहास-लेखन के प्रभाव
- 2.6 सारांश
- 2.7 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

सर्वप्रथम हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि इतिहास-लेखन के यूरोपीय मत से हम क्या समझते हैं। मूलतः इतिहास लेखन की वह परम्परा जो औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा आरम्भ की गयी, और जिसका मुख्य लक्ष्य भारत में ब्रिटिश शासन की उपस्थिति को तर्कसंगत ठहराना था, को इतिहास-लेखन का यूरोपीय मत कहा जाता है।

सामान्यतः इतिहास लेखन के यूरोपीय मत को यूरोपीय इतिहास-लेखन या विचारधारा के आधार पर साम्राज्यवादी अथवा औपनिवेशिक इतिहास लेखन भी कहा जाता है। हलांकि सभी यूरोपीय इतिहासकार साम्राज्यवादी विचारधारा के नहीं थे। फिर भी साम्राज्यवाद इस इतिहास-लेखन की मूल विचारधारा रही है।

यूरोपीय साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की नवीन प्रवृत्ति को हम कैम्ब्रिज स्कूल के नाम से भी जानते हैं। आगे हम यूरोपीय इतिहास-लेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों तथा उनके लक्षणों की पृथक-पृथक तथा सामूहिक रूप से चर्चा करेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारतीय इतिहास एवं इतिहास-लेखन के औपनिवेशिक मत से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नांकित जानकारियां से भी परिचित सकेंगे :

1. यूरोपीय इतिहास-लेखन एवं आधुनिक इतिहास-लेखन में संबन्ध
2. प्राच्यवादियों द्वारा भारतीय अतीत की खोज
3. उपयोगितावादी इतिहास-लेखन
4. उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन
5. आरम्भिक बीसवीं शताब्दी का साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन
6. यूरोपीय इतिहास-लेखन में कैम्ब्रिज स्कूल
7. यूरोपीय इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षण
8. यूरोपीय इतिहास-लेखन के प्रभाव

2.3 यूरोपीय इतिहास-लेखन एवं आधुनिक इतिहास-लेखन में संबन्ध

यूरोपीय इतिहास-लेखन वास्तव में आधुनिक इतिहास-लेखन की परम्परा के साथ-साथ आरम्भ हुआ। भारत में जिस परम्परागत इतिहास-लेखन का प्रचलन था उसमें तिथियों तथा तथ्यों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में आधुनिक इतिहास लेखन का आरम्भ हुआ। इस समय लियोपोल्ड वॉन रैंक ने प्राथमिक स्रोतों के आधार पर इतिहास लिखने पर बल दिया। उनका विश्वास था कि समकालीन तथ्यों की रोशनी में ऐतिहासिक सत्य को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। लार्ड एक्टन तथा उनके अनुनायियों ने मूल स्रोतों के आधार पर इतिहास को पुनर्गठित करने की जोरदार वकालत की। फलस्वरूप यूरोप सहित पूरी दुनिया में राष्ट्रीय अभिलेखागारों की स्थापना की जाने लगी। ताकि, मूल स्रोतों को एकत्रितकर उनका अध्ययन किया जा सके। भारत सहित उपनिवेशों में भी अभिलेखागारों, संग्रहालयों, पुस्तकालयों और पुरातत्व विभागों की स्थापना का यही प्राथमिक उद्देश्य था। फिर भी अनेक यूरोपीय इतिहासकारों ने अक्सर या तो तथ्यों को नज़रअंदाज़ किया या समूचित रूप से उनका प्रयोग ही नहीं किया। आगे हम यूरोपीय इतिहास-लेखन की मूल प्रवृत्तियों एवं उसके प्रमुख इतिहासकारों की चर्चा करेंगे।

2.3.1 प्राच्यवादियों द्वारा भारतीय अतीत की खोज

भारत पर यूरोपीय इतिहास-लेखन का आरम्भ अठारहवीं सदी के अंत में प्राच्यवादी (Orientalist) विद्वानों के लेखों द्वारा हुआ। प्राच्यवादियों ने एक असीम उत्सुकता के साथ भारतीय अतीत की खोज आरम्भ की। परन्तु, क्रमबद्ध तथ्यों के अभाव ने प्राचीन भारत के ऐतिहासिक पुनर्लेखन को बाधित किया। रॉबर्ट ऑर्मे अपनी रचनाओं में मुगल, मराठा या ब्रिटिश शासनकाल की ही चर्चा कर सके थे। अतः प्रख्यात प्राच्यविदों विल्किन्स तथा विलियम जॉस ने प्राचीन साहित्यिक एवं विधि की संस्कृत कृतियों के अनुवाद किये ताकि प्राचीन भारत के बारे में जाना जा सके। चार्ल्स विल्किन्स ने भगवतगीता तथा हितोपदेश का अनुवाद किया। विलियम जॉस की साहित्यिक अभिरुचि उनके बहुप्रसिद्ध अनुवाद शकुंतला से अभिव्यक्त हुयी। फिर भी, जॉस का मुख्य उद्देश्य प्राचीन हिन्दू विधि-ग्रंथों का अनुवाद करना था। इसके लिये उन्होंने पहले प्राच्यविदों में संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता विल्किन्स से अनुरोध भी किया था। विल्किन्स के रुचि ना दिखाने पर जॉस ने स्वयं संस्कृत सीखी और मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद किया। प्राचीन हिन्दू विधि-ग्रंथों का अनुवाद आरम्भिक कम्पनी राज के साम्राज्यवादी उद्देश्यों से जुड़ा हुआ था। इसका एक घोषित लक्ष्य हिन्दू पंडितों द्वारा विधि की मनमानी व्याख्याओं से मुक्ति पाना था। जॉस ने विधि की व्याख्या के लिये पूरी तरह पंडितों या मौलवियों पर निरभरता को एक खतरे की भाँति देखा। उन्होंने अंग्रेज प्रशासकों को भारत में प्रचलित शास्त्रीय भाषाएँ – फ़ारसी एवं संस्कृत – सीखने के लिये प्रेरित किया। इसी उद्देश्य से जॉस ने भारत आने से पूर्व ही फ़ारसी व्याकरण की एक पुस्तक भी लिखी थी। जॉस की सबसे प्रभावकारी खोज संस्कृत का समीकरण यूरोप की महान भाषाओं लेटिन तथा ग्रीक से करना था। उन्होंने संस्कृत, लेटिन, ग्रीक आदि को एक पूर्वकालीन भारोपीय भाषा की संतान बताया, जो अब लुप्त हो चुकी थी। उनका यह विचार एक उच्च, श्वेतवर्णीय एवं शासक आर्य प्रजाति के सिद्धांत से जुड़ा हुआ था। इसप्रकार यह विचार भारत में अंग्रेजों के शासन की उपस्थिति को जायज़ ठहराता था। फिर भी, प्राच्यवादियों की खोजों ने भारतीय इतिहास के कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में ला दिये। जॉस ने ग्रीक विवरणों में उल्लिखित सैंड्रोकोटस का समीकरण संस्कृत स्रोतों में वर्णित चंद्रगुप्त से किया। चूँकि ग्रीक स्रोतों में सेल्यूकस के साथ चंद्रगुप्त के युद्ध एवं संधि की तिथियाँ दी गयीं थी, अतः पहली बार प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्यकाल के आरम्भ का कालनिर्धारण संभव हो सका। प्राचीन भारतीय इतिहास को प्रकाश में लाने में महत्वपूर्ण भूमिका एक अन्य प्राच्यविद जेम्स प्रिंसेप ने अदा की। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उन्होंने अभिलेखों की प्राचीन ब्राह्मी लिपि को सफलतापूर्वक पढ़ लिया। इससे न केवल मौर्यकालीन महान शासक अशोक, बल्कि पालि ग्रंथों में लिखित बौद्ध धर्म का इतिहास भी सामने आ गया। इन प्रारम्भिक उपलब्धियों के बावजूद प्राच्यविद भारत का क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण नहीं दे सके और यह कार्य उनके वैचारिक विरोधियों उपयोगितावादियों के जिम्मे आया।

2.3.2 उपयोगितावादी इतिहास-लेखन

उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारधारा उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन में उपस्थित उदारवादी (Liberalism) विचारधारा का ही विस्तार थी। आर्थिक जगत में यह विचारधारा एडम स्मिथ के मुक्त बाजार के सिद्धांत में अभिव्यक्त हुयी। परंतु इसका दार्शनिक आधार प्रसिद्ध विद्वान जेरेमी बेंथम ने दिया। बेंथम का विचार था कि यूरोप ने तर्क एवं बुद्धि के आधार पर प्रगति की है। बेंथम के अनुयायी एवं मित्र उपयोगितावादी जेम्स मिल का मानना था कि भारतीय संस्कृति पतित है तथा भारत के उद्धार की एकमात्र आशा तर्क-बुद्धिवाद के आधार पर निर्मित कठोर कानूनों से ही संभव है। जहाँ प्राच्यवादियों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रशंसा की थी, वहीं उपयोगितावादियों ने उसकी तीखी आलोचना की। एक अन्य उपयोगितावादी मैकॉले के विचारों से आप भलिभाँति परिचित होंगे, जिसने शिक्षा के प्रश्न पर प्राच्यवादियों तथा उपयोगितावादियों के मध्य हुए वैचारिक संघर्ष में अंग्रेज़ी भाषा के पक्ष में सफलतापूर्वक तर्क दिये थे। यहाँ हम उपयोगितावादी इतिहासकार के रूप में जेम्स मिल के विचारों की ही चर्चा करेंगे। मिल ने बारह वर्षों (1806 से 1818 के मध्य) के कठोर परिश्रम द्वारा छः खण्डों में हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया नामक पुस्तक लिखी। भारत का संपूर्ण इतिहास लिखने का यह पहला प्रयास था। हलांकि, प्राचीन एवं मध्यकाल को प्रथम तीन खण्डों में समेटा गया था, तथा शेष तीन खण्डों में ब्रिटिश भारत की चर्चा थी। इस पुस्तक का महत्व इस बात से ही साबित होता है कि लगभग आधी सदी तक यह भारत आने वाले ब्रिटिश प्रशासकों के प्रशिक्षण के लिये पाठ्य पुस्तक का काम करती रही। 1818 से 1840 के मध्य चार बार इसे पुनर्मुद्रित किया गया। 1850 के पश्चात भी इसे एक महान कृति माना जाता रहा। आधुनिक भारतीय इतिहास-लेखन पर इस पुस्तक के दूरगामी प्रभाव को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। मिल ने प्राचीन भारतीय के समाजिक वर्गीकरण, धर्म, कानूनों, राजस्व प्रणाली ही नहीं, कला-साहित्य एवं रीति-रिवाज़ों की भी भर्त्सना की। उन्होंने प्राचीन संस्थाओं को मानव इतिहास की सबसे दुर्बल अवस्था का परिणाम माना। प्राचीन भारतीयों की इतिहास एवं कालक्रम की अनदेखी की, मिल ने तीखी आलोचना की। हलांकि मध्यकालीन मुस्लिम शासन को मिल ने बेहतर माना, परंतु वर्तमान ब्रिटिश शासन के सामने वह भी निकृष्ट ही था। मिल के इतिहास के दूरगामी प्रभाव के रूप में भारतीय इतिहास का काल विभाजन सबसे महत्वपूर्ण था। उन्होंने प्राचीनकाल को हिन्दूकाल तथा मध्यकाल को मुस्लिमकाल के रूप में पहचाना। हलांकि आधुनिककाल को ईसाईकाल न कहकर ब्रिटिशकाल कहा गया। मिल के इस कालविभाजन ने पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास को साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित कर दिया जिसके दुष्परिणाम हाल तक भारतीय इतिहास-लेखन को प्रभावित करते रहे हैं। सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि मिल का इतिहास तथ्यसम्मत एवं तर्कसम्मत भी नहीं था। मिल ने बिना भारत की यात्रा किये और केवल विदेशी विवरणों के आधार पर ही अपना कार्य किया था। इस इतिहास में मूल स्रोतों की उपेक्षा की गयी थी। वास्तव में मिल का इतिहास साम्राज्यवाद के नये युग की उद्घोषणा थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत में ब्रिटिश शासन पर्याप्त सशक्त हो चुका था। यूरोप में नेपोलियन की पराजय ने ब्रिटेन को सर्वोपरि शक्ति के रूप में स्थापित कर दिया था। औद्योगिक क्रांति की सफलता ने आर्थिक

क्षेत्र में भी ब्रिटेन को सुदृढ़ कर दिया था. ब्रिटिश सर्वोच्चता का अपार विश्वास साम्राज्यवादी दंभ में प्रकट हो रहा था.

2.3.3 उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मिल के इतिहास की आलोचना होने लगी थी. यूरोपीय इतिहासकारों ने अब भारतीय इतिहास को भारतीय स्रोतों के आधार पर लिखने का बीड़ा उठाया. इन इतिहासकारों को विचारधारा के आधार पर पुराने पड़ चुके प्राच्यवादी या उपयोगितावादी खेमों में नहीं रखा जा सकता. परंतु उनमें साम्राज्यवादी विचारधारा को स्पष्ट पहचाना जा सकता है. मॉउंटस्टुअर्ट एल्फिंसटन ने मूल ऐतिहासिक स्रोतों के अनुवादों के आधार पर अपने ग्रंथ हिस्ट्री ऑफ हिन्दू एंड मुहम्मडन इंडिया की रचना 1841 में की. हलांकि एल्फिंसटन ने मिल के इतिहास की निन्दा की थी, परंतु 'हिन्दू' भारत एवं 'मुस्लिम' भारत की शब्दावली का प्रयोग करके उन्होंने मिल के कालविभाजन को स्थायित्व प्रदान कर दिया. एल्फिंसटन के इतिहास की दो महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं. एक तो उन्होंने पुराणों के आधार पर मौर्यकाल से लेकर गुप्तों तक भारतीय शासकों की क्रमबद्ध वंशावलियाँ देने का प्रयास किया. दूसरे, उन्होंने प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर अधिक बल दिया. स्थानीय स्रोतों के आधार पर क्षेत्रीय इतिहास लिखने की परम्परा का आरम्भ भी यूरोपीय इतिहासकारों ने किया. इस श्रेणी में ग्रांट डफ ने मूल मराठा स्रोतों के आधार पर 1825 में ए हिस्ट्री ऑफ दी मराठाज प्रकशित की. जेम्स टॉड ने राजपूत स्रोतों एवं लोकश्रुतियों के आधार पर एनल्स एंड एंटीक्वीटीज़ ऑफ राजस्थान की रचना की. फारसी मूल स्रोतों के आधार पर मध्यकालीन भारत के इतिहास को पुनर्लिखित करने के प्रयास स्वरूप आठ खंडों में रचित दी हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स सामने आई. इसे डाउसन की सहायता से ईलियट द्वारा लिखा गया था तथा यह 1857 की क्रांति के पश्चात लिखी गयी. हलांकि यह श्रृंखला वस्तुतः फ़ारसी मूल स्रोतों का अनुवाद थी, परंतु इसके प्राक्कथन में ईलियट ने तुर्क एवं मुगल शासकों के विरुद्ध खूब विषवमन किया. ब्रिटिश भारतीय शासकों एवं परिवर्ती भारतीय इतिहासकारों को इस ग्रंथ ने काफी प्रभावित किया. इस ग्रंथ श्रृंखला ने पहली बार वे तर्क दिये जो आज तक साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा प्रयोग किये जाते हैं.

2.3.4 आरम्भिक बीसवीं शताब्दी का साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन

भारत का संपूर्ण इतिहास पाठ्यपुस्तक के रूप में लिखने की श्रृंखला का अगला अध्याय विंसेंट ए. स्मिथ की कृतियों के माध्यम से सामने आया. स्मिथ को आरम्भिक बीसवीं शताब्दी के भारत का सबसे प्रभावशाली इतिहासकार माना जा सकता है. उसकी अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1904) एवं ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1919) सबसे महत्वपूर्ण कृतियाँ थीं. स्मिथ ने अपने इतिहास ग्रंथों में उस काल तक हो चुके सभी शोधों को समाहित किया. स्मिथ के ग्रंथों का महत्व इस बात से पता चलता है कि उसकी इतिहास कृतियों को सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में, जिनकी स्थापना पिछले पचास वर्षों में हुई थी, पाठ्यपुस्तकों की भाँति पढ़ाया जाता था. स्मिथ का इतिहास, जो स्वतंत्रता के पश्चात भी भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता रहा,

यूरोपीय इतिहास-लेखन की साम्राज्यवादी विचारधारा से मुक्त नहीं था. स्मिथ ने भारत के राजनीतिक इतिहास पर ज़रूरत से ज़्यादा बल दिया था. उसने साम्राज्यों एवं शासकों का इतिहास लिखने पर ही ध्यान दिया. मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चंद्रगुप्त तथा गुप्त साम्राज्य की तो स्मिथ ने कुछ प्रशंसा की, परंतु इन शासकों को 'निरंकुश' एवं 'सर्वसत्तावादी' माना. स्मिथ ने 'प्राच्य-निरंकुशता' को ही साम्राज्यों के पतन का मूल कारण माना. स्मिथ ने इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा कि प्रत्येक साम्राज्य के पतन के पश्चात भारत सदैव अराजकता के एक लम्बे युग में प्रवेश कर गया. अतः भारत में शांति एवं समृद्धि के लिये ब्रिटिश शासन जैसी 'उदार-निरंकुश' व्यवस्था का बना रहना आवश्यक था. स्मिथ का मानना था कि यदि भारत से ब्रिटिश शासन हटा लिया गया तो देश पुनः राजनीतिक अराजकता एवं अशांति के दौर में पहुँच जायेगा. हमें यह भलीभाँति ध्यान रखना चाहिये कि स्मिथ का काल भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उत्कर्ष का काल था. 1885 में कांग्रेस की स्थापना तथा 1905 के स्वदेशी आन्दोलन ने स्मिथ के विचारों को गहरे से प्रभावित किया था. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति आलोचनात्मक रवैया संपूर्ण बीसवीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास-लेखन की मुख्य पहचान बन गया. अल्फ्रेड लायल ने अपनी रचना दी राईज़ एंड एक्सपेंशन ऑफ ब्रिटिश डोमिनियन इन इंडिया में भारत में ब्रिटिश शासन के आरम्भ का कारण भारतीयों में राष्ट्रीयता के अभाव को माना. दूसरी ओर, उन्होंने प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय इतिहास में हुए विद्रोहों की तीखी निन्दा की. भारत में ब्रिटिश शासन की उपस्थिति को उचित ठहराने के लिये जॉन सील ने एक्सपेंशन ऑफ इंग्लैंड में यह साबित करने का प्रयास किया कि भारत पर अंग्रेजों की विजय पूर्वनियोजित न होकर आकस्मिक थी. ये अध्ययन राष्ट्रवादियों की आलोचनाओं को गलत सिद्ध करने हेतु लिखे जा रहे थे. राष्ट्रवादियों द्वारा प्रस्तुत आर्थिक दोहन के सिद्धांत को अनुचित साबित करने के लिये वेरा एन्सटे नामक महिला इतिहासकार ने दी इकानामिक डेवलपमेंट इन इंडिया (1929) लिखी. जिसमें ब्रिटिशकाल में भारतीय धन सम्पदा के दोहन के राष्ट्रवादी तर्कों को काटा गया था. कालांतर में इस विषय पर भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों और साम्राज्यवादी इतिहासकारों के मध्य लम्बी बहस चली.

2.3.5 यूरोपीय इतिहास-लेखन में कैम्ब्रिज स्कूल

आधुनिक भारत पर साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन का विकसित रूप कैम्ब्रिज स्कूल के रूप में सामने आया. कैम्ब्रिज स्कूल के वास्तविक अध्ययन तो स्वतंत्र भारत में ही सामने आये, परंतु इसके बीज ब्रिटिश साम्राज्यवादी पत्रकार एवं लेखक वेलेन्टाइन शिरॉल तथा अमेरिकी विद्वान ब्रूस टी. मैकुली के अध्ययनों में अभिव्यक्त हो चुके थे. इन तथा दूसरे आरम्भिक साम्राज्यवादी लेखकों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त नवीन अवसरों के लिये अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त उच्च वर्ग के संघर्ष बताया था. 1960 के दशक में जॉन गैलाघर एवं उनके छात्र अनिल सील के अध्ययनों ने कैम्ब्रिज स्कूल की आधारशिला रखी. गैलाघर के पर्यवेक्षण में अनिल सील द्वारा किया गया शोध अध्ययन इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज़्म (1968) के नाम से प्रकाशित हुआ. सील ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को अभिजात वर्गों की आपसी प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष के रूप में दिखाने की चेष्टा की. अनिल सील द्वारा किया गया किया गया

राष्ट्रीय आन्दोलन का यह विश्लेषण कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों के लिये दिशानिर्देशक सा बन गया. कैम्ब्रिज स्कूल इतिहास-लेखन की परम्परा का विधिवत शुभारम्भ जॉन गैलाघर, अनिल सील एवं गार्डन जॉनसन द्वारा 1973 में संयुक्त रूप से संपादित लोकॅलिटी, प्रॉविंस एंड नेशन: एसेज़ आन इंडियन पॉलिटिक्स 1870-1940 से हुआ. इस ग्रंथ ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संबन्ध में कुछेक एकदम नयी अवधारणाओं को जन्म दिया. एक, इसमें राष्ट्रीय आन्दोलन को स्थानीय एवं गुटीय राजनीति के छद्म वाह्य आवरण की भाँति देखा गया था. वास्तविक राजनीतिक संघर्ष स्थानीय स्तर पर नये संविधानिक सुधारों से उत्पन्न अवसरों को लेकर हो रहे थे. दूसरे, राष्ट्रीय तथा स्थानीय नेताओं के आपसी संबन्धों की व्याख्या सोपानवत आश्रयदाता-आश्रित (पैट्रन-क्लॉइंट) संबन्धों के रूप में की गयी थी. इस विश्लेषण के अनुसार अखिल भारतीय संगठन से जुड़ाव नेताओं ने अपनी स्थानीय राजनीति चमकाने के लिये किया. तीसरी महत्वपूर्ण अवधारणा के जरिये राष्ट्रीय राजनीतिक संघर्ष के उदभव को ब्रिटिश शासन के बढ़ते केन्द्रीकरण का परिणाम माना गया. इस ग्रंथ ने कैम्ब्रिज स्कूल के साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन का जो आधार तैयार किया वह शीघ्र ही एक परम्परा की भाँति विकसित हो गया. अनिल सील की शोधछात्र ज्यूडिथ ब्राउन ने गॉधीजी पर किये गये अपने अध्ययन (गॉधी'ज़ राइज़ टू पॉवर, 1972) में उनके राजनीतिक उत्कर्ष को ब्रिटिश राज से मोल-तोल कर सकने की उनकी क्षमता से जोड़कर देखा. इस अवधारणा के तहत नेहरू, पटेल, मालवीय तथा आज़ाद को स्थानीय या अपने धर्मों के बिचोलियों की भाँति प्रस्तुत किया गया. यह विश्लेषण आश्रयदाता-आश्रित की अवधारणा की ही पुष्टि करता था. कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों ने स्थानीय अध्ययनों की बकायदा एक श्रृंखला ही आरम्भ कर दी. अनिल सील के ही एक अन्य प्रतिभाशाली शोधछात्र गार्डन जॉनसन ने बॉम्बे प्रांत के कांग्रेस संगठन पर किये गये अध्ययन (प्रोविंशियल पॉलिटिक्स एंड इंडियन नेशनलिज़्म: बॉम्बे एंड दी इंडियन नेशनल कांग्रेस 1890-1905) में नरमपंथ और गरमपंथ के वैचारिक संघर्ष को फिरोज़शाह मेहता एवं बाल गंगाधर तिलक के व्यक्तिगत संघर्ष में ढूँढा. जॉनसन ने कैम्ब्रिज इतिहासकारों के शोधों को प्रकाशित करने के उद्देश्य से मॉडर्न एशियन स्टडीज़ नामक जर्नल भी संपादित किया. स्थानीय अध्ययनों में क्रिस्टोफर ए. बेली का इलाहाबाद पर किया गया अध्ययन (दी लोकल रूट्स ऑफ इंडियन पॉलिटिक्स: इलाहाबाद 1880-1920) भी कम महत्वपूर्ण नहीं था. बेली ने 19वीं शताब्दी के मध्य से इलाहाबाद में राजनीतिक रूप से शक्तिशाली हुए स्थानीय वाणिज्यिक तत्वों की चर्चा की, जिसने कालान्तर में शहर में विकसित हो रही राष्ट्रीय राजनीति से आश्रयदाता-आश्रित वाले संबन्ध बना लिये थे. फिर भी, बेली पूरी तरह कैम्ब्रिज स्कूल की स्थापनाओं से सहमत नहीं थे और कालान्तर में उन्होंने पुराने उदार साम्राज्यवादी दायरे में ही इतिहास-लेखन को प्राथमिकता दी. बल्कि, बेली ने कुछ हद तक कैम्ब्रिज स्कूल से इतर उदार साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की परम्परा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया. दक्षिण भारत पर स्थानीय अध्ययन डेविड ए. वॉशब्रुक एवं क्रिस्टोफर जे. बेकर द्वारा किये गये. वॉशब्रुक ने 1870 से 1920 तथा बेकर ने 1920 से 1937 के मध्य दक्षिण भारत की स्थानीय राजनीति का अध्ययन किया. फ्रांसिस रॉबिंसन ने संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) की मुस्लिम राजनीति की व्याख्या स्थानीय एवं गुटीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में की. कुल मिलाकर कैम्ब्रिज स्कूल के साम्राज्यवादी इतिहास-

लेखन ने राष्ट्रीय राजनीति एवं राष्ट्रीय आन्दोलन की अनदेखी ही की। इन इतिहासकारों ने साम्राज्यवाद एवं राष्ट्रवाद के आर्थिक अंतर्विरोधों को नज़रअन्दाज़ कर दिया। उन्होंने राष्ट्रवाद के उदय के लिये साम्राज्यवाद द्वारा आर्थिक शोषण के भारतीय राष्ट्रवादियों के तर्कों को नहीं माना। उनके अनुसार राष्ट्रवाद भारतीयों के आपसी सत्ता संघर्ष का परिणाम था, जो मूलतः धर्म, जाति, वर्ग एवं गुट के आधार पर संगठित थे। कैम्ब्रिज इतिहासकारों के इन दृष्टिकोणों की आलोचना भारतीय मार्क्सवादी एवं उदारवादी दोनों विचारधारा के इतिहासकारों ने की है तथा इन इतिहासकारों पर ब्रिटिश इतिहासकार लेविस नैमियर का दृष्टिकोण अपनाने का आरोप लगाया है। नैमियर ने ब्रिटिश संसद का इतिहास लिखते हुए सत्ता-संघर्षों की व्याख्या वैचारिक के स्थान पर व्यक्तिगत तथा गुटीय राजनीति में की थी। अपनी तमाम अवधारणात्मक कमियों के बावजूद कैम्ब्रिज इतिहासकारों ने क्षेत्रीय अभिलेखागारों में दफ़न ऐतिहासिक सामग्री को प्रकाश में लाने के अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य को अंजाम दिया। वैसे तो 1980 तक कैम्ब्रिज स्कूल के साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन का अंत हो चुका था, परंतु इसकी कुछ अवधारणाओं को लगभग इसी समय सबअल्टर्न के नाम से आरम्भ हुए एक नये इतिहास-लेखन ने आत्मसात कर लिया। हांलाकि, सबअल्टर्न अध्ययन एकदम भिन्न प्रकार का इतिहास-लेखन था तथा इसका कैम्ब्रिज इतिहास-लेखन से कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं था।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. भारत पर यूरोपीय इतिहास-लेखन का आरम्भ अठारहवीं सदी के अंत में हुआ।
2. विलियम जोंस ने भगवतगीता तथा हितोपदेश का अनुवाद किया।
3. जेम्स मिल द्वारा छः खण्डों में हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया नामक पुस्तक लिखी गयी।
4. विंसेंट ए. ने अपने ग्रंथ हिस्ट्री ऑफ हिन्दू एंड मुहम्मडन इंडिया की रचना 1841 में की।
5. स्मिथ मॉउंटस्टुअर्ट एल्फिंसटन की अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1904) एवं ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1919) महत्वपूर्ण कृतियाँ थीं।
6. 1960 के दशक में जॉन गैलाघर एवं उनके छात्र अनिल सील ने कैम्ब्रिज स्कूल की आधारशिला रखी।

2.4 यूरोपीय इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षण

ऊपर हमने यूरोपीय इतिहास-लेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों की अलग-अलग चर्चा की है। अब हम इस इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षणों की विवेचना करेंगे। सबसे महत्वपूर्ण लक्षण के रूप में कुछेक अपवादों को छोड़कर संपूर्ण यूरोपीय इतिहास-लेखन में साम्राज्यवादी विचारधारा की मौजूदगी को आसानी से पहचाना जा सकता है। भले ही प्राच्यवादियों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति रुचि, सहानुभूति एवं प्रशंसा का प्रदर्शन किया था, परंतु समकालीन भारत को पतित बताया। इसप्रकार कम्पनी राज को उचित ठहराने की कोशिश की गई। उपयोगितावादियों

ने तो संपूर्ण भारतीय इतिहास को ही खारिज कर दिया. जहाँ मिल ने तथाकथित हिन्दू राज को निन्दनीय एवं निकृष्ट बताया, वहीं ईलियट ने तथाकथित मुस्लिम शासनकाल को अपनी आलोचना का मुख्य पात्र बनाया. उपयोगितावादियों के निष्कर्ष उनके विचार से उदार-निरंकुशता पर आधारित साम्राज्यवाद को उचित ठहराने के प्रयास मात्र ही थे. उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों या आरम्भिक बीसवीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहासकारों ने उभरते राष्ट्रीय आन्दोलन की या तो अनदेखी की या तीखी आलोचना की. उनके अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अभिजात वर्ग का संघर्ष था जो सत्ता में भागीदारी के अधिक अवसर के लिये चलाया जा रहा था. इसप्रकार इसका साम्राज्यवाद से कोई वैचारिक अथवा आर्थिक अंतर्विरोध नहीं था. कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहास-लेखन ने इस मत को और भी तर्कसंगत एवं तथ्यपरक ढंग से पुष्ट करने का प्रयास किया. इसप्रकार यूरोपीय इतिहास-लेखन अंततः भारत में ब्रिटिश राज के वर्चस्व को बनाए रखने के वैचारिक प्रयास ही थे.

एक अन्य महत्वपूर्ण लक्षण के रूप में यूरोपीय इतिहास-लेखन ने भारत में आधुनिक इतिहास-लेखन की नींव डाली. कुछेक शुरुआती अध्ययनों को छोड़कर इन इतिहासकारों ने मूल स्रोतों के आधार पर इतिहास लिखने की परम्परा का शुभारम्भ किया. भारत को समझने के प्रयास में प्राच्यवादियों ने संस्कृत के मूल ग्रंथों का बड़े पैमाने पर अनुवाद कर डाला. एल्फिंसटन, ईलियट और स्मिथ ने मूल भारतीय स्रोतों का प्रयोग करके ही अपने ग्रंथ लिखे. डफ और टाड ने मराठा एवं राजपूत जैसे क्षेत्रीय स्रोतों को खोज निकाला. कालांतर में क्षेत्रीय स्रोतों को प्रकाश में लाने का कार्य कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों ने भी बड़े पैमाने पर किया. इसप्रकार भारतीय इतिहास-लेखन एवं पुनर्लेखन के लिये काफ़ी सामग्री सामने आ गयी. कालांतर में राष्ट्रवादी एवं मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इसी सामग्री का प्रयोग कर यूरोपीय इतिहास-लेखन की अनेक मान्यताओं को चुनौती दी.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

- 1-..... ने तथाकथित हिन्दू राज को निन्दनीय एवं निकृष्ट बताया।
- 2- ईलियट ने को अपनी आलोचना का मुख्य पात्र बनाया.
- 3- ग्रांट डफ ने के क्षेत्रीय स्रोतों को खोजा था।
- 4- कर्नल टाड ने के क्षेत्रीय स्रोतों को खोजा था।

2.5 यूरोपीय इतिहास-लेखन के प्रभाव

फिर भी यूरोपीय इतिहास-लेखन के भारतीय इतिहास-लेखन पर पड़े दुष्परिणामों को कम करके नहीं आंका जा सकता. यूरोपीय इतिहासकारों की अनेक स्थापनाओं ने भारतीयों के मस्तिष्क पर दूरगामी परिणाम छोड़ा. प्राच्यवादियों की स्थापनाओं ने भारतीयों को अपने विलुप्त अतीत के प्रति केवल जागरूक ही नहीं किया अपितु उनमें प्राचीन भारत की उपलब्धियों के लिये गौरव की एक भावना भी भर दी. जहाँ उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इसने बंगाली

पुनर्जागरण को प्रभावित किया, वहीं इसी शताब्दी के अंत में उभरते हिन्दू राष्ट्रवाद के दंभ को पोषित किया. उपयोगितावादी तथा दूसरे साम्राज्यवादी यूरोपीय इतिहासकारों ने पूर्व-औपनिवेशिक भारत के इतिहास को साम्प्रदायिक आधार पर हिन्दू एवं मुस्लिम कालों में विभाजित कर दिया. बाद के राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भी यूरोपीय इतिहास-लेखन की इन विकृतियों को सहज ही स्वीकार कर लिया. हिन्दू साम्प्रदायिक इतिहासकारों ने इन इतिहासों के आधार पर भारत की गुलामी को पीछे ले जाकर दिल्ली सल्तनत की स्थापना से जोड़कर देखा. भारत की आजादी की लड़ाई को हजार वर्षों की दासता से मुक्ति का संघर्ष बताया जाने लगा. दूसरी ओर मुस्लिम साम्प्रदायिक इतिहासकारों ने प्राचीन भारत की तमाम उपलब्धियों को तुच्छता की दृष्टि से देखा. भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना को ही सभ्यता एवं संस्कृति के आरम्भ का हेतू बताया गया. इसप्रकार यूरोपीय इतिहास-लेखन का साम्राज्यवादी लक्ष्य सम्प्रदायवादियों के हाथों पुष्पित-पल्लवित होता रहा. यूरोपीय इतिहासकारों में मुगल-राजपूत तथा मुगल-मराठा संघर्षों को हिन्दू-मुस्लिम संघर्षों की भाँति पेश किया. सबसे महत्वपूर्ण यूरोपीय इतिहासकारों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक शोषण की अनदेखी करना था. इसप्रकार भारतीय दासता के मूल लक्षण को ही नज़रअन्दाज़ किया गया. हलांकि, यूरोपीय इतिहास-लेखन को केवल साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन कह कर खारिज नहीं किया जा सकता. कुछ लेखक तो साम्राज्यवाद के आलोचक भी थे. यहाँ हम जार्ज ऑरवेल के लेखों तथा एडवर्ड थाम्पसन एवं जी. टी. गैरेट के इतिहास (राईज़ एंड फुलफ़िलमेंट ऑफ़ ब्रिटिश रूल इन इंडिया, 1934) को साम्राज्यवादी लेखन के अपवाद के रूप में देख सकते हैं. फिर भी, यूरोपीय इतिहास-लेखन का अधिकांश भाग साम्राज्यवादी ही था.

2.6 सारांश

अब आपको जानकारी है कि इतिहास लेखन के यूरोपीय मत को यूरोपीय इतिहास-लेखन या विचारधारा के आधार पर साम्राज्यवादी अथवा औपनिवेशिक इतिहास लेखन भी कहा जाता है. हालांकि सभी यूरोपीय इतिहासकार साम्राज्यवादी विचारधारा के नहीं थे. फिर भी साम्राज्यवाद इस इतिहास-लेखन की मूल विचारधारा रही है. उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में आधुनिक इतिहास लेखन का आरम्भ हुआ. लियोपोल्ड वॉन रैंक, लार्ड एक्टन तथा उनके अनुयायी इसके प्रथम वाहक बने। भारत पर यूरोपीय इतिहास-लेखन का आरम्भ अठारहवीं सदी के अंत में प्राच्यवादी (Orientalist) विद्वानों के लेखों द्वारा हुआ. उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारधारा उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटेन में उपस्थित उदारवादी (Liberalism) विचारधारा का ही विस्तार थी. आर्थिक जगत में यह विचारधारा एडम स्मिथ के मुक्त बाजार के सिद्धांत में अभिव्यक्त हुयी. परंतु इसका दार्शनिक आधार प्रसिद्ध विद्वान जेरेमी बेंथम ने दिया. बेंथम के अनुयायी एवं मित्र उपयोगितावादी जेम्स मिल का मानना था कि भारतीय संस्कृति पतित है तथा भारत के उद्धार की एकमात्र आशा तर्क-बुद्धिवाद के आधार पर निर्मित कठोर कानूनों से ही संभव है. जहाँ प्राच्यवादियों ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रशंसा की थी, वहीं उपयोगितावादियों ने उसकी तीखी आलोचना की. उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक मिल के इतिहास की आलोचना होने लगी थी. यूरोपीय इतिहासकारों ने अब भारतीय इतिहास को

भारतीय स्रोतों के आधार पर लिखने का बीड़ा उठाया, परंतु उनमें साम्राज्यवादी विचारधारा को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। भारत का संपूर्ण इतिहास पाठ्यपुस्तक के रूप में लिखने की श्रृंखला का अगला अध्याय विसेंट ए. स्मिथ की कृतियों के माध्यम से सामने आया। स्मिथ को आरम्भिक बीसवीं शताब्दी के भारत का सबसे प्रभावशाली इतिहासकार माना जा सकता है। 1960 के दशक में जॉन गैलाघर एवं उनके छात्र अनिल सील के अध्ययनों ने कैम्ब्रिज स्कूल की आधारशिला रखी। गैलाघर के पर्यवेक्षण में अनिल सील द्वारा किया गया शोध अध्ययन इमरजेंस ऑफ इंडियन नेशनलिज्म (1968) के नाम से प्रकाशित हुआ। अनिल सील द्वारा किया गया राष्ट्रीय आन्दोलन का यह विश्लेषण कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों के लिये दिशा निर्देशक सा बन गया। जॉन गैलाघर, अनिल सील एवं गार्डन जॉनसन द्वारा 1973 में संयुक्त रूप से संपादित लोकलिटि, प्रॉविंस एंड नेशन: एसेज आन इंडियन पॉलिटिक्स 1870-1940 नामक ग्रंथ ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संबन्ध में कुछेक एकदम नयी अवधारणाओं को जन्म दिया। 1980 तक कैम्ब्रिज स्कूल के साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन का अंत हो चुका था, परंतु इसकी कुछ अवधारणाओं को लगभग इसी समय सबअल्टर्न के नाम से आरम्भ हुए एक नये इतिहास-लेखन ने आत्मसात कर लिया। हांलाकि, सबअल्टर्न अध्ययन एकदम भिन्न प्रकार का इतिहास-लेखन था तथा इसका कैम्ब्रिज इतिहास-लेखन से कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं था। कालांतर में क्षेत्रीय स्रोतों को प्रकाश में लाने का कार्य कैम्ब्रिज स्कूल के इतिहासकारों ने भी बड़े पैमाने पर किया। कालांतर में राष्ट्रवादी एवं मार्क्सवादी इतिहासकारों ने यूरोपीय इतिहास-लेखन की अनेक मान्यताओं को चुनौती दी। फिर भी यूरोपीय इतिहास-लेखन के भारतीय इतिहास-लेखन पर पड़े दुष्परिणामों को कम करके नहीं आंका जा सकता। यूरोपीय इतिहासकारों की अनेक स्थापनाओं ने भारतीयों के मस्तिष्क पर दूरगामी परिणाम छोड़ा। प्राच्यवादियों की स्थापनाओं ने भारतीयों को अपने विलुप्त अतीत के प्रति केवल जागरूक ही नहीं किया अपितु उनमें प्राचीन भारत की उपलब्धियों के लिये गौरव की एक भावना भी भर दी।

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

- 1- अभिलेखागारों - दस्तावेजों को सुरक्षित रखने का स्थान
- 2- प्राच्यवादी (Orientalist)- पूर्वी देशों के ज्ञान में रुचि रखने वाले विद्वान
- 3- पूर्व-औपनिवेशिक इतिहास- भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना से पूर्व का इतिहास
- 4- मार्क्सवादी इतिहासकार – वे इतिहासकार जो मार्क्स के सिद्धान्तों के आधार पर इतिहास की व्याख्या करते हैं।

2.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 2.3 के उत्तर

प्रश्न 1 – सत्य

प्रश्न 2- असत्य

प्रश्न 3 – सत्य

प्रश्न 4- असत्य

प्रश्न 5- असत्य

प्रश्न 6- सत्य

खण्ड 2.4 के उत्तर

प्रश्न 1 – जेम्स मिल

प्रश्न 2- तथाकथित मुस्लिम शासनकाल

प्रश्न 3 – मराठा इतिहास

प्रश्न 4- राजपूत इतिहास

2.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

- 1- ई. श्रीधरन, इतिहास-लेख: एक पाठ्यपुस्तक, नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2011
- 2- बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1998
- 3- सुमित सरकार, आधुनिक भारत: 1885-1947, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2002
- 4- द्विजेन्द्रनारायण झा, प्राचीन भारत: सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2000

2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1- सब्यासाची भट्टाचार्य, “कोलोनियल हिस्टोरियोग्राफी” सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-19 में, नई दिल्ली: इंदिरा गाँधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005
- 2- रजत रे, “दी कैम्ब्रिज स्कूल” सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-23 में, नई दिल्ली: इंदिरा गाँधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005
- 3- गारलैण्ड कन्नॉन, दी लाइफ एंड माइंड ऑफ ओरियण्टल विलियम जॉस: सर विलियम जॉस, दी फ़ॉदर ऑफ माडर्न लिंगविस्टिक्स, न्यूयार्क: कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 1990

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

- 1- उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से आरम्भिक बीसवीं शताब्दी तक के साम्राज्यावादी इतिहास-लेखन पर चर्चा कीजिए।
- 2- यूरोपीय इतिहास-लेखन के सामान्य लक्षण एवं प्रभावों पर चर्चा कीजिए।

स्वातंत्र्य-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन – आर. सी. दत्त एवं दादाभाई नौरोजी

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
- 3.4 आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन
 - 3.4.1 दादाभाई नौरोजी एवं आर्थिक दोहन का सिद्धांत
 - 3.4.2 आर. सी. दत्त एवं आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन
- 3.5 आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का विश्लेषण
- 3.6 सारांश
- 3.7 पारिभाषिक शब्दावली
- 3.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.11 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हुआ. आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा और यूरोपीय इतिहास-लेखन ने भारतीयों में इतिहास के प्रति एक चेतना पैदा कर थी. अतः अतीत के प्रति जागरूक भारतीयों ने मूल तथ्यों एवं प्राथमिक स्रोतों को आधार बनाकर आधुनिक इतिहास-लेखन का आरम्भ किया. यूरोपीय साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन ने भारत के अतीत का जो चित्रण किया था, वह भारतीयों के अनुसार उचित नहीं था. यूरोपीय इतिहास-लेखन के साम्राज्यवादी तर्कों को काटने के लिये भारतीयों ने स्वयं भारतीय इतिहास के पुनर्विश्लेषण का बीड़ा उठाया. अतः राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का आरम्भ साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की प्रतिक्रिया के रूप में शुरू हुआ. इसीलिये इसे वैचारिक आधार पर साम्राज्यवाद-विरोधी अथवा उपनिवेशवाद-विरोधी इतिहास-लेखन भी कहा जा सकता है. स्वाभाविक रूप से, इस इतिहास-लेखन में एक ओर भारतीय अतीत की भूरी-भूरी प्रशंसा की गई थी, तो दूसरी ओर साम्राज्यवाद के आर्थिक पहलुओं का पहली बार विश्लेषण किया गया. इसप्रकार, राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की कई धारयाँ निकलीं. आगे हम राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की तीन मुख्य प्रवृत्तियों की चर्चा करेंगे.

3.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम राष्ट्रवादी इतिहास लेखन तथा इसकी प्रमुख प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास करेंगे। राष्ट्रवादी इतिहास लेखन आधुनिक राष्ट्रवादी विचारधारा से प्रभावित था, अतः इसका एक लक्ष्य राष्ट्रवादी चेतना का प्रसार रहा है। परंतु राष्ट्र की समझ को लेकर विद्वानों के मध्य अलग-अलग राय होने के कारण इस इतिहास लेखन में हम विभिन्न धाराएँ पाते हैं। एक ओर उन इतिहासकारों की परम्परा है जिन्होंने भारतीय सांस्कृतिक उत्कृष्टता पर जोर दिया, दूसरी ओर वे लेखक जिन्होंने राष्ट्रवादी प्रचार के लिये औपनिवेशिक अर्थतंत्र को चुनौती दी। इन दूसरे लेखकों का प्रभाव भारतीय इतिहास लेखन में दूरगामी रहा है, अतः इन पर हम विशेष गौर करेंगे।

3.3 राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन में यह साबित करने का यत्न किया था कि भारतीय अतीत में अधिकतर या तो राजनीतिक एवं प्रशासनिक अराजकता रही या एक प्राच्य-निरंकुशता। कुल मिलाकर साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने यह दिखाने का प्रयास किया था कि भारतीय स्वशासन के अनुकूल नहीं हैं। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने साम्राज्यवादी इतिहास को चुनौती देते हुए भारतीय इतिहास से विपरीत प्रमाण देना आरम्भ किया। के. पी. जायसवाल ने अपने ग्रंथ हिन्दू पॉलिटी (1915) में प्राचीन भारत में गणतन्त्रों की उपस्थिति के प्रमाण दिये। परंतु, प्राचीन भारत में संसदीय प्रजातंत्र के सारे लक्षणों को साबित करने के प्रयास में उन्होंने प्राचीन शब्दों की नवीन एवं एकदम निजी व्याख्या की। प्राचीन भारत में सुसंगठित शासन की व्यवस्था को पुष्ट करने में कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र की खोज सबसे महत्वपूर्ण थी। मैसूर स्थित ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट में कार्यरत आर. शामशास्त्री ने इसे खोज निकाला और 1909 में संस्कृत में प्रकाशित किया। 1915 में उन्होंने इसका अंग्रेजी अनुवाद भी छाप दिया। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भारतीय अतीत को यूरोप से समृद्ध दिखाने के प्रयास में अतिरेकपूर्ण ढंग से कौटिल्य की तुलना मैक्यावली और बिस्मार्क से की। मौर्यकालीन मंत्रि-परिषद को ब्रिटेन की प्रिवी-काउंसिल के समतुल्य बताया गया। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने तर्क दिये थे कि भारत ब्रिटिश शासन से पूर्व कभी भी एक राष्ट्र नहीं था। साथ ही उन्होंने भारतीय संस्कृति को निकृष्ट बताया था। राष्ट्रवादी लेखक अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के बचाव के लिये दौड़ पड़े। उन्होंने साहित्यिक स्रोतों की पुनर्व्याख्या करके यह दिखाने की चेष्टा की कि प्राचीन भारतीय संस्कृति एक महान संस्कृति थी। इस अन्धी दौड़ में अक्सर तथ्यों की सत्यता को भी नज़रअन्दाज़ कर दिया गया। इसप्रकार सांस्कृतिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की परम्परा आरम्भ हुई। भारत को एक राष्ट्र के रूप में चित्रित करने के प्रयास में शक, कुषाण तथा हूणों के आक्रमणों को विदेशी आक्रमणों की भाँति पेश किया जाने लगा। के. पी. जायसवाल ने अपने ग्रंथ हिस्ट्री आफ इंडिया में नागों को शक-कुषाण शासकों से मुक्तिदाता के रूप में पेश किया, हलांकि इसके लिये पर्याप्त साक्ष्य नहीं थे। सबसे खतरनाक था तुर्कों एवं मुगल शासकों को विदेशी आक्रांता बताना। क्योंकि इसके विरोध में मुस्लिम इतिहासकारों ने तुर्क और मुगल शासकों की झूठी प्रशंसा आरम्भ कर दी। इस प्रक्रम में जदुनाथ सरकार द्वारा रचित हिस्ट्री ऑफ औरंगज़ेब सबसे प्रतिक्रियावादी साबित हुई।

दी फॉल आफ मुगल इम्पायर में सरकार नें मुगलों के पतन को औरंगज़ेब की धार्मिक नीति से जोड़ा. कुछ मुस्लिम इतिहासकारों नें औरंगज़ेब की तथाकथित कट्टर धार्मिक नीति को राजनीतिक आधार पर सही ठहराने की चेष्टा की. इसप्रकार साम्प्रदायिक इतिहास-लेखन के बीज पड़ना आरम्भ हो गये.

अनेक राष्ट्रवादी इतिहासकारों के लेखनों में मध्यकाल और मुस्लिमों के प्रति वैमनस्य की भावना झलकती थी, जो कहीं से भी ऐतिहासिक नहीं थी. साम्राज्यवाद-विरोधी होते हुए भी ये इतिहासकार वस्तुतः साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की विभाजनकारी विचारधारा से प्रभावित हो गये थे. उन्होंने साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन के तर्कों को तो काटा परंतु इसमें छिपी वर्चस्ववादी ऐतिहासिक दृष्टि को नहीं पहचान सके. राष्ट्रवाद का गौधीवादी युग आते-आते इस प्रवृत्ति के इतिहास-लेखन की आलोचना होने लगी. महात्मा गौधी ने स्वयं भी विभाजनकारी साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन को एक खतरे की भाँति देखा और भारत का सही इतिहास लिखने की प्रेरणा दी. गौधीवादी राष्ट्रवाद से प्रभावित भारतीय इतिहासकारों ने धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की नींव डाली. मुहम्मद हबीब नें अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ महमूद ऑफ गज़नी में महमूद गज़नी को इस्लाम धर्मप्रचारक की भाँति नहीं देखा. वरन, उन्होंने सिद्ध किया कि महमूद के आक्रमण धर्मयुद्ध के आह्वान नहीं, बल्कि गौरव प्राप्ति की आकांक्षा तथा सोने की लालच में किये गये लूट के प्रयास थे. मध्यकालीन इतिहास को गैर-साम्प्रदायिक ढंग से पुनर्विश्लेषित करने के प्रयास में ताराचन्द का इतिहास-लेखन सर्वोपरि था. अपनी पुस्तक इंप्लुएंस् आफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर में उन्होंने मध्यकालीन इतिहास में हिन्दू-मुस्लिम समन्यवय को मुख्य विषय बनाया. के. एम. अशरफ ने अपने ग्रंथ लाइफ एंड कंडीशन आफ दी पीपुल आफ हिन्दुस्तान 1200-1500 (1935) में तुर्क शासकों की तीखी आलोचना की. उन्होंने तर्क दिया कि इस काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य कोई सांस्कृतिक संघर्ष नहीं था. साथ ही, अशरफ ने दिखाया कि सल्तनतकाल में इस्लाम के आने से आम लोगों की दशा में भी कोई सुधार नहीं हुआ था. के. एम. अशरफ संभवतः पहले इतिहासकार थे जिन्होंने निम्न सामाजिक वर्गों को इतिहास का पात्र बनाया. गैर-साम्प्रदायिक एवं धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी इतिहास लिखने की दिशा में एक सफल प्रयोग जवाहरलाल नेहरू नें किया. उनकी विश्व प्रसिद्ध रचना दी डिसकवरी ऑफ इंडिया 1946 में प्रकाशित हुई. इस ग्रंथ में दूसरे राष्ट्रवादियों के तरह ही प्राचीन भारत की तमाम उपलब्धियों की चर्चा थी, फिर भी, अतिवादी दृष्टिकोण का अभाव था. नेहरू नें भारतीय दर्शन और गणित की प्रशंसा की थी परंतु व्यक्तिवादी दर्शन की निन्दा भी की. मध्यकालीन इतिहास की सबसे महान विशेषता के रूप में नेहरू ने मिली-जुली संस्कृति के विकास की सराहना की. भारत के राष्ट्रनायकों के रूप में नेहरू ने अशोक और अकबर की प्रशंसा की. दोनों ने ही अपने-अपने काल में धार्मिक सहिष्णुता के लिये कार्य किया था. फिर भी यह इतिहास उन त्रुटियों से मुक्त नहीं था, जो समकालीन इतिहास में मौजूद थीं. स्पष्ट है नेहरू नें उपलब्ध ग्रंथों का ही सहारा लिया था. फिर भी, राष्ट्रनायकों का गौरव शिवाजी एवं महाराणा प्रताप के स्थान पर अशोक और अकबर को देना अपने आप में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की उस त्रुटि को दुरुस्त करना था जिसने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया था. डिसकवरी में सबसे महत्वपूर्ण था आधुनिक भारत का इतिहास लिखना. आजादी से पूर्व बड़े पैमाने पर आधुनिक

भारत का इतिहास राष्ट्रवादी दृष्टि से नहीं लिखा गया था. नेहरू ने राष्ट्रवाद एवं साम्राज्यवाद का आर्थिक विश्लेषण भी इसमें किया था. हलांकि यह पहला विश्लेषण नहीं था और उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में राष्ट्रवादियों द्वारा किया गया सबसे उल्लेखनीय कार्य था.

3.4 आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन

राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की ऊपर वर्णित दो प्रवृत्तियों के अलावा तीसरी प्रवृत्ति आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन की थी. स्वतंत्रता-पूर्व आधुनिक भारत के इतिहास-लेखन की यही सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति भी थी. हलांकि साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था की समालोचना करने वाले राष्ट्रवादी इतिहासकार न होकर राजनीतिक नेता एवं अर्थशास्त्री थे. इस परम्परा में दो नाम सर्वोपरि हैं – दादाभाई नौरोजी एवं आर. सी. दत्त – जिन्होंने साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था की गहन पड़ताल की थी. इनके अतिरिक्त महादेव गोविन्द रानाडे, दिनशा वाचा एवं जी. एस. अय्यर आदि ने भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक प्रभावों के शोषणकारी पहलुओं को उजागर किया था. आगे हम नौरोजी एवं दत्त के लेखनों की विस्तार से चर्चा करेंगे. हम देखेंगे कि ये कुछेक पहले राष्ट्रवादी थे जिन्होंने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की पोल खोली. बाद के राष्ट्रवादी प्रचार में इन अध्ययनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का आरम्भ साम्राज्यवादी इतिहास-लेखन की प्रतिक्रिया के रूप में शुरू हुआ
2. जदुनाथ सरकार ने हिन्दू पॉलिटी (1915) में प्राचीन भारत में गणतन्त्रों की उपस्थिति के प्रमाण दिये.
3. कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र की खोज आर. शामशास्त्री ने 1909 में की .
4. के. पी. जायसवाल द्वारा रचित हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब सबसे प्रतिक्रियावादी साबित हुई.
5. जवाहरलाल नेहरू की विश्व प्रसिद्ध रचना दी डिसकवरी ऑफ इंडिया 1946 में प्रकाशित हुई.

3.4.1 दादाभाई नौरोजी एवं आर्थिक दोहन का सिद्धांत

दादाभाई नौरोजी को भारतीय इतिहास में ग्रैंड ओल्ड मैन ऑफ इंडिया के नाम से जाना जाता है. वे भारतीय राष्ट्रवाद के उन पुरोधाओं में से थे जिन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की थी. 1886 में वे कांग्रेस के अध्यक्ष भी चुने गये. इससे पूर्व ही 1867 में कांग्रेस के पूर्वगामी संगठन के रूप में उन्होंने लन्दन में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन की स्थापना की थी. एसोसिएशन के माध्यम से उन्होंने लन्दन में भारतीयों के पक्ष में समर्थन जुटाने का प्रयास किया था. दादाभाई नौरोजी पारसी समाज सुधार के कार्यों से भी जुड़े थे. इसके लिये 1851 में उन्होंने रहनुमाई मजदायसन

सभा की स्थापना की थी और रफ्त गोफ्तार नामक पत्र निकाला था. उदारवादी विचारधारा से प्रभावित नौरोजी ने 1892 में लिबरल पार्टी के टिकट पर ब्रिटिश पार्लियामेंट का चुनाव लड़ा एवं एम.पी. (मेम्बर ओफ पार्लियामेंट) बन गये. 1906 में दादाभाई नौरोजी ने पुनः कांग्रेस की कमान उस वक़्त संभाली जब कांग्रेस के भीतर नरमपंथी और गरमपंथी गुट संभावित टकराव की ओर बढ़ रहे थे. नौरोजी का व्यक्तित्व इस वैचारिक टकराव को एक वर्ष तक टालने में सफल रहा. फिर भी, दादाभाई नौरोजी की राजनीतिक गतिविधियों की सबसे बड़ी उपलब्धि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का आर्थिक विश्लेषण था.

दादाभाई नौरोजी को हम उनके सर्वविदित लेखन दी पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया (1876) से पहचानते हैं. इस ग्रंथ में उन्होंने न केवल भारतीय गरीबी की चर्चा की बल्कि इसके लिये अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों को भी जिम्मेदार ठहराया. ब्रिटिश आर्थिक नीतियों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने का यह किसी भारतीय का पहला प्रयास था. इससे पूर्व ही 1870 में दादाभाई नौरोजी ने लन्दन में सोसाईटी ऑफ ऑर्ट्स की एक सभा में दी वांट्स एंड मीन्स ऑफ इंडिया शीर्षक से एक पत्र पढ़ा. इसमें उन्होंने बताया था कि वर्तमान भारत अपनी आवश्यकता के अनुपात में उत्पादन करने में सक्षम नहीं है. फिर 1873 में दादाभाई नौरोजी ने भारतीय वित्त की एक कमेटी को भारतीय गरीबी के कारणों पर कुछ तर्क दिये. कमेटी ने इन तर्कों को स्वीकार तो कर लिया परंतु प्रकाशित नहीं किया. नौरोजी के यही लेख अंततः पावर्टी में प्रकाशित हुए. नौरोजी ने आरम्भ से ही भारतीय गरीबी को अपने लेखों का मुख्य विषय बनाया. पावर्टी में ब्रिटिश शासन की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि भारतीय जनता को अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने भर भी नहीं मिल रहा है. नौरोजी ने उदार अंग्रेजों को चेताया कि गरीबी के समाधान पर ही ब्रिटेन के भारत पर असली उपकार को तय होना है. इसप्रकार उन्होंने ब्रिटिश शासन की इस अवधारणा पर – कि ब्रिटेन का भारत में शासन एक कल्याणकारी राज है – सवालिया निशान लगा दिया. ब्रिटिश शासन को लेकर आरम्भ में तो नौरोजी का यह विचार था कि अंग्रेजों को भारत की वास्तविक दशा का ज्ञान नहीं है, और यदि उन्हें इस बारे में बताया जाये तो औपनिवेशिक शासन की नीतियाँ बदलेंगी. परंतु जैसे-जैसे उनकी ये आशाएँ कमजोर होती गयीं ब्रिटिश शासन की उनकी आलोचना भी तीखी होती चली गयी. 1895 में दादाभाई नौरोजी कहा कि भारत भूख से मर रहा है. वहीं 1900 तक वे भारतीयों की तुलना अमेरिकी गुलाम से करते हुए अमेरिकी गुलाम की दशा को एक भारतीय से बेहतर बता रहे थे. दादाभाई नौरोजी ने भारत की गरीबी को उत्पादन की कमी से जोड़ा जबकि इसी समय अंग्रेज लेखक इसे विशाल जनसंख्या से जोड़ रहे थे. लार्ड कर्जन ने 1888 में एक सरकारी सभा में भारतीय गरीबी के लिये सघन जनसंख्या और जनसंख्या की तेज़ वृद्धि दर को दोषी ठहराया. जनसंख्या की वृद्धि एवं गरीबी का यह सम्बन्ध मालथस के अध्ययन पर आधारित था. दादाभाई नौरोजी ने इसके विपरीत तर्क दिया कि अधिकतर पश्चिमी यूरोपीय देश भारत से कहीं सघन बसे हैं फिर भी उन्होंने आर्थिक समृद्धि प्राप्त की है. जनसंख्या की वृद्धि एवं गरीबी के अंतर्सम्बन्ध को भी नौरोजी ने नकार दिया. उन्होंने तर्क दिया कि इंग्लैण्ड सहित पश्चिमी यूरोप के देशों की जनसंख्या भारत के मुकाबले कहीं तेजी से बढ़ी है तथापि उनकी भौतिक समृद्धि में वृद्धि हुई है. निष्कर्षतः नौरोजी ने न्यून उत्पादन को भारत की गरीबी का मुख्य कारण माना.

इसप्रकार दादाभाई नौरोजी के विचार से तेज़ पूँजीवादी उत्पादन एवं औद्योगीकरण ही भारत की गरीबी दूर करने का एकमात्र समाधान हो सकता था। नौरोजी और उनके काल के दूसरे आर्थिक राष्ट्रवादियों ने गरीबी को उत्पादन के अनुचित बंटवारे से जोड़कर नहीं देखा। अतः गरीबी के एक महत्वपूर्ण कारण के रूप में वर्गीय शोषण की प्रवृत्ति को वे नहीं पहचान सके। फिर भी औपनिवेशिक शोषण को पहचान कर राष्ट्रवाद के उदभव एवं विकास में उन्होंने अमूल्य योगदान दिया। इसमें सबसे महत्वपूर्ण था सम्पत्ति के दोहन का सिद्धांत।

सम्पत्ति के दोहन का सिद्धांत संभवतः दादाभाई नौरोजी के आर्थिक विश्लेषणों की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। भारत की गरीबी के सबसे महत्वपूर्ण कारण के रूप में उन्होंने भारतीय सम्पत्ति के इंग्लैण्ड पलायन को दोषी माना। सम्पत्ति के दोहन का अर्थ था भारत की राष्ट्रीय सम्पत्ति अथवा सलाना उत्पादन का इंग्लैण्ड को निर्यात, जिसके बदले में भारत को कोई भी भौतिक लाभ नहीं मिल रहा था। दादाभाई नौरोजी ने 1867 से ही इस सवाल को उठाना आरम्भ कर दिया था जब उन्होंने लन्दन में स्थापित ईस्ट इंडिया एसोसिएशन की एक सभा में अपना पत्र 'इंग्लैण्ड्स डेब्ट टू इंडिया' पढ़ा था। इस पत्र में नौरोजी ने कहा कि भारतीय राजस्व का लगभग एक-चौथाई हिस्सा उस देश से इंग्लैण्ड को स्थानांतरित हो जाता है। उन्होंने अंग्रेजों को सलाह दी कि भारत में उत्पादन को बढ़ाना चाहिये ताकि वह देश ब्रिटिश शासन और दोहन के भार को सह सके तथा गरीब न हो। 1876 में पावर्टी के लेखन तक दादाभाई नौरोजी ने 'दोहन सिद्धांत' को पूर्ण विकसित कर लिया था। अब नौरोजी ने दोहन सिद्धांत के प्रचार में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। अखबारों, भाषणों, अधिकारियों से पत्र-व्यवहार, विभिन्न कमीशनों एवं कमेटियों के समक्ष तथ्य प्रस्तुत करना आदि सभी नरमपंथी तरीकों को दादाभाई नौरोजी ने दोहन सिद्धांत के प्रचार का माध्यम बनाया। उन्होंने इसे भारत में ब्रिटिश शासन का मूलभूत पाप बताया। साधारणः राष्ट्रवादी आर्थिक विश्लेषकों ने आयात-निर्यात के अंतर को सम्पत्ति के दोहन के रूप में देखा था। दादाभाई नौरोजी ने तर्क दिया कि भारतीय निर्यात की कीमत निर्यात बन्दरगाह पर तय की जा रही है, जिससे निर्यात का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है और भारत को निर्यात का लाभ नहीं मिल रहा है। आर्थिक राष्ट्रवादियों के अनुसार दोहन में अंग्रेज प्रशासकों (नागरिक एवं सैनिक) के वेतन, अंग्रेज डॉक्टरों, वकीलों एवं दूसरे कर्मचारियों की आय एवं लाभ, इंग्लैण्ड में रह रहे अंग्रेज अधिकारियों की पेंशन एवं भत्ते आदि को शामिल किया जा सकता था। दादाभाई नौरोजी ने भी अक्सर भारतीय प्रशासन में आवश्यकता से अधिक अंग्रेजों के रोजगार में होने को दोहन का मुख्य बिन्दू बताया। इसके अतिरिक्त दादाभाई नौरोजी ने घरेलू खर्चों (होम चार्जेज) को भी दोहन का एक माध्यम बताया। भारत सरकार के वे खर्चे जो इंग्लैण्ड में भारत सचिव के द्वारा किये जाते थे होम चार्जेज कहलाते थे। इसमें भारतीय ऋण पर ब्याज, रेलवे के विकास में लगाये जा रहे धन पर गारंटीशुदा लाभ, भारत भेजी जाने वाली सैन्य सामग्री की कीमत, इंग्लैण्ड में देय दूसरे नागरिक एवं सैनिक खर्चे, लन्दन स्थित इंडिया ऑफिस के खर्चे तथा भारत सरकार के यूरोपीय अधिकारियों की पेंशन एवं भत्ते आदि सम्मिलित थे। दूसरे राष्ट्रवादियों ने निजी विदेशी पूँजी निवेश पर लाभ को भी दोहन से जोड़ा। ये पूँजी सबसे अधिक रेलवे के विकास में लग रही थी, जिसमें निवेश पर लाभ की गारंटी भारत सरकार ने दे रखी थी। संक्षेप में कहा जाये तो दादाभाई नौरोजी के विश्लेषण एवं प्रचार ने भारतीय राष्ट्रवाद के प्रारम्भिक चरण में आर्थिक

दोहन को राष्ट्रवादी प्रचार का मुख्य हथियार बना दिया था. शीघ्र ही दूसरे राष्ट्रवादियों ने भी इसे मुद्दा बनाया. महादेव गोविन्द रानाडे ने 1872 में पूना की एक सभा में भाषण देते हुए भारतीय पूँजी एवं संसाधनों के दोहन की घोर निन्दा की तथा तर्क दिया कि भारत की राष्ट्रीय आय का एक-तिहाई से अधिक ब्रिटिश द्वारा ले जाया जा रहा है. 1873 में भोलानाथ चन्द्र ने कहा कि पहले तो कम्पनी भारतीय राजस्व का केवल एक हिस्सा ही ले जा रही थी, परन्तु अब हजारों तरीकों से भारतीय धन लूटा जा रहा है.

3.4.2 आर. सी. दत्त एवं आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन

दादाभाई नौरोजी के अतिरिक्त दूसरे महत्वपूर्ण आर्थिक राष्ट्रवादी रोमेश चन्द्र दत्त थे, जिन्होंने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का अलोचनात्मक अध्ययन किया था. भारतीय सिविल सेवा के अधिकारी दत्त संस्कृत के भी विद्वान थे. उन्होंने संस्कृत के साहित्यिक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया एवं तीन खण्डों में ए हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन इन एंशिअंट इंडिया नामक पुस्तक लिखी. इस ग्रंथ में दत्त ने प्राचीन सामाजिक संस्थाओं को समझने का प्रयास किया था तथा वैदिक जीवन के सांसारिक पक्ष पर प्रकाश डाला था. इसप्रकार वैज्ञानिक ढंग से एवं उपलब्ध स्रोत सामग्री का प्रयोग कर इतिहास लिखने का यह आर. सी. दत्त का पहला प्रयास था. परन्तु दो खण्डों में प्रकाशित इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया आर. सी. दत्त का सबसे उत्कृष्ट लेखन कार्य साबित हुआ. इसकी स्रोत सामग्री मुख्यतः सरकारी रिपोर्ट एवं संसदीय पत्र थे. इसप्रकार दत्त ने अपना लेखन मूलतः अंग्रेज अधिकारियों के लेखों एवं सरकारी आंकड़ों के आधार पर ही किया था. फिर भी, ब्रिटिशकाल की अर्थव्यवस्था लिखने का यह पहला सफल प्रयास था. इससे पहले न तो किसी ने ब्रिटिश अर्थव्यवस्था का इतिहास लिखा था, और न ही भारतीय गरीबी के ऐतिहासिक कारण जानने का प्रयास किया गया था. 1901-02 के मध्य लिखी गई इस पुस्तक में औपनिवेशिक भारत की अर्थव्यवस्था के लगभग सभी पक्षों – कृषि, उद्योग, वाणिज्य – को छूने का प्रयास किया गया था. फिर भी दत्त के अध्ययन का मुख्य केन्द्र ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियाँ थीं. उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में लगातार पड़ने वाले भीषण अकालों ने गरीबी, भुखमरी और उत्पादन के सवाल को अहम बना दिया था. अकालों के अध्ययन के लिये बनाए गये कमीशनों ने अकालों के लिये सूखे को जिम्मेदार ठहराया. इसप्रकार ब्रिटिश प्रशासन कृषि उत्पादन एवं अकालों को भारतीय मानसून पर निर्भर मानता था. दत्त ने अपने अध्ययन के जरिये दिखाया कि अकालों के लिये ब्रिटिश नीतियाँ ही अधिक जिम्मेदार हैं. 1900 में लार्ड कर्जन को लिखे अपने पत्रों में दत्त ने ब्रिटिश सरकार की भू-राजस्व नीतियों को अकाल का मुख्य कारण बताया. बाद में इकोनामिक हिस्ट्री में दत्त ने अधिक विस्तार से औपनिवेशिक भू-राजस्व नीतियों का अध्ययन किया. पहले से ही राष्ट्रवादी नेताओं ने राजस्व के निर्धारण एवं उच्च दर को भारतीय कृषि की खराब दशा के लिये जिम्मेदार बताया था. दत्त ने भी माना कि भू-राजस्व नीतियों, जिसमें भूराजस्व की उच्च दरें शामिल हैं, के ही कारण कृषि दशा की दुर्गति हुई है, साथ ही यही भारतीय गरीबी का मुख्य कारण है. उच्च दर के कारण किसान लगातार अनाजों के स्थान पर गैर-खाद्य नगदी फसलें बोने के लिये बाध्य हो रहे थे. दत्त ने तर्क दिया कि चूंकि भारतीय जनसंख्या का एक बड़ा भाग कृषि पर निर्भर है अतः कृषि की दशा में लगातार गिरावट

से साल दर साल अनाज की कमी होती गयी है. उन्होंने अनाज के उत्पादन में गिरावट को अकालों का मुख्य कारण भी बताया. इस प्रकार आर. सी. दत्त ने मानसून के स्थान पर ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों को लगातार पड़ रहे अकालों के लिये जिम्मेदार ठहराया. अंग्रेज प्रशासकों की आलोचना करते हुए दत्त ने कहा कि जब तक भीषण गरीबी के वास्तविक कारणों को सामने नहीं लाया जाता तब तक सुधारकारी उपायों का सुझाव नहीं दिया जा सकता तथा आर्थिक प्रगति की बाधाओं को भी दूर नहीं किया जा सकता है. औपनिवेशिक भू-राजस्व नीतियों के अलावा आर. सी. दत्त ने भारतीय हस्तशिल्प उद्योग के पतन को भी ब्रिटिश नीतियों का दुष्परिणाम बताया. उन्होंने पतन की ऐतिहासिक प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए बताया कि सदियों से भारत के औद्योगिक उत्पादन (हस्तशिल्प उत्पादन) का एशिया और यूरोप में बड़ा बाजार था और ये उत्पादन अनेक देशों को भेजे जाते थे. यही नहीं बल्कि कताई, बुनाई एवं दूसरे हस्तशिल्पों में हजारों भारतीयों को रोजगार भी मिलता था. दत्त ने दावा किया कि ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात् भारत ने धीरे-धीरे न केवल विदेशी बाजार खो दिये बल्कि देश के आंतरिक बाजार भी उसके हाँथ से निकल गये. उन्होंने यह भी उल्लेख किया कि वर्तमान भारत एक बड़े स्तर पर अब विदेशी उत्पादों का आयात कर रहा है. आर. सी. दत्त ने इस प्रक्रिया की आलोचना करते हुए इसे 'ब्रिटिश भारत के इतिहास का सबसे दुःखद अध्याय' बताया क्योंकि इससे भारत की समृद्धि में कमी ही नहीं आई बल्कि अनेक लोगों के जीवन का साधन ही नष्ट हो गया. राष्ट्रवादी आर्थिक विश्लेषकों ने यह भी तर्क दिया कि इस प्रक्रिया ने अततः कृषि पर जनसंख्या के बोझ को बढ़ा दिया क्योंकि हस्तशिल्प के विनाश से बेरोजगार लोगों के पास और कोई चारा नहीं था. आर. सी. दत्त ने दावा किया कि भारत में ब्रिटेन ने भारतीय परम्परागत उद्योग के पतन की कीमत पर ब्रिटिश औद्योगिक उत्पादन को बढ़ावा दिया है, और ऐसा ब्रिटिश व्यापारियों एवं उद्योगपतियों के दबाव में किया जा रहा है. आर. सी. दत्त ने बताया कि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश उद्योगों का गुलाम बनाने के लिये भारत को कच्चा माल का उत्पादक एवं ब्रिटिश उद्योग के बाजार की भाँति विकसित किया जा रहा है. इस प्रकार दत्त ने परम्परागत भारतीय हस्तशिल्प के पतन को ब्रिटिश आर्थिक नीतियों से जोड़कर देखा. कालांतर में यह भारतीय राष्ट्रवादियों एवं अंग्रेजों के मध्य बहस का एक प्रमुख मुद्दा बन गया. यही नहीं बल्कि स्वतंत्रता के पश्चात् औपनिवेशिक विचारधारा के इतिहासकारों एवं भारतीय (मुख्यतः मार्क्सवादी) इतिहासकारों के मध्य आधुनिक भारत के इतिहास लेखन में भारतीय उद्योगों का विनाश ही सबसे बहस का विषय रहा है

3.5 आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन का विश्लेषण

आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन आरम्भिक राष्ट्रवादियों की सबसे बड़ी उपलब्धि थी. इन लेखकों ने औपनिवेशिक शासन की गहन पड़ताल की तथा ब्रिटिश राज की 'कल्याणकारी राज' की अवधारणा को गहरा धक्का लगाया. इस प्रकार उन्होंने उभरते भारतीय राष्ट्रवाद को तर्क एवं आधार दिया. राष्ट्रवादी नेताओं ने इन आर्थिक विश्लेषणों को राष्ट्रवादी प्रचार का मुख्य हथियार बनाया. न केवल आरम्भिक राष्ट्रवादियों बल्कि महात्मा गाँधी ने भी भारतीय हस्तशिल्प के पतन एवं सम्पत्ति के दोहन को भारत में राष्ट्रवाद के प्रचार का मुख्य माध्यम

बनाया. यदि ये अध्ययन न होते तो संभवतः 'स्वदेशी एवं बहिष्कार' की रणनीति का जन्म ही न होता. महात्मा गाँधी ने विदेशी कपड़ों के बहिष्कार को महत्वपूर्ण मुद्दा बनाकर राष्ट्रीय आन्दोलन को एक जनआन्दोलन में तब्दील कर दिया. फिर भी, हमें यह स्वीकार करना होगा कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के ये आरम्भिक अध्ययन काफी कमजोर थे. दादाभाई नौरोजी ने अक्सर विश्लेषण के स्थान पर राजनीतिक बयानबाजी का सहारा लिया था. वहीं आर. सी. दत्त के तर्क आकड़ों पर आधारित होने के बावजूद काफी कमजोर थे. फिर भी इन आरम्भिक आर्थिक अध्ययनों के महत्व को कम करके नहीं आंका जा सकता क्योंकि इन्होंने भारत में आर्थिक इतिहास लेखन की एक परम्परा डाली. कालांतर में भारतीय इतिहासकारों – जिसमें मुख्यतः मार्क्सवादी इतिहासकार थे – ने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर उत्कृष्ट इतिहास-लेखन किया है.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. दादाभाई नौरोजी को भारतीय इतिहास में ऑफ इंडिया के नाम से जाना जाता है.
2. दादाभाई नौरोजी को हम उनके सर्वविदित लेखन से पहचानते हैं.
3. दादाभाई नौरोजी समाज सुधार के कार्यों से भी जुड़े थे
4. रोमेश चन्द्र दत्त ने तीन खण्डों में नामक पुस्तक लिखी.
5. 1900 में लार्ड कर्जन को लिखे अपने पत्रों में दत्त ने ब्रिटिश सरकार की को अकाल का मुख्य कारण बताया

3.6 सारांश

उपर हमने स्वतंत्रता-पूर्व राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों की चर्चा की है. हमने देखा कि राष्ट्रवादी इतिहास लेखन का उदय औपनिवेशिक इतिहास लेखन की गलत धारणाओं को खारिज करने के लिये हुआ. इसका मुख्य लक्ष्य भारत में राष्ट्रवादी प्रचार भी था. राष्ट्रवादी इतिहास लेखकों के एक वर्ग ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टता पर जोर दिया. इनके लेखन को हम सांस्कृतिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की श्रेणी में रख सकते हैं. इस परम्परा के स्पष्ट खतरे सामने आए क्योंकि इसने कालांतर में साम्प्रदायिक इतिहास लेखन को सामग्री उपलब्ध कराई. गाँधीवादी राष्ट्रवाद के उदय के साथ ही राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की उदार परम्परा का आरम्भ हुआ. इस परम्परा ने राष्ट्रीय एकता को इतिहास लेखन के मुख्य उद्देश्य के रूप में देखा. तीसरी परम्परा आर्थिक इतिहास लेखन के रूप में आरम्भ हुई. इस परम्परा के लेखकों ने ब्रिटिश औपनिवेशिक शोषण को अपने लेखनों का मुख्य बिन्दु बनाया तथा ब्रिटिश राज की भारत में उपस्थिति के ब्रिटिश उद्देश्यों पर सवालिया निशान लगाए. इन तीनों ही परम्पराओं ने भारत में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की नींव रखी.

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

अतिरेकपूर्ण – बढ़ाचढ़ाकर प्रस्तुत करना

विभाजनकारी विचारधारा – बांटनेवाली विचारधारा

कल्याणकारी राज – जनता की भलाई करने वाला शासन

बन्दरगाह – पानी के जहाजों के ठहरने का स्थान

3.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 3.4 के उत्तर

1. सत्य
2. असत्य
3. सत्य
4. असत्य

5. सत्य

1. ग्रैंड ओल्ड मैन

2. दी पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया

3. पारसी

4. ए हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन इन एंशिअंट इंडिया

5. भू-राजस्व नीतियों

3.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1- ई. श्रीधरन, इतिहास-लेख: एक पाठ्यपुस्तक, नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2011

2- बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1998

3- सुमित सरकार, आधुनिक भारत: 1885-1947, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2002

4- द्विजेन्द्रनारायण झा, प्राचीन भारत: सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2000

3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1- सब्यासाची भट्टाचार्य, “कोलोनियल हिस्टोरियोग्राफी” सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-19 में, नई दिल्ली: इंदिरा गाँधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005

2- रजत रे, “दी कैम्ब्रिज स्कूल” सभ्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-23 में, नई दिल्ली: इंदिरा गाँधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005

3- गारलैण्ड कन्नॉन, दी लाइफ़ एंड माइंड ऑफ ओरियण्टल विलियम जॉस: सर विलियम जॉस, दी फ़ॉदर ऑफ़ माडर्न लिंगविस्टिक्स, न्यूयार्क: कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 1990

3.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. स्वातंत्र्य-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन पर आर. सी. दत्त एवं दादाभाई नौरोजी के विशेष सन्दर्भ में चर्चा कीजिए।

भारतीय इतिहास लेखन में अधुनातन वृत्तियां – परम्परावादी, सम्प्रदायवादी, राष्ट्रवादी तथा मार्क्सवादी

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 इतिहास लेखन
 - 4.3.1 परम्परावादी इतिहास लेखन
 - 4.3.2 सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन
 - 4.3.3 राष्ट्रवादी इतिहास लेखन
 - 4.3.4 मार्क्सवादी इतिहास लेखन
- 4.4 आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन की नवीनतम प्रवृत्ति: सबअल्टर्न इतिहास लेखन
- 4.5 सारांश
- 4.6 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 4.8 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 4.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.10 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

आधुनिक ढंग से इतिहास लेखन की परम्परा का उदय तो औपनिवेशिक काल में हुआ। तथापि, कुछ पुरानी परम्पराएं भी बनी रहीं जिन्हें परम्परागत इतिहास लेखन कहा गया है। इस काल में आधुनिक इतिहास लेखन की मूलतः दो परम्पराएं मुख्य रूप से उभरीं – औपनिवेशिक इतिहास लेखन एवं राष्ट्रवादी इतिहास लेखन। राष्ट्रवादी परम्परा के भीतर भी दो स्पष्ट धाराएं दिखाई पड़ती हैं; एक को आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन एवं दूसरी को सांस्कृतिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन कहा जा सकता है। इस बाद वाली परम्परा ने कालांतर में साम्प्रदायिक इतिहास लेखन की प्रवृत्ति को तर्क एवं स्रोत दिये। आजादी के निकट आते-आते इतिहास लेखन की एक नवीन प्रवृत्ति का जन्म हुआ जिसमें पहली बार घटनाओं की विवेचना एवं विश्लेषण को अधिक महत्व दिया गया। इसे मार्क्सवादी इतिहास लेखन कहा गया। शीघ्र ही यह प्रवृत्ति आधुनिक भारत के इतिहास की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति बन गयी। इन सभी के बारे में हम नीचे विस्तार से चर्चा करेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य न केवल आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन की तमाम प्रमुख प्रवृत्तियों के बारे में जानना, अपितु उनमें विद्यमान मूलभूत अंतरों को पहचानना भी है। इतिहास लेखन एवं इतिहासकारों की विचारधारा का इतिहास पर असर पड़ना अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक इतिहासकार अंततः अपने समाज का प्रतिनिधि भी होता है। अतः इतिहासकारों पर परम्पराओं, सांस्कृतिक परिवेशों, तत्कालीन विचारधाराओं आदि का प्रभाव पड़ने की सम्भावनाएं रहती हैं। इन्हीं परिस्थितियों के कारण इतिहास लेखन की अनेक प्रवृत्तियों का जन्म हुआ। यहाँ हम केवल आधुनिक इतिहास लेखन की प्रमुख प्रवृत्तियों के विशिष्ट लक्षणों पर गौर करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आपको अग्रांकित जानकारी हो सकेगी-

- परम्परावादी इतिहास लेखन
- सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन
- राष्ट्रवादी इतिहास लेखन
- मार्क्सवादी इतिहास लेखन
- सबअल्टर्न इतिहास लेखन

4.3 इतिहास लेखन

औपनिवेशिक इतिहासकारों और उनके बौद्धिक पूर्वजों का यह विचार था कि भारतीयों को इतिहास एवं इतिहास लेखन की समझ नहीं थी। यूरोपीय बुद्धिजीवी भारत को एक स्थिर समाज की तरह देखते थे जिसमें लम्बे समय तक कोई परिवर्तन ही नहीं हुआ था। और, शासन का आधार मूलतः 'प्राच्य निरंकुशता' थी। अतः उनका मत था कि अंग्रेजों के आने के पूर्व भारत का कोई लिखित इतिहास ही नहीं था। इतिहास लेखन में प्राथमिक स्रोतों के आधार पर वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन की वकालत करने वाले लियोपोल्ड रैंके का मत था कि भारत का यदि कोई इतिहास है तो केवल 'प्राकृतिक इतिहास' ही है। इस मत के अनुसार भारत में इतिहास लेखन की कोई परम्परा नहीं थी। 1817 में जेम्स मिल द्वारा लिखित हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया को भारत का पहला लिखित इतिहास माना जाता था। औपनिवेशिक बुद्धिजीवियों के इन तर्कों को भारतीय बुद्धिजीवियों ने भी कुछ हद तक स्वीकार कर लिया था। अतः भारत में परम्परागत इतिहास लेखन की अनदेखी की जाती थी। यहाँ हमारा लक्ष्य यह सिद्ध करना नहीं है कि भारत में आधुनिक ढंग के इतिहास लेखन की जानकारी पहले से थी। बल्कि, भारत में इतिहास लेखन की परम्परागत प्रवृत्ति पर प्रकाश डालना भर है।

4.3.1 परम्परावादी इतिहास लेखन

आरम्भिक भारत में भले ही आधुनिक ढंग के इतिहास लेखन का अभाव था परंतु भारतीयों में ऐतिहासिक चेतना का अभाव नहीं था। प्राचीनतम संस्कृत पाठों में हमें अनेक ऐतिहासिक जानकारियाँ मिलती हैं। वैदिक ग्रंथों में हमें आर्यों के ही नहीं अपितु अनार्यों के राजनीतिक

संगठन, समाज एवं धर्म के बारे में पता चलता है। कालांतर में लिखे गये महाकाव्य भारतीय सभ्यता के गौरव ग्रंथ की भाँति देखे जाते हैं। हलांकि, महाकाव्यों के पात्रों एवं घटनाओं की ऐतिहासिकता संदिग्ध रही है। फिर भी, इनसे भारतीय समाज की विचारधारा का पता चलता है। सबसे महत्वपूर्ण, इन्होंने भारत में इतिहास लेखन की एक परम्परा को जन्म दिया। कालांतर में यह प्रवृत्ति चरितकाव्य परम्परा में विकसित हुयी। प्राचीन भारत में इतिहास लेखन की एक अन्य विशिष्ट परम्परा पुराणों के रूप में विकसित हुयी। अनेक पुराणों से हमें भारत में शासन करने वाले प्राचीन शासकों (मौर्य, सातवाहन एवं गुप्त आदि) की वंशावलियां प्राप्त होती हैं। इस कारण कुछ पुराण यथा - वायु पुराण, विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण तथा भागवत पुराण अत्यंत महत्वपूर्ण इतिहास ग्रंथ हैं। फिर भी, पुराणों को इतिहास मानना संभव नहीं है। पुराणों में ऐतिहासिक घटनाओं का दंतकथाओं एवं जनश्रुतियों के साथ ऐसा मिश्रण हो जाता है कि सत्यता का पता लगाना लगभग असंभव है।

सातवीं शताब्दी से भारत में इतिहास लेखन की परम्परा के रूप में एक नवीन प्रवृत्ति का उदय हुआ; इसे “वंश एवं चरित” परम्परा कहा गया है। इस परम्परा का आरम्भ तो बौद्ध एवं जैन धर्मों में हुआ था (उदाहरणस्वरूप अश्वघोष रचित बुद्धचरित)। परंतु, सातवीं शताब्दी से दरबारी कवियों ने राजाओं के वंशों एवं जीवनियों को लिखना आरम्भ कर दिया। ऐसा पहला महत्वपूर्ण ग्रंथ बाणभट्ट रचित हर्षचरित्र था। इसमें बाणभट्ट ने हर्षवर्धन के वंश को बताने के पश्चात उन परिस्थितियों का विस्तार से विवरण दिया जिनके फलस्वरूप हर्ष कन्नौज का शासक बना। अत्यंत रोचक एवं रोमांटिक ढंग से लिखे गये इस ग्रंथ में बाण ने ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण दिया है। इस ग्रंथ से तत्कालीन सामाजिक जीवन का भी पता चलता है क्योंकि बाण ने हर्ष के अभियान के दौरान मार्ग एवं वनों में मिलने वाले लोगों का भी विवरण दिया है। फिर भी, यह रचना अलंकारिक शैली में लिखी गयी प्रशंसा से भिन्न नहीं है। बाणभट्ट ने अंततः अपने संरक्षक के शौर्य, वीरता एवं दूसरे राजसी गुणों की भूरी-भूरी प्रशंसा की है। भारतीय इतिहास लेखन की यह परम्परा शीघ्र ही एक शैली के रूप में विकसित हो गयी। कालांतर में राजपूत शासकों के द्वारा संरक्षित दरबारियों और कवियों ने अनेक जीवनवृत लिखे। इनमें वाकपतिराज रचित ‘गौड़वाहो’, बिल्हण रचित ‘विक्रमांकदेवचरित’ तथा जयनक का ‘पृथ्वीराज-विजय’ आदि कुछेक अत्यंत प्रसिद्ध हैं। ये सभी ग्रंथ अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसात्मक एवं अलंकारिक शैली में लिखे गये हैं। इस शैली में लिखे होने के कारण अक्सर ऐतिहासिक तथ्यों को राजकवि की कल्पना से अलग कर पाना दुर्गम हो जाता है। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर का मत है कि ‘वंश एवं चरित परम्परा लेखन का उद्देश्य एकतंत्रात्मक राज को सुदृढ़ करना तथा राजा के राजनीतिक अधिकार को स्थापित करना था।’ हम जानते हैं कि गुप्तों के पश्चात भारत में कोई एक सशक्त शासक नहीं था, अतः राजकवियों ने अलंकृत राजनीतिक जीवन वृत्तों के जरिये राजाओं की शक्ति का महिमा मण्डन किया। फिर भी, इससे इन ग्रंथों का महत्व समाप्त नहीं हो जाता। सातवीं सदी से दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक के इतिहास को जानने के ये सबसे महत्वपूर्ण स्रोत हैं। सातवीं शताब्दी से वंश एवं जीवनचरितों की लगातार बढ़ती संख्या भारतीयों में ऐतिहासिक चेतना बढ़ने का प्रमाण भी है। इस परम्परा में लिखा गया अंतिम महत्वपूर्ण ग्रंथ कल्हण द्वारा रचित ‘राजतरंगिणी’ है जो कश्मीर के इतिहास को जानने का काफी

प्रमाणिक स्रोत है। इसके साथ यह परम्परा समाप्त नहीं हो गयी, बल्कि आधुनिक काल तक चलती रही। आधुनिक इतिहास लेखन परम्परा आरम्भ हो जाने के पश्चात भी अनेक लेखक प्रशंसात्मक जीवनीयों लिखते रहे। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में शासकों के अतिरिक्त महत्वपूर्ण भारतीयों, समाज सुधारकों एवं धर्म सुधारकों की जीवनीयों लिखना भी आरम्भ हो गया। क्षेत्रीय भाषाओं में गद्य लेखन के विकास ने इस परम्परा को नये आधार दिये।

भारत में इतिहास लेखन की एक अन्य परम्परा दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ आरम्भ हुई। इस परम्परा को इंडो-मुस्लिम इतिहास लेखन कहा गया है। मुगल काल में यह परम्परा पूर्ण रूप से विकसित हो गयी। चूंकि इस काल में अधिकतर इतिहास फ़ारसी में लिखा गया अतः इसे फ़ारसी इतिहास लेखन भी कहा जाता है। यह इतिहास लेखन दो मामलों में पुराने भारतीय इतिहास लेखन से भिन्न था; एक तो इसमें अक्सर (सदैव नहीं) घटनाओं का तिथिक्रमानुसार विवरण होता था, दूसरे इतिहासकार अपने लेखन को तथ्यों पर आधारित करने का प्रयास करते थे। फिर भी, यह इतिहास अक्सर प्रशंसात्मकता, व्यक्तिपरक, उपदेशात्मकता आदि जैसे दोषों से मुक्त नहीं था। फ़ारसी इतिहास लेखन से भारत में इतिहास के प्रति रुचि एवं दृष्टिकोण का विकास तो हुआ परंतु इतिहासकारों ने ऐतिहासिक घटनाओं के कारण जानने और ऐतिहासिक विश्लेषण को कोई तरजीह नहीं दी।

4.3.2 सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन

सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन आधुनिक इतिहास लेखन की ही एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। बुद्धिजीवी एवं इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि 'राष्ट्रवाद', 'सम्प्रदायवाद' एवं 'धर्मनिरपेक्षता' आदि शब्द आधुनिकता की देन हैं। अर्थात्, चेतना एवं विचारधारा के स्तर पर आधुनिकता के पूर्व इन शब्दों का अर्थ नहीं था। यहाँ हम मूलतः सम्प्रदायवाद को समझने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे कि राष्ट्रवादी विचारधारा का उदय आधुनिककाल में हुआ, उसी प्रकार सम्प्रदायवादी विचारधारा का उदय भी आधुनिककाल में हुआ। भारत में राष्ट्रवादी चेतना का जन्म उन्नीसवीं के अंतिम दशकों में हो रहा था। यही काल भारत में सम्प्रदायिक चेतना के उदय का भी है। फिर भी, सम्प्रदायिक इतिहास लेखन का आरम्भ सम्प्रदायिक चेतना के तुरंत बाद नहीं हुआ। सम्प्रदायिक चेतना पहले-पहल सांस्कृतिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में अभिव्यक्त हुयी। प्रसिद्ध इतिहासकार बिपिन चन्द्र के मतानुसार भारतीय इतिहास का सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण कुछेक मूल अवधारणाओं पर आधारित है। पहला, हिन्दू और मुसलमान दो भिन्न एवं विपरीत संस्कृतियों हैं। यह धारणा इस मत को जन्म देती है कि इतिहास (साथ ही वर्तमान एवं भविष्य में भी) में हिन्दू और मुस्लिम हित टकराते थे। इस कारण सम्प्रदायिक इतिहास लेखन भूत के हिन्दू-मुस्लिम समन्यवय के उदाहरणों को तो नज़रअन्दाज़ करते हैं और संघर्षों पर अत्यधिक बल देते हैं। बिपिन चन्द्र के अनुसार सम्प्रदायिक इतिहास लेखन की दूसरी मूल अवधारणा मुस्लिमों को मध्यकालीन शासकों एवं हिन्दुओं को शासितों या 'गुलामों' के रूप में चित्रित करती है। हम जानते हैं कि मूल रूप में ये दोनों ही धारणाएं औपनिवेशिक इतिहास लेखन की देन हैं। इसप्रकार सम्प्रदायवादी इतिहासलेखन औपनिवेशिक इतिहास लेखन की विचारधारात्मक हेज़ीमनी को तोड़ नहीं पाया। आगे हम सम्प्रदायिक चेतना के आधुनिक इतिहास लेखन पर प्रभाव की चर्चा

करेंगे.

इतिहास लेखन में सम्प्रदायिक चेतना सबसे पहले सांस्कृतिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में दिखाई देती है. बंकिम चन्द्र चटर्जी ने अपने एक लेख 'विविध प्रबन्ध' के माध्यम से 'हिन्दू इतिहास' लिखने की प्रेरणा दी थी. उन्होंने तर्क दिया कि 'यूनानियों की शौर्यगाथाएं यूनानियों ने लिखी हैं. युद्ध में मुसलमानों के बहादुरी के किस्से उन्ही के विवरणों पर आधारित हैं.' चटर्जी ने यह तर्क खारिज करते हुए कि हिन्दुओं में गौरवपूर्ण गुण नहीं हैं, कहा कि दरअसल हिन्दुओं की गौरवपूर्ण गाथाओं के केवल लिखित साक्ष्य भर नहीं हैं. इस चेतना का परिणाम यह हुआ कि सांस्कृतिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में प्राचीन भारत का महिमा मण्डन किया गया. साथ ही, मध्यकाल को मुस्लिम शासन की भॉति देखा गया. भले ही इस इतिहास लेखन को सम्प्रदायिक इतिहास लेखन न कहा जा सकता हो इसने सम्प्रदायिक इतिहास लेखन के बीज अवश्य ही डाल दिये. उदाहरणस्वरूप राष्ट्रवादी इतिहासकार आर. सी. मजुमदार ने लिखा कि मध्यकालीन भारत 'सदा ही दो शक्तिशाली ईकाइयों में बटा रहा, प्रत्येक का स्पष्ट रूप से खास व्यक्तित्व था, जो किसी तरह के विनम्र विलय या निकट के सहयोग को साबित नहीं करता.'

सम्प्रदायिक इतिहास लेखन का एक प्रवृत्ति के रूप में आरम्भ बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में हो गया था. 1923 में विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दुत्व नामक अपने ग्रंथ में लिखा कि 'जिस दिन महमूद गजनी ने सिन्धु नदी पार की... उस दिन से जीवन एवं मृत्यु का संघर्ष आरम्भ हुआ.' साथ ही, 'इस संघर्ष में, सारे हिन्दु, चाहे वे किसी सम्प्रदाय, क्षेत्र, और जाति के हों, हिन्दू होने के कारण क्षतिग्रत हुए और जीते गये.' स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण मध्यकाल को हिन्दू-मुस्लिम संघर्षकाल की भॉति ही देखता है. इस ग्रंथ के साथ ही सावरकर ने 'हिन्दुत्व' जैसा नया शब्द भी गढ़ा. सावरकर ने हिन्दुत्व की व्याख्या राजनीतिक एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के रूप में की. आश्चर्यजनक रूप से सावरकर के 'हिन्दू' शब्द के दायरे में हिन्दू के अतिरिक्त सिख, बौद्ध, जैन अर्थात् भारत में उत्पन्न धर्मों के अनुयायी तो आते थे, परंतु भारत में जन्में या सदियों से रहते आये भारतीय मुसलमान या ईसाई नहीं. इसप्रकार राष्ट्रवाद की यह एक विशिष्ट एवं संकुचित अवधारणा थी, जिसमें राष्ट्र के सारे वर्गों एवं समुदायों को सम्मिलित ही नहीं किया गया था. सावरकर ने मध्यकालीन सिख-मुगल, राजपूत-मुगल तथा मराठा-मुगल संघर्षों को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की भॉति पेश किया था. अठारहवीं सदी के मराठा संघर्ष को सावरकर ने 'राष्ट्रीय स्वाधीनता का महान आन्दोलन' बताया. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक एम.एस. गोलवलकर ने अपनी पुस्तिका वी आर अवर नेशनहुड डीफाइंड में मुसलमानों को शत्रु, लुटेरे या हिंसक गुट की भॉति ही पेश किया. सबसे आश्चर्यजनक था तुर्क एवं मुगल शासकों को मुसलिम आतताईयों की तरह देखना जिन्होंने आने के बाद से हिन्दू संस्कृति के सारी उपलब्धियों को नष्ट कर दिया था. इसप्रकार भारत की गुलामी को 600-700 वर्ष पीछे ले जाकर तुर्क सत्ता की स्थापना से देखा जाने लगा. यह विचारधारा आर्थिक राष्ट्रवादियों द्वारा प्रस्तुत गुलामी के वास्तविक परिणामों को नज़रअंदाज़ करती है.

भारतीय मुसलमानों के एक वर्ग में भी सम्प्रदायिक चेतना अलगाव की अवधारणा के रूप में अभिव्यक्त हो रही थी. बीसवीं सदी में इस अभिव्यक्ति का स्रोत मुस्लिम लीग थी. 1906 में लीग

का जन्म मुस्लिम हितों की रक्षा के लिये हुआ था. परंतु लगातार यह संस्था मुस्लिम सम्प्रदायिकता का केन्द्र बनती जा रही थी. मोहम्मद अली जिन्ना ने हिन्दु-मुस्लिम अलगाव की विचारधारा को सबसे सशक्त आवाज दी. 1940 के प्रसिद्ध लाहौर अधिवेशन में, जिसमें पाकिस्तान प्रस्ताव पास किया गया था, जिन्ना ने कहा कि 'पिछले बारह सौ साल का इतिहास एकता प्राप्त करने में असफल रहा है और यह समय दिखाता है कि भारत सदा हिन्दू इंडिया और मुस्लिम इंडिया में विभाजित रहा है.' मुस्लिम सम्प्रदायिक इतिहासकारों ने हिन्दू सम्प्रदायिक इतिहासकारों के विपरीत मुगल शासक औरंगजेब की प्रशंसा करना आरम्भ कर दिया. औरंगजेब को भारत में इस्लाम का संरक्षक एवं जिन्दा पीर कहा गया. यदि हिन्दू इतिहासकारों के लिये गुप्तकाल स्वर्णयुग था तो मुगलकाल मुस्लिम स्वर्णयुग बन गया.

इसप्रकार सम्प्रदायिक इतिहास लेखन हिन्दू और मुसलमान दोनों ही साम्प्रदायिकों को तर्क प्रदान करने का माध्यम बन गया. इस इतिहास लेखन ने साम्प्रदायिकता को तो बढ़ावा दिया ही, साथ ही राष्ट्रवादी संघर्ष को कमजोर किया. इस इतिहास लेखन की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी, कि इसने भारत में विद्यमान दूसरे विभाजनों को भी नजरअन्दाज किया. सावरकर ने हिन्दुओं को एक समुदाय के रूप में देखा, और उनके मध्य जाति अथवा क्षेत्र के विभाजनों को पूरी तरह खारिज कर दिया. इसीप्रकार मुस्लिम साम्प्रदायिकों ने मुसलमानों के आंतरिक विभाजनों को कोई महत्व नहीं दिया. इस इतिहास लेखन ने जमींदारों-किसानों तथा मजदूरों-पूँजीपतियों के वर्गीय संघर्षों पर भी विचार नहीं किया.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

नोट -निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर उसके सामने सत्य तथा असत्य के रूप में दें।

1. 1817 में जेम्स मिल द्वारा लिखित हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया को भारत का पहला लिखित इतिहास माना जाता था.
2. 'विक्रमांकदेवचरित' की रचना जयनक ने की थी.
3. मोहम्मद अली जिन्ना ने हिन्दु-मुस्लिम अलगाव की विचारधारा को सबसे सशक्त आवाज दी.

4.3.3 राष्ट्रवादी इतिहास लेखन

पिछली इकाई में हमने स्वातंत्र्य-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन एवं उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों की विस्तार से चर्चा की थी. आपको याद होगा कि हमने राष्ट्रवादी इतिहास लेखन को वैचारिक आधार पर तीन प्रवृत्तियों में बांटा था – सांस्कृतिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन, उदार राष्ट्रवादी इतिहास लेखन तथा आर्थिक राष्ट्रवादी इतिहास लेखन. कालांतर में साम्प्रदायिक इतिहास लेखन का उदय हुआ और इसने कुछ हद तक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की परम्परा को ही अपनाया. फिर भी, साम्प्रदायिक इतिहास लेखन से इतर राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में उपरोक्त तीनों परम्पराएं अभिव्यक्त होतीं रही.

स्वातंत्रता के पश्चात राष्ट्रवादी इतिहास लेखन का सबसे महत्वपूर्ण पहलू था – आधुनिक भारत का इतिहास लेखन. उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता के पूर्व राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने बड़े पैमाने पर

आधुनिक भारत का इतिहास नहीं लिखा था. भारतीय राजनीतिक नेताओं या आर्थिक विश्लेषकों ने अवश्य ही भारतीय राष्ट्रवाद या औपनिवेशिक शोषण पर लेखन किया था. ऐसे भारतीयों में दादाभाई नौरोजी से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक पूरी एक श्रृंखला थी. ये लेख ही भारतीय राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति एवं प्रसार के वास्तविक साधन थे. परंतु, इतिहास विषय में पारंगत इतिहासकारों के मध्य आधुनिक भारत का इतिहास लिखने से कतराने की प्रवृत्ति ही विद्यमान थी. आजादी के पश्चात कुछ इतिहासकारों ने ब्रिटिशकाल तथा आजादी के संघर्षों पर इतिहास लेखन आरम्भ किया. सुरेन्द्रनाथ सेन ने 1857 की 100वीं वर्षगांठ पर एड्विन फिफ्टी सेवन शीर्षक से पुस्तक लिखी. इसमें उन्होंने 1857 को केवल एक सैनिक विद्रोह मानने से इंकार किया, परंतु इसे राष्ट्रीय संघर्ष भी नहीं माना. यह पुस्तक उन्होंने तत्कालीन शिक्षा मंत्री मौलाना आजाद के कहने पर लिखी थी. फिर भी, इसमें सरकारी दृष्टिकोण का कोई असर नहीं था. सरदार के.एम. पनिकर ने 1953 में प्रकाशित एशिया एंड वेस्टर्न डोमिनेंस में बताया कि समुद्रों पर नियंत्रण के कारण यूरोप भारत पर कब्जा कर सका. साथ ही उन्होंने स्वीकार किया कि ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप ही भारत में आधुनिक चेतना का उदय हुआ. इस काल के राष्ट्रवादी इतिहासकार औपनिवेशिक शासन की इस विचारधारा से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए थे कि भारत में ब्रिटिश शासन आधुनिक विचार एवं आधुनिक शिक्षा का मूल स्रोत है. एक अन्य राष्ट्रवादी इतिहासकार आर.सी. मजुमदार ने अपने ग्रंथ दी सिपाय म्युटिनी एंड दी रिवोल्ट ऑफ 1857 में 1857 को राष्ट्रीय संघर्ष मानने से इंकार कर दिया. उनके विचार लम्बे समय तक इतिहासकारों को प्रभावित करते रहे, और अभी हाल तक इतिहासकार 1857 को राष्ट्रीय संघर्ष अथवा जनसंघर्ष नहीं मानते थे.

इन आरम्भिक राष्ट्रवादी लेखकों के पश्चात बी.आर. नन्दा, विश्वेश्वर प्रसाद एवं अमलेश त्रिपाठी जैसे राष्ट्रवादी इतिहासकार सामने आये. इन इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं राष्ट्रीय नेतृत्व पर इतिहास लेखन किया. इन राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने पहली बार ब्रिटिश सत्ता के शोषणकारी चरित्र पर बल दिया. इन्होंने यह भी माना कि राष्ट्रवाद का जन्म आर्थिक शोषण की औपनिवेशिक नीति के कारण हुआ. फिर भी यह इतिहास लेखन राष्ट्रवाद के प्रसार में राजनीतिक नेतृत्व की योग्यता एवं समझ को ही मुख्य श्रेय देता है. अतः राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों, मजदूरों, जनजातियों, महिलाओं, निम्नजातियों तथा दूसरे कमजोर तबकों की भागीदारी राष्ट्रीय चेतना के परिणाम स्वरूप हुई. राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने राष्ट्रीय नेताओं को राष्ट्रवादी चेतना के प्रसार का श्रेय दिया. अतः जनता आन्दोलन में भेड़-बकरियों की तरह शामिल थी, जिसकी न तो कोई विचारधारा थी, और न ही उसकी अपनी कोई निजी चेतना थी. राष्ट्रवादी इतिहास लेखन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आंतरिक अंतर्विरोधों की भी अनदेखी करता है जो वर्ग, जाति या समुदाय के रूप में उपस्थित थे. राष्ट्रवादी इतिहासकारों का एक वर्ग तो आरम्भ से भारत को एक राष्ट्र मानकर चलता है. इसप्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन केवल विदेशी सत्ता से मुक्ति का राष्ट्रीय संघर्ष था तथा दूसरे सारे संघर्ष गौण थे. कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि राष्ट्रवादी इतिहास लेखन आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन में इतिहास की बुर्जुआ विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है.

4.3.4 मार्क्सवादी इतिहास लेखन

बीसवीं शताब्दी में इतिहास लेखन पर जिस विचारधारा का सर्वाधिक असर पड़ा उसे मार्क्सवाद के नाम से जाना जाता है. 19सवीं शताब्दी में कार्ल मार्क्स ने अपने साथी एंजेल के साथ मिलकर समाजवादी विचारों को एक नई धार दी. पुराने मानववादी और समाजवादी विचारों से पृथक करने के लिये इन नवीन विचारों को साम्यवाद कहा गया. कार्ल मार्क्स ने संसार के इतिहास का विश्लेषण करते हुए बताया कि सम्पूर्ण इतिहास वास्तव में अमीरों द्वारा गरीबों के शोषण एवं गरीबों द्वारा इस शोषण के विरोध का इतिहास है. मार्क्स ने यह विचार व्यक्त किया कि ऐतिहासिक परिवर्तनों का एक प्रमुख कारण अमीरों-गरीबों के ये संघर्ष ही रहे हैं. मार्क्सवाद के अनुसार राजनीतिक, समाजिक, सांस्कृतिक एवं अन्य दूसरे परिवर्तनों का मूल कारण आर्थिक परिवर्तन होते हैं. इस मत के अनुसार किसी दौर में आर्थिक परिवर्तन उस दौर में उत्पादन के तरीको पर निर्भर करते हैं. इस विचारधारा से प्रभावित विश्व के अनेक इतिहासकारों ने यूरोप में सामंतवाद के पतन तथा पूंजीवाद के उदय पर इतिहास लेखन किया तथा इसके कारणों की व्याख्या की. पूंजीवाद का विश्लेषण करते हुए, सोवियत क्रांति के नायक लेनिन ने उपनिवेशवाद को पूंजीवादी विकास की ही एक अवस्था बताया. मार्क्सवादियों द्वारा उपनिवेशवाद की आलोचना ने भारतीय राष्ट्रवादियों को आकृष्ट किया. 1930 के दशक में भारत में तेजी से मार्क्सवादी विचारधारा का प्रसार हो रहा था.

मार्क्सवादी विचारों का असर 20वीं शताब्दी के मध्य भारतीय इतिहासकारों पर भी पड़ा. 1940 ईसवी में रजनी पॉमदत्त की प्रसिद्ध रचना इंडिया टुडे प्रकाशित हुई. दत्त ने भारत में औपनिवेशिक शासन को तीन अवस्थाओं में बांटकर देखा. पहली अवस्था प्लासी की सफलता से 19सवीं शताब्दी के आरम्भ तक थी, जिसे दत्त ने वाणिज्यिक पूंजीवाद कहा. इस दौर में कम्पनी ने भारतीय व्यापार पर नियंत्रण करके अपने लाभ को बढ़ाया तथा भारतीय उत्पादकों का शोषण किया. कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों द्वारा भारतीय धन की लूट भी इस काल की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता थी. यह लूट इस दौर में ब्रिटेन के औद्योगीकरण में सहायक हुई. उपनिवेशवाद की दूसरी अवस्था का आरम्भ ब्रिटेन में औद्योगीकरण के पश्चात् हुआ, अतः इसे औद्योगिक पूंजीवाद का दौर कहा जाता है. दत्त के अनुसार इस काल में भारतीय बाजारों को ब्रिटेन में उत्पादित माल से पाट दिया गया. प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उपनिवेशवाद के तीसरे चरण का आरम्भ हुआ जिसे दत्त ने वित्तीय पूंजीवाद कहा. इस काल में भारत में बड़े पैमाने पर ब्रिटिश पूंजी का निवेश किया गया. दत्त के अनुसार 20वीं सदी में पूंजीवादी निवेश एवं इनसे प्राप्त लाभ औपनिवेशिक शोषण का सबसे प्रमुख चरित्र था. रजनी पॉमदत्त ने अपनी पुस्तक में उपनिवेशवाद के अलावा राष्ट्रवाद पर भी विस्तार से चर्चा की थी. 1857 के विद्रोह को दत्त ने 'पुराने पुरातनपंथी और सामंती शक्तियों एवं सत्ताच्युत राजाओं का संघर्ष' बताया. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को दत्त ने मध्यवर्गीय भारतीयों की संस्था बताया जिसे अंग्रेजों ने ब्रिटिश-विरोधी भावना को कमजोर करने के लिये बनाया था. गाँधीवादी कांग्रेस को दत्त ने उभरते भारतीय बुर्जुआजी के संगठन के रूप में देखा. महात्मा गाँधी को दत्त ने भारतीय पूंजीपतियों का प्रतिनिधि कहा. उन्होंने तर्क दिया कि जब-जब राष्ट्रीय आन्दोलन जनआन्दोलन में तबदील होने लगता

था, गाँधी आन्दोलन वापस ले लेते थे. दत्त के इन विश्लेषणों को कालांतर में स्वयं मार्क्सवादी इतिहासकारों ने चुनौती दी. फिर भी मार्क्सवादी इतिहास लेखन में दत्त के विचारों का कुछ न कुछ प्रभाव बना रहा.

कालांतर में भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास लेखन की मार्क्सवादी परम्परा में दो इतिहासकार अत्यंत महत्वपूर्ण रहे हैं – बिपन चन्द्र तथा सुमित सरकार. हालांकि, दोनों इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रवाद के उदभव, विकास एवं सीमितता की व्याख्या के लिये मार्क्सवादी विश्लेषण पद्यति का सहारा लिया है, फिर भी दोनों के इतिहास में अंतर स्पष्ट दिखाई देते हैं. ये अंतर घटनाओं के तार्किक विश्लेषण तक ही सीमित नहीं हैं अपितु वैचारिक स्तर पर भी हैं. जहाँ बिपन चन्द्र राष्ट्रवादी मार्क्सवाद के अधिक निकट हैं, जो 1930 के दशक के राष्ट्रवादियों (यथा जवाहरलाल नेहरू) की विचारधारा थी, वहीं सुमित सरकार ने शास्त्रीय मार्क्सवाद से अधिक नज़दीकी दिखलाई है.

बिपन चन्द्र के इतिहास लेखन का आरम्भ 1966 में प्रकाशित उनकी पुस्तक दी राइज़ एंड ग्रोथ ऑफ़ इकानामिक नेशनलिज़्म इन इंडिया से हुआ. इस पुस्तक में बिपन चन्द्र ने भारत में राष्ट्रवाद के विकास में आरम्भिक आर्थिक बुद्धिजीवियों के विचारों को महत्वपूर्ण माना. हालांकि, बिपन चन्द्र ने माना कि इन आर्थिक विचारकों की सोच मूलतः पूंजीवादी थी. परंतु, इस बात से उन्होंने असहमति जताई कि इन विचारकों ने किसी भाँति औद्योगिक पूंजीवादी हितों को संरक्षित किया. इन विचारकों ने पूंजीवाद का समर्थन इस कारण किया कि उनकी समझ से यही भारत के पुनर्विकास का एकमात्र मार्ग था. इसप्रकार चन्द्र ने दत्त की भारतीय राष्ट्रवाद के उदय की विवेचना को त्याग दिया. कालांतर में अपनी एक अन्य पुस्तक में बिपन चन्द्र ने कांग्रेस की स्थापना के 'सुरक्षा वाल्व' सिद्धांत को भी चुनौती दी. उन्होंने कांग्रेस की स्थापना को राष्ट्रवाद की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में देखा. महात्मा गाँधी द्वारा बार-बार आन्दोलन को वापस लेने की व्याख्या बिपन चन्द्र ने एक विशिष्ट संघर्ष-विराम-संघर्ष की रणनीति के रूप में की. उनका मत है कि राष्ट्रीय आन्दोलन एक क्रांतिकारी आन्दोलन न होकर लम्बा जनआन्दोलन था जो नैतिक, राजनीतिक एवं वैचारिक स्तर पर लड़ा गया. उनके मतानुसार अहिंसा की विचारधारा इस औपनिवेशिक वर्चस्व को तोड़ने में सहायक थी कि भारत में ब्रिटिश शासन भारतीयों का शुभचिंतक है. फिर भी, बिपन चन्द्र ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को बुर्जुआ लोकतांत्रिक आन्दोलन ही माना. उनका विचार था कि गरीब किसान एवं कमज़ोर मजदूर बड़े पैमाने पर आन्दोलन के भीतर नहीं लाए जा सके. इस कमज़ोरी के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के बुर्जुआ चरित्र को कभी चुनौती नहीं दी जा सकी. सुमित सरकार ने चन्द्र के विपरीत राष्ट्रीय आन्दोलन पर भारतीय बुर्जुआजी के नियंत्रण पर बल दिया है. अपनी पुस्तक दी स्वदेशी मूवमेण्ट इन बंगाल, 1903-1908 में उन्होंने कहा कि बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन के नेता भले ही सीधे-सीधे वाणिज्य एवं उद्योग से सम्बन्धित नहीं थे परंतु, वे इन वर्गों के वैचारिक प्रतिनिधि थे. अतः उनके अनुसार बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य भारतीय बुर्जुआजी के हितों की रक्षा करना था. अपने एक लेख में सरकार ने दिखाया कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन के आरम्भ तथा गाँधी-इरविन समझौते में भारतीय पूंजीपति शक्तियों का हाथ था. सरकार ने तर्क

दिया कि भले ही गाँधी पूंजीपति शक्तियों के पुतले नहीं थे उनका नेतृत्व पूंजीवादी हितों के अनुरूप ही था.

इसप्रकार मार्क्सवादी इतिहास लेखन ने उपनिवेशवादी आर्थिक शोषण को उजागर कर भारतीय परतंत्रता के मूल को पहचाना. ये परतंत्रता पहले के किसी भी विदेशी शासन से इसी आर्थिक शोषण के कारण भिन्न थी. मार्क्सवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के सीमित वर्गीय चरित्र पर भी प्रकाश डाला. इसप्रकार उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के द्वारा मूलभूत आर्थिक परिवर्तन की संभावना की कमजोरी को रेखांकित किया.

4.4 आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन की नवीनतम प्रवृत्ति: सबअल्टर्न इतिहास लेखन

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों आधुनिक भारत के इतिहास लेखन में एक नई प्रवृत्ति का जन्म हुआ. रणजीत गुहा को इस निम्न वर्गीय या सबअल्टर्न कहे जाने वाले इतिहास लेखन का मुख्य प्रेरक माना जाता है. सबअल्टर्न इतिहासकारों ने पहले के सारे इतिहास लेखन को इलीट वर्ग का इतिहास कह कर खारिज कर दिया. गुहा ने निम्नवर्गों का इतिहास लिखने की प्रेरणा दी. उन्होंने अपनी रचना एलीमेण्ट्री ऑसपेक्ट्स ऑफ पीजेंट्स इनसर्जेन्सी इन कोलोनियल इंडिया में किसानों की स्वचेतना की बात की. अतः गुहा ने मत दिया कि औपनिवेशिक भारत में किसानों के आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन की विचारधारा के प्रसार का परिणाम (जैसा राष्ट्रवादी इतिहासकारों का विचार था) नहीं थे, और न ही वे औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध संगठित उन किसानों के संघर्ष थे जो औपनिवेशिक सत्ता को उखाड़ फेंकना चाहते थे, जैसा मार्क्सवादी इतिहासकार मानते हैं, बल्कि वे शोषण के विरुद्ध किसानों के स्वतः स्फूर्त संघर्ष थे. इसप्रकार सबअल्टर्न इतिहासकारों ने तर्क दिया कि आधुनिककाल में मुख्य संघर्ष इलीट और सबअल्टर्न के बीच था. अनेक आलोचनाओं के बावजूद यह इतिहास लेखन कमजोर तबकों, दलितों, किसानों तथा महिलाओं की चेतना एवं विचारधारा को उदघाटित करने में काफी सफल रहा है.

स्वमूल्यांकित प्रश्न

नोट -निम्नलिखित प्रश्नों में रिक्त स्थान की पूर्ति करें।

1. 1923 में विनायक दमोदर सावरकर ने नामक ग्रंथ लिखा।
2. कल्हण द्वारा रचित कश्मीर के इतिहास को जानने का काफी प्रामाणिक स्रोत है.
3. सुरेन्द्रनाथ सेन ने 1857 की 100वीं वर्षगांठ पर शीर्षक से पुस्तक लिखी थी।
4. आर.सी. मजुमदार ने अपने ग्रंथ में 1857 को राष्ट्रीय संघर्ष मानने से इंकार कर दिया था .
5. 1940 ईसवी में रजनी पॉमदत्त की प्रसिद्ध रचना प्रकाशित हुई थी .
6. बिपिन चन्द्र ने 1966 में नामक पुस्तक लिखी।
7. रणजीत गुहा ने अपनी रचना में किसानों की स्वचेतना की बात की थी .

4.5 सारांश

ऊपर हमने आधुनिक भारत के इतिहास लेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों की चर्चा की है। जहाँ राष्ट्रवादी इतिहास लेखन आजादी से पहले एवं इसके पश्चात भी इतिहास लेखन की एक प्रमुख प्रवृत्ति बनी रही, वही विश्लेषणपरक इतिहास लेखन की पद्यति के रूप में मार्क्सवादी इतिहास लेखन सर्वप्रमुख प्रवृत्ति के रूप में सामने आया। इस इतिहास लेखन ने राष्ट्रवाद के सीमित वर्गीय चरित्र एवं उपनिवेशवाद द्वारा भारत में किये गये आर्थिक शोषण पर पर्याप्त प्रकाश डाला। राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की सबसे बड़ी कमी अनावश्यक रूप से राष्ट्रीय नेतृत्व का महिमा मण्डन करना था। सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन ने राष्ट्रवादी होने का ही दावा किया, परंतु वास्तव में वह भारतीय संस्कृति की विभिन्नताओं को नज़रअन्दाज़ ही करता है। इसके अलावा सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन ने औपनिवेशिक इतिहास के तर्कों को ही कुछ हद तक आत्मसात कर लिया था। परम्परागत इतिहास लेखन की प्रवृत्ति तो चलती रही परंतु यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह गयी थी। 20वीं सदी के अंतिम दशकों में आरम्भ हुए सबअल्टर्न इतिहास लेखन ने कमजोर वर्गों का इतिहास लिखने का दावा किया।

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

दंतकथा - मौखिक कहानियां

जनश्रुतियां – लोगों द्वारा सुनी गयी बातें

एकतंत्रात्मक राज – ऐसा शासन जिसमें सम्पूर्ण शक्तियां एक ही व्यक्ति में निहित होती हैं

वाणिज्यिक पूंजीवाद- पूंजीवादी व्यवस्था का वह चरण जिसमें वाणिज्यिक गतिविधियां प्रधान होती हैं

4.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 4.3.2 के उत्तर

1. सत्य
2. असत्य
3. सत्य

इकाई 4.4 के उत्तर

1. हिन्दुत्व
2. 'राजतरंगिणी'
3. एट्टीन फिफ्टी सेवन
4. दी सिपॉय म्युटिनी एंड दी रिवोल्ट ऑफ 1857
5. इंडिया टुडे
6. दी राइज एंड ग्रोथ ऑफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया
7. एलीमेण्ट्री ऑसपेक्ट्स ऑफ पीजेंट्स इनसर्जेन्सी इन कोलोनियल इंडिया

4.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

- 1- ई. श्रीधरन, इतिहास-लेख: एक पाठ्यपुस्तक, नई दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2011
- 2- बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली: हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1998
- 3- सुमित सरकार, आधुनिक भारत: 1885-1947, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2002
- 4- द्विजेन्द्रनारायण झा, प्राचीन भारत: सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल, दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2000

4.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- 1- सब्यासाची भट्टाचार्य, “कोलोनियल हिस्टोरियोग्राफी” सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-19 में, नई दिल्ली: इंदिरा गाँधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005
- 2- रजत रे, “दी कैम्ब्रिज स्कूल” सब्यासाची भट्टाचार्य, संपादक, एपरोचेज एंड थीम्स इन इंडियन हिस्टोरियोग्राफी-1, इगनू, एम एच आई-03, ब्लॉक-6, यूनिट-23 में, नई दिल्ली: इंदिरा गाँधी नेशनल ओपन यूनीवर्सिटी, 2005
- 3- गारलैण्ड कन्नॉन, दी लाइफ़ एंड माइंड ऑफ ओरियण्टल विलियम जॉस: सर विलियम जॉस, दी फ़ॉदर ऑफ़ माडर्न लिंगविस्टिक्स, न्यूयार्क: कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 1990

4.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय इतिहास लेखन में अधुनातन प्रवृत्तियों पर चर्चा कीजिए।

**ब्लॉक दो- यूरोपीय प्रतिस्पर्धा एवं ब्रिटिश
उच्चता**

- इकाई एक- भारत में यूरोपियों का आगमन
- इकाई दो- ऑग्ल-फ्रॉसीसी स्पर्धा और कर्नाटक युद्ध
- इकाई तीन- बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना और द्वैध शासन
- इकाई चार- अंग्रेज और मैसूर का राज्य

भारत में यूरोपियों का आगमन

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 पुर्तगाली व्यापारियों का भारत में आगमन
 - 1.3.1 पुर्तगालियों की असफलता के कारण
 - 1.3.2 पुर्तगाली शासन का प्रभाव
- 1.4 डचों का आगमन
 - 1.4.1 डचों की सफलता के कारण
 - 1.4.2 असफलता के कारण
- 1.5 अंग्रेजों का भारत में प्रवेश
 - 1.5.1 ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रकृति
- 1.6 फ्रांसीसियों का आगमन
- 1.7 सारांश
- 1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.9 तकनीकी शब्दावली
- 1.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारत और यूरोप के बीच व्यापार संबंध कोई नया नहीं था बल्कि इसकी शुरुआत प्राचीन काल में ही हो गई थी। सन 1453 में तुर्कों द्वारा कुस्तुनतूनिया जीत लेने के कारण यूरोप के साथ भारत का व्यापारिक मार्ग अवरुद्ध हो गया। अब यूरोप के लोगों को पूर्व का माल मिलना दुर्लभ हो गया। पूर्व के मसाले और कपड़ा यूरोप के लिए विशेष आकर्षण का केंद्र थे। अतः यूरोपीय व्यापारियों ने भारत के साथ व्यापार करने के लिए नवीन जल मार्ग की खोज करने का निश्चय किया। इस प्रकार तुर्क सत्ता के अभ्युदय ने यूरोपीयों को एक महान साहसिक कार्य करने की प्रेरणा दी। डाक्टर ईश्वरी प्रसाद के अनुसार “तुर्क साम्राज्य के उत्थान के साथ 15 वीं शताब्दी में व्यापारिक मार्गों पर तुर्कों का अधिकार हो गया। पूर्वी व्यापार अवरुद्ध हो गया। प्राचीन मार्गों के बंद हो जाने से नए मार्गों की खोज को भारी महत्ता प्राप्त हुई। 14 वीं तथा 15 वीं शताब्दी में यूरोप के पुनर्जागरण ने वाणिज्यवाद या समुद्री व्यापार को प्रोत्साहित किया। इस समय के आविष्कारों, मुख्यरूप से दिग्दर्शक यंत्र की सहायता से इटली, स्पेन तथा पुर्तगाल के व्यापारियों

ने नए समुद्री मार्गों की खोज की, जिससे भारत तथा एशिया से सीधा सम्पर्क तथा व्यापार संभव हो सका।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको यूरोप की विभिन्न शक्तियों के भारत आगमन, उनके प्रारंभिक उद्देश्यों, भारत में उनकी कारगुजारियों एवं वास्तविक उद्देश्यों से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नांकित जानकारियां से परिचित सकेंगे :

1. पुर्तगाली व्यापारियों का भारत में आगमन:
2. पुर्तगालियों की असफलता के कारण
3. पुर्तगाली शासन का प्रभाव
4. डचों का आगमन
5. डचों की सफलता एवं असफलता के कारण
6. अंग्रेजों का भारत में प्रवेश
7. ईस्ट इण्डिया कम्पनी
8. फ्रांसीसियों का आगमन

1.3 पुर्तगाली व्यापारियों का भारत में आगमन

इस समय भारत के यूरोपियन देशों से व्यापार के तीन मार्ग थे। पहला मार्ग भारत से आक्सस, कैस्पियन एवं काला सागर होते हुये यूरोप तक था। दूसरा मार्ग सीरिया होते हुये भूमध्य सागर तक था। तीसरा मार्ग समुद्री था, जो भारत से मिश्र तथा मिश्र की नील नदी से यूरोप तक था। भारत का माल पहले वेनिस एवं जेनेवा नगर में जाता था एवं वहाँ से विभिन्न यूरोपीय देशों में जाता था, जिससे ये नगर समृद्ध हो गए। इटली के नगरों की समृद्धि से प्रलोभित होकर पुर्तगाली भी भारत से व्यापार करना चाहते थे। इस समय तीनों मार्गों पर तुर्कों का कब्जा था, अतः भारत से व्यापार करने के लिए नए मार्गों की खोज की आवश्यकता हुई। इस नए मार्ग की खोज की आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रिंस हैनरी दी नेवी ग्रेटर ने महत्वपूर्ण पहल की। उससे व्यापारियों को बाहर भेजने के लिए समुद्री जहाजरानी प्रशिक्षण स्कूल खोले। कुछ पर्यटक मुख्यरूप से मार्को पोलो भारत तथा चीन की यात्रा कर चुके थे, तथा उन्होंने वहाँ के विषय में जानकारी अपने भ्रमण-वृत्तांत में लिख दी थी। हेनरी की मृत्यु के बाद बारथेलोम्यू डियाज ने मार्गों के खोज कार्यों को प्रोत्साहन दिया तथा 1488 ई० में अफ्रीकी महाद्वीप के दक्षिणी किनारे केप ऑफ गुड होप तक पहुँच गया। वहाँ से वास्कोडिगामा 1497 ई० में मालिन्दी तक तथा 1498 ई० में एक अरब व्यापारी की सहायता से कालीकट तक पहुँचा। जब उससे, उसके आने का उद्देश्य पूछा गया तो उसने उत्तर दिया कि वह भारत में इसाई धर्म के प्रचार तथा गर्म मसालों के व्यापार के लिए आया है। इस प्रकार 1498 में, इस नए समुद्री मार्ग की खोज का श्रेय वास्कोडिगामा को

जाता है | यूरोप से भारत की जलमार्ग की खोज एक युगांतकारी घटना सिद्ध हुई | डा0 ईश्वरी प्रसाद के अनुसार | “गामा की इस खोज ने भारत और यूरोप के पारस्परिक इतिहास के संबंध में एक नए अध्याय का सूत्रपात किया, उसके फलस्वरूप यूरोप के लोग भारतीय इतिहास के रंगमंच पर पहले व्यापारियों के रूप में और फिर बस्तियों के बनाने वालों के रूप में उतर आए | इस समुद्री मार्ग की खोज के संबंध में सर ई. डी. रॉड्रिगुएज़ कहते हैं, “संभवतः मध्य युग की अन्य किसी भी घटना का सभ्य संसार पर इतना गहरा प्रभाव नहीं पड़ा, जितना की भारत जाने के समुद्र मार्ग खुलने का | जब वास्कोडिगामा कालीकट पहुंचा तो वहाँ के राजा जो जमोरिन कहलाते थे, ने उसका स्वागत किया | लेकिन पुर्तगालियों को अरब व्यापारियों के विरोध का सामना करना पड़ा | इसका कारण यह था कि भारत और यूरोप के बीच के व्यापार पर प्रमुख रूप से अरब व्यापारियों का नियंत्रण था | इस नए मार्ग के खुलने तथा पुर्तगाली व्यापारियों के भारत आगमन को अरब व्यापारियों ने अपने आर्थिक हितों के खतरे के रूप में देखा | भारत में कुछ समय रुकने के बाद वास्कोडिगामा पुर्तगाल लौट गए | जब वह वापस लौटा तो अपने साथ कुल यात्रा व्यय का 60 गुना अधिक माल पुर्तगाल ले गया | वास्कोडिगामा की इस सफलता से उत्साहित होकर पुर्तगाल ने कैब्राल को 13 जहाजों के एक अन्य बेड़े के साथ अगले ही वर्ष भारत भेजा | कैब्राल 1500 ई. में कालीकट पहुंचा | कूटनीति में कैब्राल, वास्कोडिगामा कि बराबरी न कर सका और शीघ्र ही कालीकट के हिन्दू शासक जमोरिन के साथ उसका मनमुटाव हो गया | कैब्राल और जमोरिन के बीच तनाव का एक कारण अरब व्यापारियों द्वारा जमोरिन को कैब्राल के विरुद्ध भड़काना भी था | इसके फलस्वरूप कैब्राल को कालीकट छोड़कर कोचीन जाना पड़ा | यद्यपि कैब्राल को पूरी तरह सफलता प्राप्त नहीं हुई और उसे वापस जाना पड़ा फिर भी हम कह सकते हैं कि उसकी यह यात्रा पूरी तरह असफल भी नहीं रही | वह जब अपने देश वापस गया तो अपने साथ भारतीय माल से लदे पाँच जहाज भी वापस ले गया, जिससे उसकी इस यात्रा का खर्च पूरा हो जाता है | इस आंशिक असफलता के कारण कैब्राल के स्थान पर वास्कोडिगामा को एक बार फिर भारत भेजा गया | 1502 में जब वह भारत आया तब तक पुर्तगालियों ने यह महसूस कर लिया था कि भारतीय व्यापार में उनका हित तभी सुरक्षित हो सकता है जब अरब व्यापारियों को भारतीय व्यापार से निकाला जाए | पुर्तगालियों ने यह सोचा कि कालीकट और कोचीन के हिन्दू शासकों का मुस्लिम शासकों तथा अरब व्यापारियों से अच्छा संबंध नहीं है | लेकिन वास्कोडिगामा अरब व्यापारियों के विरुद्ध कालीकट के शासक से, अपने पक्ष में समर्थन पाने में सफल नहीं हुआ | बल्कि ठीक इसका उल्टा हुआ और अरबों के भड़काने पर कालीकट के शासक ने पुर्तगालियों पर आक्रमण कर दिया | इस युद्ध में पुर्तगालियों की जीत हुई | अतः पुर्तगालियों का आधिपत्य स्थापित हुआ जिसके फलस्वरूप पुर्तगालियों ने, कालीकट, कोचीन, तथा केन्नोर में अपना व्यापारिक केंद्र स्थापित किये | इस प्रकार भारत पर यूरोपीय आधिपत्य की राजनीति की शुरुआत हो जाती है |

1504 में पुर्तगाल से अल्मीडा को विधिवत रूप में वाइसराय नियुक्त करके भेजा गया | इसने यह निश्चय किया कि जब तक पुर्तगाल के पास अपने किलों को सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त शक्ति एवं सेना मौजूद न हो तब तक वह अपने क्षेत्रों का विस्तार नहीं करेगा | वह अपनी फैक्ट्रियों की स्थापना तटवर्तीय क्षेत्रों में ही करना चाहता था ताकि वह पुर्तगाली नौसेना

के बल पर सुरक्षित रह सके। उसने कहा था, “यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि जब तक समुद्र पर तुम्हारा प्रभाव है, तब तक तुम भारत पर अपना प्रभाव बनाए रखोगे और यदि तुम्हारे पास वह शक्ति नहीं है, तब समुद्र के एक-दो दुर्ग अधिक महत्वशाली नहीं हो सकते।” अल्मीडा ने भारत में पुर्तगाली राज्य स्थापित करने कि दिशा में विशेष योगदान दिया परन्तु भारत में पुर्तगाल के व्यापार को आगे बढ़ाने तथा स्थायी रूप से फैक्ट्रियों को स्थापित करने का श्रेय अल्फान्सो डी अलबुकर्क (1509-1555) को प्राप्त हुआ।

अलबुकर्क एक महान प्रशासक था। उसका मानना था कि पुर्तगाली व्यापारिक हित तभी सुरक्षित हो सकता है जब भारत में पुर्तगाली सन्त की प्रत्यक्ष स्थापना तथा विस्तार हो। स्टेफन के अनुसार “अलबुकर्क के दिमाग में चार उद्देश्य थे। प्रथम, व्यापार के उद्देश्य के लिए वह कुछ क्षेत्रों पर कब्जा करना तथा उनपर प्रत्यक्ष नियंत्रण चाहता था। दूसरा, पुर्तगाली तथा स्थायी मूल की महिलाओं के बीच विवाह के माध्यम से वह कुछ जिलों को अपना उपनिवेश बनाना चाहता था। तीसरा, अगर प्रथम दोनों तरीकों से सफलता न मिले तो किले का निर्माण किया जाए। चौथा, अगर ऊपर के तीनों उपाय संभव न हो तो, स्थानी व्यापारियों को पुर्तगाली राजा को उपहार भेंट करने के लिए विवश किया जाए।” उपर्युक्त चारों सिद्धांतों के माध्यम से अलबुकर्क ने भारत में पुर्तगाली राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। 1510 में उसने बीजापुर के युसूफ आदिलशाह से गोवा जीत लिया। 1511 में पूर्वी एशिया में मलक्का पर अधिकार कर लिया। 1512 में बीजापुर राज्य से बानासेरिय का किला जीता। 1515 ई. में फारस की खाड़ी में व्यापारिक अड्डे आर्मुज पर अधिकार कर लिया। अफ्रीका में सोक्रोवा तथा लंका में कोलम्बो पर भी अधिकार किया। गुजरात के दियु पर पुर्तगालियों का अधिकार हो गया। अलबुकर्क ने गोवा को अपनी राजधानी बनाया तथा वहाँ वाणिज्यिक गतिविधियों को तेज किया। इस प्रकार अलबुकर्क भारत में पुर्तगाली साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक बन गया। अलबुकर्क एक दूरदर्शी व्यक्ति था। उसने नौसेना की शक्ति विस्तार के स्थान पर क्षेत्रों पर अधिकार करना उचित समझा। रोस के अनुसार “अलबुकर्क ने यह महसूस किया कि पूर्वी व्यापार के मुख्यतः तीन केंद्र हैं, मलक्का, आर्मुज और ऐडेन। प्रथम दो पर तो उसने प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित किया और तीसरे को भी अपने लगभग अपने नियंत्रण में रखने में कामयाब रहा। उसने कई नौसैनिक अड्डों की स्थापना की जिसकी सहायता से पुर्तगालियों का न केवल समुद्री व्यापार पर अधिकार हुआ बल्कि अन्य देशों के जहाजी बेड़ों को भी पुर्तगाली दया पर निर्भर रहना पड़ा। अलबुकर्क के उत्तराधिकारियों ने समुद्र के किनारे कई बस्तियों की स्थापना की, जैसे, दमन, दियू, बेसिन, चौल, सेन टौम तथा हुगली इत्यादि। यद्यपि आने वाले समय में गोवा, दमन एवं दियू को छोड़कर अधिकतर बस्तियाँ उनके आधिकार में नहीं रहीं। ये तीनों क्षेत्र 1961 तक पुर्तगालियों के ही नियंत्रण में रहीं। इस प्रकार पुर्तगालियों ने भारत में भीतरी क्षेत्रों पर अधिकार करने की कोशिश नहीं की और तटवर्तीय क्षेत्रों तक ही अपनी गतिविधियों को सीमित रखा।

1.3.1 पुर्तगालियों की असफलता के कारण

पूर्व की ओर आने वालों में पुर्तगाली प्रथम थे फिर भी भारत में गोवा, दमन और दियू को छोड़कर कोई उपनिवेश स्थापित करने में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। पुर्तगालियों के पतन के कई कारण थे। 1580 में पुर्तगाल पर स्पेन का कब्जा हो जाने के कारण पुर्तगाल अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा। रॉलिन्सन ने पुर्तगाली असफलता के कारण को बताते हुए कहा “निश्चित रूप से पुर्तगाली असफलता का मुख्य कारण समुद्र पर उनका नियंत्रण कमजोर होना था। लेकिन इसके साथ कुछ और कारण भी थे जिन्होंने मिलकर पुर्तगाली पतन को अवस्यंभावी बना दिया। वास्कोडिगामा तथा अलबुकर्क के जैसे दुर्दशी एवं कूटनीतिज्ञ व्यक्तित्व का अभाव रहा उनके उतराधिकारियों में साफ दिखाई दे रहा था। पुर्तगाली बाद के समय में व्यापार तथा शासन के प्रति उदासीन हो गए थे। धन बटोरने के लालच ने पुर्तगाली व्यापारियों और प्रशासकों को प्रशासन तथा न्याय के प्रति उदासीन बना दिया था। सन 1552 में गोवा के नगर अधिकारियों ने अपने राजा को सूचित किया था, “ भारत में आपके वायसराय तथा अन्य अधिकारियों में न्याय की भावना नहीं है। इनका एकमात्र उद्देश्य धन बटोरना ही है।” रॉलिन्सन के अनुसार “पुर्तगाली भारत में एक व्यापारी के रूप में नहीं बल्कि एक आक्रमणकर्ता के रूप में आएँ। प्रताड़ना उनकी प्रशासन की मुख्य नीति बन गई। अरब मुस्लिम व्यापारियों को प्रताड़ित कर उनके मुंह में सुअर का माँस डालना तथा ब्राह्मण जासूसों का कान काटकर उसके स्थान पर कुत्तों का कान जोड़ना यह आम बात बन गई थी। प्रताड़ना एवं नरसंहार उनके शासन का अपवाद नहीं बल्कि एक नीति बन गयी थी। उनकी कट्टर धार्मिक नीति ने इसे बढ़ावा दिया। मंदिरों को नष्ट करना उनके धार्मिक कार्यों में शामिल था। कुछ के पवित्र दाँत की, जिसकी पूजा, सीलोन, बर्मा आदि देशों में की जाती थी उसे समुद्र में फेंक दिया गया।” पुर्तगालियों की लूटमार एवं क्रूरता की नीति से भारतीय जनता घृणा करती थी। उनकी इस प्रवृत्ति के बारे में बर्नियर ने लिखा है कि, “नदियों के मुहाने से 40 या 50 मील तक देश में प्रवेश कर वह हाट के दिनों में जब लोग विवाह उत्सव मना रहे होते थे अथवा किसी उत्सव को मनाने के लिए एकत्रित होते थे, गाँव कि समस्त आबादी को बांध कर अपने साथ ले जाते थे। वे वृद्ध लोगों को अपने आवास स्थान पर बिक्री के लिए रखते थे तथा युवकों को छोड़ने के लिए उनके माता पिता से अत्यधिक धन वसूल करते थे। यह दृश्य वास्तव में बड़ा दर्दनाक होता था।” भारतीयों को पुर्तगालियों के प्रति घृणा भी उनके पतन का एक कारण सिद्ध हुई। अधिक धन का लालच, क्रूरता की नीति तथा प्रशासन के प्रति उदासीनता ने उनकी शक्ति को सीमित कर दिया। एक पुर्तगाली लेखक एल्फोंजा-डी- सूजा के अनुसार “पुर्तगालियों ने एक हाथ में तलवार तथा दूसरे हाथ में क्रास लेकर भारत में प्रवेश किया, किन्तु जब उन्हें यहाँ अत्यधिक सोना नजर आया, तब उन्होंने क्रास को अलग रखकर अपने जेबें भरनी शुरू कर दी, और जब उनकी जेबें इतनी भारी हो गई कि वे उन्हें एक हाथ से नहीं संभाल सके, तो उन्होंने तलवार भी फेंक दी। इस हालत में जो लोग उनके बाद आएँ वे आसानी से उनपर हावी हो सके।”

1.3.2 पुर्तगाली शासन का प्रभाव

यद्यपि, पुर्तगाली भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने में असफल रहे फिर भी उनके शासन ने आधुनिक भारतीय इतिहास में अपनी गहरी छाप छोड़ी है। पुर्तगालियों ने ही अन्य यूरोपीय शक्तियों को भारत में प्रवेश करने का मार्ग दिखाया। पुर्तगाली भारत में युद्ध की एक नयी तकनीक ले कर आए थे। उनके द्वारा बंदूकों के इस्तेमाल ने भारतीय शासकों को भी इस दिशा में पहल करने के लिए उत्साहित किया। नये व्यापारिक मार्ग खुलने से भारतीय उत्पाद अब अफ्रीका तथा ब्राजील तक पहुँचने लगा था। व्यापारिक मार्ग को समुद्री लुटेरों से सुरक्षित रखने में भी पुर्तगालियों का महत्वपूर्ण योगदान है। नई भौगोलिक खोजों में दिलचस्पी रखने के कारण पुर्तगालियों ने मानव ज्ञान को बढ़ावा दिया। कुछ सामाजिक कुरीतियों को भी समाप्त करने के लिए पुर्तगालियों ने पहल की। पुर्तगालियों द्वारा बड़े पैमाने पर भारतीय महिलाओं से वैवाहिक संबंध स्थापित करने से सती जैसी सामाजिक बुराई को कम करने में थोड़ा मदद मिली। ऐतिहासिक एवं भौगोलिक साहित्यों की रचना पुर्तगालियों का एक महान योगदान था।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. बारथेलोम्यू डियाज़ ने 1488 ई० में केप ऑफ गुड होप की खोज की थी।
2. 1498 में, यूरोप से भारत के जलमार्ग की खोज का श्रेय वास्कोडिगामा को जाता है।
3. कैब्राल 1560 ई० में कालीकट पहुंचा था।
4. अलबुकर्क ने 1530 में उसने अहमदनगर के युसूफ आदिलशाह से गोवा जीत लिया था।
5. वास्कोडिगामा जब वह वापस लौटा तो अपने साथ कुल यात्रा व्यय का 100 गुना अधिक माल पुर्तगाल ले गया था।

1.4 डचों का आगमन

आरंभ में डच व्यापारियों को गरम मसाले के व्यापार के लिए पुर्तगालियों पर निर्भर रहना पड़ता था। वे पुर्तगाल के लिस्बन बन्दरगाह से गर्म मसाले खरीद कर यूरोप के अन्य देशों को उपलब्ध कराते थे। इस प्रकार यूरोप में गर्म मसालों की आपूर्ति मुख्यतः डचों द्वारा की जाती थी। 16 वीं शताब्दी के आरम्भिक दशक में हुए राजनैतिक परिवर्तन ने इस व्यापार के स्वरूप को पूरी तरह से बदल दिया। 1580 में पुर्तगाल पर स्पेन का कब्जा हो जाने के कारण डच व्यापारियों के लिए लिस्बन का द्वार हमेशा के लिए बन्द हो गया। व्यापार की इन आवश्यकताओं ने एक नए राजनैतिक समीकरण को जन्म दिया। अब इन व्यापारियों ने सीधे व्यापार करने के नीति अपनाई। डच व्यापारियों को यह लगने लगा कि जब तक पुर्तगालियों के समुद्री शक्ति एवं अधिपत्य को समाप्त नहीं किया जाएगा, भारत द्वारा गर्म मसालों की आपूर्ति संभव नहीं है। डच पर्यटक लींस कूटिन पुर्तगालियों के संपर्क में रह चुका था तथा उसे भारत के व्यापार की पर्याप्त जानकारी थी। उसने एक योजना बनाई जिसके अनुसार 1595 में हाउटमन एक व्यापारिक बेड़ा लेकर

इन्डोनेशिया के बैटम क्षेत्र में पहुंचा। यहाँ पुर्तगालियों के द्वारा व्यापार तो किया जा रहा था लेकिन सैनिक दृष्टि से वे मजबूत नहीं थे। जल्द ही डचो ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया। 1602 में बानीवेल्ट ने कई छोटी कम्पनियों को मिलाकर एक यूनाइटेड डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की जिसे डच शासन द्वारा व्यापार करने का अधिकार प्रदान किया गया। जल्द ही डचों ने न केवल मलक्का तथा इन्डोनेशिया बल्कि भारत के पुलिकट पर भी अपना कब्जा जमा लिया। 1636 में डच व्यापारियों ने मालाबार तथा सीलोन के कालीमिर्च तथा इलाइची के व्यापार पर एकाधिकार करने के उद्देश्य से पुर्तगालियों के व्यापारिक अड्डों पर आक्रमण करना आरंभ कर दिया।

1661 में डचों द्वारा पुर्तगाली व्यापारियों से मालाबार छीन लिया गया। शीघ्र ही गोवा, दमन एवं दीयु छोड़कर पुर्तगालियों के अधीन शेष सभी भाग डचों के अधिकार में आ गए। नेत्र पांडे के अनुसार “वास्तव में डच लोगों ने अन्य यूरोपीय जातियों के लिए भारत के व्यापार का द्वार खोल दिया।” 17 वीं शताब्दी तक पूर्वी समुद्र के व्यापार पर डचों का एकाधिकार बना रहा। उन्होंने अंग्रेजों तथा अन्य यूरोपीय व्यापारियों को अपना प्रभाव स्थापित नहीं करने दिया। आरंभ में पुर्तगालियों को इस मसाले के व्यापार से बाहर करने के लिए डचों ने अंग्रेज व्यापारियों का समर्थन प्राप्त किया परंतु जल्द ही उन्होंने इन व्यापारियों को भी स्वाइस आइलैण्ड से निकाल बाहर किया। भारत में उन्होंने पुलिकट, कोचीन, कासिमबाजार, नागापट्टम तथा बालासोर इत्यादि में अपनी व्यापारिक फैक्ट्रीयां स्थापित की। डचों ने भारत पर राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य व्यापार अथवा व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त करना था न की राजनैतिक सत्ता की स्थापना।

1.4.1 डचों की सफलता के कारण

डचों की सफलता का एक मुख्य कारण यह था की डच व्यापारियों ने अपने व्यापारिक बस्तियों की स्थापना के लिए उन स्थानों को चुना जहां मसालों का उत्पादन बहुत अधिक मात्रा में होता था। दूसरा कारण व्यापार के स्वरूप में परिवर्तन लाना था। पुर्तगाली व्यापारियों ने स्वयं को केवल मसालों के व्यापार तक ही सीमित रखा परन्तु इसके विपरीत डचों ने मसालों के साथ कपड़ों के व्यापार को भी महत्ता दी। इससे उन्हें अधिक मुनाफा हुआ जिससे उनकी सैनिक शक्ति को बल मिला। तीसरा पुर्तगालियों की तुलना में डचों की समुद्री शक्ति अधिक श्रेष्ठ थी। चौथा पुर्तगालियों के विपरीत डचों द्वारा धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई गई। उनका उद्देश्य व्यापार द्वारा आर्थिक मुनाफा कमाना था न कि धर्म परिवर्तन के द्वारा इसाई धर्म का प्रचार।

1.4.2 असफलता के कारण

डचों कि व्यापारिक दिलचस्पी दक्षिण पूर्वी एशिया के स्वाइस आइलैंड में थी न कि भारत कि मुख्य भूमि में। बगैर राजनैतिक सत्ता की स्थापना के व्यापारिक एकाधिकार सम्भव नहीं था। डच मुख्य रूप से व्यापारी ही बने रहे , इसलिए वे भारत में बहुत अधिक दिनों तक नहीं टिक सके। असफलता का दूसरा कारण कम्पनी और डच शासन का संबंध था। डच व्यापारिक कम्पनी

कभी भी स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं करती थी बल्कि इस पर सरकार का सीधा नियंत्रण था। तीसरा कारण ब्रिटिश नौसैनिक शक्ति का डच नौसैनिक शक्ति से अधिक मजबूत होना था। चौथा, यूरोपिय राजनीति के बदलते समीकरण तथा फ्रांस और इंग्लैंड से लगातार होने वाले युद्धों ने डचों को न केवल आर्थिक रूप से बल्कि सैनिक शक्ति के रूप में भी कमजोर कर दिया था।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. 1602 में बानीवेल्ट ने एक यूनाइटेड डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की थी।
2. भारत में डचों ने पुलिकट, कोचीन, कासिमबाजार, नागापट्टम तथा बालासोर इत्यादि में अपनी व्यापारिक फैक्ट्रीयां स्थापित की थीं।
3. पुर्तगालियों की तुलना में डचों की समुद्री शक्ति अधिक श्रेष्ठ थी
4. डचों द्वारा भी धार्मिक असहिष्णुता की नीति अपनाई गई थी।
5. डच व्यापारिक कम्पनी पर सरकार का नियंत्रण नहीं था।

1.5 अंग्रेजों का भारत में प्रवेश

पुर्तगालियों तथा डचों द्वारा किए गए व्यापारिक मार्ग की खोज ने, अंग्रेजों के लिए भारत के साथ व्यापार का मार्ग प्रशस्त किया। 1599 में कुछ लंदन के व्यापारियों ने प्रिवी काउंसिल के समक्ष ईस्ट इण्डिया के साथ व्यापार की अनुमति के संबंध में एक पेटिशन प्रस्तुत किया। प्रिवी कांसिल ने इसे गंभीरता से लिया जिसकी परिणति 1600 के एलिजाबेथ के चार्टर के रूप में हुई। इस प्रकार 1600 ई. में लंदन के व्यापारियों द्वारा ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की औपचारिक स्थापना हुई। ब्रुश के अनुसार “स्थापना के समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी को साहसी लोगों कि मंडली कहा गया था, जिसके सदस्य लूट के लिए निकलते थे और जो धन कमाने के लिए झूठ तथा बेईमानी करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करते थे। कम्पनी के मालिकों ने आरंभ में ही निश्चय कर लिया था कि कम्पनी के नौकरी में वो किसी ईमानदार व्यक्ति को नहीं रखेंगे। इस प्रकार एक ऐसे गुट की स्थापना हुई जिसके सदस्यों में नैतिक-अनैतिक, न्याय-अन्याय तथा सच-झूठ आदि चीजों के लिए कोई जगह नहीं थी।” लिवांटन कम्पनी जिसकी स्थापना ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी से पूर्व 1581 में हुई थी, के व्यापारी बिलियम क्लार्क ने सूचना दी कि पुर्तगालियों एवं डचों का व्यापार मुख्य रूप से गरम मसालों तक ही सीमित है, अतः अंग्रेज व्यापारी अन्य वस्तुओं का व्यापार कर सकते हैं। के0 एन0 चौधरी के अनुसार “अंग्रेजों ने भारत में बाहरी तथा आंतरिक, एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह तक गर्म मसालों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का व्यापार आरंभ किया। वे कोरोमण्डल कोस्ट का बना हुआ कपड़ा मलेशिया तथा इन्डोनेशिया ले जाते थे। उन्होंने नील, जायफल आदि का भी व्यापार आरंभ किया। इस प्रकार उन्होंने व्यापार को केवल गर्म मसालों के निर्यात तक सीमित नहीं रखा बल्कि व्यापार को फैलाया। इस प्रकार अंग्रेजों के विनिमय आदान-प्रदान कि समस्या भी हल हो गयी। उनके व्यापार कि यह प्रकृति

अन्य यूरोपीय व्यापारियों से भिन्न थी।” मुगल सम्राट से व्यापार के लिए आज्ञा प्राप्त करने हेतु 1608 में विलियम हॉकिन्स सूरत पहुंचा। वह मुगल सम्राट जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुआ। हॉकिन्स एवं जहाँगीर की मुलाक़ात का वर्णन करते हुए सुंदरलाल ने लिखा “जहाँगीर के दरबार में उस समय किसी को इस बात का गुमान नहीं हो सकता था कि दूर पश्चिम को एक छोटी से निर्बल जाति का जो दूत उस समय दरबार में अपने घुटनों पर गिरकर जमीन चूम रहा था, उसके वंशज, एक रोज मुगल साम्राज्य का अंग भंग हो जाने पर हिंदुस्तान के उपर शासन करने लगेंगे।” हॉकिन्स को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई क्योंकि मुगल दरबार में पुर्तगालियों का अधिक प्रभाव था। 1612 में अंग्रेज़ कैप्टन, बेसेंट ने स्वाली नाम के स्थान पर पुर्तगाली सेना को बुरी तरह पराजित कर दिया। मुगलों ने अंग्रेज़ों की इस वीरता से प्रसन्न होकर उन्हें सूरत, कम्बाया तथा अहमदाबाद में व्यापार करने की आज्ञा दे दी। 1616 में टॉमस रो ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राजदूत बन कर भारत आया। टॉमस रो को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली तथा मुगलों की राजकीय सीमा में अंग्रेज़ों को व्यापार करने की आज्ञा मिल गई। शहजादे शाहजहाँ ने अंग्रेज़ों पर अपनी अधिक कृपा दृष्टि दिखाई तथा उन्हें बंगाल, भड़ौच तथा आगरा के क्षेत्रों में व्यापार करने की आज्ञा प्रदान की। 1662 में चार्ल्स द्वितीय को पुर्तगालियों से बम्बई दहेज के रूप में प्राप्त हुआ। टॉमस रो ने अंग्रेज़ व्यापारियों को भारत के राजनैतिक तथा धार्मिक विषयों में बगैर किसी पक्षपात के रहने तथा बगैर इन विषयों में हस्तक्षेप करते हुए व्यापार पर अधिक बल देने का आदेश दिया। इससे अंग्रेज़ व्यापारियों को अधिक लाभ हुआ। 1690 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल के नबाब से तीन गाँव, कालिकत्ता, सुतनौती, तथा गोबिंदपुरी प्राप्त किए जो एक दशक के अंदर कलकत्ता के रूप में विकसित होने लगे। मद्रास की स्थापना पहले ही हो चुकी थी। इस प्रकार 1700 ई० तक कम्पनी को व्यापार एवं राजनीति के तीन महत्वपूर्ण केंद्र मिल चुके थे।

टॉमस रो की इस अहस्तक्षेप की नीति में परिवर्तन उस समय आया जब जॉन चाइल्ड के प्रभाव में कम्पनी ने हुगली पर आक्रमण किया। उसका यह अनुमान था कि मुगल साम्राज्य कमजोर हो चुका है और अपने पतन की ओर तेजी से बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति का लाभ उठाकर मुगल साम्राज्य के अंतर्गत आने वाले क्षेत्रों पर अधिकार कर अपनी राजनैतिक बढ़ायी जानी चाहिए। चाइल्ड के इस कृत्य से क्रोधित होकर औरंगजेब ने हुगली पर चढ़ाई कर कम्पनी को उस क्षेत्र से निष्कासित कर दिया। चाइल्ड के इस गलत अनुमान के हर्जाने के रूप में न केवल कम्पनी को हुगली से अपना हाथ छोड़ना पड़ा बल्कि सम्राट की नाराजगी का भी सामना करना पड़ा। संजोगवश, कम्पनी को अपनी भूल का शीघ्र ही आभास हुआ तथा उसने मुगल सम्राट से शांति संधि कर ली जिसके अनुसार कम्पनी द्वारा सम्राट को 17 हजार पौंड हर्जाने के रूप में अदा करना पड़ा।

1707 में औरंगजेब की मृत्यु तथा तेजी से घटती मुगल साम्राज्य की शक्ति ने कम्पनी को एक ऐसा अवसर प्रदान किया जिसका लाभ उठाकर कम्पनी, राजनैतिक सत्ता की स्थापना की ओर तेजी से बढ़ी। कम्पनी ने 1717 में फर्रूखसियर से तीन फरमान प्राप्त किए जिससे न केवल कम्पनी के व्यापार को बढ़ावा मिला बल्कि एक राजनैतिक शक्ति के रूप में

उसकी साख भी मजबूत हुई। व्यापारिक एकाधिकार के युद्ध में पहले ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को पुर्तगाली एवं डच व्यापारियों से युद्ध करना पड़ा एवं बाद में फ्रांसीसियों से।

1.5.1 ईस्ट इण्डिया कम्पनी की प्रकृति

इतिहासकारों में कम्पनी की प्रकृति एवं उसकी नियत को लेकर हमेशा से विवाद रहा है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि कम्पनी की स्थापना ने न केवल व्यापार के लिए बल्कि भारत पर राजनैतिक सत्ता स्थापित कर उसे ब्रिटेन का एक उपनिवेश बनाने के लिए हुई थी। पी० जे० मार्शल का मानना है कि “1784 के पिट्स इण्डिया एक्ट तक भारत में क्षेत्रीय साम्राज्य का विस्तार न तो पूर्व नियोजित था और न ही ब्रिटेन द्वारा निर्देशित था।” यह भारत में उपस्थित कम्पनी के अधिकारियों की पहल थी जिन्होंने उस समय भारत में मौजूद राजनैतिक परिस्थिति का लाभ उठाया तथा राजनैतिक सत्ता की स्थापना की ओर निकल पड़े। लेकिन मार्शल ने भी माना था कि व्यापार और ब्रिटिश साम्राज्य के संबंध पूरी तरह से अलग करके नहीं देखे जा सकते हैं। सतही तौर पर भले ही कम्पनी एवं ब्रिटिश शासन एक-दूसरे से अलग दिखे परन्तु वास्तव में उनके हित एक दूसरे से जुड़े हुए थे। इंग्लैंड की वैदेशिक नीति में कम्पनी कि महत्वपूर्ण भागीदारी होती थी। जॉन केय के अनुसार “कम्पनी और ब्रिटिश राज एक दूसरे को अच्छी तरह समझते थे। प्रेसिडेंसी व्यवस्था का प्रारंभिक इतिहास साफ दिखाता है कि ब्रिटिश राज ने किस प्रकार कम्पनी के द्वारा भारत के उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया। जो बम्बई चार्ल्स द्वितीय को पुर्तगाल से दहेज के रूप में मिला था राजा ने मात्र 10 पाउंड वार्षिक किराए पर इसे कम्पनी को दे दिया। यही बम्बई 1687 में पश्चिमी भारत का प्रेसिडेन्सी मुख्यालय बना। बेली कहते हैं,” साम्राज्यवादी विस्तार का मुख्य उद्देश्य वित्तीय तथा सैनिक आवश्यकता थी न कि व्यापार। भले ही चाइल्ड औरंगजेब द्वारा पराजित हुआ लेकिन इससे कम्पनी का साम्राज्यवादी उद्देश्य साफ स्पष्ट होता है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. 1600 ई. में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की औपचारिक स्थापना की गयी थी।
2. सम्राट जहाँगीर से व्यापार के लिये आज्ञा प्राप्त करने हेतु 1608 में विलियम हॉकिन्स सूरत पहुंचा था।
3. 1612 में कैप्टन बेसेंट ने स्वाली नाम के स्थान पर पुर्तगाली सेना को बुरी तरह पराजित कर दिया।
4. 1662 में विलियम द्वितीय को पुर्तगालियों से बम्बई दहेज के रूप में प्राप्त हुआ।
5. मद्रास 1680 में पश्चिमी भारत का प्रेसिडेन्सी मुख्यालय बना।

1.6 फ्रांसीसियों का आगमन

सभी यूरोपीय शक्तियों में फ्रांसीसी सबसे अंतिम थे जिन्होंने भारत में चल रहे व्यापार के एकाधिकार के युद्ध में अपनी उपस्थिति दर्ज की। 1664 में फ्रांस की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। इसका मुख्य श्रेय लुई चौदह के मंत्री कोलबर्ट को जाता है। फ्रांसीसियों ने जल्द ही मुगल सम्राट से आज्ञा प्राप्त कर सूरत में अपनी पहली फैक्ट्री स्थापित की। चाइल्ड और औरंगजेब के बीच हुए संघर्ष के परिणामस्वरूप जो मनमुटाव पैदा हुआ, इस स्थिति ने भी फ्रांसीसी कम्पनी को सम्राट का विश्वास जीतने का एक अच्छा अवसर प्रदान किया था। पर्सिवल ग्रीफिथ ने भारत में फ्रांसीसी कम्पनी के विकास को तीन चरणों में बांटा है। प्रथम चरण मुख्य रूप से शांतिपूर्ण रहा। यह चरण 1715 में समाप्त होता है, इसमें फ्रांस के मुख्य शत्रु डच थे। दूसरा चरण 1740 में समाप्त होता है, पुनर्गठन एवं वाणिज्यिक विकास इस चरण की मुख्य गतिविधि थी।

1667 में सूरत में अपनी प्रथम फैक्ट्री स्थापित करने के 2 वर्ष के अंदर ही फ्रांसीसियों ने मसुलीपट्टनम् में भी फैक्ट्री स्थापित की। 1674 में फ्रांसिस मार्टिन ने बीजापुर के सुल्तान से पाण्डिचेरी प्राप्त किया जो आगे चलकर भारत में उनकी राजधानी बनी। डूप्ले के फ्रांसीसी गवर्नर बनने से पहले फ्रांसीसी कम्पनी ने माहे, कारिकल, कासिमबाजार तथा बालासोर में अपनी फैक्ट्री स्थापित कर ली थी। डूप्ले के काल में कम्पनी अपने शिखर पर पहुँच गई। डूप्ले ने भारत में कम्पनी के राजनैतिक हस्तक्षेप को बढ़ावा दिया। अतः जिस समय मुगल साम्राज्य अपने पतन की ओर बढ़ रहा था तथा क्षेत्रीय शक्तियों का उदय हो रहा था, फ्रांसीसियों ने भी स्वयं को राजनैतिक रूप से स्थापित करने की पूरी कोशिश की। इस तरह का हस्तक्षेप निःसंदेह रूप से अंग्रेज कम्पनी को गवारा नहीं था। व्यापारिक एकाधिकार की अंतिम लड़ाई तीसरे कर्नाटक युद्ध में समाप्त होती है। कर्नाटक युद्ध की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे। कर्नाटक युद्ध की सफलता ने अंग्रेजों के लिए भारत में राजनैतिक सत्ता स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त किया।

1.7 सारांश

फ्रांसीसी पर्यटक बर्नियर के अनुसार, “उस समय का भारत एक ऐसा गहरा कुआँ था, जिसमें चारों ओर से संसार भर का सोना-चाँदी आकर एकत्रित हो जाता था, पर जिसमें से बाहर जाने का कोई रास्ता नहीं था।” बर्नियर की टिप्पणी का कारण यह था कि, यूरोप में भारतीय उत्पादों की मांग बहुत अधिक थी, परन्तु यूरोपीय उत्पादों की भारत में मांग बहुत अधिक नहीं थी। अतः भारतीय उत्पादों को खरीदने का एकमात्र जरिया बुलियन था। भारत में व्यापारिक हित की संभावनाओं को देखते हुए यूरोपीय जातियों ने भारत में प्रवेश किया जिससे व्यापारिक एकाधिकार के युद्ध को जन्म दिया। मार्क्सवादी इतिहासकार आर. पी. दत्त ने भारत में उपनिवेशवाद को तीन चरणों में बाँटा था, जिससे प्रथम चरण वाणिज्यिक पूंजीवाद था। यही चरण व्यापारिक एकाधिकार के काल का प्रतिनिधित्व करता था। इसकी शुरुआत वास्को डी गामा के आगमन से होती है। प्रत्येक यूरोपीय जाति भारतीय व्यापार पर एकाधिकार कर अधिक मुनाफा कमाना चाहती थी। व्यापारिक एकाधिकार के मुख्यतः तीन सिद्धांत थे, प्रथम, व्यापार

करने वाले देश का व्यापार पर एकाधिकार हो ताकि देश का अधिक से अधिक मुनाफा हो सके। दूसरा, देश के प्रमुख उद्योगों की सुरक्षा करना तथा तीसरा व्यापारिक देश को वित्तीय लाभ हो जिससे देश के बुलियन को बचाया जा सके। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इन्हीं सिद्धांतों को अपनाकर भारत से अन्य यूरोपीय शक्तियों को समाप्त किया तथा ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना की।

1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

खण्ड 1.3 के उत्तर

प्रश्न 1 – सत्य

प्रश्न 2 - सत्य

प्रश्न 3 – असत्य

प्रश्न 4 - असत्य

प्रश्न 5 - असत्य

खण्ड 1.4 के उत्तर

प्रश्न 1 – सत्य

प्रश्न 2 - सत्य

प्रश्न 3 – सत्य

प्रश्न 4 - असत्य

प्रश्न 5 - असत्य

खण्ड 1.5 के उत्तर

प्रश्न 1 – सत्य

प्रश्न 2 - सत्य

प्रश्न 3 – सत्य

प्रश्न 4 - असत्य

प्रश्न 5 - असत्य

1.9 तकनीकी शब्दावली

गर्म मसाले – इसके अंतर्गत काली मिर्च , दालचीनी , लौंग , इलायची जैसे तीखे स्वाद के मसाले आते हैं।

दिग्दर्शक यंत्र – दिशा दिखाने वाला यंत्र

फैक्ट्रियां – यूरोपीय देशों की इन फैक्ट्रियों में वास्तव में कोई निर्माण कार्य नहीं होता था, ये स्थान उनके निवास या सामान इकट्ठा करने के लिए थे।

आइलैण्ड – द्वीप

फरमान – आज्ञापत्र

1.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

C.A.BAYLY, INDIAN SOCIETY AND THE MAKING OF BRITISH EMPIRE
MARK WILKS, HISTORICAL SKETCHES OF SOUTH OF INDIA, VOL.II
E.H.NOLAN, THE BRITISH EMPIRE IN INDIA
K.K.AZIZ, BRITISH IN INDIA: A STUDY IN IMPERIALISM
S.C.RAYCHOUDHARY, HISTORY OF MODERN INDIA
P.E.ROBERTS, HISTORY OF INDIA
ISHWARI PRASAD, HISTORY OF MODERN INDIA

1.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

IRFAN HABIB, STATE AND DIPLOMACY: UNDE TIPU SULTAN
HENRY DODWELL, THE CAMBRIDGE HISTORY OF MODERN INDIA, VOL.V
SEKHAR BANDYOPADHYAY, FROM PLASSEY TO PARTITION: A HISTORY OF
MODERN INDIA
S.L.NAGAURI, AADHOONIK BHARAT KA VRAHT ITIHAAS

1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में यूरोपीय देशों की प्रतिस्पर्धा पर सविस्तार एक निबन्ध लिखिए।

आंग्ल-फ्रांसीसी स्पर्धा और कर्नाटक युद्ध

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 कर्नाटक युद्ध
 - 2.3.1 दोनों कम्पनियों का स्वरूप एवं स्थिति
 - 2.3.2 युद्ध से पूर्व हैदराबाद एवं कर्नाटक की स्थिति
- 2.4 प्रथम कर्नाटक युद्ध
 - 2.4.1 अडियार का युद्ध
 - 2.4.2 युद्ध का महत्व एवं परिणाम
- 2.5 द्वितीय कर्नाटक युद्ध 1749-1754
 - 2.5.1 दूसरे कर्नाटक युद्ध के परिणाम
- 2.6 तीसरा कर्नाटक युद्ध- 1758-63
- 2.7 अंग्रेजों की सफलता के कारण
- 2.8 सारांश
- 2.9 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 2.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.13 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

वाणिज्यवाद आधारित साम्राज्यवाद का सबसे उत्तम उदाहरण अंग्रेज और फ्रांसीसी कम्पनी के बीच 19 वीं शताब्दी में चलने वाला कर्नाटक युद्ध है। यह युद्ध अन्य यूरोपीय कम्पनियों के बीच होने वाले युद्धों से कई सन्दर्भ में भिन्न है। युद्ध के कारण और परिणाम से सम्बन्धित घटनाएं अपने आप में युगान्तकारी थीं। वैश्विक साम्राज्यवाद और भारत में चलने वाले वाणिज्यवादी एकाधिकार के बीच का जो सम्बन्ध है, उसे कर्नाटक युद्ध बहुत स्पष्ट रूप से सामने रखता है। प्रथम और तृतीय कर्नाटक युद्ध का सीधा सम्बन्ध यूरोप में चलने वाली साम्राज्यवादी लड़ाई और भारत में अंग्रेज और फ्रांसीसी कम्पनी के बीच वाणिज्यिक एकाधिकार के संघर्ष से था। वही दूसरी तरफ दूसरे कर्नाटक युद्ध में इन दोनों कम्पनियों ने अधिक से अधिक व्यापारिक लाभ प्राप्त करने के लिए पहली बार भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर भारतीय राजनीति के स्वरूप को बदलने की कोशिश की, जिसमें स्थानीय शासक इन विदेशी कम्पनियों पर पहली बार पूर्णरूप से निर्भर दिखें। इस युद्ध ने स्पष्ट कर दिया था कि बगैर प्रत्यक्ष राजनीतिक हस्तक्षेप के

अथवा बगैर राजनीतिक शक्ति प्राप्त किए व्यापारिक एकाधिकार सम्भव नहीं है। इस युद्ध के परिणाम ने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से न केवल विदेशी कम्पनियों को बल्कि भारतीय शासकों को भी ब्रिटिश प्रभुसत्ता स्वीकार करने के लिए मजबूर किया।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी स्पर्धा और कर्नाटक युद्ध से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नांकित जानकारियों से भी परिचित सकेंगे :

1. अंग्रेजी एवं फ्रेंच कम्पनियों का स्वरूप एवं स्थिति
2. युद्ध से पूर्व हैदराबाद एवं कर्नाटक की स्थिति
3. प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय कर्नाटक युद्ध
4. अंग्रेजों की सफलता के कारण

2.3 कर्नाटक युद्ध

अंग्रेज और फ्रांसीसी कम्पनियों के बीच लड़े गए तीनों युद्ध कर्नाटक में हुए थे। कर्नाटक समुद्र के पूर्वी किनारे संकरे क्षेत्र की एक पट्टी थी, जो मैसूर के पश्चिमी पहाड़ी माला द्वारा अलग होती थी, इसकी उत्तरी सीमा गंडलकम्पा नदी थी वही तंजौर उसका दक्षिणी क्षेत्र था, जो 17 वीं शताब्दी में कर्नाटक में आगे बढ़कर मराठों द्वारा स्थापित जागीर थी। कर्नाटक का नबाब दक्षिण के सूबेदार निजामुलमुल्क का सहायक था, जिस पर निजामुल्क ने मुगल साम्राज्य से अलग होकर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, ठीक उसी प्रकार कर्नाटक का नबाब भी हैदराबाद से अलग होकर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने की कोशिश करने लगा। कर्नाटक का संतानहीन नबाब सादुल्ला खॉ ने मुगल सम्राट मुहम्मद शाह से आज्ञा प्राप्त कर निजामुल्क की स्वीकृति बिना अपने भतीजे दोस्त अली को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

2.3.1 दोनों कम्पनियों का स्वरूप एवं स्थिति

एक तरफ जहाँ फ्रांसीसी कम्पनी की स्थापना फ्रांसीसी सरकार के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का परिणाम थी, जिसमें कम्पनी न केवल अपने वित्तीय सहायता के लिए सीधे तौर पर सरकार पर निर्भर थी, बल्कि कम्पनी के अधिकारियों के चुनाव से लेकर अन्य सभी निर्णय फ्रांसीसी सत्ता ही लेती थी। 1723 के बाद से फ्रांसीसी कम्पनी के निदेशकों की नियुक्ति प्रत्यक्ष रूप से फ्रांसीसी ताज द्वारा ही होती थी। राजा एवं उसके अधिकारियों के सीधे हस्तक्षेप ने कम्पनी द्वारा निर्णय लेने की शक्ति को बहुत कम कर दिया था। इस हस्तक्षेप की नीति ने निःसंदेह रूप से फ्रांसीसी कम्पनी को अन्दर से कमजोर कर दिया, वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने वित्त के लिए सरकार पर निर्भर नहीं थी। इसकी स्थापना ब्रिटेन के कोर्पोरेट द्वारा हुई थी। यह एक स्वतन्त्र कोर्पोरेशन था, जो फ्रांसीसी कम्पनी के विपरीत सरकारी अधिकारियों की सहायता पर निर्भर नहीं था।

कम्पनी अपने कार्यों का निर्णय लेने में स्वतन्त्र थी। इनके अधिकारियों की नियुक्ति ब्रिटिश ताज के द्वारा नहीं, बल्कि कम्पनी के बोर्ड के द्वारा होती थी, वहीं एक ओर फ्रांसीसी सरकार ने स्वयं को इतना अधिक यूरोपीय राजनीति में उलझा रक्खा था कि यह कम्पनी के कार्यों में बहुत अधिक ध्यान नहीं देती थी, वही दूसरी ओर ब्रिटिश पार्लियामेंट एवं ताज दोनों ही कम्पनी के माध्यम से व्यापारिक लाभ प्राप्त करने के लिए कम्पनी के कार्यों में अपनी पूरी दिलचस्पी रखते थे। रॉबर्ट के अनुसार- “हालांकि युद्ध शुरु होने से पहले दोनों कम्पनियों की शक्ति बिल्कुल बराबर दिख रही थी, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि जहाँ तक वित्तीय शक्ति एवं संसाधन का प्रश्न है अंग्रेज कम्पनी फ्रांसीसी कम्पनी की तुलना में कहीं अधिक मजबूत थी।” इस प्रकार युद्ध के पहले की स्थिति पर यदि हम ध्यान दे तो देखते हैं कि ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी फ्रांसीसी कम्पनी की तुलना में काफी मजबूत स्थिति में थी। कम्पनी का व्यापारिक लाभ न केवल कम्पनी की आर्थिक स्थिति भी इस पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर होती है। ब्रिटिश कम्पनी ने अपनी इस मजबूत आर्थिक स्थिति का फायदा न केवल व्यापार के विकास में किया, बल्कि इसके द्वारा अपने सैन्य शक्ति को भी मजबूत किया। खासकर ब्रिटिश नौ सैनिक शक्ति फ्रांसीसी कम्पनी के नौसैनिक शक्ति की तुलना में कहीं अधिक श्रेष्ठ थी। अल्फ्रेड लायल के अनुसार जिस देश की समुद्री शक्ति अधिक श्रेष्ठ होगी वही विश्व पर शासन करेगा।

2.3.2 युद्ध से पूर्व हैदराबाद एवं कर्नाटक की स्थिति

चूंकि यह युद्ध कर्नाटक में लड़ा गया, इसलिए इन तीनों कर्नाटक युद्धों से पूर्व कर्नाटक तथा हैदराबाद की स्थिति से अवगत होना आवश्यक है। हैदराबाद की राजनैतिक स्थिति जानना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि कर्नाटक हैदराबाद के अन्दर ही आता था, जो बाद में हैदराबाद से अलग होकर एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में सामने आया। यह भी जानना आवश्यक है कि हैदराबाद एवं कर्नाटक दोनों ही सूबों में ऐसी क्या राजनैतिक स्थिति उत्पन्न हुई, जिसने इन दोनों विदेशी कम्पनियों के लिए राजनैतिक हस्तक्षेप की जमीन तैयार की। इसकी भी जानकारी आवश्यक है कि पतोजी मुगल साम्राज्य एवं लड़खड़ाती दक्षिण की राजनीति में अंग्रेजों की प्रभुसत्ता स्थापित करने में हितकारी सिद्ध हुई। यहाँ पर मुझे 1904 में कर्जन का लंदन में दिया गया भाषण याद आता है, जिसमें उसने पूरे आत्मविश्वास के साथ कहा था, “भारत के लोगों का भाग्य ईश्वर द्वारा अंग्रेजों को ही सौंपा गया है।” साथ ही साथ उसने यह भी कहा था कि “मेरे लिए यह संदेश ग्रेनाड पर खुदा है कि हमारा काम उचित है और स्थाई बना रहेगा।” कर्जन के इस आत्मविश्वास ने यह साफ कर दिया था कि भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना नैतिकता की कसौटी पर पूरी तरह से उतरता है। अल्फ्रेड मार्टिनो का मत है कि दक्षिण भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विकास अंग्रेजों के उत्साह एवं प्रयासों से उतना नहीं हुआ, बल्कि “अशुभ शक्तियों द्वारा हुआ, जिन्हें हम संयोग या दैवयोग और कभी-कभी भाग्य का नाम देते हैं।” अतः अल्फ्रेड मार्टिनो भी यह साफ करते हैं कि दक्षिण में ब्रिटिश प्रभुसत्ता की स्थापना वहाँ की लड़खड़ाती राजनीति का ही परिणाम थी।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य तेजी से अपने पतन की ओर बढ़ रहा था, इस स्थिति का लाभ उठाते हुए कई मुगल सूबेदारों ने अपने राज्यों की स्वतन्त्रता की घोषणा की, जिनमें चिनकुलिच खॉ, जो बाद में निजाममुल्क के नाम से प्रसिद्ध हुआ, भी एक था। निजाममुल्क की बढ़ती शक्ति ने मराठों को आशंकित किया, जिसकी परिणती 1727 के मंगीशेव गॉव के युद्ध में हुई, जिसमें निजाममुल्क की पराजय है। नादिरशाह के आक्रमण के परिपेक्ष्य में निजाममुल्क ने दिल्ली की ओर रवाना होने से पूर्व अपने पुत्र नासिरगंज को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। नासिरगंज ने स्वयं बेहतर उत्तराधिकारी सिद्ध किया एवं बाजीराव के विरुद्ध एक युद्ध में उसने मराठों के विरुद्ध अच्छी सफलता प्राप्त की।

1732 में कर्नाटक के नबाब सादुल्ला खॉ की मृत्यु हो गई। दोस्त अली उसका उत्तराधिकारी बना, परन्तु नए नबाब ने स्वयं को गद्दी के लिए उचित सिद्ध नहीं किया। शासन का सारा भार उसने अपने पुत्र सफदर अली एवं दिवान चंदा साहब पर छोड़ दिया, इसी बीच त्रिचनापल्ली के राजा की मृत्यु हो गई। इस अवसर का लाभ उठाकर त्रिचनापल्ली पर अधिकार कर लिया। विधवा रानी ने भी चंदा साहब से अच्छे सम्बन्ध स्थापित किए। त्रिचनापल्ली पर यह आक्रमण कर्नाटक को बहुत भारी पड़ा। मराठे, जो त्रिचनापल्ली के हिन्दू राज्य की समाप्ति से क्रोधित थे, ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में दोस्त अली मारा गया तथा सफदर अली को पीछे हटना पड़ा। आगे बढ़ते हुए मराठों ने अर्काट पर अधिकार कर लिया तथा बाध्य होकर सफदर अली को मराठों से सन्धि करनी पड़ी। सफदर अली अर्काट से निकलकर अपने बहनोई मुर्तजा अली के पास वेलोर पहुंचा। पर वहाँ मुर्तजा अली ने षडयंत्र कर सफदर अली को मार डाला एवं स्वयं को नबाब घोषित किया, परन्तु मुर्तजा अली के भाग्य में शासन बहुत अधिक दिन तक नहीं था और उसके स्थान पर सफदर अली के पुत्र मुहम्मद खॉ को नबाब घोषित किया गया निःसंदेह रूप से निजामुल मुल्क, जिसकी नजर कर्नाटक पर थी, उसने इस परिस्थिति का लाभ उठाया तथा मराठों को पराजित कर न केवल त्रिचनापल्ली पर, बल्कि समस्त कर्नाटक पर अपना अधिकार कर लिया। निजामुल मुल्क ने अवयस्क सैय्यद मुहम्मद को, जो कि सफदर अली का पुत्र था, नबाब घोषित किया तथा अनवरुद्दीन को उसका संरक्षक नियुक्त किया सैय्यद मुहम्मद की हत्या कर दी गई, जिसके बाद अनवरुद्दीन वहाँ का नबाब बना। इसी बीच फ्रांसीसी दक्षिण में अपनी शक्ति को बढ़ाने में लगे हुए थे। पांडिचेरी में उन्होंने अत्यधिक मजबूत किले का निर्माण कराया था, इस मजबूत किले को इतनी अधिक प्रसिद्धी मिल चुकी थी कि मराठों के डर से चंदा साहब ने अपने परिवार के सदस्यों को वहाँ रखा था। मराठों ने जब फ्रांसीसियों से चंदा साहब के परिवार तथा 60 लाख रुपये की माँग की, तब फ्रांसीसियों ने इस अनैतिक माँग को ठुकराते हुए जबाब दिया “हमारे देश फ्रांस में न तो सोना पैदा होता है और न चाँदी। हम जो भी व्यापारिक माल खरीदने के लिए लाते हैं, वह हमें विदेशों से मिलता है। हमारे देश में तो लोग और सैनिक ही पैदा होते हैं, जिन्हें हम अन्यायपूर्ण छेड़छाड़ के विरुद्ध इस्तेमाल करना जानते हैं। भारतीय शासकों की फ्रांसीसियों पर निर्भरता तथा इनके द्वारा दिए गए मराठों को दो टुक जबाब से फ्रांसीसियों की बढ़ती शक्ति तथा उनका आत्मविश्वास साफ दिखाई देता है।

2.4 प्रथम कर्नाटक युद्ध

इतिहासकारों का मानना है कि प्रथम एवं तृतीय कर्नाटक युद्ध का कारण भारतीय राजनीति एवं यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों द्वारा व्यापारिक लाभ कमाना नहीं था, बल्कि इसका कारण यूरोप में होने वाली घटनाएं थी, परन्तु यह समझना जरूरी है कि यूरोपीय राजनीति कर्नाटक में होने वाले मुद्दों का कारण नहीं, बल्कि एक तात्कालिक बहाना थी, क्योंकि युद्ध का मुख्य कारण यूरोपीय कम्पनियों द्वारा व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त करना था, ताकि व्यापार से अधिक से अधिक लाभ मिल सके और यह तभी सम्भव था, जब अन्य व्यापारिक कम्पनियाँ इस व्यापारिक लाभ की प्रतिस्पर्धा से बाहर हो जाए। आस्ट्रियन उत्तराधिकार के युद्ध की खबर भारत में 1744 में पहुंची, परन्तु दोनों कम्पनियों के बीच युद्ध का वातावरण काफी पहले बन चुका था, जिसमें बदलती राजनीतिक घटनाओं को लेकर 1740 से तेजी आई।

कर्नाटक युद्ध का तात्कालिक बहाना आस्ट्रिया का उत्तराधिकार युद्ध था। यह युद्ध यूरोप में आस्ट्रिया की राजगद्दी पर मोरिया थरेसा के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में हुआ। इस युद्ध ने इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों को युद्ध में उलझा दिया। इस आपातकालीन स्थिति में डुप्ले को 1741 में पांडिचेरी का गवर्नर नियुक्त किया गया। डुप्ले नहीं चाहता था कि यूरोप में जलने वाली आग की चिंगारी कर्नाटक पहुंचे। उसका यह मानना था कि यह दोनों कम्पनियों के व्यापारिक हित के विरुद्ध होगा। उसने मद्रास के ब्रिटिश गवर्नर से अपील की कि भारत को यूरोप में चलने वाले युद्ध से बाहर रखा जाए, लेकिन अंग्रेजों ने तटस्थ बने रहने की कोई गारंटी नहीं है, क्योंकि वे जाने थे कि समुद्र में जो अंग्रेजी नावें थी उस पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं है। मद्रास के गवर्नर मोर्स ने डुप्ले का उत्तर देते हुए कहा था कि यदि इंग्लैण्ड से युद्धपोत आ जाते हैं, तो उसका उन पर नियन्त्रण नहीं रहेगा। अंग्रेजों की ओर से निश्चित आश्वासन मिलने के बाद डुप्ले ने कर्नाटक के नबाब अनवरुद्दीन से वार्तालाप किया। देश की शांति भंग न हो इसके लिए नबाब ने अंग्रेज तथा फ्रांसीसी दोनों कम्पनियों को युद्ध न लड़ने की सलाह दी। दोनों कम्पनियों ने अपनी-अपनी सरकारों से यह अपील की कि वह भारत में युद्ध करना नहीं चाहती। फ्रांस की सरकार ने डुप्ले के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, परन्तु इंग्लैण्ड की सरकार ने ऐसा नहीं किया। इंग्लैण्ड की सरकार ने बार्नेट के नेतृत्व में एक बेड़ा फ्रांसीसी कम्पनी पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया, इस जहाजी बेड़े ने कई फ्रांसीसी जहाजों को डूबो दिया। ऐसी स्थिति में डुप्ले ने मॉरिशस के फ्रांसीसी गवर्नर ला-बार्डिंगो से सहायता मांगी, इसी समय बार्नेट की मृत्यु हो गई तथा उसके स्थान पर कर्नल पैटन आया। कोरामंडल कोस्ट पर दोनों सेनाओं के बीच कुछ झड़पें हुईं, लेकिन कुछ समय बाद ही अंग्रेजी फौज लंका के लिए रवाना हो गई। स्थिति का लाभ उठाकर डुप्ले ने ला-बार्डिंगो से ये मद्रास पर आक्रमण करने के लिए कहा। घबराकर अंग्रेज नबाब अनवरुद्दीन के पास पहुंचे और उनसे अपील की कि वे फ्रांसीसी सेना को मद्रास पर अधिकार करने से रोकें। जब नबाब ने हस्तक्षेप किया तब डुप्ले ने यह कह कर नबाब को समझा दिया कि वह मद्रास पर इसलिए आक्रमण कर रहा है ताकि जीत कर वह इसे नबाब को सौंप दे। फ्रांसीसी आक्रमण के सामने मोर्स बहुत अधिक समय तक नहीं टिक सका और अन्त में उसने आक्रमण कर दिया।

1746 की मद्रास की विजय ने जहां एक ओर फ्रांसीसी सेना के अन्दर उत्साह बढ़ाया, तो वहीं दूसरी ओर अन्दरूनी कलह की भी वजह बनी।

ला-बार्डिनों ने अंग्रेजों के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार 40,000 पौण्ड लेकर मद्रास अंग्रेजों को दे दिया। यह भी कहा जाता है कि उसने 1,00,000 की रिश्वत भी ली थी। डॉडवेल के अनुसार “डुप्ले और ला-बार्डिनों के बीच के विवाद का सम्बन्ध राष्ट्रीय हित से नहीं था। प्रश्न यह था कि मद्रास से कौन धन अर्जित करेगा, लेकिन वहीं दूसरी ओर डुप्ले ने इसे राष्ट्रीय मुद्दा बनाने की कोशिश की। उसने कहा “ईश्वर के नाम पर अपने सम्राट की प्रतिष्ठा में वृद्धि के लिए और अपने राष्ट्र के सामान्य हित के लिए जो आपको भारत में पुनः स्थापक मानेगा उन्हें हम इस अवसर का लाभ उठाएं। लॉ-बार्डिनों के मॉरिशस जाने के बाद मद्रास की सन्धि को ठुकरा दिया। उसने महल पर आक्रमण कर अंग्रेज अधिकारियों को बंदी बना लिया।

2.4.1 अडियार का युद्ध

मद्रास पर आक्रमण के समय नबाब का अपनी ओर पक्ष लेने के लिए डुप्ले ने उससे वादा किया था कि वह मद्रास इसलिए जीतना चाहता है ताकि अंग्रेजों से लेकर इसे नबाब को दे दे। जब नबाब ने मद्रास की मांग की तो डुप्ले ने इसे देने से इनकार कर दिया तथा मद्रास से लूटा गया माल भी वह अपने पास रखना चाहता था। क्रोधित होकर नबाब ने अपने पुत्र महफज खॉ के नेतृत्व में 10,000 घुड़सवार सेना को फ्रांसीसियों पर आक्रमण करने के लिए भेजा संख्या बल में बहुत छोटी सेना होने के बावजूद फ्रांसीसियों ने विशाल नबाब की सेना को बुरी तरह पराजित किया। इतिहास में यह युद्ध सेंट थाम का युद्ध कहलाता है।

एक्स ला शैपल की सन्धि के द्वारा भारत में भी दोनों कम्पनियों के बीच युद्ध बन्द हो गया। युद्ध की सन्धि के अनुसार मद्रास अंग्रेजों को लौटा दिया गया था तथा इसके बदले फ्रांसीसियों को अमेरिका में लुईसकी प्राप्त हुआ।

2.4.2 युद्ध का महत्व एवं परिणाम

हालांकि प्रथम कर्नाटक युद्ध ने कोई बुनियादी क्षेत्रीय परिवर्तन नहीं किया फिर भी यह युद्ध भारतीय इतिहास में अलग महत्व रखता है। डा. ईश्वरीप्रसाद के अनुसार “इस सन्धि के साथ हम एक ऐसे काल में प्रवेश करते हैं, जिसमें कि भारत में बसने वाले यूरोप के लोग शांत व्यापारियों का जाया उतारकर प्रबल राजनीतिक शक्तियाँ बन गए। इसने पूर्वी जगत की सैनिक शक्ति का जो मिथ्य था, उसे ध्वस्त कर दिया तथा यह तय कर दिया कि संख्या बल में कम होने के बावजूद अनुशासित प्रश्विमी सेनाएं भारतीय सेनाओं को आसानी से पराजित कर सकती है, इस युद्ध के परिणाम ने पश्चिमी शक्तियों के मस्तिष्क में यह बात डाल दी कि वह भारत में राजनैतिक शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। इस युद्ध ने एक शक्तिशाली नौसेना के महत्व को पूरी तरह से स्थापित कर दिया। डॉडवेल कहते हैं कि, “इससे समुद्री शक्ति के अत्यधिक प्रभाव का प्रदर्शन हुआ।” एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि भले ही युद्ध के बाद फ्रांसीसियों ने जीता हुआ क्षेत्र अंग्रेजों को वापस कर दिया, परन्तु इस युद्ध ने उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि अवश्य की।

स्वमूल्यांकित प्रश्न**कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।**

1. अंग्रेज और फ्रांसीसी कम्पनियों के बीच लड़े गए तीनों युद्ध कर्नाटक में हुए थे।
2. कर्नाटक समुद्र के पश्चिमी किनारे संकरे क्षेत्र की एक पट्टी थी, जो मैसूर के पूर्वी पहाड़ी माला द्वारा अलग होती थी।
3. ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने वित्त के लिए सरकार पर निर्भर नहीं थी।
4. ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी फ्रांसीसी कम्पनी की तुलना में कमजोर स्थिति में थी।
5. प्रथम कर्नाटक युद्ध का तात्कालिक बहाना आस्ट्रिया का उत्तराधिकार युद्ध था।
6. डुप्ले 1841 में पांडिचेरी का गवर्नर नियुक्त हुआ था।

2.5 द्वितीय कर्नाटक युद्ध 1749-1754

प्रथम कर्नाटक युद्ध की सन्धि ने केवल युद्ध विराम की तरह कार्य किया और वह भी बहुत अल्प समय के लिए। यह युद्ध भारतीय राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से जल-विभाजक माना जा सकता है। इस युद्ध के कारण दोनों कम्पनियों द्वारा भारतीय उत्तराधिकार की लड़ाई में हस्तक्षेप था। इस युद्ध ने भारतीय शक्तियों की निर्बलता का यूरोपीय शक्तियों पर उनकी निर्भरता को सिद्ध कर दिया। ऐसा पहली बार देखा गया कि भारतीय उत्तराधिकार के संघर्ष में यूरोपीय शक्तियों ने सीधा हस्तक्षेप किया। निःसदेह रूप से इसने यूरोपियन कम्पनियों को राजनैतिक सत्ता स्थापित करने में सहायता पहुंचाई। इस प्रकार की पहली पहल अंग्रेजों द्वारा हुई, जब उन्होंने तंजौर के शासक प्रताप सिंह के विरुद्ध शाहजी का साथ दिया। अंग्रेजी तथा शाहजी की सेनाओं ने देवकोराई पर अधिकार कर लिया, इससे बाध्य होकर प्रताप सिंह अंग्रेजों के साथ सन्धि करने पर मजबूर हुआ। सन्धि के अनुसार प्रताप सिंह ने अंग्रेजों के देवकोटाई एवं उसके आस-पास का क्षेत्र देने को तैयार हो गया, जिसकी वार्षिक आय 36,000 रुपए थी। इस आय ने अंग्रेजों की सैनिक शक्ति को संगठित करने एवं उसे मजबूत करने में निःसदेह रूप से सहायता पहुंचाई। अंग्रेजों की इस पहल ने फ्रांसीसियों के लिए भी भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करने का द्वार खोल दिया। फ्रांसीसियों को जल्द ही ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, जब निजाममुल्क की मृत्यु के बाद हैदराबाद में उत्तराधिकार की लड़ाई तेज हो गई। नासिरगंज जो निजाममुल्क का पुत्र था, जब गद्दी पर बैठा तो उसके विरुद्ध निजाममुल्क के पौत्र मुजफ्फरजंग ने इस आधार पर उत्तराधिकार का दावा पेश किया कि मुगल सम्राट ने उसे ही दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया था। इसी प्रकार की हलचल कर्नाटक में भी चल रही थी। चंदा साहब, जो मराठों की कैद में था कर्नाटक का नबाब बनना चाहता था। कर्नाटक की तत्कालीन स्थिति में फ्रांसीसियों को आकर्षित किया। मुजफ्फरजंग और चंदा साहब एक दूसरे के सम्पर्क में आए तथा गठबंधन का निर्माण किया।

दोनों ने फ्रांसीसियों से सहायता की याचना की। डुप्ले ऐसी ही किसी परिस्थिति की तलाश में था, उसने तुरन्त मराठों को धन देकर चंदा साहब को आजाद करा लिया। इन तीनों की मिली-जुली 38400 की संयुक्त सेना ने अम्बुर नामक स्थान पर कर्नाटक नबाब अनवरुद्दीन को पराजित किया। 1749 में लड़े इस युद्ध में अनवरुद्दीन मारा गया। अनवरुद्दीन के पुत्र मुहम्मद अली ने भाग कर त्रिचनापल्ली में शरण ली और वहीं से कर्नाटक की गद्दी प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा। उधर चंदा साहब ने कर्नाटक के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया तथा इनाम के तौर पर डुप्ले को पांडिचेरी के पास 30 गांच की जागीर प्रदान की।

एक अन्य घटनाक्रम में नासिरगंज ने अनवरुद्दीन के पुत्र, जो उस समय त्रिचनापल्ली में शरण लिए हुए था, को कर्नाटक का नबाब घोषित कर दिया। नासिरगंज तथा मुहम्मद अली ने अंग्रेजों से सहायता की याचना की। हैदराबाद तथा कर्नाटक में फ्रांसीसियों के बढ़ते प्रभाव ने अंग्रेजों को चिंता में डाल दिया। दक्षिण की राजनीति में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए अंग्रेजों ने नासिरगंज तथा मुहम्मद अली का साथ देने का निश्चय किया। परस्पर विरोधी हित ने दोनों कम्पनियों के बीच युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया। डुप्ले की सलाह के बावजूद भी चंदा साहब ने त्रिचनापल्ली पर आक्रमण न कर के तंजौर पर आक्रमण किया। नासिरगंज ने अंग्रेजों की सहायता से कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। इससे विवश होकर चंदा साहब को पांडिचेरी जाना पड़ा। जिंजी नदी के तट पर दोनों पक्षों में युद्ध हुआ, जिसमें चंदा साहब तथा फ्रांसीसियों की हार हुई। दूसरी तरफ फ्रांसीसियों की सहायता के बावजूद मुजफ्फर जंग को नासिरगंज के सामने हार का मुंह देखना पड़ा तथा मुजफ्फरजंग ने आत्मसमर्पण कर दिया। इन पराजयों ने भी डुप्ले का हौसला नहीं तोड़ा और शीघ्र ही स्वयं को संग्रहित कर उसने मछलीपट्टम और जिंजी पर अधिकार कर लिया। 1750 में फ्रांसीसी सेना ने नासिरगंज पर आक्रमण पर उसकी हत्या कर दी। डुप्ले ने हैदराबाद में मुजफ्फरजंग को तथा कर्नाटक में चंदा साहब को नबाब की गद्दी पर बैठाया। इस सहायता के बदले मुजफ्फरजंग ने डुप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिण की सम्पूर्ण भूमि की सूबेदारी तथा कर्नाटक में अपने सिक्के चलाने का अधिकार दिया। अब मुहम्मद अली डुप्ले से साथ करना चाहता था, लेकिन यह अंग्रेजों को मंजूर नहीं था, क्योंकि इस सन्धि का मतलब था दक्षिण में अंग्रेजों की एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में समाप्ति। अंग्रेजों ने मुहम्मद अली को कर्नाटक का नबाब बनाने का लालच दिया, इसी बीच रणनीतिक युद्ध में क्लाइव प्रकट होता है। क्लाइव ने अर्काट पर आक्रमण कर उसे अपने नियंत्रण में ले लिया। अर्काट को पुनः विजित करने के लिए चंदा साहब ने अपने पुत्र के नेतृत्व में अपनी आधी सेना भेज दी, जिसका परिणाम यह हुआ कि त्रिचनापल्ली में उसकी स्थिति कमजोर हो गई। इसी बीच 1751 में मुजफ्फरजंग की मृत्यु हो गई। अपनी कमजोर स्थिति को देखते हुए चंदा साहब ने त्रिचनापल्ली से अपना घेरा उठा लिया। उधर क्लाइव बहादुरी से अर्काट की रक्षा करता रहा। 1752 में लारेंस के विरुद्ध लड़े गए एक युद्ध में चंदा साहब की पराजय हुई। शरण लेने के लिए वह तंजौर पहुंचा जहाँ उसकी

हत्या कर दी गई। क्लार्ड की इस रणनीति ने युद्ध का चेहरा ही बदल दिया। मुजफ्फरजंग तथा चंदा साहब की मृत्यु ने डुप्ले की स्थिति को कमजोर कर दिया। इससे पहले कि वह अपनी खोई प्रतिष्ठा को पुनः पा सके, फ्रांसीसी सरकार ने उसे वापस बुला लिया।

डुप्ले के उत्तराधिकारियों के रूप में गाडेहू भारत आया, उसने अंग्रेजों के साथ संधि करना उचित समझा। इस सन्धि का विरोध करते हुए डुप्ले ने कहा, "देश के नाश तथा जाति से अपमान कर हस्ताक्षर किए गए"। फ्रांसीसियों के अधिकार में जो कुछ आया था, उसे खो देना पड़ा। मैलसन का भी यह मानना था कि यह फ्रांसीसियों के लिए एक अपमानजनक सन्धि थी। मिल ने इस सन्धि को कुछ इस प्रकार से व्यक्त किया है। "अंग्रेजों ने इस सन्धि द्वारा वह सब कुछ प्राप्त कर लिया जिसके लिए वह युद्ध कर रहे थे। तथा फ्रांसीसियों ने वह सब कुछ छोड़ दिया जो वे अब तक प्राप्त कर चुके थे।" वहीं दूसरी ओर आधुनिक शोध ने गाडेहू को इस ऐतिहासिक पाप के लिए जिम्मेदार होने के कलंक से बचाने की कोशिश की है। आधुनिक इतिहासकारों का मानना है कि यदि गाडेहू सन्धि नहीं करता तो न केवल राजनैतिक, बल्कि व्यापारिक शक्ति के रूप में भी फ्रांसीसियों का नाम भारत से हमेशा के लिए मिट जाता सन्धि द्वारा फ्रांसीसी हितों की रक्षा इस प्रकार हुई कि अंग्रेजों को प्राप्त भूमि की वार्षिक आय एक लाख रुपए थी, जबकि वहीं दूसरी ओर फ्रांसीसियों के पास 3 लाख वार्षिक आय की भूमि अभी भी मौजूद थी। राबर्टस के अनुसार "इस सन्धि को किसी भी प्रकार से फ्रांसीसियों के लिए अपमानजनक मानना भूल है। गाडेहू की मुख्य जिम्मेदारी यह थी कि इस विपरीत परिस्थिति में फ्रांसीसियों के लिए जो कुछ भी बचा सके बचा लें और वहीं उसने किया भी।"

2.5.1 दूसरे कर्नाटक युद्ध के परिणाम

दूसरे कर्नाटक युद्ध ने अंग्रेजों को दक्षिण भारतीय राजनीति के निर्माता के रूप में स्थापित किया। देशी राजाओं की उन पर निर्भरता बढ़ी। इस युद्ध के दौरान डुप्ले को फ्रांसीसी सरकार द्वारा वापस बुलाने की घटना ने अंग्रेजों के लिए सत्ता स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस युद्ध के बाद हालांकि फ्रांसीसी एक शक्ति के रूप में पूरी तरह समाप्त नहीं हुए, परन्तु निःसंदेह ही उनकी शक्ति इतनी अधिक कमजोर हो गई कि वे अपने पतन की ओर तेजी से बढ़ने लगे। सुन्दरलाल के अनुसार "त्रिचनापल्ली वह चट्टान मानी जाती है, जिससे टकराकर इस देश के अन्दर डुप्ले और फ्रांसीसियों की समस्त आंकाक्षाएं चूर-चूर हो गईं।"

2.6 तीसरा कर्नाटक युद्ध- 1758-63

1756 में यूरोप में शुरू होने वाला सप्तवर्षीय युद्ध तीसरे कर्नाटक युद्ध का तात्कालिक कारण बना। तात्कालिक कारण हम इस कारण से इसे कह रहे हैं, क्योंकि युद्ध के लिए जमीन तो पहले से तैयार थी। इस व्यवसाय के प्रारम्भ में इसके पहले अध्याय में हम चर्चा कर चुके हैं कि

यूरोपीय शक्तियों के बीच संघर्ष का मुख्य कारण व्यापार कर एकाधिकार प्राप्त करना था और यह तभी सम्भव हो सकता था, जब कोई एक शक्ति अन्य शक्तियों को पराजित कर न केवल अपने राजनैतिक बल्कि व्यापारिक प्रभुसत्ता को भी स्थापित करें। अतः इस व्यापारिक एकाधिकार के युद्ध ने शेष बची दोनों कम्पनियों के बीच अन्तिम निर्णय की लड़ाई को अवश्यम्भावी बना दिया था।

1756 में यूरोप में शुरू हुए सप्तवर्षीय युद्ध ने फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी कम्पनी के बीच भारत में तनाव को बढ़ा दिया था। कर्नाटक युद्ध के ठीक एक वर्ष पूर्व 1757 में प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की विजय ने क्लाइव को साम्राज्य निर्माता के रूप में स्थापित कर दिया था। प्लासी के युद्ध के बाद अंग्रेजों ने न केवल बंगाल का आर्थिक शोषण कर अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाया, बल्कि चन्द्रनगर से फ्रांसीसी फैक्ट्री समाप्त कर फ्रांसीसियों की डगमगाती आर्थिक स्थिति को और भी कमजोर कर दिया। उधर फ्रांसीसी भी अंग्रेजों को भारत से उखाड़ फेंकने के लिए प्रतिबद्ध थे। अपनी इस प्रतिबद्धता को अमलीजामा पहनाने के लिए 1758 में लाली को भारत भेजा गया। उसे यह स्पष्ट निर्देश देकर भेजा गया कि वह भारत में अंग्रेजी व्यापार को समाप्त करने के लिए तटीय प्रदेशों में स्थिति अंग्रेजी बस्तियों पर आक्रमण करें। निर्देशन का पालन करते हुए लाली ने फोर्ट सेंट डेविड पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में ले लिया। इसके बाद लैली मद्रास पर आक्रमण करना चाह रहा था, जो कि रणनीतिक रूप से बहुत हद तक सही भी था, परन्तु कमजोर आर्थिक स्थिति एवं आन्तरिक मतभेद के कारण लाली ऐसा न कर सका। अब लाली ने धन प्राप्त करने के लिए तंजौर पर आक्रमण किया। जब तंजौर पर घेरा डाला गया तो वहाँ के राजा ने लाली को 5 लाख रुपए देने की पेशकश की, परन्तु लाली इससे सन्तुष्ट न हुआ और उसने 10 लाख की माँग की। लाली की इस माँग ने परिस्थिति को फ्रांसीसियों के प्रतिकूल बना दिया। फ्रांसीसियों द्वारा अधिक समय तक तंजौर की घेराबन्दी ने अंग्रेजों को मद्रास में अपनी शक्ति संगठित करने का अवसर प्रदान कर दिया। अन्त में लाली ने जब मजबूर होकर तंजौर की घेराबन्दी हटाई, उस समय उसे कुछ भी नहीं मिला। अब लाली ने मद्रास पर आक्रमण करने का विचार किया। इसी बीच फ्रांसीसी डी० एचे को अंग्रेजी सेना के हाथों पराजय का मुंह देखना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप वह अपने जहाजों को लेकर मारीशस भाग गया। इस प्रतिकूल स्थिति में भी लाली ने मद्रास का घेरा डाला। फ्रांसीसी शक्ति को संगठित करने के लिए उसने हैदराबाद से बुसी को भी मद्रास आने का आदेश दिया। बुसी का हैदराबाद छोड़ना न केवल हैदराबाद में बल्कि पूरे दक्षिण भारत में फ्रांसीसी प्रभाव के लिए हानिकारक हो सकता था, इसलिए बुसी ने लाली को समझाने की कोशिश की कि कहीं ऐसा न हो कि मद्रास पर अधिकार करने की इच्छा के कारण न केवल मद्रास, बल्कि हैदराबाद भी हम गवाँ दें। पर लाली अपनी बात पर डटा रहा और मजबूर होकर बुसी को कानफलों के नेतृत्व में 500 फ्रांसीसी सेना की एक छोटी सी टुकड़ी छोड़कर मद्रास जाना पड़ा। लाली की इस भूल का परिणाम शीघ्र ही सामने आया, जब अंग्रेजों

ने बूसी की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए मछल्लीपट्टनम पर अधिकार कर लिया। भयभीत होकर निजाम सलावतजंग ने अंग्रेजों से सन्धि कर ली, इस प्रकार हैदराबाद से भी फ्रांसीसियों का प्रभाव समाप्त हो गया। उधर मद्रास का घेराव भी फ्रांसीसियों के लिए सन्तोषजनक नहीं था, क्योंकि बूसी और लाली दोनों के बीच रणनीति को लेकर एक मत दिखाई नहीं दे रहा था। उस बदलती हुई परिस्थिति ने लाली को मद्रास से अपना घेरा उठाने के लिए विवश किया। कुछ समय तक छिटपुट घटनाएं चलती रही और अन्त में 1760 ई० में आयरकूट के हाथों लाली की अपमानजनक एवं निर्णायक पराजय हुई। वांडीवाश के इस युद्ध ने न केवल फ्रांसीसियों के राजनैतिक सत्ता स्थापित करने के मंसूबे को समाप्त कर दिया, बल्कि एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में भी इनकी लगभग समाप्ति हो गई। 1760 में ही जिंजी पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। 1761 में अंग्रेजों ने पांडिचेरी पर भी कब्जा कर लिया। बूसी वांडीवाश के युद्ध के समय ही बंदी बना लिया गया था। लाली को भी बंदी बनाकर यूरोप भेज दिया गया और फिर उसे फ्रांस की सरकार को सौंप दिया गया। अतंतः 1763 की पेरिस की सन्धि ने फ्रांसीसी महत्वाकांक्षा को पूरी तरह समाप्त कर दिया।

2.7 अंग्रेजों की सफलता के कारण

हालांकि दूसरे कर्नाटक युद्ध की शुरुआत तक दोनों कम्पनियों की शक्ति एक समान दिख रही थी, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि बुनियादी तौर पर अंग्रेज मजबूत स्थिति में थी। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक स्थिति काफी मजबूत थी और वे अपनी सरकार को ऋण भी देती थी, वहीं दूसरी ओर फ्रांसीसी कम्पनी एक सरकारी कम्पनी थी और धन के लिए अपनी सरकार पर निर्भर थी। मजबूत आर्थिक स्थिति ने एक संगठन के रूप में अंग्रेजी कम्पनी को फ्रांसीसी कम्पनी की तुलना से कई बेहतर स्थिति में ला दिया था। अंग्रेजी कम्पनी के अधिकारियों को यह स्पष्ट रूप से पता था कि उनके आर्थिक हित सीधे तौर पर कम्पनी के आर्थिक हित से जुड़े हुए हैं। अतः वे अपना काम अधिक परिश्रम के साथ करते थे, लेकिन एक सरकारी कम्पनी होने के नाते फ्रांसीसी कम्पनी की संगठनात्मक स्थिति ऐसी नहीं थी। अंग्रेजों की सफलता का एक अन्य कारण उसके तीन महत्वपूर्ण केन्द्र कलकत्ता, मद्रास, एवं मुम्बई थे। अगर किसी एक केन्द्र पर संकट आता भी था, तो उसका प्रभाव दूसरे क्षेत्रों पर नहीं पड़ता था। तीनों केन्द्रों को एक ही समय में जीतना सम्भव नहीं था। वहीं दूसरी ओर फ्रांसीसियों के पास पांडिचेरी के अलावा इस प्रकार का अन्य कोई दूसरा केन्द्र नहीं था, जिस पर निर्भर हुआ जा सके। यही कारण था कि जैसे ही पांडिचेरी का पतन हुआ फ्रांसीसी कम्पनी का सितारा हमेशा के लिए डूब गया। फ्रांसीसी कम्पनी के अधिकारियों की रणनीति में हमेशा मतभेद दिखता है, वहीं अंग्रेज अधिकारी अपने कार्यों को संगठित रूप से अंजाम देते थे। अतंतः अंग्रेजी कम्पनी की विजय का एक बड़ा कारण इनकी समुद्री शक्ति थी।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. मुजफ्फरजंग , चंदा साहब तथा की मिली-जुली 38400 की संयुक्त सेना ने अम्बुर नामक स्थान पर कर्नाटक नबाब अनवरुद्दीन को पराजित किया।
2. ने नासिरगंज तथा मुहम्मद अली का साथ था।
3. 1756 में यूरोप में शुरू होने वाला युद्ध तीसरे कर्नाटक युद्ध का तात्कालिक कारण बना।
4. 1760 ई0 में वांडीवाश के युद्ध में आयरकूट के हाथों की अपमानजनक एवं निर्णायक पराजय हुई।

2.8 सारांश

अंग्रेज और फ्रांसीसियों के बीच होने वाला कर्नाटक युद्ध कोई पृथक घटना नहीं थी। यह 18 वीं शताब्दी में चल रहा वाणिज्यवाद उद्देशित साम्राज्यवाद का ही एक रूप था, जिसकी शुरुआत भारत में वास्कोडिगामा के आगमन के साथ ही हो चुका था। कर्नाटक युद्ध तक पुर्तगाली एवं डच कम्पनी की एक व्यापारिक शक्ति के रूप में समाप्ति हो चुकी थी। व्यापार के एकाधिकार की लड़ाई में अब केवल यह दो कम्पनियाँ ही बची थीं। व्यापारिक हित, जो राजनैतिक सत्ता की स्थापना के बिना सम्भव नहीं था, ने उन दोनों कम्पनियों के बीच युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया था। यह युद्ध इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इसने अंग्रेजी सत्ता को दक्षिण भारतीय राजनीति में पूर्ण रूप से स्थापित कर दिया। अब ने केवल फ्रांसीसी कम्पनी को ही व्यापार से वंचित होना पड़ा, बल्कि इस युद्ध के परिणाम ने दक्षिण भारतीय राज्यों को भी उनकी प्रभुसत्ता से वंचित कर दिया। इस प्रकार कर्नाटक युद्ध की विजय ने भारत को ब्रिटिश उपनिवेश बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा भारत में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

2.9 पारिभाषिक शब्दावली

साम्राज्यवाद- अन्य देशों पर सत्ता स्थापित करने की सोच

वाणिज्यवादी एकाधिकार- व्यापार के साधनों पर अपना पूर्ण नियंत्रण होना

व्यापारिक प्रभुसत्ता- व्यापार में अधिकार स्थापित करना

2.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 2.4.2 के स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य
2. असत्य
3. सत्य
4. असत्य
5. सत्य
6. असत्य

इकाई 2.7 के स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. फ्रांसीसियों
2. अंग्रेजों
3. सप्तवर्षीय
4. लाली

2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. E.H.NOLAN, THE BRITISH EMPIRE IN INDIA
2. K.K.AZIZ, BRITISH IN INDIA: A STUDY IN IMPERIALISM
3. P.J.GRIFFITHS, BRITISH IN INDIA
4. S.L.NAGAURI, AADHOONIK BHARAT KA VRAHT ITIHAAS
5. S.C.RAYCHOUDHARY, HISTORY OF MODERN INDIA
6. HENRY DODWELL, THE CAMBRIDGE HISTORY OF MODERN INDIA, VOL.V
7. P.E.ROBERT, HISTORY OF INDIA
8. ISHWARI PRASAD, HISTORY OF MODERN INDIA

2.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. F.C.DANVERS, PORTUGUESE IN INDIA: BEING A HISTORY OF THE RISE AND DECLINE OF THEIR EASTERN EMPIRE
2. S.L.NAGAURI: BHARAT KA RASHTRIYE AANDOLAN TATHA SANWAIIDHANIK VIKAS

3. MUSHIRUL HASAN, KAMPANI RAJ SE GANTANTRA TAK

4. SEKHAR BANDYOPADHYAY, FROM PLASSEY TO PARTITION:
A HISTORY OF MODERN INDIA

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में आंग्ल- फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा पर सविस्तार लिखिए। फ्रांसीसियों की पराजय पर चर्चा कीजिए।

बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना और द्वैध शासन

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 1756-57 से पूर्व बंगाल की राजनैतिक स्थिति
 - 3.3.1 बंगाल में अंग्रेजों का आगमन
 - 3.3.1.1 सिराजुद्दौला एवं अंग्रेजों के बीच टकराव
 - 3.3.1.2 काल कोठरी की घटना तथा उससे जुड़ी सच्चाई
- 3.4 प्लासी का युद्ध
 - 3.4.1 प्लासी के युद्ध के परिणाम
- 3.5 मीर जाफर, मीर कासिम तथा बक्सर युद्ध
 - 3.5.1 बक्सर युद्ध के बाद बंगाल की स्थिति
- 3.6 बंगाल का द्वैध शासन
- 3.7 सारांश
- 3.8 पारिभाषिक शब्दावली
- 3.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 3.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद घटित घटनाओं ने स्वायत्त राज्यों के उदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। अपने पतन की ओर बढ़ते हुए मुगल साम्राज्य के खण्डरों पर जिन राज्यों का जन्म हुआ, उनमें एक महत्वपूर्ण राज्य बंगाल था। बंगाल की समृद्धि तथा राजनैतिक कमजोरी ने अंग्रेजी को उसकी ओर आकर्षित किया। अंग्रेज, जो अभी तक एक व्यापारी के रूप में थे, उन्होंने साम्राज्य निर्माता के सपने देखने शुरू कर दिए। वह भलीभाँति यह जानते थे कि बगैर राजनैतिक सत्ता की स्थापना के अधिक व्यापारिक लाभ सम्भव नहीं है। 1757 में हुए प्लासी के युद्ध ने नाटकीय रूप से अंग्रेजों को बंगाल की सत्ता पर स्थापित किया और शीघ्र ही वह पूरे भारत के मालिक बन गए।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना और द्वैध शासन से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नांकित जानकारियों से परिचित सकेंगे :

- 1756-57 से पूर्व बंगाल की राजनैतिक स्थिति
- सिराजुद्दौला एवं अंग्रेजों के बीच टकराव, काल कोठरी की घटना तथा उससे जुड़ी सच्चाई
- प्लासी का युद्ध और युद्ध के परिणाम
- मीर जाफर, मीर कासिम तथा बक्सर युद्ध और युद्ध के बाद बंगाल की स्थिति
- बंगाल का द्वैध शासन

3.3 1756-57 से पूर्व बंगाल की राजनैतिक स्थिति

औरंगजेब की मृत्यु के बाद से ही बंगाल का सूबेदार मुर्शिद कुली खॉ ने अपनी स्वतन्त्रता के लक्षण दिखाने शुरू कर दिए, परन्तु वह मुगल सम्राट के प्रति अपनी निष्ठा का प्रदर्शन करता रहा तथा उन्हें वार्षिक कर राशि एवं नजराने देता रहा। इसका कारण यह था कि कुछ समय के लिए वह मुगलों के साथ अपने अच्छे सम्बन्ध तथा उनका विश्वास बनाए रखना चाहता था। बहादुर शाह प्रथम के सम्पूर्ण शासनकाल में मुर्शिद कुली खॉ बंगाल का शासन बना रहा। बाद के मुगलशासक फर्रुखसियर तथा जहाँदारशाह ने मुर्शिद कुली खॉ को हटाने की कोशिश की परन्तु वे असफल रहे। 1772 में कुली खॉ ने मुगल सेना को पराजित कर सेनानायक रशीद खॉ की हत्या कर दी। इस पराजय के बाद फर्रुखसियर ने मुर्शिद कुली खॉ की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी, लेकिन फिर भी मुर्शिद कुली खॉ मुगल साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा का प्रदर्शन करता रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसका दामाद शुजाउद्दीन की मृत्यु हुई तो उसके पुत्र सरफराज ने बंगाल की गद्दी संभाली, परन्तु वह स्वयं को इस गद्दी का उचित हकदार साबित नहीं कर सका। वह बहुत शक्तिहीन था। उसकी निष्क्रियता और अयोग्यता के कारण राज्य के अधिकारियों में सत्ता हथियाने के लिए होड़ मच गई, जिसके परिणामस्वरूप बंगाल में एक क्रांति हुई, जिसमें सरफराज को अपने गद्दी तथा जीवन दोनों से हाथ धोना पड़ा। सरफराज को गद्दी से हटाकर अलीवर्दी खॉ ने बंगाल की सत्ता संभाली। उसने 1740 से 1756 तक बंगाल पर शासन किया। बंगाल उसके शासन काल में आर्थिक दृष्टि से वैभवशाली तथा राजनैतिक दृष्टि से मजबूत था। उसके शासनकाल में मराठों के कई आक्रमण हुए, जिसका उसने बड़ी वीरता से मुकाबला किया। 1751 में बंगाल के नबाब तथा मराठों के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार नबाब मराठों का 12 लाख रुपए वार्षिक चौथ प्रदान करने के लिए इस शर्त पर सहमत हो गया कि भविष्य में मराठे उसके राज्य में कदम नहीं रखेंगे। अलीवर्दी खॉ ने बंगाल में अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों द्वारा क्रमशः कलकत्ता एवं चन्द्रनगर की अपनी-अपनी बस्तियों की किलेबन्दी करने का भी विरोध किया, क्योंकि वह उनकी शक्तियों में वृद्धि के प्रति आशंकित था। 1756 में

अलीवर्दी खॉ की मृत्यु हो गई, जिसके उपरान्त उसका नाती सिराज-उद-दौला उसका उत्तराधिकारी बना। सिराजुद्दौला के सिंहासन पर बैठते ही अंग्रेजों ने बंगाल की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। एक प्रबल और कार्याधिकारी शासक का बंगाल की गद्दी पर बैठना अंग्रेजों के हित में नहीं था। वह किसी दुर्बल व्यक्ति को नबाब बनाना चाहते थे, जो उनकी आर्थिक एवं राजनैतिक हितों की पूर्ति कर सके।

3.3.1 बंगाल में अंग्रेजों का आगमन

1633 से पूर्व अंग्रेजों का आगमन उस समय हुआ जब उड़िसा के मुगल सूबेदार ने उन्हें हरिहरपुर और बालासौर में अपनी फैक्ट्री खोलने की अनुमति दी। शुजा की सूबेदारी में अंग्रेजी व्यापार को बहुत अधिक लाभ हुआ। उन्होंने शोरे, रेशम तथा चीनी का व्यापार आरम्भ किया। 1657 में उन्होंने हुगली में भी एक फैक्ट्री खोली। 1658 में मीर जुमला बंगाल का सूबेदार नियुक्त हुआ। उसने अंग्रेजों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए। इसका परिणाम यह हुआ कि 1658 से 1663 तक अंग्रेजों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। 1663 में मीर जुमला की मृत्यु के बाद शाइस्ता खॉ बंगाल का सूबेदार बना। इसके काल में एक बाद फिर से अंग्रेजों को व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त होने लगीं। इस काल में बंगाल में स्थापित अंग्रेजों की तीन फैक्ट्रियाँ, हुगली, कासिम बाजार की फैक्ट्री के प्रमुख चारनॉक ने अंग्रेजी व्यापारिक केन्द्र के लिए हुगली के स्थान पर सुतनैति को चुना जिससे कलकत्ता की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। सुतनैति में आबादी के बढ़ने से अंग्रेजों ने इस बस्ती के क्षेत्रफल को बढ़ाने की दृष्टि से समीप के दो अन्य गाँव कालिकाता और गोविन्दपुर खरीद लिया। कलकत्ता का निर्माण इन तीनों गाँवों को मिलाकर ही हुआ। अंग्रेजी व्यापार को अधिक प्रोत्साहन मिला। 1791 के शाही आदेश से जिसके अनुसार कस्टम शुल्क तथा अन्य देय करों के स्थान पर अंग्रेज केवल 3000 रुपए अदा करने पर बंगाल में अपना कर मुक्त व्यापार कर सकते थे। मुर्शिद कुली खॉ ने जब बंगाल की सत्ता संभाली तो उसे अंग्रेजों को ही जाने वाली यह असाधारण रियायत से परेशानी होने लगी। अतः 1713 में उसने अंग्रेजों से सारी रियायतें छीन ली और यह आदेश जारी किया कि अब से उन्हें भी सामान्य व्यापारियों के समान ही कर और सीमा शुल्क अदा करने पड़ेंगे। इस पर अंग्रेजों ने तत्कालीन मुगल बादशाह फर्रुखसियर के पास जॉन सुरमन के नेतृत्व में एक शिष्टमण्डल भेजा। इस प्रयास के परिणामस्वरूप 1717 ई० में एक फरमान जारी हुआ, जिसके अन्तर्गत सीमा-शुल्क से मुक्त व्यापार करने के लिए अंग्रेजों की फैक्ट्री के प्रमुख द्वारा दस्तक जारी किया जाता था। फरमान के अनुसार केवल कम्पनी ही अपने व्यापार के लिए दस्तक जारी कर सकती थी, परन्तु कम्पनी के अधिकारियों ने अपने व्यक्तिगत हित के लिए भी इसका दुरुपयोग किया। फरमान के अनुसार कम्पनी को यह विशेष छूट केवल आयात एवं निर्यात अर्थात् विदेशी व्यापार पर ही मिल सकती थी, लेकिन कम्पनी एवं उसके अधिकारियों ने गलत तरीके से इसका इस्तेमाल देशी व्यापार के लिए भी किया। अतः हम देख सकते हैं कि अंग्रेजों को बंगाल से कितना अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त हो रहा था। 1740 में जब अलीवर्दी खॉ ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा की तब भी वह अपनी मनमानी करते रहे। अलीवर्दी खॉ ने जानबूझकर अंग्रेजों की मनमानी के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया। उसका विचार था कि व्यापारियों को दबाना उसकी प्रतिष्ठा के खिलाफ है, परन्तु यह भी

सत्य है कि अलीवर्दी खॉ अंग्रेजों की नौसैनिक शक्ति से भयभीत था। अलीवर्दी खॉ ने अंग्रेजों को कभी किलेबंदी की अनुमति नहीं दी। उसका कहना था “तुम लोग सौदागर हो, तुम्हें किलों की क्या जरूरत। जब तक तुम मेरी हिफाजत में हो तुम्हें किसी दुश्मन का डर नहीं हो सकता।

3.3.1.1 सिराजुद्दौला एवं अंग्रेजों के बीच टकराव

अलीवर्दी खॉ के शासन काल से ही नबाब तथा अंग्रेजों के बीच के सम्बन्ध काफी तनावपूर्ण रहे थे। 1752 में ओर्म ने अलीवर्दी के बारे में क्लाइव को लिखा था, “इस बूढ़े कुत्ते को अच्छी तरह से दंड देना ठीक रहेगा। मैं बगैर किसी कारण के यह नहीं कर रहा हूँ। कम्पनी को गम्भीरतापूर्वक इस बात पर विचार करना होगा अन्यथा उसके लिए बंगाल का व्यापार निरर्थक हो जाएगा।” अलीवर्दी खॉ ने भी सिराजुद्दौला को अंग्रेजों के विरुद्ध सचेत किया था। हॉलवेल के अनुसार अलीवर्दी खॉ ने मरते समय सिराजुद्दौला से कहा था “देश में यूरोपियनों की शक्ति क्या है, इसका ध्यान रखो। तेलंगाना की भूमि में उनकी राजनीति एवं युद्धों को देखते हुए तुम्हें जाग्रत रहना चाहिए। अपने पारस्परिक झगड़ों के आधार पर उन्होंने राजा की भूमि और उसकी प्रजा की वस्तुओं को आपस में बाँध लिया है। अंग्रेज अधिक शक्तिशाली है, पहले उनकी शक्ति समाप्त करो। उन्हें कभी भी किले मत बनवाने देना।” इस प्रकार सिराजुद्दौला के नबाब बनने के पूर्व ही बंगाल के नबाब एवं अंग्रेजों के बीच युद्ध आवश्यकभावी दिखने लगा था।

अलीवर्दी खॉ की मृत्यु के बाद जब सिराजुद्दौला नबाब बना तो अंग्रेज बंगाल में व्यापार के क्षेत्र में पूर्ण रूप से अपनी मनमानी कर रहे थे। यहाँ तक कि भारतीय व्यापारी भी अंग्रेजों से दस्तक प्राप्त करके व्यापार करते थे। इसके अतिरिक्त अंग्रेज जिन गाँवों के जमीदार थे उसकी पूरी आय अपने पास रख लेते थे। बंगाल के नबाब को उन्होंने लगान से बिल्कुल वंचित कर रखा था। सिराजुद्दौला ने जब इस तथ्य की छानबीन कराई तो ज्ञात हुआ कि अंग्रेजों ने 1717 ई० से 1756 ई० तक बंगाल सरकार को 18 लाख, 75 हजार पौंड की आय से वंचित रखा था। इसलिए सबसे पहले सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों द्वारा दस्तक जारी करने के अधिकार को छीन लिया। अंग्रेजों ने नबाब की आज्ञा के बिना अपनी फैक्ट्रियों की किलेबंदी कराई थी। इस पर भी सिराजुद्दौला ने प्रतिबन्ध लगाया। सिराजुद्दौला के राज्याभिषेक के समय नियमानुसार अंग्रेजों ने दरबार में अपनी हाजरी नहीं लगाई, बल्कि इतना ही नहीं वे नबाब के विरोधियों, यानी शोकतजंग तथा घसीटीबेगम के साथ षडयन्त्रों में लगे रहे ताकि सिराजुद्दौला की जगह किसी कमजोर व्यक्ति को नबाब बनाया जाए, जिससे उनके आर्थिक हितों की पूर्ति हो सके।

स्थिति तब और बिगड़ गई जब सिराजुद्दौला के एक सेवक किशनदास ने, जिसने 53 लाख कर गबन किया था, उसे अंग्रेजों ने शरण दी। जब नबाब ने ख्वाजा वाजिद तथा राम नारायण को अंग्रेजों से इस सन्दर्भ में बातचीत के लिए भेजा तो उनको बहुत अपमानित किया गया। इससे स्पष्ट था कि अंग्रेजों को नबाब के आदेशों की कोई परवाह नहीं थी तथा वे सिराजुद्दौला को इसके विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए उकसा रहे थे। इन परिस्थितियों में सिराजुद्दौला को अंग्रेज व्यापारियों के खिलाफ कदम उठाना पड़ा तथा उसने अंग्रेजों की कासिम बाजार की फैक्ट्री पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् नबाब ने फोर्ट विलियम पर आक्रमण

किया। अंग्रेज अधिकारी वहाँ से भाग निकले तथा जिन्हें बन्दी बनाया गया, उन्हें एक कोठरी में बन्द कर दिया गया।

3.3.1.2 काल कोठरी की घटना तथा उससे जुड़ी सच्चाई

जिस कोठरी में अंग्रेजों को बन्दी बनाया गया, उस घटना को हॉलवेल ने बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया, ताकि अंग्रेज भड़क उठे। इस घटना को हम इतिहास में काली कोठरी के नाम से जानते हैं। बी०के० गुप्ता के अनुसार हॉलवेल ने, जो उन बन्दियों में से एक था एक कोठरी की घटना को झूठे ढंग से बढ़ा चढ़ा कर लिखा। हॉलवेल के बयानों में ही विभिन्नता है। पहले बयान के अनुसार बन्दियों की कुल संख्या 165 से 170 थी। दूसरे बयान में उसने बन्दियों की संख्या 146 बताई। इतिहासकार लिटिल इस बयान से सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि बन्दियों में महिलाएं तथा बच्चे शामिल नहीं थे। जादुनाथ सरकार के अनुसार बन्दियों की संख्या 60 से अधिक नहीं थी। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि हॉलवेल ने यह कहानी अपनी इंग्लैण्ड की यात्रा के समय लिखी थी। इसलिए इस कहानी का बंगाल की तुरन्त घटनाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

3.4 प्लासी का युद्ध

बंगाल में अंग्रेजों की पराजय का समाचार जब मद्रास पहुंचा, उस समय तक अंग्रेज दूसरी कर्नाटक युद्ध जीत चुके थे। क्लाइव इस विजय का नायक बन कर उभरा। अरकाट के घिराव ने उसे प्रथम श्रेणी का राजनीतिज्ञ बना दिया था। इसलिए क्लाइव को बंगाल के लिए रवाना किया गया। उसकी सहायता के लिए वाट्सन को समुद्री बेड़े का इन्चार्ज नियुक्त किया गया। अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए अंग्रेजों ने षडयन्त्रों का जाल बुनना शुरू कर दिया। व्यक्तिगत स्वार्थों से प्रेरित कुछ व्यक्ति भी नबाब को हटाना चाहते थे। इनमें प्रमुख थे, मीर जाफर राय, दुर्लभराय, अमीचंद तथा बंगाल के कुछ प्रमुख जगत सेठ। वाट्स उस समय मुर्शिदाबाद में था और उसने प्लासी के युद्ध से पूर्व की गई सौदेबाजी में सक्रिय भूमिका निभाई। अंग्रेजों ने नबाब पर आक्रमण करने में विलम्ब नहीं किया। दोनों पक्षों की सेनाएं प्लासी के मैदान में एक दूसरे के सामने आ खड़ी हुईं। इस समय नबाब के पास 50,000 सैनिक थे, जबकि क्लाइव के पास मात्र 8000 यूरोपियन तथा 2,200 भारतीय सैनिक। मीर जाफर तथा अन्य सेनानायकों के षडयन्त्र के कारण प्लासी के युद्ध में नबाब की पराजय हुई तथा उसकी हत्या कर दी गई।

कुछ इतिहासकार प्लासी के युद्ध को युद्ध ही नहीं मानते हैं। अंग्रेजों का पक्ष लेने वाले ब्रिटिश इतिहासकार पी०ई० राबर्ट्स का भी मानना है कि प्लासी के युद्ध को युद्ध नहीं मानते हैं। अंग्रेजों का पक्ष लेने वाले ब्रिटिश इतिहासकार पी०ई० राबर्ट्स का भी मानना है कि प्लासी के युद्ध को युद्ध की संज्ञा नहीं दी जा सकती। के०एम० पनिकर के अनुसार “प्लासी की घटना एक हुल्लड़ तथा भगदड़ थी, युद्ध नहीं।” यद्यपि नबाब के पास एक विशाल सेना थी फिर भी अधिकांश सैनिकों ने इसमें भाग ही नहीं लिया। अंग्रेजों की फौज में मरने वालों की संख्या 23 थी, इसमें 7 यूरोपीय तथा 16 भारतीय सिपाही थे। 49 घायल हुए, जिसमें केवल 13 ही यूरोपीय

सिपाही थे। दूसरी तरफ नबाब की सेना में 500 सिपाही मारे गए तथा मोहनलाल सहित काफी संख्या में लोग घायल हुए।

3.4.1 प्लासी के युद्ध के परिणाम

प्लासी के युद्ध का परिणाम बताते हुए जदुनाथ सरकार कहते हैं, 23 जून, 1757 को भारत में मध्यकालीन युग का अन्त हो गया तथा आधुनिक युग का शुभारम्भ हुआ। प्लासी के युद्ध के 20 वर्ष बाद ही देश धर्मतन्त्री शासन के अभिषाप से मुक्त होने लगा। प्लासी के युद्ध के परिणामों का यह बड़ा रुढ़िवादी एवं एकपक्षीय विवेचन है। ल्यूक स्क्राफटन जो नबाब के दरबार में प्लासी के युद्ध के बाद कम्पनी का रेजीडेण्ट था, का विचार है “प्लासी के युद्ध से अंग्रेजों को वही स्थिति प्राप्त हो गई, जो उन्हें सिराजुद्दौला द्वारा कलकत्ता पर अधिकार से पूर्व थी।” इस कथन में इस तथ्य को पूरी तरह से छुपा लिया गया है कि प्लासी के युद्ध से पूर्व मीर जाफर तथा अंग्रेजों के मध्य सन्धि हुई थी। इसमें अंग्रेजों ने नबाब की स्वतन्त्रता पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए थे। प्लासी के परिणामों की बक्सर युद्ध में अंग्रेजों की विजय द्वारा पुष्टी होती है। बीच के वर्षों में अंग्रेजों का वाणिज्यिक स्वरूप राजनैतिक हो गया। प्लासी के युद्ध ने अंग्रेजों को तात्कालिक सैनिक एवं वाणिज्यिक लाभ प्रदान किए। अगले दस वर्षों के घटनाक्रम ने एक नवीन शासन के प्रभुसत्तापूर्ण प्रभाव की स्थापना की।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. 1772 में मुर्शिद कुली खॉं ने मुगल सेना को पराजित कर सेनानायक की हत्या कर दी।
2. अलीवर्दी खॉं ने बंगाल में 1740 से तक बंगाल पर शासन किया।
3. 1663 में मीर जुमला की मृत्यु के बाद बंगाल का सूबेदार बना।
4. जादुनाथ सरकार के अनुसार काली कोठरी में बन्दियों की संख्या से अधिक नहीं थी।
5. प्लासी के युद्ध के समय नबाब के पास सैनिक थे, जबकि क्लाइव के पास मात्र 8000 यूरोपियन तथा 2,200 भारतीय सैनिक।

3.5 मीर जाफर, मीर कासिम तथा बक्सर युद्ध

सिराजुद्दौला की हत्या के बाद मीर जाफर को बंगाल का नबाब बनाया गया। वह एक दुर्बल एवं राजनैतिक तथा प्रशासनिक दृष्टि से कमजोर व्यक्ति था, अतः बंगाल की वास्तविक सत्ता अंग्रेजों के हाथ में ही रही। कम्पनी ने कलकत्ता में टकसाल की स्थापना की तथा पुराने भू-स्वामी तथा पट्टेदारों के विरोध कर बावजूद 24 परगना की जमींदारी को भू-अनुदान के रूप में प्राप्त कर लिया।

अंग्रेजों द्वारा किए जाने वाले आर्थिक शोषण के कारण नबाब की आर्थिक स्थिति चरमरा गई। कम्पनी द्वारा बार-बार किए जाने वाले धनराशि की माँग को देने में असमर्थ हो गया, इसलिए उसने बर्द्धमान, मिदनापुर तथा चटगाँव कम्पनी को दे दिया। इसके बावजूद कम्पनी ने उसे नबाब के पद से हटाकर उसके स्थान पर मीर कासिम को नबाब घोषित किया। मीर कासिम ने राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए कई कदम उठाए, जैसे भू-राजस्व की दरें बढ़ाई, राजस्व की वसूली के लिए कठोर कदम उठाए। सेना में भी सुधार किए तथा गुर्गिन खाँ में अधिक यूरोपीय सेना की भौति बंगाल की सेना का पुनर्गठन किया। मुंगेर जहाँ मीर कासिम ने अपना एक प्रशासन केन्द्र स्थापित किया था, जिसमें हथियारों तथा गोला बारूद की फैक्ट्री स्थापित की। अंग्रेजी कम्पनी तथा अधिकारियों को ब्यापार में विशेष छूट थी, इसके विरोध में मीर कासिम ने असाधारण कदम उठाते हुए दो वर्षों के लिए समस्त ब्यापारिक करों एवं चुंगियों को ही समाप्त कर दिया। इसे कम्पनी ने अपने विशेषाधिकारों की अवहेलना माना। परिणामस्वरूप पटना की अंग्रेजी फैक्ट्री के प्रमुख एलिस ने पटना पर आक्रमण करके सशस्त्र संघर्ष को बढ़ा दिया। जुलाई 1763 में मीर कासिम के विरुद्ध औपचारिक युद्ध की घोषणा कर दी गई तथा मीर जाफर को पुनः नबाब बनाया गया। लगातार पराजय के बाद मीर कासिम ने भाग कर अवध में शरण ली। मीर कासिम अवध के नबाब शुजाउद्दौला तथा मुगल शासक शाह आलम के बीच समझौता हुआ। बक्सर के मैदान में 23 अक्टूबर 1764 ई० को तीनों शासकों की संयुक्त सेनाओं का मुकाबला अंग्रेजों की सेना से हुआ। मुगल शासक ने युद्ध में बहुत अधिक हस्तक्षेप नहीं किया। इस युद्ध में अंग्रेजों के हाँथों तीनों संयुक्त सेनाओं की बुरी तरह पराजय हुई। इस युद्ध में शुजा के दो हजार तथा अंग्रेजों के 825 सैनिक मारे गए। मीर कासिम रणक्षेत्र से भाग निकला। शुजाउद्दौला भी भाग कर रुहेलखण्ड चला गया। मुगल शासक शाह आलम अंग्रेजों से मिल गया।

शुजाउद्दौला जनवरी, 1765 में बनारस के निकट पुनः अंग्रेजों से परास्त हुआ। इसके बाद अंग्रेजों ने चुनार तथा इलाहाबाद के दुर्गों पर अधिकार कर लिया। अंत में शुजाउद्दौला ने अंग्रेजों के सामने आत्म समर्पण कर दिया। मीर कासिम काफी समय तक इधर-उधर भटकता रहा था। अंततः 1777 में उसकी मृत्यु हो गई।

3.5.1 बक्सर युद्ध के बाद बंगाल की स्थिति

बक्सर युद्ध की विजय के बाद अंग्रेजों ने मीर जाफर को बंगाल का नबाब बनाया। गद्दी का सुख वह अधिक दिनों तक नहीं देख पाया और शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई। अंग्रेजों ने मीर जाफर के पुत्र नजमुद्दौला को उसका उत्तराधिकारी चुना तथा उसे ऐसी सन्धि करने पर विवश कर दिया, जिससे बंगाल का शासन कम्पनी के नियंत्रण में आ गया। क्लाइव ने गवर्नर के रूप में अपनी पुनर्नियुक्ति के बाद नजमुद्दौला को 50 लाख रुपए सालाना पेंशन देकर बंगाल का सम्पूर्ण राजस्व कम्पनी को हस्तान्तरित करने पर सहमत कर लिया। 1766 में नजमुद्दौला की मृत्यु के

उपरान्त उसके अल्पायु भाई सैफुद्दौला नबाब बना। नए नबाब की पेंशन को घटाकर 10 लाख कर दी गई। 1775 में कलकत्ता की सुप्रीम कोर्ट ने यह निश्चय किया कि नबाब सार्वभौम शासक नहीं है। एक न्यायाधीश ने तो उसे “भूसे से भरे एक बोतल” के रूप में उल्लिखित किया।

3.6 बंगाल का द्वैध शासन

1765 की इलाहाबाद की सन्धि एक युगान्तकारी घटना थी, क्योंकि इसने उन प्रशासकीय परिवर्तनों को जन्म दिया, जिन्होंने भारत में ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था के प्रचलन की आधारभूमि तैयार की। इससे नबाब की सत्ता का अन्त हो गया तथा एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया, जिसमें अधिकारों को बड़ी चतुराई से मुक्त रखा गया। बंगाल में द्वैध शासन व्यवस्था के विवेचन से पूर्व दो शब्दों दीवानी और निजामत को स्पष्ट करना आवश्यक है। मुगल सूबेदार या गवर्नर, जो निजामत (सैनिक प्रतिरक्षा, पुलिस और न्याय प्रशासन) कार्यों का निष्पादन करते थे तथा दीवान प्रांतीय राजस्व एवं वित्त व्यवस्था का प्रभारी होता था। ये दानों अधिकारी मुगल केन्द्रिय शासन के प्रति उत्तरदायी होते थे और एक दूसरे पर नियन्त्रण का प्रयोग करते थे, परन्तु औरंगजेब की मृत्यु के समय मुर्शिद कुली खॉ इन दोनों पदों पर एक साथ कार्य कर रहा था।

अंग्रेजों ने शाह आलम द्वितीय के साथ इलाहाबाद की सन्धि करके बंगाल के दीवानी अधिकार प्राप्त कर लिए और इसके बदले में मुगल सम्राट को 26 लाख रुपए वार्षिक देने का वचन दिया। 53 लाख रुपए का प्रावधान निजामत कार्यों के लिए रखा गया। इस सन्धि से पूर्व अंग्रेजों ने नबाब नजमुद्दौला के साथ एक सन्धि की, जिसने समस्त निजामत अधिकार अर्थात् सैनिक प्रतिरक्षा एवं वैदेशिक सम्बन्ध कम्पनी को समर्पित कर दिए। इस प्रकार कम्पनी ने बंगाल के दीवानी अधिकार मुगल सम्राट से और निजामत शक्तियाँ नबाब से प्राप्त कर लीं। कम्पनी दीवानी और निजामत कार्यों का निष्पादन अपने एजेन्टों, जो भारतीय होते थे, के माध्यम से करती थी, परन्तु सत्य तो यह है कि वास्तविक शक्तियाँ कम्पनी के हाथों में ही रहीं। कम्पनी और नबाब दानों के द्वारा प्रशासन की व्यवस्था को बंगाल का द्वैध शासन कहते हैं। सुन्दरलाल के अनुसार “इसके बाद बंगाल का इतिहास केवल अंग्रेज गवर्नरों के कारनामों का इतिहास रह जाता है।” स्मिथ कहते हैं, “दोहरी व्यवस्था का सही नाम अप्रत्यक्ष व्यवस्था रखा गया, जो धीरे-धीरे प्रत्यक्ष व्यवस्था में बदल गई।” डॉडवैल के अनुसार “संक्षेप में दीवानी की स्वीकृति इस प्रकार तैयार की गई थी कि बगैर औपचारिक सत्ता परिवर्तन के बंगाल का पूर्ण नियन्त्रण कम्पनी के हितों को ध्यान में रखते हुए, कम्पनी के हाथ में आ गया।”

कम्पनी को शासन सम्बन्धित अधिकार प्राप्त हो गए, परन्तु अनुभवी कर्मचारियों की कमी के कारण क्लार्क ने कम्पनी को प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व से दूर रखना चाहा। इस संकट को निपटाने के लिए क्लार्क ने अधिकारों के विभाजन को ही उचित समझा। उसने भारतीय अधिकारियों के माध्यम से दीवानी कार्यों के लिए दो नायब दीवान नियुक्त किए। सिताबरॉय को

बिहार में तथा मुहम्मद रजा खाँ को बंगाल में नियुक्त किया गया। इस प्रकार बड़ी चालाकी से कम्पनी ने अधिक से अधिक आय प्राप्त करने के लिए अपना उत्तरदायित्व इन दानों नायब दीवानों पर डाल दिया। अतः द्वैध शासन बगैर उत्तरदायित्व के निर्वहन के शासन चलाने की एक विधि थी, जिसकी शुरुआत कम्पनी ने अपना आर्थिक लाभ कमाने के लिए किया। चूंकि सैनिक शक्ति कम्पनी के हाथों में थी अतः आन्तरिक विद्रोह तथा बाहरी आक्रमण से निपटने के लिए नबाब कम्पनी पर निर्भर था। इस शासन व्यवस्था को द्वैध शासन इसलिए कहते हैं, क्योंकि सैद्धान्तिक रूप से तो शासन व्यवस्था का भार कम्पनी तथा नबाब के बीच विभाजित था, परन्तु व्यवहारिक रूप से कम्पनी ने शासन व्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने हाथों में नहीं लिया। उपरी रूप से शासन का भार अभी भी भारतीयों के हाथों में था, परन्तु वास्तविक शक्ति इस इस्तेमाल कम्पनी ही करती थी। इस प्रकार सूबों में दो सत्ताओं की स्थापना हुई, परन्तु विदेशी सत्ता वास्तविक थी जबकि भारतीय सत्ता केवल व्यवहार मात्र थी।

इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप प्रशासनिक विघटन हुआ। कानून और व्यवस्था की स्थिति खराब हुई। व्यापार तथा वाणिज्य का पतन हुआ। व्यापारियों की स्थिति दयनीय हो गई। समृद्ध और विकसित उद्योग, विशेषतः रेशम और कपड़ा उद्योग बर्बाद हो गए, किसान भयंकर गरीबी की स्थिति में पहुँच गए। 1770 के भयंकर अकाल के दौरान कम्पनी के अप्रत्यक्ष शासन के दुष्परिणामों को पूरी तरह से महसूस किया गया। इस अकाल ने लगभग एक करोड़ लोगों को प्रभावित किया। दूसरी ओर सामान्य कष्टों और विक्षोभ की स्थिति का कम्पनी के अधिकारियों और गुमाशतों ने अवैध व्यक्तिगत व्यापार करके लाभ कमाने के लिए किया। उन्होंने समस्त उपलब्ध अनाज पर एकाधिकार कर लिया और गरीब रययत को अगली फसल के लिए जरूरी बीज के रूप में सुरक्षित अनाज तक को बेचने के लिए बाध्य किया गया। एक ऐसे समय जब “जीवित लोग मृत लोगों को खा रहे थे” मुनाफाखोरी को किसी जाँच पड़ताल या दण्ड मृत्यु दर और उसके परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में गिरावट के बावजूद भू-राजस्व में पाँच प्रतिशत तक की कटौती प्रदान नहीं की गई।

क्लाईव द्वारा स्थापित द्वैध शासन भयंकर राजनैतिक विफलता सिद्ध हुआ। जब वारेन हेस्टिंग को 1772 में बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया तो, “ उसने मुगल प्रभुसत्ता के प्रति निष्ठा के नकाब को उतार का फेंक दिया। “अब उसने बंगाल पर विजित शासन के रूप में शासन करना शुरू कर दिया। द्वैध शासन व्यवस्था कम्पनी के कर्मचारियों को हस्तांतरित कर दी गई। नबाब को प्रशासन में नाममात्र तक की भागेदारी के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया। नबाब के निर्वाह भत्ते को 32 लाख से घटाकर 16 लाख कर दिया गया। कम्पनी ने मुगल शासक को भी धन देना बन्द कर दिया।

क्लाईव ने जो द्वैध शासन व्यवस्था लागू की थी, वह एक दूषित शासकीय तन्त्र था। इसके कारण बंगाल में पहले से भी अधिक अव्यवस्था फैल गई और जनता पर ऐसे अत्याचार

ढाए गए, जिनका उदाहरण बंगाल के इतिहास में कहीं नहीं मिलता। बंगाल के नबाब ने द्वैध शासन व्यवस्था की आलोचना करते हुए अंग्रेज रेजीडेंट को 24 मई, 1769 ई० को एक पत्र लिखा, “बंगाल का सुन्दर देश जब तक भारतीयों के अधीन, तब तक प्रगतिशील एवं महत्वपूर्ण प्रदेश था। अंग्रेजों की अधीनता में आने के कारण उसका अधःपतन अन्तिम सीमा पर पहुँच गया।” के०एम० पनीक्कर लिखते हैं “भारतीय इतिहास के किसी काल में भी, यहाँ तक कि तोरमन और मोहम्मद तुगलक के समय भी, भारतीय इतिहास को ऐसी विपत्तियों का सामना नहीं करना जो कि बंगाल के निवासियों को इस द्वैध-शासन काल में झेलना पड़ा।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. शुजाउद्दौला ने बंगाल में 1740 से 1756 तक शासन किया।
2. 1657 में अंग्रेजों ने हुगली में एक फैक्ट्री खोली।
3. कलकत्ता का निर्माण सुतनैति, कालिकाता और गोविन्दपूर इन तीनों गाँवों को मिलाकर ही हुआ।
4. जदुनाथ सरकार के अनुसार “प्लासी की घटना एक हुल्लड़ तथा भगदड़ थी, युद्ध नहीं।
5. बंगाल का द्वैध शासन 1765 से 1772 तक व्यवहृत रहा था।

3.7 सारांश

1633 से पूर्व अंग्रेजों का आगमन उस समय हुआ जब उड़िसा के मुगल सूबेदार ने उन्हें हरिहरपुर और बालासौर में अपनी फैक्ट्री खोलने की अनुमति दी। बंगाल की समृद्धि तथा राजनैतिक कमजोरी ने अंग्रेजों को उसकी ओर आकर्षित किया। अंग्रेज, जो अभी तक एक व्यापारी के रूप में थे, उन्होंने साम्राज्य निर्माता के सपने देखने शुरू कर दिए। प्लासी के युद्ध के उपरान्त दो दशकों से भी कम समय में बंगाल की वास्तविक सत्ता नबाब के हाथों से निकलकर कम्पनी के हाथों में आ गई। इसके परिणामस्वरूप भारत का बंगाल जैसा समृद्ध तथा औद्योगिक रूप से विकसित प्रदेश गरीबी एवं दयनीय स्थिति में पहुँच गया। अंग्रेजों द्वारा बंगाल पर अधिकार के तत्काल बाद ही ब्रिटिश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के लिए भारत के द्वार खुल गए, जिसके परिणामस्वरूप देश की समृद्ध अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बदल गई।

3.8 पारिभाषिक शब्दावली

फैक्ट्रियां – यूरोपीय देशों की इन फैक्ट्रियों में वास्तव में कोई निर्माण कार्य नहीं होता था, ये स्थान उनके निवास या सामान इकट्ठा करने के लिए थे।

फरमान – आज्ञापत्र

साम्राज्यवाद- अन्य देशों पर सत्ता स्थापित करने की सोच

वाणिज्यवादी एकाधिकार- व्यापार के साधनों पर अपना पूर्ण नियंत्रण होना

व्यापारिक प्रभुसत्ता- व्यापार में अधिकार स्थापित करना

3.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

इकाई 3.4.1 के स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. रशीद खॉ
2. 1756
3. शाइस्ता खॉ
4. 60
5. 50,000

इकाई 3.6 के स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. असत्य
2. सत्य
3. सत्य
4. असत्य
5. सत्य

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. SUSHIL CHAUDHURY, PRELUDE TO EMPIRE: PLASSEY REVOLUTION OF 1757
2. PRATAP SINGH, ADHUNIK BHARAT
3. C.A.BAYLY, INDIAN SOCIETY AND THE MAKING OF BRITISH EMPIRE
4. K.K.AZIZ, BRITISH IN INDIA: A STUDY IN IMPERIALISM
5. S.C.RAYCHOUDHARY, HISTORY OF MODERN INDIA
6. ISHWARI PRASAD, HISTORY OF MODERN INDIA
7. TARACHAND, HISTORY OF FREEDOM MOVEMENT IN INDIA, VOL.I
8. S.L.NAGARI, AADHOONIK BHARAT KA VRAHT ITIHAAS

3.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. B.K.GUTA, SIRAJ-UD-DAULAH AND THE EAST INDIA COMPANY
2. HENRY DODWELL, THE CAMBRIDGE HISTORY OF MODERN INDIA, VOL.V
3. SEKHAR BANDYOPADHYAY, FROM PLASSEY TO PARTITION: A HISTORY OF MODERN INDIA
4. P.E.ROBERTS, HISTORY OF INDIA

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के विविध सोपानों पर विस्तृत चर्चा कीजिए।

अंग्रेज और मैसूर राज्य

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 हैदर अली का उत्थान
- 4.4 प्रथम मैसूर युद्ध
- 4.5 द्वितीय आंग्ल मैसूर युद्ध (1780-84)
- 4.6 तृतीय आंग्ल मैसूर युद्ध (1790-92)
- 4.7 चौथा आंग्ल-मैसूर युद्ध (1799)
- 4.8 सारांश
- 4.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 4.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.12 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

18वीं शताब्दी का राजनैतिक परिवेश साहसी व्यक्तियों के लिए अनुकूल था। हैदर अली के रूप में इसी प्रकार का एक साहसी व्यक्ति मैसूर में उदित हुआ। पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों के संगम पर स्थित मैसूर राज्य का वास्तविक शासक चक्का कृष्ण राज्य था। उसकी निर्बलता का लाभ उठाकर नंद राज तथा देवराज ने मैसूर पर अपना कबजा कर लिया। इस अवधि के दौरान दक्कन में मराठों, निजाम, अंग्रेज तथा फ्रांसीसियों के बीच अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने की होड़ मची हुई थी। मराठों ने मैसूर पर लगातार आक्रमण किए और वित्तीय दृष्टि से इसे दिवालिया और राजनैतिक दृष्टि से बहुत कमजोर बना दिया। दूसरी ओर निजामुलमुल्क मैसूर को मुगल प्रदेश मानता था और इस कारण मैसूर को अपनी प्रादेशिक विरासत मानता था। इस प्रकार मैसूर को अपनी प्रादेशिक विरासत मानता था। इस प्रकार मैसूर निजाम और मराठों के मध्य विवाद का स्रोत था। इसी बीच अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों के बीच शुरू हुआ क्योंकि त्रिचुरापल्ली पर अधिकार करने के लिए नानराज (नन्द राज) ने अंग्रेजों के साथ संधि कर ली थी, परन्तु बाद में नानराज ने अंग्रेजों को छोड़कर फ्रांसीसियों के साथ समझौता कर लिया। मैसूर सेना के सेनापति हैदर अली को त्रिचुरापल्ली के सैन्य अभियानों के दौरान पर्याप्त ख्याति मिली। 1758 के बाद

जब मराठे मैसूर पर आक्रमण कर रहे थे तब तक हैदर अली पहले से कहीं अधिक शक्तिशाली हो गया था। उसने नानराज को पेंशन देकर पदमुक्त कर दिया तथा मैसूर का शासन अपने हाथों में ले लिया।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में ब्रिटिश सत्ता के विस्तार से अवगत कराना है। इस औपनिवेशिक विस्तार के क्रम में दक्षिण में किस प्रकार अंग्रेज एवं हैदर अली के मध्य युद्ध की परिस्थितियां उभरीं तथा अंततः अंग्रेज कैसे विजयी हुए? इन प्रश्नों के समाधान आप इस इकाई के अंतर्गत खोज पाएंगे।

4.3 हैदर अली का उत्थान

हैदर अली का जन्म 1722 ई० में हुआ। उसका पिता मुहम्मद एक सैनिक अधिकारी था जो 1728 में हुए एक लड़ाई में मारा गया। कुछ वर्षों बाद वह मैसूर की सेना में शामिल हो गया। हैदर में साहसी व्यक्ति के गुण थे। वह बौद्धिक दृष्टि से जागरूक था तथा उसमें वह योग्यता थी कि वह अवसर का लाभ उठा सके। नानराज ने उसकी वीरता से प्रसन्न होकर उसे 500 सिपाहियों की कमान्ड पर नियुक्त कर दिया था। मैसूर हैदराबाद राज्य के अधिन था। 1748 ई० में नासिर जंग के सिंहासन ग्रहण करने के अवसर पर मैसूर की ओर से हैदर अली दरबार में उपस्थित था। नासिरजंग की हत्या के पश्चात हैदर अली बहुत अधिक धन लूटकर ले गया। बताया जाता है कि प्लासी के युद्ध के पश्चात अंग्रेजों को जो धन हाथ लगया उससे कहीं अधिक हैदर अली को हाथ लगया था। उस धन से हैदर अली ने अपनी सेना को बढ़ावा तथा अपनी सेना का प्रशिक्षण फ्रांसीसियों से कराया। कर्नाटक के दूसरे युद्ध में नानराज ने मुहम्मद अली का साथ दिया। मुहम्मद अली ने इस सहायता के बदले त्रिचनापल्ली (त्रिचरापल्ली) का क्षेत्र देने का वचन दिया। युद्ध के बाद मुहम्मद अली ने इस क्षेत्र को देने से इन्कार कर दिया। मैसूर को विवश होकर कर्नाटक पर आक्रमण करना पड़ा। अंग्रेज तथा तंजोर की सेनाएं मोहम्मद अली की सहायता के लिए जा रही थीं। 14 अगस्त 1754 ई० को हैदर अली ने इन सेनाओं पर पीछे से आक्रमण करके उन्हें पराजित कर दिया। इस सफलता से प्रसन्न होकर नन्दराज ने हैदर अली को डंडीगुल के क्षेत्र का दीवान नियुक्त कर दिया। जब वह डंडीगुल की दीवानी ग्रहण करने जा रहा था तो उस क्षेत्र के पोलीगारो ने नन्दराज के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा लगान देने से इन्कार कर दिया। हैदर अली ने उनसे मित्रता की तथा लगान क्षमा कराने का वचन दिया। डंडीगुल पहुँच

कर सैनिक तैयारी करके 3000 पोलीगारों पर आक्रमण कर दिया। हैदर अली ने उन्हें पराजित कर इन सभी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। पोलीगार हैदर अली से प्रभावित होकर उसकी सेना में भर्ती हो गए। 1758 ई० के पश्चात मैसूर के राजा तथा मंत्री नानराज में आत्यधिक मतभेद हो

गया। राजा की सेना तथा नानराज की सेना के मध्य युद्ध हुआ जिसमें राजा को पराजय का मुंह देखना पड़ा। इसके पश्चात नानराज तथा उसके भाई देवराज में भी मतभेद उत्पन्न हो गया। मैसूर को मराठों से भी अत्यन्त भय था। इन परिस्थितियों के कारण मैसूर की आर्थिक स्थिति लड़खड़ाने लगी। सेना के सिपाहियों का वेतन लम्बे समय से भुगतान नहीं किया जा सका था। सेना विद्रोह ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजा तथा नानराज के बीच भी समझौता हो गया। वहीं देवराज तथा नानराज के बीच भी मेल हो गया। हैदर अली की कार्यकुशलता को देखते हुए मैसूर साम्राज्य के तमाम शासन का प्रबंध हैदर अली के हाथों में सौंप दिया गया। हैदर अली ने बड़ी कुशलता से मैसूर के शासन में सुधार लाकर सैनिकों के वेतन का भुगतान कर दिया। कुछ ही समय बाद राज्य की स्थिति पुनः बिगड़ने लगी। सेना के सिपाही हैदर अली के पास आएँ, इस बदलती स्थिति का फायदा उठाकर हैदर अली ने नानराज को पेंशन पर रखकर राज्य का पूरा कार्यभार अपने हाथों में ले लिया। उसने राजा के पद को बनाए रखा तथा स्वयं पद ग्रहण नहीं किया, परन्तु राज्य की वास्तविक शक्ति उसी के हाथ में थी तथा राजा केवल प्रतिछाया मात्र था।

4.4 प्रथम मैसूर युद्ध

1760 तक हैदर अली ने अपनी शक्ति संगठित कर ली थी। जब स्वयं को मैसूर में पूर्ण रूप से स्थापित करने के लिए हैदर अली संघर्ष कर रहा था उस समय फ्रांसीसियों ने उसका साथ दिया। अतः जब यूरोप में चल रहे सप्तवर्षीय युद्ध के कारण दक्षिण में अंग्रेज तथा फ्रांसीसियों के संबंध बिगड़ गए फ्रांसीसी अधिकारी लैली ने दक्षिण भारत में सहयोग की मांग की। हैदर अली ने भी मित्रता निभाई तथा 4000 घुड़सवार अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रांसीसियों की मदद के लिए भेजा। इसके पूर्व की वह आंग्ल फ्रांसीसी युद्ध में अपना प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर सके, मैसूर में उसके विरोधियों ने मराठों का समर्थन प्राप्त कर हैदर अली पर आक्रमण कर दिया। हैदर अली को वहाँ से भाग कर बैंगलोर जाना पड़ा। जब तक वह अपनी स्थिति फिर से मजबूत करता फ्रांसीसियों की शक्ति दक्षिण भारत में अपने पतन की ओर बढ़ चुकी थी। इसके बावजूद भी हैदर अली ने फ्रांसीसियों का प्रभाव अपने दरबार में बनाए रखा। हैदर अली तथा अंग्रेजों के बीच शत्रुता का प्रमुख कारण दक्षिण भारत की राजनीति थी। हैदर अली ने मुहम्मद अली के शत्रु महफूज खां को संरक्षण प्रदान किया। मुहम्मद अली का मुख्य झगड़ा कुछ क्षेत्रों को लेकर था, जैसे करूर, विरूपाक्षी आदि। यही हैदर अली ने चंदा साहब के बेटे को भी अपने यहाँ नौकरी दी थी जिसे अंग्रेज पसंद नहीं करते थे। दूसरी तरह अंग्रेजों ने भी वेरनौर में सैनिक केन्द्र बनया जो हैदर को पसंद नहीं था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजों तथा हैदर के बीच पहले से ही शत्रुता थी, बस प्रतिक्षा एक चिंगारी की थी जो युद्ध में बदल सकती थी।

पहले से ही तैयार पृष्ठभूमि में युद्ध की आशंका तब और बढ़ा दी जब यह अफवाह फैली कि हैदर निजाम अली के साथ मिलकर कर्नाटक में प्रवेश करने वाला है। इससे अंग्रेज घबरा गए तथा

निजाम अली को अपनी तरफ कर लिया। 1766 में अंग्रेजों तक निजाम के बीच एक संधि हो गई। माधव राव पहले से ही मैसूर के क्षेत्र में लूटपाट करने में लगा हुआ था। अतः निजाम, मराठों तथा अंग्रेजों के मध्य एक संधि हुई। फलस्वरूप इस त्रिगुट ने हैदर अली पर आक्रमण कर दिया। हैदर अली इससे निराश नहीं हुआ। उसने स्थिति का बड़ी बहादुरी से सामना किया। वह अच्छी तरह से यह जानता था कि ये तीनों शक्तियाँ अपने हितों के कारण एक दूसरे के साथ हुई हैं अतः उन्हें अलग भी किया जा सकता है। अब हैदर अली ने कूटनीतिक चाल चलनी शुरू कर दी। उसने निजाम को भूमि की लालच देकर तथा मराठों को धन देकर अपने में मिला लिया। इस प्रकार राजनीति एक बार फिर से हैदर अली की ओर मुड़ गई। हैदर अली और निजाम की सेनाओं ने कर्नाटक में प्रवेश किया। दोनों सेनाओं के बीच कई झगड़े हुईं लेकिन इसका कोई निर्णय नहीं निकल पाया। इसी बीच निजाम ने हैदर अली का साथ छोड़ दिया परन्तु कुछ ही समय बाद युद्ध की नियती हैदर के पक्ष में मुड़ने लगी। उसकी एक के बाद एक सफलताओं से घबराकर अंग्रेजों ने उससे संधि कर ली। इस संधि के मुख्य बिन्दु थे :-

1. दोनों पक्षों ने एक दूसरे के विजित प्रदेशों को लौटा दिया।
2. कोलार का भंडार हैदर को प्राप्त हुआ।
3. तीसरी संधि आने वाले समय के लिए सबसे महत्वपूर्ण साबित हुई। क्योंकि यही संधि दूसरे आंग्ल मैसूर युद्ध का एक कारण बनी। इस संधि की शर्तों के अनुसार, यदि कोई भी बाहरी शक्ति इन दोनों में से किसी के प्रदेश पर आक्रमण करती है तो उन्हें एक दूसरे का साथ देना होगा। मद्रास की संधि ने न केवल हैदर अली का मनोबल बढ़ाया बल्कि मैसूर को दक्षिण भारतीय राजनीति में सर्वश्रेष्ठ स्थान भी दिलाया। जीत से उत्साहित हैदर अली ने इस अवसर पर एक चित्र बनाने का आदेश दिया, जिसमें अंग्रेज गवर्नर तथा उसके कौंसिल के सदस्य उसके सामने झुक कर बैठे हैं। स्मिथ को संधि पत्र हाथ में लिए तथा तलवार को दो टुकड़ों में तोड़ता हुआ दिखाया गया था। अतः प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध ने यह साफ कर दिया था कि न केवल वीरता बल्कि कूटनीति के क्षेत्र में भी हैदर अली अंग्रेजों से काफी आगे था।

4.5 द्वितीय आंग्ल मैसूर युद्ध (1780-84)

1780 में हैदर अली को अंग्रेजों से दूसरा युद्ध लड़ना पड़ा। वस्तुतः हैदर अली की हुई शक्ति तथा दक्षिण भारतीय राजनीति में उसके बढ़ते हुए प्रभाव से अंग्रेज भयभीत हो चुके थे। अंग्रेजों के हैदर अली तथा फ्रांसीसियों के बीच की मित्रता भी पंसद नहीं थी। वह मैसूर राज्य को मराठों की सहायता से ब्रफर स्टेट में बदलना चाहते थे। मद्रास की संधि में यह स्पष्ट रूप से लिखा हुआ था कि यदि दोनों में से किसी के क्षेत्र पर भी यदि कोई भी बाहरी शक्ति आक्रमण करती है तो उन्हें

एक दूसरे का साथ देना होगा। परन्तु जब मराठों ने मैसूर पर आक्रमण किया तो संधि की शर्त के अनुसार अंग्रेजों ने हैदर का साथ नहीं दिया। अंग्रेजों की यह मंशा थी कि मैसूर किसी भी तरह से सैनिक दृष्टि से कमजोर हो जाये 1770 में हैदर ने मुंबई के साथ एक संधि की थी जिसके अंतर्गत ब्रिटिशों ने ओजोर में एक फैक्ट्री स्थापित की तथा मालावार तट पर चन्दन की लकड़ी और कालीमिर्च खरीदने को अधिकार प्राप्त किया। इसके बदले में वे आवश्यकता पड़ने पर हैदर को युद्ध सामग्री देने को तैयार हुए। मराठों के संघर्ष के समय हैदर ने बार-बार युद्ध सामग्री की मांग की पर मुंबई के अधिकारी इस मांग की पूर्ति में असफल रहे जिसके कारण हैदर ने फ्रांसीसियों से सहायता मांगी।

निजाम के भाई सलाबत जंग को गुटूर की जागीर प्राप्त थी। चूँकि सलाबत जंग का अंग्रेजों से साथ धनिष्ठ सम्बन्ध था इसलिए अंग्रेजों ने गुटूर पर अधिकार कर लिया। सामरिक दृष्टि के गुटूर बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि इसका रास्ता हैदर तथा निजाम के राज्य से होकर गुजरता था। अंग्रेजों ने इन रास्तों से सेना भेजने से पूर्ण हैदर तथा निजाम से स्वीकृति नहीं ली थी। अतः हैदर तथा निजाम दोनों ने ही इस कार्यवाही की कड़ी आलोचना की तथा इसका विरोध किया। इससे न केवल निजाम क्रोधित हुआ बल्कि हैदर तथा अंग्रेजों के बीच भी कूटता बढ़ी। यही नहीं अंग्रेजों ने 1768 में निजाम से साथ की गई एक संधि के अनुसार उत्तरी सरकार के बढ़ते 7 लाख रूपया देने से भी इनकार कर दिया। इन सभी परिस्थितियों ने अंग्रेजों तथा निजाम को एक दूसरे से दूर कर दिया। अतः एक ओर जब अंग्रेज मराठों के साथ युद्ध में लगे हुए थे वही दूसरी ओर हैदर तथा निजाम भी अंग्रेजों के विरुद्ध कदम उठाने की सोचने लगे। मराठा अंग्रेजों के विरुद्ध हैदर अली का समर्थन प्राप्त करना चाहते थे। इस पृष्ठभूमि में हैदर ने कूटनीतिक चाल चली तथा मराठों एवं निजाम को मिलाकर अंग्रेजों के विरुद्ध एक संघ का निर्माण किया। अब यह निश्चय किया गया कि मराठे मध्य भारत से होते हुए अंग्रेजों पर आक्रमण करेंगे। निजाम उत्तरी सरकार पर तथा हैदर मद्रास तथा उसके और प्रान्त के प्रदेशों पर आक्रमण करेगा। जब अंग्रेजों ने देखा कि उनके विरुद्ध इतना शक्तिशाली मोर्चे का निर्माण हुआ है तो उन्होंने घबराकर निजाम के साथ समझौता कर लिया उन्होंने निजाम को गुटूर लौटा दिया। इतना ही नहीं निजाम को कुछ भेंट भी भेजा गया, जिसके कारण निजाम ने स्वयं को हैदर तथा मराठों के इस मोर्चे से अलग कर लिया।

1780 में द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध की शुरुआत उस समय हुई जब हैदर अली ने कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। अंग्रेजों ने इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया क्योंकि कर्नाटक का नवाब अंग्रेजों का मित्र था। कर्नल बैली के नेतृत्व में एक फौज अंग्रेजों ने पहले से ही कर्नाटक की रक्षा के लिए वहाँ छोड़ रखी थी। हैदर ने बैली के नेतृत्व वाली अंग्रेजी सेना को बुरी तरह पराजित किया तथा कर्नल बैली बन्दी बना लिया गया। आगे बढ़ते हुए हैदर अली ने अर्काट पर

अधिकार कर लिया जो उस समय कर्नाटक की राजधारी थी। हैदर की इन विजयों ने अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को उनके न्यूनतम बिन्दु तक पहुंचा दिया। इस संदर्भ में अल्फ्रेड लायल कहते हैं, “भारत में अंग्रेजों का भाग्य सबसे नीचे गिर चुका था।” अब हैदर अली की इन विजयों पर रोक लगाने के लिए आयरकूट को एक विशाल सेना के साथ मद्रास भेजा गया। आयरकूट ने अपनी कूटनीतिक चाल द्वारा मराठों को हैदर से अलग कर दिया। अब हैदर अली बिलकुल अकेला पड़ गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि पोर्टोनोवा ने हैदर अली को आयरकूट के हॉथों पराजय का मुंह देखना पड़ा। इसी समय फ्रांसीसियों ने हैदर अली की सहायता के लिए 2000 फ्रांसीसी सैनिक मद्रास भेज दिए। जून 1782 में हैदर तथा फ्रांसीसी सेना का मुकाबला आयरकूट के नेतृत्व वाली अंग्रेजी सेना से हुआ। परन्तु यह युद्ध अनिर्णायक रहा। युद्ध के दौरान ही 1782 ई० में हैदर अली की मृत्यु हो गई। अब मैसूर को बचाने का पूरा दायित्व हैदर के पुत्र तथा उत्तराधिकारी टीपू पर आ गया था। टीपू ने यह युद्ध जारी रखा। परन्तु यूरोप में इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के बीच 1784 से हुए शांति समझौते के कारण टीपू को फ्रांस से सहायता मिलनी बन्द हो गई। इसी समय वारेन हेस्टिंग ने मद्रास प्रेसीडेन्सी की सहायता की। अब दोनों पक्षों को यह लगने लगा कि युद्ध को जारी रखना उनके परस्पर हितों में नहीं है अतः दोनों पक्षों ने समझौता कर लिया। इस संधि को मंगलौर की संधि कहा जाता है। इस समझौते के अनुसार दो पक्षों ने एक दूसरे के जीते हुए प्रदेश को वापस कर दिया ! अंग्रेजों ने टीपू से मित्रतापूर्ण संबंध रखने तक कठिनाई के समय उसकी सहायता करने का वचन दिया ।

4.6 तृतीय ऑग्ल मैसूर युद्ध (1770-92)

मंगलौर की संधि अंग्रेजों के लिए बहुत अपमानजनक थी। यह संधि टीपू की कूटनीतिक सफलता थी। इस संधि ने उसकी शक्ति तथा प्रतिष्ठा को बढ़ा दिया था। अतः तृतीय कर्नाटक युद्ध के बीज इस संधि में ही छुपे। इस संधि ने टीपू को जो प्रतिष्ठा प्रदान की उसकी वजह से वो अधिक आक्रामक हो गया। उसने फ्रांसीसियों की मदद से निजाम को दबाने मराठों की शक्ति को नष्ट करने तथा अंग्रेजों को दक्षिण भारत से निकालने की पूर्ति के लिए उसने जो अभियान चलाया उसमें उसकी पहली जीत नरमुण्ड की हुई। नरमुण्ड जीतने के पश्चात् उसने किन्नूर भी जीत लिया। 1786 में उसने कुस्तुनतुनिया के लिए एक दल भेजा जिसका उद्देश्य तुर्की में फैक्ट्री स्थापित करना था तथा मैसूर को गद्दी पर अपने पद की स्वीकृति खलीफा से करवानी थी। इसके अतिरिक्त इस दल के माध्यम से अंग्रेजों के विरुद्ध तुर्की के सुल्तान की सहायता प्राप्त करने की भी योजना थी। दिसम्बर 1789 को टीपू ने ट्रावन्कोर पर आक्रमण कर दिया। कार्नवालिस का विचार था कि टीपू से युद्ध अनिवार्य है। कार्नवालिस टीपू की बढ़ती हुई शक्ति तथा फ्रांसीसियों

से उसकी मित्रता से भयभीत था। अतः कार्नवालिस भी युद्ध का बहाना तलाश कर रहा था। टीपू ने जब टवनकोर पर आक्रमण किया तब अंग्रेजों ने तुरंत अपनी सेना टवनकोर की सहायता के लिए भेज दी। टवनकोर का राजा अंग्रेजों का मित्र था। कार्नवालिस ने मैसूर पर आक्रमण कर दिया। 1790 तक अंग्रेज पूरे मालावार क्षेत्र पर अधिकार कर चुके थे। युद्ध के शुरूआती दौर में अंग्रेजों मैसूर पर अधिकार नहीं कर सके थे। अतः इस अभियान का नेतृत्व कार्नवालिस ने स्वयं किया। कार्नवालिस ने सबसे पहले बंगलौर का किला जिता तथा बाद में उसकी मरम्मत कराकर सेरिंगपट्टम को ओर बढ़ा जो मैसूर राज्य की राजधानी थी। निजाम के दस हजार सैनिकों ने भी कार्नवालिस की मदद की। परन्तु अंग्रेजों को सफलता प्राप्त नहीं हुई तथा वाध्य होकर उन्हें वापस बंगलौर जाना पड़ा।

दूसरी ओर अब मराठे भी अंग्रेजों से जा मिले। इसका मुख्य उद्देश्य तुंगभद्रा तथा कृष्णा नदी के बीच के क्षेत्र का वापस लेना था। मराठों के विरुद्ध एक सैनिक अभियान के दौरान टीपू ने उफनती हुई तुंगभद्रा को टोकरीनुमा नावों और लकड़ी के लट्टों से निर्मित बेड़ों में बैठकर पार करके विस्मयकारी कौशल का परिचय दिया और निजाम- मराठों सैन्य दल को पराजित किया। कार्नवालिस, सिरिंगपट्टम के अपने विफल आक्रमण के बाद जब बंगलौर पहुंचा तब टीपू का एक दूत समझौते के लिए मिला। परन्तु कुछ कारणों से वार्ता नहीं हो पाई। कार्नवालिस ने युद्ध को आग्र बढ़ाते हुए मराठों को उत्तर पश्चिम के क्षेत्रों अधिकार करने के लिए भेजा। निजाम की सेना उत्तर - पूर्व की ओर बढ़ी। अब अंग्रेजों ने कोयम्बटूर पर अपना अधिकार कर लिया। युद्ध की नियती अपने विपरीत जाते हुए देख टीपू ने फिर से समझौते की पेशकश की। इस संधि को सिरिंगपट्टम की संधि कहा गया।

सिरिंगपट्टम की संधि की प्रमुख शर्तें निम्न थीं। टीपू को लगभग आधा राज्य त्याग देना पड़ा जिसे ब्रिटिश निजाम तथा मराठों के बीच बाँट दिया गया। हैदर के काल से चले आ रहे युद्ध बन्दियों को उसे छोड़ना पड़ा। टीपू को युद्ध हर्जाने के रूप में 30 लाख रूपया देना पड़ा। यही नहीं उसे बन्धक के रूप में अपने दो पुत्रों मुइनुद्दीन तथा अब्दुल खालिक को अंग्रेजों को सौंपना पड़ा। एक पक्ष ने कार्नवालिस की इस बात पर आलोचना की, कि टीपू को असने तब जीवन दान दिया जब उसका दुर्भाग्य अपनी पराकाष्ठा पर था। लेकिन कार्नवालिस ने अपने इस कदम को सही ठहराया और उसने कहा कि टीपू की समस्त शक्ति को समाप्त कर दिया गया है। उसने बताया कि यह कम्पनी की नीति भी नहीं थी कि सुरखा की नीति के बाहर राज्य छीना जाए। इसके अलावा टीपू को पद से हटाने तथा बंदी हिन्दू राजा को पुनः पद प्रदान करने से कठिनाईयों बढ़ती क्योंकि हिन्दू राजा बगैर अंग्रेजों की सहायता के शासन नहीं कर सकता था।

बात जो भी रही हो यह साफ है कि सारंगपट्टम की संधि ने मैसूर को एक शक्ति के रूप में हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। वैसे टीपू सुल्तान अब भी अपनी असफलता मानने को तैयार नहीं था। उसने जनता से अधिक से अधिक धन बटोरकर संधि की रकम अदा करने की कोशिश की। लेकिन यह चीज स्पष्ट थी कि अब वही इतना अधिक शक्तिशाली नहीं रह गया था कि मराठों, निजाम या अंग्रेजों की नींद खराब कर सके।

4.7 चौथा आंग्ल-मैसूर युद्ध (1799)

इस अपमानजनक संधि ने भी टीपू का मनोबल पूरी तरह से नहीं तोड़ा। अब यह अपनी शक्ति फिर से संगठित करने में लग गया दुर्भाग्य के बोझ से डूबने की जगह उसने युद्ध की गति से भोगी खति को समाप्त करने की कोशिश की। उसने अपनी राजधानी की किलेबन्दी करने की कोशिश की तथा उसे और अधिक शक्तिशाली बनाया। घुडसवारों की शक्ति बढ़ाई, पैदल सेना की संख्या में बढ़ोत्तरी कर उन्हें अनुशासनबद्ध किया। राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए उसने कृषि क्षेत्र में सुधार करने की कोशिश की। 1793 में कार्नवालिस वापस लौट गया तथा उसके स्थान पर जॉनशोर गवर्नर जनरल बन कर आया। कार्नवालिस जैसे गुणों का जॉन शोर में अभाव था। टीपू ने इसका पूरा लाभ उठाया। 1796 में जब मैसूर के राजा चामराज की मृत्यु हुई तो टीपू ने उसके अवयस्क पुत्र से नाममात्र की भी गद्दी छीन ली। 1796 में टीपू ने अपने दूत के माध्यम से जमानशाह से संपर्क किया ताकि अंग्रेजों तथा मराठा शक्ति को समाप्त किया जा सके। यूरोप में जब अंग्रेजों तथा फ्रांसिसियों से सहायता की मांग की। टीपू ने फ्रांसिसी क्रांति से परभावित होकर सारंगपट्टम में स्वतंत्रता का एक पौधा लगाया। 1798 में जॉनशोर के स्थान पर वेल्लेजली भारत आया। उसे यह डर था कि फ्रांसिसी टीपू के साथ मिलकर भारत में अंग्रेजी शक्ति समाप्त करने में सफल न हो जाएं। ऐसी किसी भी स्थिति से निपटने के लिए उसने कूटनीतिक चाल चलनी शुरू कर दी। इस खतरे से निपटने के लिए वेल्लेजली ने जिस हथियार का इस्तेमाल किया उसे सहायक संधि कहते हैं। उसने निजाम को सहायक संधि स्वीकार कर लेने के लिए विवस किया।

हैदराबाद तथा अवध के पश्चात् वेल्लेजली के सामने दो और राज्यों को अधीन बनाने की समस्या थी। एक मैसूर तथा दूसरा मराठों का राज्य/वेल्लेजली ने 1799 में टीपू के सामने सहायक संधि का प्रस्ताव रखा जिसे टीपू ने अस्वीकार कर दिया। वेल्लेजली ने टीपू पर यह आरोप लगाया कि वह फ्रांसिसियों अरब तथा तर्क शासक के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध षडयंत्र कर रहा है। टीपू ने अपने उत्तर में यह साफ कर दिया कि उसकी ऐसी कोई मंशा नहीं है।

वह अंग्रेजों के खिलाफ कोई षडयंत्र कर रहा है। विलेजली ने उसके उत्तर को स्वीकार नहीं किया क्योंकि अब उसने टीपू को पूरी तरह से समाप्त करने की ठान ली थी। इसका परिणाम यह निकला कि विलेजलीने अपने भाई आर्थ वेजली के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना को टीपू के राज्य पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। बम्बई की सेनाओं ने मैसूर पर पश्चिम की ओर से आक्रमण किया। मलावस्सी में टीपू की पराजय हुई। अब टीपू ने सिरंगापट्टम के दूर्ग की घेरबंदी कर टीपू के सामने एक शर्त रखी इस शर्त में राज्य का आधा भाग तथा 20 लाख पौड की मांग थी। टीपू इस पर सहमत नहीं हुआ तथा अंग्रेजों की शर्त मानने से इन्कार कर दिया। अब अंग्रेजों ने टीपू सुलतान के मंत्री पुरनैया पण्डित के साथ मिलकर टीपू के विरुद्ध षडयंत्र रचा। यही नहीं टीपू का सेनापति कमरुद्दीन खॉ तथा दीवान मीर सादिक भी अंग्रेजों से जा मिले इस षडयंत्र के परिणामस्वरूप अंग्रेज दुर्ग में प्रवेश करने में सफल हुए। टीपू ने बहुत बहादुरी से युद्ध किया। परन्तु विश्वासघात के कारण लड़ते लड़ते वह शहीद हो गया। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा कौटा हमेशा के लिए निकल गया।

इस प्रकार विलेजली को आशा से कहीं अधिक सफलता मिली। अब उसके पास पूरा मैसूर राज्य आ चुका था। विलेजली ने मैसूर के उपजाऊ क्षेत्रों जैसी काकीनाडा का पश्चिम क्षेत्र कोयमबटूर का दक्षिणी क्षेत्र, पूर्वी जिला तथा सिरंगापट्टम का दूर्ग अपने शासन में मिला लिया। मैसूर के कुछ क्षेत्र निजाम को उसकी सहायता के बदले दे दिए गए। शेष छोटा शिथिल राज्य मैसूर के वंशानुगत वाडियार राजा को दे दिया गया। इंग्लैण्ड में इस विजय पर अत्यंत खुसी प्रकट की गई।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित रिक्त स्थान में ऑग्ल-मैसूर युद्धों के संबंध में अपनी टिप्पणी कीजिए -

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

4.8 सारांश

हैदर अली और टीपू सुल्तान उस युग के दो महान शासक थे। दोनों ही अत्याधिक सहिष्णु और धर्मनिरपेक्ष थे। हैदर ने सार्वजनिक रूप से कभी भी शाही उपाधि धारण नहीं की। मैसूर राजवंश के प्रति पेशवा का। लेकिन टीपू ने राजा को सिंहासन से हटा दिया और उसने खुलेआम सुल्तान की उपाधि धारण की। हैदर और टीपू दोनों ने अपने सिक्कों पर हिन्दू देवी-देवताओं की आकृति अंकित की। टीपू ने हिन्दू संवत् का प्रयोग किया। वह शृंगेरी के जगत गुरु शंकराचार्य का बहुत सम्मान करता था। उसने उन्हें मन्दिरों के पुननिर्माण के लिए धन भी दिए। टीपू ऐसा पहला भारतीय शासक था जिसने अपने प्रशासन को पश्चिमी प्रशासनिक व्यवस्था के आधार पर गठित किया। उसकी यह मान्यता थी कि उसकी प्रजा ईश्वर के द्वारा प्रदत्त एक विशिष्ट न्यास है। उसने आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार को भी प्रोत्साहन दिया। प्रत्येक महत्वपूर्ण व्यक्ति को उसकी योग्यता के आधार पर ही नियुक्त किया जाता था। कहा जाता है कि

टीपू सुल्तान को फ्रांस की क्रांति के प्रति सहानुभूति थी। उसने अपनी राजधानी में स्वतंत्रता का वृक्ष लगाया, जैकोबिन क्लब की स्थापना की और स्वयं टीपू सुल्तान अविहित करने के स्थान पर क्रांति के समता के सिद्धांत के आधार पर सिटीजन टीपू अविहित करने लगा। हैदर अली और टीपू सुल्तान दोनों ही सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे और उन्होंने अपनी प्रजा को आर्थिक समृद्धि एवं उनके सदभाव को अर्जित करने का प्रयास किया। प्रो० मुहिबुल हसन कहते हैं, टीपू के युग में मैसूर आर्थिक रूप से पूरी तरह सम्पन्न था। कृषि के साथ-साथ वहाँ औद्योगिक विकास भी हुआ। सबसे प्रमुख बात यह थी कि वह भारत के शासकों को एक भारतीय होने के नाते संयुक्त करके ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करना चाहता था।

4.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

नोट: इकाई से आत्मसात किये तथ्यों से करें।

4.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. C.A.BAYLY, *INDIAN SOCIETY AND THE MAKING OF BRITISH EMPIRE*
2. MARK WILKS, *HISTORICAL SKETCHES OF SOUTH OF INDIA, VOL.II*
3. E.H.NOLAN, *THE BRITISH EMPIRE IN INDIA*
4. K.K.AZIZ, *BRITISH IN INDIA: A STUDY IN IMPERIALISM*
5. S.C.RAYCHOUDHARY, *HISTORY OF MODERN INDIA*
6. P.E.ROBERTS, *HISTORY OF INDIA*
7. ISHWARI PRASAD, *HISTORY OF MODERN INDIA*
8. TARACHAND, *HISTORY OF FREEDOM MOVEMENT IN INDIA, VOL.I*

4.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. IRFAN HABIB, *STATE AND DIPLOMACY: UNDE TIPU SULTAN*
2. HENRY DODWELL, *THE CAMBRIDGE HISTORY OF MODERN INDIA, VOL.V*

3. SEKHAR BANDYOPADHYAY, *FROM PLASSEY TO PARTITION: A HISTORY OF MODERN INDIA*

4. S.L.NAGAURI, *AADHOONIK BHARAT KA VRAHT ITIHAAS*

4.12 पारिभाषिक शब्दावली

साम्राज्यवाद- अन्य देशों पर सत्ता स्थापित करने की सोच

वाणिज्यवादी एकाधिकार- व्यापार के साधनों पर अपना पूर्ण नियंत्रण होना

व्यापारिक प्रभुसत्ता- व्यापार में अधिकार स्थापित करना

4.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. मैसूर की राजनीति की चर्चा करते हुए अंग्रेजों के वहां हस्तक्षेप को समझाइये।

ब्लाक तीन - औपनिवेशिक विस्तार

इकाई एक- अंग्रेज और मराठे

इकाई दो- बर्मा के साथ अंग्रेजों के सम्बन्ध

इकाई तीन- सिक्खों के साथ अंग्रेजों के सम्बन्ध

इकाई चार- सिन्ध की विजय

अंग्रेज और मराठे

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 अंग्रेज एवं मराठे
 - 1.3.1 अठारहवीं सदी में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी
 - 1.3.2 अठारहवीं सदी में मराठा शक्ति
- 1.4 प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध
 - 1.4.1 प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध के कारण
 - 1.4.2 युद्ध 1775 - 1782 ई०
 - 1.4.3 परिणाम
- 1.5 प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध के पश्चात मराठे एवं अंग्रेज
- 1.6 द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध
 - 1.6.1 द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध के कारण
 - 1.6.2 युद्ध प्रारंभ
 - 1.6.3 द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध के परिणाम
- 1.7 तृतीय अथवा अंतिम आंग्ल - मराठा युद्ध
 - 1.7.1 तृतीय आंग्ल - मराठा युद्ध के कारण
 - 1.7.2 युद्ध का आरंभ
 - 1.7.3 तृतीय आंग्ल - मराठा युद्ध के परिणाम
- 1.8 मराठों की असफलता के कारण
- 1.9 सारांश
- 1.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

यह एक ऐतिहासिक संयोग है कि सत्रहवीं सदी में जिस समय भारत में मुगल साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था, ठीक उसी समय ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा मराठे क्रमशः आर्थिक एवं राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए प्रयासरत थे। शिवाजी के नेतृत्व में मराठा शक्ति दक्षिण में स्थापित हुई। वहीं अन्य यूरोपीय कंपनियों की प्रतिस्पर्धा में अंग्रेज अपनी सर्वोच्चता

स्थापित करने लगे। अठारहवीं सदी में मुगल साम्राज्य के विखण्डन के साथ भारतीय परिदृश्य परिवर्तित हुआ और परिवर्तन का असर यूरोपीय तथा भारतीय शक्तियों पर पड़ने लगा। अंग्रेज सर्वोच्च यूरोपीय शक्ति के रूप में स्थापित हुए जबकि मुगलों के प्रबल उत्तराधिकारी के रूप में मराठे इस परिस्थिति में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया का स्वरूप आर्थिक से राजनीतिक हो गया। अतः दोनो में संघर्ष अपरिहार्य था। मराठे शक्तिशाली थे। परन्तु अंग्रेज कूटनीति में काफी आगे। यही कारण है कि मराठा क्षेत्र से दूर बंगाल में उन्होंने अपना केन्द्र बिन्दु बनाया। 1761 ई० में पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय ने यह प्रमाणित कर दिया कि मुगलों के उत्तराधिकारी मराठे नहीं हो सकते। इस बीच अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों का सफाया तथा बंगाल में अपनी स्थिति मजबूत कर ली। बंगाल के बाद दक्षिण में अपनी शक्ति के विस्तार में अंग्रेजों और मराठों की बीच तीन संघर्ष युद्ध हुए और अंततः अंग्रेजों की सर्वोच्चता स्थापित हुआ।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में ब्रिटिश सत्ता के विस्तार से अवगत कराना है। इस औपनिवेशिक विस्तार के क्रम में दक्षिण में किस प्रकार अंग्रेज एवं मराठों के मध्य युद्ध की परिस्थितियां उभरीं तथा अंततः अंग्रेज कैसे विजयी हुए ? इन प्रश्नों के समाधान आप इस इकाई के अंतर्गत खोज पाएंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप अग्रांकित के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

अठारहवीं सदी में भारत में अंग्रेज तथा मराठों की स्थिति।

अंग्रेज एवं मराठों के मध्य शक्ति परीक्षण।

मराठों की पराजय एवं अंग्रेजों की जीत।

मराठों की असफलता के कारण।

ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना।

वैलेजली की सहायक संधि।

1.3 अंग्रेज एवं मराठे

भारत में व्यापार के उद्देश्य से आए यूरोपीयन के मध्य प्रतिस्पर्धा आरंभ से थी, परन्तु भारत में मुगल साम्राज्य के शक्तिशाली होने के कारण यह प्रतिस्पर्धा उग्र नहीं हो सकी। अठारहवीं सदी का आरंभ भारतीय इतिहास के लिए कई मायनों में महत्वपूर्ण है। एक तरफ पतनशील मुगल साम्राज्य ने महत्वाकांक्षी भारतीय क्षेत्रीय शक्तियों को उभरने का अवसर प्रदान किया। वहीं दूसरी तरफ यूरोपीय कम्पनियां भारतीय शक्तियों के नियंत्रण से मुक्त होने का प्रयत्न करने लगीं। इसी क्रम में दक्कन से उभरे मराठा राज्य ने साम्राज्य का सपना देखना प्रारंभ किया। जबकि अंग्रेजों ने यूरोपीय शक्तियों को परास्त कर भारतीय शक्तियों पर नियंत्रण प्रारंभ किया। बंगाल में प्लासी एवं बक्सर के युद्ध के पश्चात अपनी स्थिति मजबूत कर अंग्रेजों ने दक्कन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और मराठों से संघर्ष प्रारंभ हुआ।

1.3.1 अठारहवीं सदी में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी

भारत में व्यापार के उद्देश्य से अंग्रेजों ने ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की थी। धीरे-धीरे इस कम्पनी ने अन्य यूरोपीय कम्पनियों को पीछे छोड़ दिया। पुर्तगालियों को डचों ने परास्त किया और अम्बोयना हत्याकाण्ड के पश्चात डचों एवं अंग्रेजों के मध्य हुए समझौते के परिणामस्वरूप भारत में अंग्रेजों को बर्चस्व स्थापित करने का अवसर मिला जिसका सदुपयोग अंग्रेजों ने किया। भारत में तीव्र गति से उभरे फ्रांसीसियों कंपनी से तीन कर्नाटक युद्ध 1740 से 1763 ई० के बीच हुए और ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समक्ष फ्रांसीसियों ने सदा के लिए हथियार डाल दिए।

इसी बीच भारत की राजनीतिक शून्यता एवं अराजकता का लाभ उठाने की सोची समझी कोशिश ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने की। भारत में अपनी शक्ति विस्तार के लिए अंग्रेजों ने बंगाल को अपना मुख्यालय बनाना शुरू किया क्योंकि यह स्थान भारत पर हो रहे अफगान आक्रमण से सुरक्षित होने के साथ भारत में उभर रहे मराठा शक्ति के केन्द्र से भी दूर था।

1757 ई० की पलासी के लड़ाई तथा 1764 ई० के बक्सर युद्ध के पश्चात बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो गया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने सबसे प्रमुख शत्रु राज्य मैसूर पर ध्यान केन्द्रित किया और मराठों से मित्रता स्थापित की। अब अंग्रेज उस अवसर की तलाश में थे। जब मराठों पर आक्रमण करने या युद्ध थोपने का मौका मिले। इस प्रकार अंग्रेज-मराठा संबंध मित्रता से शत्रुता की कहानी बयाँ करता है।

1.3.2 अठारहवीं सदी में मराठा शक्ति

मराठा शक्ति का उद्भव दक्कन में शिवाजी के नेतृत्व में हुआ। सत्रहवीं सदी के मध्य में मराठा शक्ति ने अपनी पहचान मराठवाड़ा में स्थापित कर ली। मराठवाड़ा पश्चिमी समुद्रतट से लगा हुआ सहियाद्री से नागपुर तथा सतपुड़ा पहाड़ियों से लेकर गोदावरी तक त्रिभुजाकार क्षेत्र में फैला हुआ था। मुगल सम्राट शाहजहां तथा औरंगजेब के प्रयास के विपरीत शिवाजी ने 1674 ई० में मराठा राज्य की स्थापना करते हुए स्वयं को छत्रपति घोषित कर दिया तथा 1680 ई० में मृत्यु से पूर्व एक प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित कर दी।

शिवाजी के पुत्र एवं उत्तराधिकारी शांभाजी में पिता की नेतृत्व क्षमता नहीं थी। औरंगजेब ने 1689 ई० उसे परास्त कर उसकी हत्या कर दी। उसके पुत्र शाहू को बन्दी बना लिया गया। शांभाजी के सौतेले भाई राजाराम ने मराठा नेतृत्व संभाला परन्तु 1700 ई० में उसकी मृत्यु होने के साथ ही मराठा राज्य पर खतरे के बादल मंडराने लगे। राजाराम की विधवा ताराबाई ने अपने नाबालिग पुत्र शिवाजी द्वितीय को छत्रपति घोषित करते हुए नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। 1707 ई० औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात बहादुर शाह ने शाहू को छत्रपति के रूप में मान्यता देते हुए बन्दी से मुक्त कर दिया। शाहू ने अन्य मराठा सरदारों की सहायता से 1707 ई० में रवेड़ के युद्ध में ताराबाई को परास्त कर सतारा में स्वयं को स्थापित करने का प्रयास किया। सतारा अब मराठा मुख्यालय के रूप में विकसित होने लगा। ऐसी परिस्थिति में शाहू को अपनी जीत स्थायी

करने के लिए दूरदर्शी नेतृत्व की आवश्यकता थी। उसने कोंकण क्षेत्र के ब्राह्मण बालाजी विश्वनाथ को सेनाकर्ते की उपाधि प्रदान करते हुए अपना पेशवा नियुक्त किया। 1713 ई० में बाला जी विश्वनाथ ने ताराबाई के समर्थकों को अंतिम रूप से परास्त करते हुए शाहू की सत्ता स्थापित की। परन्तु अब मराठा शक्ति धीरे - धीरे पेशवा के हाथ में सिमटने लगी। बाला जी ने उत्तर भारत की राजनीति में दखल देना प्रारंभ किया। इस प्रकार मराठा शक्ति अखिल भारतीय शक्ति के रूप में उभरने लगी।

बालाजी की मृत्यु (1720 ई०) के पश्चात उसका पुत्र बाजीराव प्रथम पेशवा बना। इस प्रकार पेशवा पद वंशानुगत हो गया। बाजीराव प्रथम (1720 - 1740 ई०) में हिन्दु पाद पादशाही के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा अपने अल्पकाल में ही मराठा शक्ति को क्षेत्रीय से अखिल भारतीय बना दिया। उसने कोल्हापुर स्थित शाहू के प्रतिद्वन्दी को सदा के लिए दबा दिया। जागीर प्रणाली को पुर्नजीवित किया जिसके परिणामस्वरूप नागपुर में भोसलें, बड़ौदा में गायकवाड, ग्वालियर में सिंधिया तथा इन्दौर में होल्कर घराने स्थापित हुए। मराठा साम्राज्य इस समय सिंध के अटौक से उड़ीसा के कटक तक फैला था।

बाजीराव की मृत्यु के पश्चात बालाजी बाजीराव (1740 - 1761 ई०) पेशवा बना। उसने उत्तर भारत में हस्तक्षेप एवं प्रसार की नीति जारी रखी। उसने गुजरात, मालवा, बुंदेलखण्ड तथा राजपूताना पर अपनी पकड़ और मजबूत की। शाहू की मृत्यु (1749ई०) के पश्चात उसने पूना को अपना मुख्यालय बनाया। 1751 ई० में बंगाल से उड़ीसा प्राप्त किया तथा उसने 1757 ई० में सिंधखेड़ तथा 1760 ई० में उदगीर में निजाम को पराजित किया तथा मैसूर के वास्तविक शासक हैदर अली को कर देने के लिए बाध्य किया। उसने सफलतापूर्वक मुगल दरबार में हस्तक्षेप करते हुए इमाद-उल-मुल्क को वजीर नियुक्त कराया तथा पंजाब से चौथ एवं सरदेशमुखी का अधिकार प्राप्त किया। मराठों की बढ़ती ताकत तथा लूटपाट की नीति के कारण भारतीय शक्तियां उनसे ईर्ष्या करने लगीं।

इसी समय उत्तर भारत पर अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण हो रहे थे। पंजाब के कारण अब्दाली तथा मराठों में तनाव बढ़ा और परिणाम हुआ पानीपत की तीसरी लड़ाई 1761 ई०। इस युद्ध में मराठों की बुरी हार हुई तथा पेशवा पद का नामित उत्तराधिकारी एवं बालाजी बाजीराव का पुत्र विश्वास राव मारा गया। इस सदमे के कारण बालाजी बाजीराव की मृत्यु 1761 ई० में हो गई। इस प्रकार मराठा शक्ति पर काले बादल मंडराने लगे और भारत का भविष्य भी अंधेरे में।

नये पेशवा माधवराव (1761-72 ई०) के समय मराठा शक्ति एक बार पुनः संगठित हुई और अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगी। माधवराव अंतिम महान पेशवा साबित हुए। उन्होंने निजाम, मैसूर, रूहेला, राजपूत, तथा जाटों को पराजित किया। 1771 ई० में उसने मुगल शासक शाह आलम द्वितीय को दिल्ली लाकर गद्दी पर आसीन कराया। इस प्रकार मुगल दरबार में मराठा प्रभाव पुनः दृष्टिगोचर होने लगा। परन्तु माधवराव की संदिग्ध परिस्थितियों में 1772 ई० में मृत्यु एवं बढ़ती ब्रिटिश शक्ति तथा महत्वाकांक्षा ने अंग्रेजों एवं मराठों को एक - दूसरे के सामने लाकर खड़ा कर दिया।

1.4 प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध

बंगाल में अपनी सत्ता स्थापित करने के पश्चात अंग्रेजों ने अपना ध्यान दक्षिण भारत पर केन्द्रित किया तथा सबसे प्रमुख शत्रु मैसूर के साथ संघर्ष प्रारंभ किया। उन्होंने मराठों से मित्रता स्थापित की। परन्तु शीघ्र ही उन्हें मराठों से संघर्ष का बहाना मिल गया और 1775 ई० में प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध प्रारंभ हो गया।

1.4.1 प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध के कारण

प्रथम आंग्ल मराठा युद्ध का मूल कारण अंग्रेज तथा मराठा साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा के बीच टकराव था। मुगल साम्राज्य के विखण्डन के पश्चात भारत में जिन क्षेत्रीय शक्तियों का उद्भव हुआ उसमें मराठे सबसे प्रमुख थे। आपने यह देखा कि किस प्रकार मराठों ने पेशवा के नेतृत्व में शिवाजी द्वारा स्थापित एक छोटे राज्य को अखिल भारतीय साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि मराठे ही मुगलों के उत्तराधिकारी होने वाले थे। परन्तु 1761 ई० में पानीपत के युद्ध ने समीकरण परिवर्तित कर दिया। ठीक इसी समय अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों को हराकर यूरोपीयनों में अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर ली थी तथा सबसे बड़े धनी तथा सुरक्षित प्रदेश बंगाल पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। पलासी एवं बक्सर युद्ध के पश्चात भारतीय साम्राज्य निर्माण की ब्रिटिश मनसा में कोई शक नहीं था। इस प्रकार भारतीय साम्राज्य के लिए अंग्रेज एवं मराठे में संघर्ष होना अपरिहार्य था।

आंग्ल - मराठा युद्ध का तात्कालिक कारण मराठों की आपसी फूट थी। 1772 ई० में पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई। माधवराव का भाई नारायण राव नया पेशवा बना, परन्तु उसका चाचा रघुनाथ राव स्वयं पेशवा बनना चाहता था। इसलिए उसने षडयंत्र प्रारंभ किया। नाना फडनवीस रघुनाथ राव के प्रबल विरोधी थे। 1773 ई० में नारायण राव की हत्या कर दी गई और रघुनाथ राव पेशवा बन गया। नाना फडनवीस के नेतृत्व में अन्य मराठा सरदार भी रघुनाथ राव का विरोध कर रहे थे। रघुनाथ राव का दुर्भाग्य था कि नारायण राव के मरणोपरान्त उसकी पत्नी गंगा बाई ने पुत्र को जन्म दिया। नाना फडनवीस के गुट ने नारायण राव के पुत्र को माधवराव नारायण के नाम से पेशवा घोषित कर दिया। रघुनाथ राव ने हताश एवं निराश होकर बाम्बे स्थित अंग्रेजों से सहायता की अपील की। इस प्रकार अंग्रेजों को चीर प्रशिक्षित अवसर मिला और उन्होंने मराठा राजनीति में दखल दी। अतः भारत के अन्य क्षेत्रों की तरह मराठों की आपसी कलह भी आंग्ल - मराठा संघर्ष का कारण बनी।

1.4.2 आंग्ल - मराठा युद्ध (1775-82 ई०)

रघुनाथ राव द्वारा ब्रिटिश सहायता हेतु आग्रह किया गया क्योंकि इस समय बाम्बे स्थित अंग्रेज मराठों के मित्र थे। परन्तु अंग्रेजों की निगाहें बाम्बे के आस-पास तटीय क्षेत्रों पर थी जिन्हें प्राप्त करने के उद्देश्य से अंग्रेजों ने संघर्ष प्रारंभ किया। रघुनाथ राव की अपील पर अंग्रेजों ने 7 मार्च 1775 ई० को सूरत की संधि की। इस संधि की शर्तें निम्नांकित थी:-

1. अंग्रेज रघुनाथ राव को पेशवा बनाने में सहायता करेंगे। इसके लिए 2500 सैनिकों की एक टुकड़ी लगायी जाएगी। परन्तु इसका खर्च रघुनाथ राव को देना होगा।
2. रघुनाथ राव ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सलसीट एवं बसीन प्रदान करेंगे तथा सूरत के राजस्व का एक भाग अंग्रेजों को देंगे।
3. रघुनाथ राव ने वचन दिया कि ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शत्रु से मित्रता या संधि नहीं करेंगे।
4. भविष्य में पूना स्थित मराठा सत्ता से किसी भी प्रकार की वार्ता या संधि में अंग्रेज शामिल होंगे।

इस प्रकार इस संधि की शर्तों के अनुरूप कर्नल कीटींग के नेतृत्व में ब्रिटिश तथा रघुनाथ राव की सेना ने पूना की ओर प्रस्थान किया। मराठों एवं रघुनाथ राव तथा अंग्रेजों की संयुक्त सेना के मध्य पहली लड़ाई मई 1775 ई० में अरास के मैदान पर हुई जिसमें मराठों की हार हुई। रघुनाथ राव को पेशवा घोषित कर दिया गया।

इसी बीच कलकत्ता स्थित सर्वोच्च परिषद ने सूरत की संधि को अस्वीकार कर दिया। गवर्नर जनरल थरेन हेस्टिंग्स इसके पक्ष में था, परन्तु परिषद ने बहुमत से इसके निपक्ष में प्रस्ताव पारित करते हुए इसे 'खतरनाक, अनुचित, अराजनीतिक एवं अनाधिकृत' घोषित कर दिया। उसने बाम्बे परिषद को अपने कदम वापस लेने का प्रस्ताव भेजा तथा कर्नल अपटॉन को बाम्बे भेजा गया। उसने पूना स्थित मराठा शक्ति से मार्च 1776 ई० में पुरंधर की संधि की। इस संधि के द्वारा सूरत की संधि को समाप्त कर दिया गया। इस संधि के प्रावधान निम्नांकित थे -

1. अंग्रेज अब रघुनाथ राव यानि रघोबा का साथ छोड़ देंगे। उसे 25000 रुपये के मासिक पेंशन पर गुजरात के कोपड़गांव में बसाया जाएगा।
2. पूना स्थित सरकार, अंग्रेजों को युद्ध खर्च की क्षतिपूर्ति के लिए 12 लाख रुपये देगी।
3. अंग्रेजों के पास सलसीट, बसीन रहेंगे तथा भरूच का राजस्व उन्हें दिया जाएगा।

बाम्बे स्थित परिषद ने इस संधि को अस्वीकार नहीं किया, परन्तु इस लागू भी नहीं किया। अंग्रेजों ने रघोबा को अपने यहां शरण दी। मराठों ने भी इस संधि के विपरीत फ्रांसीसी व्यापारी एवं साहसी नाविक सेंट लूबिन को पश्चिमी समुद्री तट पर एक बन्दरगाह देने की बात स्वीकार कर ली। नाना फडनवीस इस समय शक्तिशाली एवं महत्वाकांक्षी हो गए थे। अंग्रेजों के मन में फ्रांसीसियों की मनसा पर संदेह होने लगा। निदेशक मण्डल ने बाम्बे परिषद की नीति का समर्थन किया तथा उसकी सहायतार्थ कर्नल एगरटन के नेतृत्व में एक अतिरिक्त टुकड़ी बाम्बे भेजी। इस प्रकार पुनः अंग्रेज एवं मराठों के बीच युद्ध प्रारंभ हो गया।

अंग्रेजी सेना का नेतृत्व इस समय कर्नल कॉकबर्न कर रहा था। पश्चिमी घाट पर तेलगांव में मराठों की विशाल सेना के साथ युद्ध हुआ। इस युद्ध में अंग्रेज बुरी तरह परास्त हुए। परिणामस्वरूप अंग्रेज एवं मराठों को मध्य वाडेगांव का समझौता (1779 ई०) हुआ। इस समझौते के द्वारा 1773 ई० के पश्चात अधिकृत सभी क्षेत्रों से अंग्रेजों को हाथ धोना पड़ा। बंगाल से आने वाली

अंग्रेजी सेना वापस भेजी जानी थी तथा मरूच के राजस्व का एक हिस्सा सिंधिया को दिया जाना था। इस प्रकार यह समझौता अंग्रेजों के लिए काफी शर्मनाक था। कलकत्ता की परिषद तथा गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने इस समझौते को अस्वीकार कर दिया गया। विश्वस्तर पर भी अमेरिकी स्वाधीनता संग्राम में हार के कारण अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को झटका लगा था। अतः भारत में अपनी प्रतिष्ठा बचाने का प्रयास वारेन हेस्टिंग्स ने प्रारंभ किया।

भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की परेशानियां, आंग्ल-मैसूर युद्ध के कारण भी बढ़ रही थी। कर्नल गोडार्ड ने स्थल सेना का नेतृत्व संभाला। मध्य भारत से होता हुआ 1780 ई० के आरंभ में अहमदाबाद तथा बसीन पर अधिकार कर लिया। यहां से पूना की ओर प्रस्थान किया परन्तु मराठों से हारकर वापस लौटना पड़ा। इसी बीच कलकत्ता से आए कप्तान पोफन ने सिंधिया के दुश्मन गोहद के राणा की सहायता की तथा अगस्त 1781 ई० में सिंधिया के मुख्यालय ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। दूसरी तरफ जनरल कॉमक ने भी सिंधिया को सिप्री में पराजित किया। इस प्रकार उत्तर भारत में सिंधिया की महत्वाकांक्षा को झटका लगा। सिंधिया मराठा संघ का नेतृत्व अपने हाथ में लेने को प्रयासरत था। इसलिए उसने अपनी प्रतिष्ठा बचाने तथा अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अंग्रेजों से वार्ता प्रारंभ कर दी। उसने अंग्रेजों तथा पूना स्थित मराठा के बीच मध्यस्थता तथा समझौता कराने का प्रयास शुरू किया। पूना स्थित मराठा शक्ति समझौते के लिए तैयार नहीं थी क्योंकि अंतिम शक्ति परीक्षण अभी शेष था तथा अंग्रेजों की भारतीय तथा अन्तराष्ट्रीय स्थिति उनके पक्ष में नहीं थी।

महादजी सिंधिया ने राजनीतिक अदूरदर्शिता तथा स्वार्थी व्यक्तित्व का परिचय देते हुए मराठों की ओर से 17 मई 1782 ई० को सालबई की संधि कर ली एवं प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध समाप्त हुआ। इस संधि को नाना फडनवीस ने 1783 ई० के आरंभ में ढंग से स्वीकृति प्रदान की।

1.4.3 प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध के परिणाम

इस प्रकार प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध 1782 ई० में सालबई की संधि से समाप्त हुआ। इस संधि के प्रावधान निम्नांकित थे -

1. अंग्रेजों के पास सलसीट चला गया।
2. माधव राव नारायण को पेशवा मान लिया गया।
3. रधोबा को पेंशन देकर अंग्रेजों ने उनका साथ छोड़ दिया।
4. यमुना नदी के पश्चिम का सम्पूर्ण विजित प्रदेश अंग्रेजों ने सिंधिया को लौटा दिया।
5. हैदर से उन क्षेत्रों को वापस लिया जाएगा जिन पर अरकाँट का अधिकार था।
6. अंग्रेज एवं मराठे एक दूसरे के मित्र रहेंगे।

इस संधि पर अंग्रेजों की पक्ष से एण्डरसन ने हस्ताक्षर किए थे। प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध में अंग्रेजों को मराठा राज्य की कमजोरी का ज्ञान हुआ। मराठों से मित्रता हुई जो अंग्रेजों के लिए लाभदायक रहा। अंग्रेजों ने इसका लाभ उठाकर मैसूर को कुचल दिया तथा स्वयं को पहले से

शक्तिशाली बना लिया। इसलिए यह युद्ध बराबरी का नजर आने के बावजूद मराठों के लिए घातक तथा अंग्रेजों के लिए फायदेमंद रहा।

1.5 प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध के पश्चात अंग्रेज एवं मराठे

इस प्रकार प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध 1782 ई0 में सालबई की संधि से समाप्त हुआ और ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध पूर्व स्थिति बहाल हो गई बिना किसी विशेष परिवर्तन के, परन्तु अगले दो दशक भारतीय राजनीति विशेषकर आंग्ल - मराठा संबंध के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। अंग्रेजों ने अपनी स्थिति मजबूत की। इस युद्ध ने भारत में ब्रिटिश सत्ता की कमजोरी स्पष्ट की। इसलिए 1784 ई0 में पीट के इण्डिया अधिनियम ने अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने का प्रावधान किया। कलकत्ता परिषद तथा गवर्नर जनरल को मद्रास एवं बॉम्बे प्रेसीडेन्सी से सर्वोच्च घोषित कर दिया गया। कार्नवालिस तथा वेलेजली के नेतृत्व में अंग्रेजों ने भारत में अपने प्रथम शत्रु मैसूर पर अधिकार कर अपनी स्थिति और मजबूत कर ली।

इसके विपरीत सालबई की संधि के बाद के 20 वर्ष मराठा संघ के लिए कठिन था। मराठा सरदार आपस में लड़ने में व्यस्त रहे। महादजी सिंधिया ने मुगल शासक के द्वारा पेशवा को वकील-ए-मुतलक नियुक्त कराया तथा स्वयं को पेशवा का नायब। इससे अन्य मराठा सरदार तथा मुख्यमंत्री नाना फड़नवीस क्रोधित हुए। 1794 ई0 में महादजी की मृत्यु हो गई तथा उसकी जगह दौलत राव सिंधिया ने ली। दौलत राव उतना योग्य नहीं था। अहिल्या बाई ने होल्कर घराने को योग्य नेतृत्व प्रदान किया। परन्तु 1795 ई0 में अहिल्या बाई की मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी तुकोजी होल्कर बना। इस समय नाना फड़नवीस योग्यतम मराठा थे। नाना ने हरिपंत फाड़के के नेतृत्व में सैनिक अभियान चलाकर मैसूर से बादामी, कीटूर, नरगुण्ड आदि क्षेत्र छीन लिया। नाना की मृत्यु 1800 ई0 में हो गई और इसके साथ ही दूरदर्शी, महत्वाकांक्षी, सफल प्रशासक तथा योग्यतम सेनापति इस दुनिया से चल बसा। मराठों के लिए यह अपुरणीय क्षति थी। तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-92 ई0) में मराठों ने अंग्रेजों का साथ देकर बहुत बड़ी भूल की। मराठे अंतिम बार 1795 ई0 में निजाम के विरुद्ध खार्दा के युद्ध में संगठित होकर लड़े और निजाम को पराजित किया। इसके बाद सभी मराठा सरदार कभी संगठित नहीं हुए। 1795 ई0 में पेशवा माधव राव द्वितीय ने आत्महत्या कर ली। रघोबा का पुत्र बाजीराव द्वितीय पेशवा बना जो अपने पिता की तरह मराठा शक्ति को कमजोर करने वाला साबित हुआ। इस प्रकार सालबई के बाद मराठे कमजोर हुए।

1.6 द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध (1803-06 ई0)

सालबई की संधि से प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध समाप्त हुआ था। परन्तु यह एक युद्ध विराम था क्योंकि दक्कन में सर्वोच्चता एक के लिए प्रारंभ आंग्ल - ब्रिटिश संघर्ष का निर्णय होना आवश्यक था। मैसूर पर अन्ततः अधिकार स्थापित करने के पश्चात अंग्रेज इस अवसर की तलाश में थे जब सालबई की संधि तोड़े बिना मराठों से युद्ध प्रारंभ हो और 1803 ई0 में यह अवसर उन्हें उस समय प्राप्त हुआ जब पेशवा ने उनसे सहायता मांगी।

1.6.1 द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध के कारण

द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध का मूल कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति थी। अठारहवीं सदी में भारतीय राजनीतिक अस्थिरता तथा आपसी फूट का फायदा उठाकर अंग्रेजों ने साम्राज्य निर्माण प्रारंभ किया और तीव्र गति से बंगाल, मैसूर, आदि क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। दक्कन में मराठा साम्राज्य सबसे बड़ा एवं शक्तिशाली था। अतः भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करने के लिए मराठों को हराना आवश्यक था। इसलिए आंग्ल - मराठा संघर्ष अपरिहार्य था।

दूसरा कारण यूरोपीय राजनीति थी। इस समय इंग्लैण्ड के पारम्परिक शत्रु फ्रांस में नेपोलियन का उत्थान हुआ। उसने यूरोप में फ्रांस की सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयास प्रारंभ किया। साथ ही उसका उद्देश्य इंग्लैण्ड को कमजोर करना था। उसने भारत पर आक्रमण के उद्देश्य से मिस्र पर आक्रमण किया था। इस प्रकार उत्पन्न फ्रांसीसी खतरे को टालने के लिए पश्चिम तट पर ब्रिटिश अधिकार आवश्यक था।

26 अप्रैल 1798 ई० को भारत में गवर्नर जनरल बनकर आया लार्ड मार्लिंग्टन जो मार्क्वेस वेलेजली के नाम से विख्यात है, महान साम्राज्यवादी था। कम्पनी के बोर्ड ऑफ कंट्रोल में कमिश्नर के पद पर कार्य कर चुके वेलेजली को भारतीय राजनीति का पूर्ण ज्ञान था। उसने जॉन शोर के निष्पक्षता अथवा तटस्थता के सिद्धान्त को अनुपयुक्त बनाया। उसने सहायक संधि को अपनी साम्राज्यवादी नीति का आधार बनाया। सहायक संधि स्वीकार करने का अर्थ था अपनी स्वाधीनता खो देना और नहीं स्वीकार करने का मतलब था ब्रिटिश सर्वोच्चता को चुनौती देना। इसलिए आंग्ल - मराठा युद्ध का कारण वेलेजली की आक्रामक एवं साम्राज्यवादी नीति भी थी।

परन्तु द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध का तात्कालिक एवं मुख्य कारण स्वयं मराठा राजनीति थी। 1795 ई० में खार्दा में निजाम के विरुद्ध मराठे संगठित होकर लड़े, लेकिन यह आखिरी मौका था। इसके बाद कभी भी मराठा सरदार एक साथ नहीं दिखे। नया पेशवा बाजीराव द्वितीय मराठा सरदारों को ही आपस में लड़ाकर अपनी स्थिति ठीक रखना चाहता था। पूना में मुख्यमंत्री नाना फडनवीस के कारण पेशवा नियंत्रण में रहा। 1800 ई० में नाना की मृत्यु के साथ ही पेशवा उन्मुक्त हो गया। इस समय कर्नल पॉमर जो पूना में था, लिखता है, 'नाना के साथ ही मराठों की बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता समाप्त हो गई।' अब मराठा सरदार पूना पर वर्चस्व के लिए आपस में लड़ने लगे। इस प्रतिस्पर्धा में दौलतराव सिंधिया तथा जसवन्त राव होल्कर सबसे आगे थे। बदनिजाज पेशवा के कारण परिस्थिति भयावह हो गई। आरंभ में सिंधिया का वर्चस्व स्थापित होता दिख रहा था। सिंधिया ने होल्कर की सेना को मालवा में रोका तथा परास्त किया, परन्तु पेशवा ने जसवन्त राव होल्कर के भाई बिठूजी होल्कर की हत्या करवा दी। इसलिए होल्कर ने अपनी पूरी ताकत से पूना पर आक्रमण कर दिया। उसने पेशवा तथा सिंधिया की संयुक्त सेना को परास्त किया तथा पूना पर अधिकार कर लिया। जसवन्त राव होल्कर ने रधोबा के दत्तक पुत्र अमृत राव के पुत्र विनायक राव को पेशवा के मसनद पर आसीन कर दिया तथा बाजीराव द्वितीय को पदच्युत कर दिया। हताश - निराश बाजीराव द्वितीय 1802 ई० को भागकर अंग्रेजों

के पास गया तथा 31 दिसम्बर को बसीन की संधि की जो द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध का तात्कालिक कारण साबित हुआ।

बसीन की संधि के प्रावधान:-

1. अंग्रेजी सेना की एक टुकड़ी जिसकी संख्या 6000 से कम नहीं होगी, पेशवा के क्षेत्र में रखी जाएगी।
2. इस सेना के रख - रखाव हेतु 26 लाख रुपये के राजस्व वाला क्षेत्र अंग्रेजों को दे दिया गया।
3. अंग्रेजों के शत्रु किसी भी यूरोपीय को पेशवा अपने दरबार या क्षेत्र में अंग्रेजों की अनुमति के बिना किसी भी प्रकार की गतिविधियों की छूट नहीं देगा।
4. मराठों की आपसी तथा अन्य भारतीय शक्तियों के झगड़े में मध्यस्थता कम्पनी करेगी।
5. सूरत शहर अंग्रेजों को दे दिया गया।
6. पेशवा ने निजाम के क्षेत्र से चौथ का दावा छोड़ दिया।
7. इस सबके बदले कम्पनी बाजीराव द्वितीय को पेशवा की मसनद पर आसीन कराएगी।

इस प्रकार इस संधि ने अंग्रेजों को मराठा क्षेत्र में दखल देने का मौका दिया। इस संधि पर बोर्ड ऑफ कंट्रोल ने शंका व्यक्त की। परन्तु गवर्नर जनरल वेलेजली ने परिस्थितियों का आकलन करते हुए लिखा था, “प्रथम बार शांति से इतनी बड़ी उपलब्धि हासिल हुई है।” गवर्नर जनरल के भाई आर्थर वेलेजली ने इस संधि को “शून्य के साथ की गई संधि” की संज्ञा दी थी। बसीन की संधि का मूल्यांकन करते हुए सिडनी आवेन लिखता है, “इस संधि ने अंग्रेजों को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से भारतीय साम्राज्य प्रदान किया।” कम्पनी ने इस संधि के प्रावधान के अनुसार बाजीराव द्वितीय को पुनः पेशवा बनाने के लिए युद्ध को प्रारंभ किया। इस प्रकार मराठों का अन्तर्कलह और बसीन की संधि द्वितीय आंग्ल मराठा युद्ध के तात्कालिक कारण साबित हुए।

1.6.2 द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध (13 मई 1803 ई० - 1806 ई०)

बसीन की संधि के पश्चात अंग्रेजों ने युद्ध को वृहद् तैयार कर ली। मराठा क्षेत्र पर चौतरफा आक्रमण की योजना बनाई गई। दक्कन सेना का नेतृत्व आर्थर वेलेजली, उत्तर भारतीय सेना का नेतृत्व जनरल लेक तथा पश्चिमी सेना का नेतृत्व कर्नल मूरें को दिया गया। इसके अलावा गुजरात, उड़ीसा तथा बुंदेलखण्ड में सहायक टुकड़ियां स्थापित की गईं। मराठे अभी भी इस खतरे से अनभिज्ञ, आपस में लड़ रहे थे।

आर्थर वेलेजली बाजीराव को पूना लाया और मराठा प्रतिरोध के बावजूद 13 मई 1803 ई० को पुनः पेशवा के पद पर आसीन करा दिया और मराठों के साथ एक नये संघर्ष की शुरुआत की। दौलत राव सिंधिया तथा रघुजी भोसले संगठित हो गए तथा जसवन्त राव होल्कर को भी

संगठित होने के लिए आमंत्रित किया। इस संकट के समय भी मराठे आपसी झगड़े को भूलकर संगठित नहीं हुए। होल्कर अपनी सेना के साथ मालवा चला गया और काफी विलम्ब से युद्ध में शामिल हुआ। गायकवाड अंत तक इस युद्ध से अलग रहा।

वास्तविक युद्ध 1803 ई० के आरंभ से शुरू हुआ। मराठा सेना प्रथम दृष्टया काफी विशाल थी, जिसकी संख्या 2.5 लाख के आस-पास थी। इसमें 40,000 सैनिक फ्रांसीसियों द्वारा प्रशिक्षित थे। युद्ध आरंभ होने से पहले ही फ्रांसीसी मराठों से अलग हो गए। मराठे छापामार युद्ध प्रणाली त्यागकर प्रत्यक्ष युद्ध को तैयार थे। अंग्रेजों ने सैनिक शक्ति के साथ-साथ कूटनीति का सहारा लेते हुए मराठों के शत्रुओं से जैस अवध, आदि से सहायतार्थ संधि कर ली।

दक्कन से मुख्य सेना का नेतृत्व करते हुए आर्थर वेलेजली ने अहमदनगर पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् औरंगाबाद के समीप असाय के युद्ध में उसने सिंधिया और भोंसले की संयुक्त सेना को बुरी तरह परास्त किया। दक्षिण में उस समय तक यह सबसे बड़ी जीत थी। अक्टूबर 1803 ई० में अंग्रेजों ने बुरहानपुर और असीरगढ़ पर अधिकार कर लिया। असीरगढ़ इस क्षेत्र का सबसे मजबूत किला माना जाता था जो लगभग अजेय था। दिसम्बर में अंग्रेजों ने गावलीगढ़ के किले पर अधिकार कर लिया तथा भोंसले को अरगांव में पराजित किया। उत्तर भारत जिसे अंग्रेज हिन्दुस्तान कहते थे, में भी अंग्रेजों को जीत हासिल हुई। जनरल लेक ने दिल्ली और आगरा पर 1803 ई० में ही अधिकार कर लिया। सिंधिया की सेना को पहले दिल्ली के युद्ध और फिर अलवर के समीप लसवाड़ी के युद्ध में परास्त किया। इस प्रकार अब तक भारत में सत्ता के सबसे बड़े केन्द्र दिल्ली पर प्रथम बार अंग्रेजों ने जीत दर्ज की। बुंदेलखण्ड, गुजरात तथा उड़ीसा में भी अंग्रेजों की जीत हुई। इस प्रकार युद्ध प्रारंभ होने के लगभग छः माह के अन्दर ही सिंधिया तथा भोंसले को कई बार हार का सामना करना पड़ा और अंग्रेजों के साथ संधि करनी पड़ी। 17 दिसंबर 1803 ई० को भोंसले ने देवगांव की संधि की। इस संधि के द्वारा उसने बालासोर सहित कटक तथा वर्धा नदी के पश्चिम का सम्पूर्ण क्षेत्र अंग्रेजों को दे दिया। भोंसले ने निजाम तथा पेशवा के साथ किसी भी विवाद में अंग्रेजों की मध्यस्थता स्वीकार कर ली। अंग्रेजों के शत्रु यूरोपीयनों से भोंसले ने मित्रता नहीं करने का वचन दिया। भोंसले नागपुर में ब्रिटिश रेजिडेंट रखने के लिए राजी हो गया और एलिफिस्टन को रेजिडेंट नियुक्त किया गया।

पराजित होने के पश्चात् सिंधिया ने 30 दिसंबर 1803 ई० को सूर्जी - अरजनगांव की संधि की। इस संधि के द्वारा सिंधिया ने गंगा - जमुना के बीच का सम्पूर्ण क्षेत्र तथा जयपुर, जोधपुर एवं गोहद के उत्तर का क्षेत्र अंग्रेजों को सौंप दिया। इसके अतिरिक्त सिंधिया ने अहमदनगर, भरूच तथा अजन्ता पहाड़ियों के पश्चिम का सम्पूर्ण क्षेत्र अंग्रेजों को दे दिए। उसने मुगल बादशाह, निजाम तथा पेशवा पर सभी दावे छोड़ दिए तथा किसी भी यूरोपीयन को जो अंग्रेजों के शत्रु हों, अपनी सेना में नहीं रखने का वचन दिया। जॉन मालकॉम को ग्वालियर स्थित सिंधिया के दरबार

में ब्रिटिश रेजिडेंट नियुक्त किया गया। इसी संधि के आधार पर 1804 के आरंभ में भोंसले ने सहायक संधि स्वीकार कर ली और एक ब्रिटिश एक ब्रिटिश टुकड़ी अपनी सेना में रखने की अनुमति दे दी। निजाम को भी अंग्रेजों ने मराठों द्वारा अधिकृत अधिकांश क्षेत्र सिंधिया और भोंसे से लेकर लौटा दिए। इस संधि के पश्चात मद्रास एवं कलकत्ता प्रेसीडेन्सी आपस में जुड़ गए तथा अखिल भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य का मार्ग प्रशस्त हुआ।

इस प्रकार 1804 ई० में आंग्ल - मराठा युद्ध समापन की ओर अग्रसर प्रतीत हो रहा था। परन्तु अप्रैल 1804 ई० होल्कर ने युद्ध प्रारंभ कर दिया, जब सिंधिया और भोंसले परास्त हो चुके थे। होल्कर ने छापामार युद्ध प्रणाली का अनुसरण किया। उसने कर्नल मॉनसन को कोटा के समीप मुकुन्दरा दर्रे में बुरी तरह पराजित किया। मॉनसन को वापस जाना पड़ा। उसने आगरा में शरण ली। होल्कर ने उत्तर भारत पर आक्रमण किया तथा दिल्ली पर अधिकार कर लिया। दिल्ली की रक्षा का दायित्व ब्रिटिश रेजिडेंट कर्नल अटरलॉनी पर था, जिसने समर्पण नहीं किया और होल्कर की एक टुकड़ी को परास्त किया। जनरल लेक ने 17 नवम्बर 1804 ई० को होल्कर को पराजित किया। परन्तु भरतपुर के समीप लेक बुरी तरह परास्त हुआ। लेक में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए भरतपुर के राजा से संधि कर ली। इस समय होल्कर की स्थिति अच्छी नहीं थी। लेकिन इसी समय (मई 1805 ई०) वेलेजली को गवर्नर जनरल के पद से हटाते हुए इंग्लैण्ड बुला लिया गया। कार्नवालिस पुनः गवर्नर जनरल के रूप में जुलाई 1805 में भारत आया। उसे अहस्तक्षेप की नीति को लागू करने का निर्देश दिया गया था। इससे पहले कि वह सहायक संधि को समाप्त या परिवर्तित करता अक्टूबर 1805 ई० में गाजीपुर में उसकी मृत्यु हो गई।

जार्ज बारलोव को कार्यकारी गवर्नर जनरल बनाया गया। उसने सिंधिया के साथ संधि की तथा चंबल नदी को ब्रिटिश एवं सिंधिया के क्षेत्र की सीमा रेखा स्वीकार कर ली गई। इस बीच जनरल लेक ने होल्कर पर दबाव बढ़ाया और 1806 ई० में उसके साथ राजपुर घाट की संधि कर ली। होल्कर ने टौक, रामपुरा, कूच, बुंदेलखण्ड तथा चम्बल नदी के उत्तर के क्षेत्रों से अपने दावे छोड़ दिए। परन्तु बारलोव ने होल्कर को अधिकांश क्षेत्र लौटा दिए तथा राजपूताना को ब्रिटिश नियंत्रण से मुक्त कर दिया। इस प्रकार 1806 ई० में द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध समाप्त हुआ।

1.6.3 द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध के परिणाम

इस प्रकार आपने अध्ययन किया कि 1806 ई० में द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध समाप्त हुआ और कार्यकारी गवर्नर जनरल बारलोव ने अहस्तक्षेप की नीति की घोषणा की। परन्तु इस युद्ध ने तत्कालीन भारतीय राजनीति तथा भविष्य पर अमिट छाप छोड़ा। इस युद्ध ने भारत पर ब्रिटिश सर्वोच्चता की व्यावहारिक रूप से स्थापित कर दिया। अठारहवीं सदी के सबसे वृहद् साम्राज्य

तथा शक्तिशाली मराठा संघ की कमजोरियां उजागर हो चुकी थी। मराठा संघ का प्रमुख पेशवा एवं सिंधिया तथा भोंसले ने सहायक संधि स्वीकार कर ली थी। होल्कर भी लगभग निर्णायक रूप से परास्त हो चुका था। अंग्रेजों ने इस युद्ध के दौरान भारतीय राजनीति के सबसे प्रमुख सांकेतिक केन्द्र दिल्ली पर अधिकार कर लिया तथा मुगल बादशाह को मराठा प्रभाव से मुक्त कराते हुए अपने अधीन कर लिया। इस युद्ध के दौरान अंग्रेजों ने पश्चिमी समुद्र तट, पूरब में उड़ीसा, दक्षिण में निजाम से सटे प्रदेश तथा उत्तर भारत के आर्थिक एवं सामरिक महत्व के समस्त क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। इसी युद्ध के बहाने अंग्रेजों की निगाह पंजाब पर पड़ी। पंजाब छोड़कर समस्त भारतीय भू-भाग अब अंग्रेजों की इच्छा पर था।

1.7 तृतीय आंग्ल - मराठा युद्ध

द्वितीय आंग्ल - मराठा संघर्ष के दौरान मराठे निश्चित रूप से कमजोर हो गए थे, परन्तु मराठा शक्ति एवं प्रतिरोध अभी समाप्त नहीं हुआ था। इसलिए 1806 ई० में संघर्ष समाप्त नहीं हुआ था, बल्कि युद्ध विराम हुआ था। अंग्रेज मराठा शक्ति पर अंतिम विजय तथा मराठे अपनी शर्मनाक स्थिति से उबरने की प्रतिकक्षा कर रहे थे। अंग्रेजों को यह अवसर मिला जब 1813 ई० में हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। उसने रियासतों के संबंध में अधीनस्थ अलगाव की नीति अपनाई। उसने आक्रामक नीति अपनाते हुए समस्त रियासतों को ब्रिटिश सर्वोच्चता के अधीन करने का प्रयास प्रारंभ किया। इस प्रकार आंग्ल - मराठा युद्ध पुनः अपरिहार्य हो गया।

1.7.1 तृतीय आंग्ल - मराठा युद्ध के कारण

तृतीय आंग्ल - मराठा युद्ध का प्रथम कारण मराठा राज्य की कमजोरी थी। उन्नीसवीं सदी के आरंभ से ही ये कमजोरियां उजागर होने लगी थीं। अंग्रेजों से परास्त होने के बाद भी मराठे आपस में संगठित होने के स्थान पर विभाजित रहे तथा एक दूसरे के विरुद्ध षड़यंत्र एवं संघर्ष जारी रखे। जसवन्त राव होल्कर ने पारिवारिक परिस्थितियों से तंग आकर मानसिक संतुलन खो दिया और 1811 ई० में मृत्यु हो गई। तुलसीबाई ने सत्ता संभाली परन्तु मंत्री बलराम सेठ के प्रभाव में थी। दौलतराव सिंधिया की आर्थिक हालत इतनी कमजोर हो गई कि कर्मचारियों तथा सैनिकों को वेतन देना कठिन हो गया। सैनिकों को प्रत्यक्ष उगाही की अनुमति दे दी गई। रघु जी भोंसले का क्षेत्र पिण्डारियों के लूट - पाट से अराजकता की स्थिति में था। गायकवाड को ब्रिटिश अधीनता में भी परेशानी नहीं थी। परन्तु पेशवा बाजीराव द्वितीय को अपनी गलती का एहसास हो गया था। उसने मराठा संघ को जीवित करने का प्रयास प्रारंभ किया और मौके की तलाश में था। परन्तु वह नकारात्मक सोच वाले त्रिम्बकजी दंगलिया के प्रभाव में था। पेशवा ने गायकवाड से वार्ता के लिए अपने मंत्री गंगाधर शास्त्री को भेजा। परन्तु त्रिम्बकजी ने उसकी हत्या करवा दी। गंगाधर शास्त्री अंग्रेजों के भी मित्र थे। इसलिए आपस में दूरियां बढ़ने लगी।

परिस्थितियां 1817 ई0 के आरंभ से और भी खराब होने लगी। पेशवा सक्रिय रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध संगठन बनाने लगा। उसने पठानों तथा पिण्डारियों से वार्ता प्रारंभ की। इस कदम को सहन करना अंग्रेज के लिए कठिन था। अतः दोनों तरफ तैयारियां होने लगी।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद, तृतीय आंग्ल - मराठा युद्ध का मूल कारण था जो तात्कालिक रूप से पिण्डारी समस्या सुलझाने के बहाने सामने आया। गवर्नर जनरल हेस्टिंग्स ने माउण्ट स्ट्रुअर्ट एलिफिंस्टन को निर्देश दिया कि वह पेशवा से संधि के लिए वार्ता करें। इस संधि का उद्देश्य पेशवा की शक्ति को इस प्रकार कम करना था कि वह भविष्य में अंग्रेजों के विरुद्ध किसी षडयंत्र में सामिल न हो सके। पेशवा ने 13 जून 1817 ई0 को पूना की संधि पर हस्ताक्षर कर दिए। इस संधि के द्वारा पेशवा को मराठा संघ के प्रमुख का पद छोड़ना था। गायकवाड को केवल 4 लाख रुपये देकर पेशवा से मुक्त होना था तथा पेशवा भविष्य में गायकवाड पर कोई दावा नहीं करने वाला था। अंग्रेजों के कोंकण सहित सामरिक महत्व के अन्य क्षेत्र प्रदान किए जाने थे। इस प्रकार एक और अपमानजनक संधि पर पेशवा को हस्ताक्षर करने पड़े।

हेस्टिंग्स ने नवम्बर 1817 ई0 में दौलतराव सिंधिया को ग्वालियर की संधि पर हस्ताक्षर के लिए बाध्य किया। सिंधिया पिण्डारी समस्या के समाधान में पूर्ण सहयोग देने तथा युद्ध की स्थिति में अपने क्षेत्र का उपयोग करने देने का वचन दिया। ठीक इसी समय नागपुर में उत्तराधिकार का संघर्ष प्रारंभ हो गया। रघू जी भोंसले द्वितीय की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र परसोनी गद्दी पर बैठा। परन्तु परसोनजी के चचेरे भाई अप्पा साहिब अंग्रेजों की मदद से गद्दी प्राप्त करना चाहता था। इसलिए उसने अंग्रेजों से नागपुर की संधि कर ली जो सहायक संधि थी। इस प्रकार इन तीन संधियों ने मराठा प्रतिष्ठा पर बड़ा धब्बा लगाया। इस संकट की घड़ी में भी मराठा आपस में समन्वित कार्यक्रम नहीं बना सके। पेशवा ने बिना किसी सूचना के युद्ध प्रारंभ कर दिया।

अंग्रेजों ने सिंधिया के साथ जिस दिन संधि की, ठीक उसी दिन पेशवा ने पूना में ब्रिटिश रेजीडेन्सी को वर्खास्त करते हुए उसमें आग लगा दी। पेशवा ने एक बड़ी सेना लेकर कर्नल बर्ब पर आक्रमण किया, परन्तु खीर्की में बुरी तरह परास्त हुआ। जसवन्त राव होल्कर के पुत्र मल्हार राव होल्कर द्वितीय तथा नागपुर में अप्पा साहिब ने भी युद्ध की घोषणा कर दी। भोंसलें की सेना सिताबर्डी में 27 नवम्बर 1817 ई0 को पराजित हुई। अप्पा साहिब भागकर पंजाब चला गया। वहां से जोधपुर गया जहां 1840 ई0 में उसकी मृत्यु हो गई। नर्मदा नदी के उत्तर का क्षेत्र ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया तथा भोंसले परिवार के एक सदस्य को शेष क्षेत्र का राजा घोषित कर दिया गया। होल्कर की सेना को महिदपुर में हिसलॉप ने पराजित किया तथा होल्कर के उपर मंदसौर की संधि 1868 ई0 आरोपित कर दी गई। यह एक सहायक संधि थी। होल्कर ने सभी राजपूत राज्यों पर अपना दावा छोड़ दिया। इन्दौर में स्थायी रूप से रेजिडेन्ट नियुक्त कर दिया गया।

खीर्की के युद्ध में परास्त होने के बाद भी पेशवा शान्त नहीं हुआ और अपनी स्थिति सुधारने का प्रयास करने लगा। 1818 ई० के आरंभ में वह पुनः कोरेगाव तथा अस्थी में पराजित हुआ। अन्ततः बाजीराव द्वितीय ने जॉन मॉलकम के समक्ष जून 1818 ई० में समर्पण कर दिया। पेशवा का पद समाप्त करते हुए बाजीराव द्वितीय को कानपुर के समीप बीठुर में लाकर रखा गया। उसका पेंशन आठ लाख रुपये वार्षिक रखा गया। पेशवा के क्षेत्र से एक छोटा क्षेत्र अलग कर शिवाजी के वंशज प्रताप सिंह को दिया गया तथा उसे मराठा राज्य को औपचारिक एवं वैधानिक प्रधान घोषित किया गया। इसका मुख्यालय सतारा को बनाया गया। बाद में डलहौजी ने हड़प की नीति के अंतर्गत सतारा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

1.7.2 तृतीय आंग्ल - मराठा युद्ध के परिणाम

तृतीय आंग्ल - मराठा युद्ध भारत में अंग्रेज एवं मराठों के बीच सर्वोच्चता के लिए हुए संघर्ष का अंतिम युद्ध साबित हुआ। इस युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की सर्वोच्चता पर कोई शंका नहीं रहा क्योंकि भारत में एक समय मराठों को मुगलों का प्रबल दावेदार माना जा रहा था। परंतु अंग्रेजों ने सैनिक ताकत तथा कूटनीति का सहारा लेकर मराठों को परास्त कर दिया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप अंग्रेजों को पश्चिमी तथा मध्य भारत के आर्थिक तथा सामरिक महत्व के सभी क्षेत्र हासिल हो गए। इस युद्ध ने भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया को लगभग पूरा कर दिया।

1.8 मराठा शक्ति की पराजय के कारण

मराठा शक्ति जिसकी नींव शिवाजी ने सत्तरहवीं शताब्दी में रखी तथा अपने बाहुबल एवं बुद्धि से विकसित किया, उसके मरणोपरान्त क्षीण होने लगी। अठारहवीं सदी में बाजीराव प्रथम ने इसे क्षेत्रीय शक्ति से अखिल भारतीय शक्ति बनाया, परंतु भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर सर्वोच्चता के संघर्ष में अंग्रेजों के हाथों परास्त हुई। मराठों के पराजित होने के कारणों की व्याख्या निम्नवत् की जा सकती है -

मराठा संघ की आंतरिक कमजोरी मराठों की पराजय का प्रथम कारण थी। मराठा राज्य में उन संस्थाओं तथा नीतियों का अभाव था जो किसी भी राज्य के स्थायित्व तथा विकास के लिए आवश्यक होते हैं। यह राज्य व्यक्तिगत शौर्य तथा बुद्धि पर आश्रित था। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों के साथ संघर्ष में, यह मूलभूत कमजोरी घातक साबित हुई।

कुशल एवं सक्षम नेतृत्व का अभाव मराठों की हार का दूसरा कारण था। आपने यह देखा कि अठारहवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश में मराठा नेता किस प्रकार अदूरदर्शिता का परिचय दे रहे थे। रधोबा के गलत निर्णय के कारण अंग्रेजों को मराठा राज्य में दखल देने का मौका मिला।

अधिकांश सक्षम मराठा सरदारों की मृत्यु हो गई और उन्नीसवीं सदी में बाजीराव द्वितीय के अदूरदर्शिता के कारण अंग्रेजों को बढ़त मिली।

मराठों की युद्ध प्रणाली अंग्रेजों की तुलना में काफी कमजोर साबित हुई। मराठा सरदार अपनी सर्वोच्चता के लिए केन्द्रीय नेतृत्व का हमेशा उल्लंघन करते थे। सैनिक साज - सामान का आधुनिकीकरण नहीं हुआ। युद्ध की तकनीकी यूरोपीयनों की तुलना में काफी पिछड़ी थी। अपने तोपखाने को सक्षम नहीं बनाया। साथ ही शिवाजी द्वारा विकसित छापामार या गुरीला युद्ध प्रणाली को धीरे - धीरे मराठों ने त्याग दिया जो उनकी भयंकर भूल थी। प्रत्यक्ष युद्ध में उनकी अकुशलता उभर कर सामने आई और पराजय का मुंह देखना पड़ा।

मराठा राज्य के आर्थिक आधार का कमजोर होना उनके लिए घातक सिद्ध हुआ। राज्य की आर्थिक गतिविधियाँ लूट पर आधारित थीं। उनकी आय का मुख्य स्रोत चौथ तथा सरदेशमुखी था जिस पर निर्भरता कठिन थी। मराठों ने कृषि, व्यापार तथा उद्योगों के विकास की ठोस नीति नहीं बनाई। इसलिए राज्य आर्थिक दृष्टि से आधारहीन था। इस परिस्थिति में अंग्रेजों से मुकाबला कठिन हो गया।

मराठा संघ का सामन्तवादी स्वरूप उनकी राजनैतिक पिछड़ेपन को प्रमाणित करता है। मराठा संघ एक ढीला-ढाला संघ था जिसका प्रधान पेशवा था। पेशवा के कमजोर होते ही सिंधिया, होल्कर, भोंसले, गायकवाड तथा अन्य सरदार सर्वोच्चता के लिए संघर्षरत हो गए। ऐसी परिस्थिति में सरदारों ने अपने आपको संगठित नहीं किया और आपस में लड़ते रहे। इसका फायदा अंग्रेजों ने उठाया और मराठों को पराजित किया।

अंग्रेजों की भौतिक, सैनिक तथा वैचारिक सर्वोच्चता ने अंग्रेजों की जीत तथा मराठों की हार में मुख्य भूमिका निभायी। अंग्रेजों ने आधुनिक तकनीक के आधार पर अपनी सेना विकसित की थी। तोपखाना उनकी थल सेना का आधार था तथा अचूक था। उनकी नव सेना का जबाब नहीं था। सैनिक नेतृत्व केन्द्रीयकृत था। उन्होंने 'फूट डालो और शासन करो' को अपनी कूटनीति का आधार बनाया तथा मराठों के विरुद्ध भी इसका इस्तेमाल किया। मराठों के शत्रु निजाम तथा अन्य शासकों को अपनी तरफ कर लिया। उनकी गुप्तचर व्यवस्था उत्तम थी। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेजों की जीत स्वाभाविक थी।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों ने मराठों से पहले मित्रता की तथा जब मराठा शक्ति कमजोर होने लगी तब सर्वोच्चता के लिए संघर्ष प्रारंभ किया। इस संघर्ष में मराठों की कमजोरी तथा अंग्रेजों की शक्ति को तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि मराठों की हार अपरिहार्य थी। भारत में मुगलों का उत्तराधिकारी बनने का सपना अंग्रेजों ने चकनाचूर कर दिया और शीघ्रता से मराठा शक्ति को समाप्त कर दिया।

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए -

1. अठारहवीं सदी में मराठों की स्थिति।
2. प्रथम आंग्ल - मराठा युद्ध के कारण तथा परिणाम।
3. द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध के कारण तथा परिणाम।
4. बसीन की संधि का महत्व।
5. अंतिम आंग्ल - मराठा युद्ध।
6. मराठा शक्ति की पराजय के कारण।

1.9 सारांश

इस प्रकार आपने अध्ययन किया कि सतरहवीं सदी में छत्रपति शिवाजी द्वारा स्थापित मराठा राज्य को किस प्रकार पेशवा बाजीराव प्रथम ने शक्तिशाली बनाया। धीरे-धीरे सारी शक्तियां पेशवा के हाथ में केन्द्रित हो गईं तथा 1750 ई० के संगोला समझौता के द्वारा मराठा संघ निर्मित हुआ और पेशवा इस संघ का प्रमुख बना। इसी समय भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने साम्राज्य निर्माण करना प्रारंभ किया तथा अफगानों ने उत्तर भारत पर एक बार फिर आक्रमण किया। मराठे भारतीय राजनीति के सबसे प्रबल दावेदार थे। परंतु पानीपत की तीसरी लड़ाई में उनकी हार ने मराठा शक्ति क्षीण कर दी और अंग्रेजों ने अवसर मिलते ही मराठों से 1775 ई० से सर्वोच्चता के लिए संघर्ष प्रारंभ किया। 1775 ई० से 1782 ई० तक हुए प्रथम आंग्ल-मराठा संघर्ष में कोई निर्णय नहीं हुआ, परन्तु अंग्रेजों की स्थिति अच्छी नहीं थी। अमेरिकी स्वाधीनता संग्राम तथा मैसूर के साथ युद्ध के कारण अंग्रेजों को काफी नुकसान हो रहा था। सिंधिया ने अदूरदर्शिता का परिचय दिया और 1782 ई० में सालबई की संधि से युद्ध समाप्त करा दिया। अंग्रेजों के लिए यह अच्छा रहा क्योंकि शांतिकाल का उपयोग उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ाने तथा दुश्मनों को कमजोर करने में किया। मराठे विभाजित रहे। बाजीराव द्वितीय ने 1802 ई० में बसीन की संधि से पुनः अंग्रेजों को अवसर प्रदान किया और द्वितीय आंग्ल-मराठा संघर्ष (1803-06 ई०) में अंग्रेजों ने मराठा शक्ति को विनाश के कगार पर पहुँचा दिया। मराठों ने अपनी गलती सुधारने का एक अंतिम प्रयास किया, परंतु काफी देर हो चुकी थी। हेस्टिंग्स इस समय ब्रिटिश सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध था। इसलिए पिण्डारी समस्या के समाधान के बहाने तृतीय आंग्ल-मराठा संघर्ष प्रारंभ हुआ और शीघ्र ही मराठा शक्ति ने ब्रिटिश शक्ति के सामने सदा के लिए घुटने टेक दिए।

1.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 1.3.2 अठारहवीं सदी में मराठा शक्ति।
2. देखिए 1.4 प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध एवं उपशीर्षक 1.4.1, 1.4.2, 1.4.3।
3. देखिए 1.6 द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध एवं उपशीर्षक 1.6.1, 1.6.2, 1.6.3।
4. देखिए 1.6.1 द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध के कारण।
5. देखिए 1.7 तृतीय अथवा अंतिम आंग्ल-मराठा युद्ध एवं उपशीर्षक 1.7.1, 1.7.2 एवं 1.7.3।
6. देखिए 1.8 मराठों की असफलता के कारण।

1.11 संदर्भ ग्रन्थ

1. सरकार, जे०एन० - शिवाजी।
2. Sen, S.N. – Administrative System of Marathas.
3. Spear, Percival – The Oxford History of Modern India.
4. Chandra, Bipan – History of Modern India.
5. Majumdar, Raychaudhary and K K Datta – An Advanced History of India.

1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ग्रोवर, बी०एल० एवं यशपाल - आधुनिक भारत का इतिहास - एक नवीन मूल्यांकन।
2. Aggarwal, J.C. – Modern Indian History.
3. कल्पना राजाराम - आधुनिक भारत का इतिहास
4. अग्निहोत्री, बी०के० - भारतीय इतिहास
5. Chhabra, G.S. – Advanced Study in the History of Modern India Vol. I & II.

1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. अठारहवीं सदी में आंग्ल - मराठा संघर्ष की चर्चा कीजिए।
2. 1802 से 1818 ई० तक आंग्ल - मराठा संबंध की संक्षिप्त चर्चा कीजिए।
3. “1818 ई० मराठा शक्ति की समाप्ति का वर्ष है। “ इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. मराठा शक्ति की असफलता के कारणों की व्याख्या कीजिए।
5. 1802 ई० की बसीन की संधि के प्रावधान तथा महत्व का मूल्यांकन कीजिए।

बर्मा के साथ अंग्रेजों के संबंध

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 भारत में अंग्रेजों के द्वारा वैदेशिक नीति की शुरूआत
- 2.4 प्रथम आंग्ल - बर्मा युद्ध
 - 2.4.1 प्रथम आंग्ल बर्मा युद्ध के कारण
 - 2.4.2 युद्ध
 - 2.4.3 यान्डबू की संधि
 - 2.4.4 प्रथम आंग्ल - बर्मा युद्ध के परिणाम
- 2.5 द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध
 - 2.5.1 द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के कारण
 - 2.5.2 युद्ध
 - 2.5.3 द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के परिणाम
- 2.6 तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध
 - 2.6.1 तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के कारण
 - 2.6.2 युद्ध
 - 2.6.3 तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के परिणाम
- 2.7 बर्मा नीति की आलोचना
- 2.8 विलय के बाद बर्मा की स्थिति
- 2.9 सारांश
- 2.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 2.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.13 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

भारत में व्यापार के उद्देश्य से आयी ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारतीय राजनीतिक अराजकता एवं शून्यता का लाभ उठाकर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के सपने का साकार करने लगी। अठारहवीं सदी में अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों से संघर्ष के बहाने भारतीय शक्तियों पर नियंत्रण प्रारंभ किया तथा धीरे-धीरे अधिकार करना शुरू किया। 1818 ई० तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध के पश्चात भारत में केवल पश्चिमोत्तर क्षेत्र को छोड़कर अंग्रेजों का अधिकार लगभग पूर्ण हो गया।

इसलिए अंग्रेजों ने भारत के पड़ोसी क्षेत्रों पर अपनी निगाहें लगायीं। बर्मा भारतीय उपमहाद्वीप के पूर्वोत्तर किनारे से लगा क्षेत्र, आर्थिक एवं सामरिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण था। इसलिए अंग्रेजों ने बर्मा पर नियंत्रण का प्रयास प्रारंभ किया और 1885 ई० में भारतीय साम्राज्य के अंतर्गत मिला लिया। भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत बर्मा को भारतीय साम्राज्य से अलग किया गया।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत के पूर्वोत्तर सीमा से सटे पड़ोसी देश बर्मा पर अंग्रेजों की साम्राज्यवादी मनसा से अवगत कराना है, इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे -

1. अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति और भारत के पड़ोसी देश बर्मा से संबंध।
2. बर्मा के साथ संघर्ष प्रारंभ होना।
3. बर्मा का ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य के लिए महत्त्व।
4. बर्मा के साथ अंग्रेजों द्वारा लड़े गये तीन युद्ध।
5. आंग्ल - बर्मा युद्धों के परिणाम।

2.3 भारत में अंग्रेजों द्वारा वैदेशिक नीति की शुरुआत

भारत में अंग्रेजों द्वारा साम्राज्य निर्मित करने की प्रक्रिया के क्रम में भारतीय सीमा पर स्थित राज्यों से उनका संबंध स्वाभाविक था। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में पंजाब एवं सिंध को छोड़कर शेष भारत पर अंग्रेजों का नियंत्रण लगभग स्थापित हो गया। पूर्वोत्तर में भारतीय सीमा पर बर्मा भी साम्राज्य विस्तार में संलग्न था। लार्ड हेस्टिंग्स ने जब ब्रिटिश सर्वोच्चता के सिद्धान्त का अनुसरण अक्षरशः करना प्रारंभ किया तब बर्मा के साथ कड़ा रूख अपनाना पड़ा। साथ ही अपने नव निर्मित भारतीय साम्राज्य को अन्य यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों से बचाने के लिए भी अंग्रेजों ने एक मजबूत एवं आक्रामक विदेश नीति की शुरुआत की।

2.4 प्रथम आंग्ल बर्मा युद्ध (1824 - 1826 ई०)

बर्मा के साथ अंग्रेजों के व्यापारिक संबंध सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों से चले आ रहे थे, परंतु शक्तिशाली बर्मा ने अंग्रेजों को कोई महत्व नहीं दिया। उन्नीसवीं सदी के आरंभ होते ही परिस्थितियाँ बदलीं। अंग्रेज अपनी सफलताओं से महत्वाकांक्षी हो चुके थे तथा बर्मा अपनी

विस्तारवादी नीति का अनुकरण कर रहे थे। अराकान एवं असम पर अधिकार को लेकर विवाद प्रारंभ हुआ और अंग्रेजों का बर्मा के साथ युद्ध शुरू हुआ।

2.4.1 प्रथम आंग्ल - बर्मा युद्ध के कारण

1824 ई० में प्रारंभ प्रथम - आंग्ल बर्मा युद्ध का कारण बर्मा तथा अंग्रेजों के हितों की टकराव था। बर्मा के साथ अंग्रेजों का संबंध काफी साधारण था, परंतु बंगाल पर अधिकार स्थापित होने के पश्चात सीमा पर स्थित बर्मा के साथ पड़ोसी राज्य का संबंध स्थापित हुआ। अंग्रेजों ने अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में बर्मा के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करने के अनेक प्रयत्न किए। अंग्रेजों द्वारा बर्मा भेजे गए दूतों में कैप्टन सिम्स (1795 ई०), कैप्टन कॉक्स (1797 ई०) पुनः कैस्टन सिम्स (1802 ई० तथा 1802 ई०) तथा कैप्टन केनिंग (1809 ई० तथा 1811 ई०) प्रमुख हैं। परंतु शक्तिशाली एवं अहंकारी बर्मा ने इन दूतों को कोई विशेष महत्व नहीं दिया और अंग्रेजों को किसी प्रकार के व्यापारिक या राजनीतिक छूट नहीं दी। बर्मा ने अराकान पर अधिकार के पश्चात पुरानी सीमा स्थापित करने की बात की। परंतु अब अंग्रेज - मराठा संघर्ष के पश्चात अंग्रेजों का मनोबल तथा साम्राज्यवादी मनसा काफी बढ़ चुकी थी। इसलिए दोनों शक्तियों में टकराव अपरिहार्य था।

आंग्ल - बर्मा टकराव का दूसरा कारण सीमा विवाद था। बर्मा में आवा को राजधानी के रूप में विकसित कर अलोमपोरा ने बर्मा को एक साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। उसने इरावदी नदी क्षेत्र, पेगू, तिनासरीम तथा अराकान क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में बर्मा ने असम तथा मणिपुर पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् सीमा विवाद प्रारंभ हुआ। 1818 ई० में बर्मा ने इतिहास का हवाला देते हुए चटगांव तथा ढाका सहित एक बड़े भू-भाग की मांग की जो कभी अराकान के अंग थे। साथ ही बर्मा ने मांग न माने जाने की स्थिति में युद्ध की धमकी दी। इस समय लार्ड हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल था। उसके निर्देशन में वार्ता प्रारंभ हुई। वह युद्ध नहीं चाहता था, क्योंकि इस समय अनेक आंतरिक समस्याएँ उसके समक्ष थीं। परन्तु 1823 ई० में लार्ड एमहर्स्ट के गवर्नर जनरल बनने के उपरांत सीमा विवाद ने युद्ध का रूप धारण कर लिया।

अंग्रेजों और बर्मा के बीच तनाव का कारण सीमा पार से आने वाले शरणार्थियों की समस्या भी थी। अराकान में शोषण एवं दमन से तंग आकर लोग अंग्रेजी साम्राज्य की सीमा में आने लगे। 1794 ई० में शरणार्थियों का पीछा करते हुए लगभग 5000 बर्मी सैनिकों ने भारतीय सीमा में प्रवेश कर अंग्रेजों से उन्हें वापस लौटाने की मांग की। इस समय अंग्रेज भारत से उलझे हुए थे इसलिए उन्होंने झगड़ा टालते हुए शरणार्थियों को वापस लौटा दिया। परंतु यह समस्या जारी रही और उन्नीसवीं सदी में तनाव बढ़ता गया और युद्ध का कारण भी बनी।

भारत में लार्ड एमहर्स्ट का गवर्नर जनरल बनकर भारत आना बर्मा युद्ध का अवसर बना। एमहर्स्ट ने भारत पहुंचने से पहले ही घोषणा की थी कि बर्मा के साथ शांतिपूर्ण नीति में बदलाव की जरूरत है। इस परिस्थिति में बर्मा दरबार की अदूरदर्शिता, अज्ञानता एवं उदण्डता ने आग में घी का काम किया। अराकान, मणिपुर, असम आदि पर अधिकार के कारण बर्मा अपने आपको काफी शक्तिशाली मान रहा था। बर्मा के सेनापति महाबुंदेला का अनुमान कि वह अंग्रेजों को भी पराजित कर सकता है। वह बर्मियों की तुलना शेर तथा अंग्रेजों की तुलना गीदड़ से करता था। सामान्य निवासियों की राय भी ऐसी ही थी। दूसरी तरफ अंग्रेज भारत में साम्राज्य स्थापित करने के पश्चात पूर्वोत्तर में भी साम्राज्य विस्तार को इच्छुक थे। पूर्वोत्तर में चीनी विस्तार को रोकने के लिए भी बर्मा पर नियंत्रण आवश्यक था। एमहर्स्ट घोर साम्राज्यवादी था। अतः अब बर्मा तथा अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बीच संघर्ष अपरिहार्य हो गया।

शाहपुरी द्वीप को लेकर प्रारंभ हुआ विवाद भी युद्ध का कारण बना। अंग्रेजों ने बर्मी चुंगी केन्द्र से बचने के लिए टेक नाफ दर्रे तथा शाहपुरी द्वीप पर अधिकार कर लिया था। इस द्वीप पर अंग्रेजों ने अपनी पुलिस चौकी बना ली। 1823 ई० में बर्मा ने अंग्रेजों से शाहपुरी द्वीप खाली करने की मांग की, जिसे अंग्रेजों ने अस्वीकार कर दिया। सितम्बर 1823 में बर्मी सेना ने शाहपुरी पर अधिकार करते हुए ढाका तथा मुर्शिदाबाद पर भी आक्रमण की धमकी दे डाली। इस प्रकार तनाव बढ़ता गया एवं संबंध खराब होते गए।

कछार में उत्पन्न राजनीतिक परिस्थिति ने आंग्ल - बर्मा युद्ध में तात्कालिक कारण की भूमिका निभायी। कछार का सामरिक महत्व काफी अधिक था। पूर्वोत्तर क्षेत्र से बंगाल आने का सबसे सरल तथा सुरक्षित मार्ग कछार होकर गुजरता था। कछार के शासक गोविन्द चंद्र को आंतरिक विद्रोह के कारण राज्य छोड़कर भागना पड़ा। उसने अंग्रेजों से सहायता मांगी परंतु उसे निराश होना पड़ा। उसने बर्मा से सहायता मांगी और बर्मी सेना ने कछार में हस्तक्षेप किया और गोविन्द चंद्र को पुनः कछार का शासक बना लिया। कछार में बढ़ते बर्मी प्रभाव को एमहर्स्ट ने बंगाल तथा सिलहट दोनों के लिए खतरनाक माना। असम के बारे में भी एमहर्स्ट की यही राय थी। वहाँ से ब्रह्मपुत्र नदी के सहारे आसानी से कम समय में बंगाल पर आक्रमण हो सकता था। इसलिए एमहर्स्ट ने गोविन्द चन्द्र को अपना संरक्षण प्रदान करते हुए अपनी एक सेना कछार भेज दी। गोविन्द चन्द्र ने अपना आंतरिक शासन अंग्रेजों के हाथ में दे दिया तथा 10 हजार रु० वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार अंग्रेजों ने जयन्तिया के पहाड़ी राज्य पर अपना अधिकार स्थापित किया। बर्मा ने अपनी एक सेना कछार भेजी और दूसरी टुकड़ी को शाहपुरी द्वीप पर। एमहर्स्ट इस अवसर की तलाश में था। उसने बर्मा को आक्रांता घोषित करते हुए 24 फरवरी 1824 ई० को बर्मा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

2.4.2 युद्ध

इस प्रकार उपरोक्त कारणों से प्रथम आंग्ल - बर्मा युद्ध प्रारंभ हो गया। बर्मा सैनिक दृष्टि से अंग्रेजी सेना से कमजोर था। परंतु बर्मा की भौगोलिक स्थिति तथा बर्मी सैनिकों की रणनीति बर्मा के पक्ष में थी। बर्मा घने जंगल, दलदल, पहाड़ियों तथा इरावदी, सिवांता एवं सालवीन नदी घाटियों के कारण बाह्य आक्रमण से प्राकृतिक रूप से सुरक्षित था। अंग्रेजों के लिए ये बाधाएं थीं। अंग्रेजों ने दो तरफ से आक्रमण की योजना बनाई। एक सेना उत्तर - पूर्व से स्थल मार्ग से भेजी गई जिसका उद्देश्य पूर्वोत्तर के उन प्रदेशों पर प्रभुत्व स्थापित करना था, जिस पर बर्मा ने निगत वर्षों में अधिकार किया था। दूसरी सेना समुद्री मार्ग से रंगून पर अधिकार करने के लिए भेजी गई। इस नव सेना में लगभग **11000** सैनिक थे जिनका नेतृत्व आर्किबॉल्ड कैम्पबेल कर रहा था तथा जहाजों का नेतृत्व कैप्टन मैरियट के हाथ में था। कई परेशानियों के बावजूद कैम्पबेल ने मई **1824 ई०** में रंगून पर अधिकार कर लिया। बर्मी सेनापति महाबुंदेला भी चटगांव के समीप रामू नामक स्थान पर पराजित हुआ। रंगून से पीछे हटते हुए बर्मी सेना आपूर्ति एवं राशन भी ले गयी। इसी समय वर्षा प्रारंभ हो गई जिसने अंग्रेजी सेना की गति पर अवरोध लगा दिया तथा सैनिकों में बीमारी फैलने लगी। इसलिए युद्ध की गति धीमी हो गई।

बर्मा के राजा ने सेनापति महाबुंदेला को दक्षिण बुलाया जो **60000** सैनिकों के साथ रंगून के समीप पहुंचा। परंतु दिसम्बर **1824 ई०** में पराजित हो गया। महाबुंदेला को पीछे हटना पड़ा। उसने दोनाबेब में मोर्चा संभाला जहां अप्रैल **1825 ई०** तक अंग्रेजों को रोका। परंतु अचानक गोली लगने से उसकी मृत्यु हो गई और बर्मी सेना ने पीछे हटना प्रारंभ कर दिया। बर्मा के लिए बुंदेला की मृत्यु एक अपूरणीय क्षति थी। कैम्पबेल ने **25** अप्रैल को निचला बर्मा या दक्षिणी बर्मा की राजधानी प्रोम पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजी सेना ने वर्षा का मौसम यहीं बिताया। अंग्रेजों ने बर्मा के साथ वार्ता प्रारंभ की परंतु युद्ध भी चलता रहा। अंग्रेजी सेना बर्मा की राजधानी आवा से केवल **60** मील दूर यांडबू तक पहुंच गई। बर्मियों ने अब संधि का प्रस्ताव भेजा। बर्मा के शासक पंगियोदया तथा ब्रिटिश भारतीय सरकार के बीच **26** फरवरी, **1826 ई०** को याण्डबू की संधि हो गई। इस प्रकार प्रथम आंग्ल - बर्मा युद्ध समाप्त हुआ।

2.4.3 याण्डबू की संधि, 26 फरवरी 1826 ई०

इस प्रकार आपने अध्ययन किया कि अंग्रेजों की साम्राज्यवादी तथा बर्मा की विस्तारवादी नीति के कारण तनाव बढ़ा जिसने **1824 ई०** में युद्ध का रूप धारण कर लिया। युद्ध का परिणाम बर्मा के आशा के विपरीत रहा और **1826 ई०** में याण्डबू की संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इस संधि के प्रावधान या शर्तें निम्नांकित थी -

1. अंग्रेजों ने युद्ध में हुई क्षति की पूर्ति के लिए बर्मा पर एक करोड़ रुपये थोप दिये, जिसे बर्मा ने किस्तों में देने का वचन दिया।
2. अंग्रेजों ने बर्मा से अराकान, तिनसरीम, येह, तवाय तथा मर्गी का क्षेत्र ले लिया।
3. बर्मा ने असम, कछार तथा जयन्तिया में हस्तक्षेप नहीं करने का वचन दिया।
4. मणिपुर को स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिया गया और बर्मा ने यह स्वीकार किया कि मणिपुर से पलायन कर गया शासक गंभीर सिंह के आने पर उसे राजा के रूप में स्वीकार किया जाएगा।
5. बर्मा तथा भारत एक दूसरे के साथ दूतों का आदान-प्रदान करेंगे।
6. दोनों के मध्य एक व्यापारिक संधि की जाएगी, जो दोनों के लिए लाभप्रद होगी।
7. दोनों ने एक दूसरे का मित्र होने का वायदा किया।
8. ब्रिटिश रेजिडेण्ट आवा में नियुक्त किया गया। इस प्रकार यह संधि स्पष्टतः अंग्रेजों के पक्ष में थी।

2.4.4 प्रथम आंग्ल - बर्मा युद्ध के परिणाम

इस प्रकार प्रथम आंग्ल - बर्मा युद्ध याण्डबू की संधि से समाप्त हुआ। इस युद्ध के परिणामस्वरूप ब्रिटिश रेजिडेण्ट मेजर बर्नी की आवा में नियुक्ति हुई। इस युद्ध के कारण अंग्रेजों को बर्मा में सीमित अर्थों में लाभ प्राप्त हुए। राजदरबार में हस्तक्षेप करना शुरू किया। व्यापारिक संधि के द्वारा अनेक अर्थिक लाभ सुरक्षित किए। बर्मा से पूर्वोत्तर क्षेत्र के अधिकृत सभी क्षेत्र अंग्रेजों ने अपने भारतीय साम्राज्य में मिला लिया। जंगल तथा पहाड़ी क्षेत्र की आर्थिक एवं सामरिक महत्व अंग्रेजों की समझ में आ गई और भविष्य में इस क्षेत्र पर पूर्णतः अधिकार की योजना बनानी प्रारंभ कर दी।

2.5 द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध

प्रथम आंग्ल बर्मा युद्ध की मिश्रित सफलता के पश्चात अंग्रेज काफी उत्साहित थे। 1837 ई० में बर्मा के नये शासक थारावादी की नीति तथा सिंध - पंजाब विजय से उत्साहित अंग्रेजों की नीति के कारण शीघ्र ही बर्मा में हितों का टकराव प्रारंभ हुआ और डलहौजी के शासनकाल में द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध प्रारंभ हो गया।

2.5.1 द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के कारण

याण्डबू की संधि द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध का मूल कारण साबित हुई। इस संधि से अंग्रेजों को बर्मा में बढ़त मिली, परंतु बर्मा पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित नहीं हुआ। इसलिए अंग्रेज इस संधि से बढ़कर कुछ और अधिक प्राप्त करना चाहते थे। दूसरी तरफ बर्मा राज दरबार तथा जनता दोनों ही इस संधि से खुश नहीं थे। बर्मा के नये शासक थारावादी (1837 - 1845 ई०) ने बर्मी परम्परा का हवाला देते हुए इस संधि को अस्वीकार कर दिया। बर्मी परम्परा के अनुसार नया राजा पुरानी संधियों तथा समझौतों को स्वीकृति प्रदान करता था। पुराने समझौते स्वतः लागू नहीं माने जाते थे क्योंकि यह माना जाता था पूर्व शासक द्वारा स्वीकृत सभी संधियां या समझौते उसके साथ ही समाप्त हो जाती थी। इस प्रकार यह संधि तनाव का कारण बनी। दूसरी ओर अंग्रेज व्यापारी हमेशा अपने उत्पीड़न तथा शोषण की बात कर रहे थे, जबकि बर्मी अधिकारी वर्ग अंग्रेज व्यापारियों के कर - चोरी तथा सामान्य जनता उनके अहंकार से आहत थी। बर्मा के शासक थारावादी ने ब्रिटिश रेजिडेण्ट को अस्वीकृत कर दिया। इस प्रकार तनाव बढ़ रहा था।

आंग्ल - बर्मा युद्ध का दूसरा कारण दक्षिण - पूर्व एशिया में अमेरिका और फ्रांस का बढ़ता प्रभाव और उससे उत्पन्न ब्रिटिश आशंका थी। 1840 के दशक में एक बार पुनः अमेरिका तथा फ्रांस की नजर दक्षिण - पूर्व एशिया तथा सुदूर पूर्व पर पड़ी। अंग्रेजों ने चीन में अपना प्रभाव बढ़ाना प्रारंभ कर दिया था। बर्मा समुद्र से जुड़ा हुआ था तथा चीन एवं भारतीय साम्राज्य के लिए खतरा बन सकता था। अंग्रेजों को आशंका होने लगी कि बर्मा पर अन्य यूरोपीय अथवा अमेरिकी प्रभाव का बढ़ना ब्रिटिश हित के विपरीत होगा। साथ ही प्रथम आंग्ल - बर्मा युद्ध और याण्डबू की संधि के पश्चात बर्मा में बसने वाले अंग्रेज व्यापारियों की संख्या काफी थी तथा पूंजी निवेश की मात्रा बढ़ गयी थी। इसलिए ब्रिटिश हितों को सुरक्षित रखने के लिए भी बर्मा पर नियंत्रण आवश्यक था।

ऐसी परिस्थिति में डलहौजी का भारत में गवर्नर जनरल बनकर आना युद्ध प्रारंभ करने का अवसर बना। डलहौजी घोर साम्राज्यवादी था। उसने भारत में साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया को पूर्ण किया और उसके बाद पड़ोसी देश बर्मा पर नजर डाली। बर्मा और अंग्रेजों के संबंध 1837 ई० के बाद दिन - प्रतिदिन खराब हो रहे थे। विवाद का कारण आर्थिक था। बर्मा से व्यापार में जुड़े व्यापारियों की शिकायत थी कि बर्मी अधिकारी निर्धारित कर के अतिरिक्त कर लेते हैं तथा नजराना की मांग करते हैं। रंगून से अंग्रेज व्यापारियों ने डलहौजी को एक शिकायती तथा प्रार्थना पत्र लिखा कि उन्होंने काफी लम्बे समय से बर्मा - सरकार तथा अधिकारियों का अत्याचार एवं शोषण बर्दाश्त किया है और अब उससे उन्हें बचाने का दायित्व गवर्नर जनरल का है। इस पत्र के प्राप्त होते ही डलहौजी ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और अंग्रेज नागरिकों की सुरक्षा की वचनबद्धता को दोहराया। अंग्रेजों ने शैफर्ड एवं लुइस कम्पनी के बकाया राशि की मांग बर्मा

दरबार से की। साथ ही डलहौजी ने नौ-सेना प्रमुख लैम्बर्ट को आदेश दिया कि वह अपने समस्त जहाजों तथा उपलब्ध समस्त युद्ध पोतों को लेकर रंगून के लिए प्रस्थान करे। लैम्बर्ट ने रंगून पहुँचकर बर्मा के गवर्नर पर अत्याचार का आरोप लगाते हुए बर्मा के राजा तथा रंगून के गवर्नर को पत्र लिखा। पत्र में उत्तर के लिए पांच सप्ताह का समय दिया गया। दोनों ने इस प्रश्न का उत्तर समय से पूर्व दे दिया और शिकायतों के निवारण का आश्वासन दिया। इसी समय रंगून का गवर्नर बदल गया जिससे मिलने एक दूत - मण्डल गया। परन्तु मुलाकात न हो सकी। अंग्रेजों ने इसे अपने अपना माना। उन्होंने गवर्नर से क्षमा मांगने तथा बढ़ी हुई क्षतिपूर्ति की राशि तुरंत देने की मांग की।

इसी बीच अंग्रेजों ने बर्मा के शाही जहाज को अधिकृत कर लिया। डलहौजी ने रंगून के गवर्नर को हटाने, क्षमा मांगने तथा अप्रैल 1852 ई० तक 100000 पौंड की राशि देने की मांग की। साथ ही युद्ध की पूरी तैयारी कर सेनापति जनरल गॉडविन को सेना के साथ बर्मा भेज दिया। बर्मी दरबार किं कर्तव्य विमूढ़ हो गया। अप्रैल 1852 ई० में गॉडविन ने पूरी ताकत से युद्ध प्रारंभ कर दिया।

2.5.2 द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध 1852 ई०

इस प्रकार आपने देखा कि विभिन्न राजनीतिक, सामरिक, आर्थिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध प्रारंभ हुआ। जनरल गॉडविन तथा एडमिरल आस्टेन ने युद्ध प्रारंभ करते हुए मर्तबान पर अधिकार कर लिया। पगोड़ा को ध्वस्त कर दिया गया। इरावदी डेल्टा के पश्चिम - उत्तर में स्थित बसीन पर अधिकार कर लिया गया। सितम्बर में डलहौजी रंगून पहुंच गया। प्रोम पर अंग्रेजों ने अक्टूबर तथा पेगू पर नवम्बर में अधिकार कर लिया। इस प्रकार अंग्रेजों ने शीघ्रता से निचले या दक्षिणी बर्मा पर अधिकार कर लिया। डलहौजी बर्मा पर उस समय अधिकार नहीं करना चाहता था। इसकी मनसा थी कि बर्मा औपचारिक रूप से संधि कर निचले बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य के समर्पित कर दे। परंतु बर्मा ने ऐसा करने से अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप डलहौजी ने एक पक्षीय घोषणा करते हुए 10 दिसम्बर 1852 को पेगू अर्थात् निचले बर्मा को ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया और युद्ध समाप्त घोषित कर दिया गया। इस प्रकार द्वितीय आंग्ल बर्मा युद्ध केवल आठ महीने में समाप्त हो गया।

2.5.3 द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के परिणाम

द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के परिणामस्वरूप पेगू अथवा निचला बर्मा से ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में मिला लिया गया। इस विलय के पश्चात ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य की सीमा सालवीन नदी के किनारे तक विस्तृत हो गई। इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण बंगाल की खाड़ी तथा पूर्वी समुद्र तट पर अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो गया। शेष बचा बर्मी क्षेत्र समुद्र मार्ग से

वंचित हो गया। नव अधिकृत राज्य का कमिश्नर मेजर आर्थर फायर को नियुक्त किया गया। नव नियुक्त कमिश्नर ने कैप्टन फीच की सहायता से प्रशासनिक सुधार प्रारंभ किया। इस प्रकार डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति सफल रही और भविष्य में सम्पूर्ण बर्मा पर अधिकार करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस युद्ध ने स्पष्ट कर दिया कि बर्मा पर भविष्य में अंग्रेज ही अधिकार करेंगे।

2.6 तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध

अभी तक आपने अध्ययन किया कि 1852 ई० निचले बर्मा पर अंग्रेजों के अधिकार के पश्चात दोनों के संबंध सुधरने लगे और ऐसा लग रहा था कि ब्रिटिश भारतीय प्रशासन तथा बर्मा के संबंध मधुर रहेंगे। परंतु अंग्रेजों की लालची निगाहें बर्मा पर थी जो 1885 ई० आते - आते पुनः युद्ध के कगार पर पहुंच गई और एक निर्णायक युद्ध हुआ जिसमें उद्देश्य था सम्पूर्ण बर्मा पर अधिकार।

2.6.1 तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के कारण

द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के पश्चात अंग्रेजों की मनसा की तात्कालिक पूर्ति तो हो गई, लेकिन दीर्घकाल तक उनकी इच्छा शांत न रह सकी। धीरे - धीरे बर्मा एवं भारत के बीच अनेक संधियां हुईं। 1862 ई० में हुई एक संधि के अनुसार अंग्रेजों को बर्मा सीमा में बसने तथा बर्मा होकर चीन से व्यापार की छूट मिल गई। इसी प्रकार, 1867 ई० में बर्मा ने अंग्रेजों के पक्ष में लकड़ी, तेल तथा कीमती पत्थरों के व्यापार का एकाधिकार छोड़ दिया। बर्मा में ब्रिटिश रेजिडेण्ट स्थायी हो गया था जिसे ब्रिटिश नागरिकों की सुरक्षा का दायित्व मिल गया था। धीरे - धीरे दबाव डालकर अंग्रेजों ने लगभग कर मुक्त व्यापार तथा जल - स्थल मार्गों के उपयोग का अधिकार प्राप्त कर लिया। अंग्रेजों की मनसा सम्पूर्ण बर्मा पर अधिकार की थी। इसलिए वे इन सुविधाओं से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने असंतोष व्यक्त करना शुरू किया जो तनाव का कारण बना।

दूसरी तरफ बर्मा राजदरबार भी अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं था। राज परिवार, अधिकारी तथा सामान्य जन में अंग्रेजों के प्रति घृणा का भाव मौजूद था। बर्मा अपनी हार का बदला लेना चाहता था। अंग्रेजों के विविध आर्थिक - राजनीतिक अधिकारों को लेकर अंग्रेजों तथा बर्मा में विवाद प्रारंभ हुआ और आए दिन झड़प होने लगी। राज दरबार पुरानी परम्पराओं को भी बनाए रखना चाहता था। एक परम्परा के अनुसार राजा से मिलने आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को जूते बाहर ही उतारने पड़ते थे तथा राजा के समक्ष झूकना पड़ता था। अंग्रेजों का यह मंजूर नहीं था। इसलिए दोनों में तनाव बढ़ता गया।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति के कारण भी बर्मा और अंग्रेजों के बीच तनाव बढ़ा। अन्य साम्राज्यवादी यूरोपीय देश भी बर्मा में अपना व्यापार तथा प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। बर्मा का राजा भी ऐसा

चाहता था। 1873 ई० में बर्मा ने फ्रांस से एक संधि के द्वारा बर्मी सैनिकों के प्रशिक्षण का प्रस्ताव रखा। अंग्रेजों के विरोध के कारण इस प्रस्ताव को छोड़ना पड़ा। इटली ने बर्मा को हथियार देने के लिए समझौता किया। परंतु इसे भी छोड़ना पड़ा। मध्य पूर्व तथा रूस के साथ भी बर्मा ने संबंध स्थापित करने का प्रयास किया। बर्मा के राजा मिन्डन ने इंग्लैण्ड से समानता के आधार पर राजनीतिक संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया, परंतु असफल रहा। 1878 ई० तक बर्मा एवं भारतीय साम्राज्य के बीच संबंध सामान्य रहे। इसी वर्ष मिन्डन की मृत्यु हो गई और भारतीय परिस्थितियां भी परिवर्तित हो गईं।

बर्मा का शासक बना थीबा, जो काफी उत्साही एवं साहसी था। भारत में गवर्नर जनरल लिटन ने अग्रगामी साम्राज्यवादी नीति प्रारंभ कर रखी थी। इसलिए अंग्रेजों ने बर्मा के नये शासक के समक्ष नयी मांगे रखीं। थीबा ने राज दरबार में जूते उतारकर प्रवेश करने की परम्परा को समाप्त करने की मांग को छोड़कर सभी सुविधाएँ प्रदान कर दीं। 1879 ई० में थीबा पर राज दरबार के कुछ व्यक्तियों की हत्या के आरोप लगे। लिटन के निर्देश पर ब्रिटिश रेजिडेण्ट ने राजा को विरोध प्रदर्शित करते हुए एक पत्र लिखा। बर्मा ने इस पत्र को महत्व नहीं दिया। बर्मा स्थित अंग्रेजों ने मांग की कि सम्पूर्ण बर्मा पर अधिकार कर लिया जाय। ब्रिटिश भारतीय प्रशासन ने यह मांग स्वीकार नहीं की, परंतु बर्मा एवं अंग्रेजों के संबंध खराब होने लगे। ब्रिटिश राजदूत ने मांडले छोड़ दिया।

इसी समय लिटन अफगानिस्तान से असफल हो चुका था। इसलिए प्रतिष्ठा बचाने के लिए बर्मा में हस्तक्षेप करना चाहता था। नए ब्रिटिश प्रधान मंत्री ग्लेडस्टन ने इसकी अनुमति नहीं दी। अंग्रेज व्यापारी बर्मा दरबार के व्यापारिक नीति से नाखुश थे। बर्मा के सभी एकाधिकार खत्म करने की मांग कर रहे थे। 1882 ई० में बर्मा तथा ब्रिटिश भारतीय प्रशासन के बीच समझौता हुआ, जिससे बर्मा के सम्पूर्ण व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिए गए। इस संधि ने भी अंग्रेजों को संतुष्ट नहीं किया जबकि राजा का राजा नाराज था।

थीबा की वैदेशिक नीति से अंग्रेज खुश नहीं थे। वह अन्य यूरोपीय शक्तियों से संबंध स्थापित करना चाहता था। 1883 ई० में उसने एक दूत मण्डल फ्रांस भेजा। अंग्रेजों ने स्पष्ट कर दिया कि यह मिशन केवल व्यापारिक होना चाहिए। 1885 ई० में हुई विशुद्ध व्यापारिक संधि को भी अंग्रेजों ने शंका की दृष्टि से देखना शुरू कर दिया। एक अफवाह के अनुसार बर्मा ने फ्रांस को रेल निर्माण, हीरे के खनन का अधिकार आदि प्रदान कर दिया था। अंग्रेज बढ़ते फ्रांसीसी प्रभाव से चिंतित थे तथा इसे अपने व्यापारिक एकाधिकार में हस्तक्षेप माना। इसलिए व्यापारी वर्ग ने ब्रिटिश प्रशासन पर बर्मा को जीतने का दबाव बढ़ाना प्रारंभ किया। लंदन के चैम्बर ऑफ कॉमर्स ने बर्मा पर अधिकार करने या कठपूतली स्वरूप शासक पदासीन करने की मांग की। यहां से इंग्लैण्ड की बर्मा नीति में परिवर्तन प्रारंभ हुआ।

इस समय भारतीय गवर्नर जनरल ने फ्रांसीसी प्रभुत्व को रोकने की ठान ली और इसके लिए सम्पूर्ण बर्मा पर अधिकार करना आवश्यक था। 1885 ई० आते - आते अंग्रेजों और बर्मा के संबंध काफी खराब हो चुके थे। दोनों ही पक्ष युद्ध चाह रहे थे तथा बहाने की तलाश में थे। बर्मा - मणिपुर सीमा विवाद ने यह अवसर प्रदान किया। सीमांकन आयोग द्वारा 1881 ई० से निर्धारित सीमा को बर्मा ने मानने से इनकार कर दिया तथा स्थापित पत्थरों को उखाड़ने की धमकी दे डाली। बर्मा के इस संभावित आक्रमण के विरुद्ध अंग्रेजों ने मणिपुर को समर्थन देने का वायदा किया। बर्मा ने ऐसा कुछ भी नहीं किया, इसलिए लग रहा था कि युद्ध टल गया। परंतु बर्मा में स्थित बम्बई-बर्मा व्यापारिक कॉरपोरेशन का विवाद प्रारंभ हो गया। यह कम्पनी जंगल के ठेके का काम करती थी। बर्मा के अधिकारियों ने इस कम्पनी पर 10 लाख रु० कर चोरी तथा बेइमानी का आरोप लगाया। आरोप सिद्ध होने पर बर्मा सरकार ने ठेका रद्द न करके केवल 23,59,066.00 रु० का जुर्माना लगाया जो चार किशतों में दिया जाना था। कम्पनी ने भारत - सरकार से रक्षा की मांग करते हुए हस्तक्षेप का आग्रह किया। भारत सरकार ने हस्तक्षेप करते हुए अंग्रेज कमिश्नर को भेजा। उसने बर्मा दरबार से इस जुर्माने को रद्द करने तथा मामला भारत के गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि को सौंपने की मांग की। बर्मा दरबार द्वारा इस प्रस्ताव को अस्वीकृत करने पर 22 अक्टूबर 1885 ई० को निम्नलिखित मांगें रखी गयीं -

1. बर्मा - दरबार एक अंग्रेज प्रतिनिधि को अपने दरबार में आमंत्रित करे तथा उसकी सलाह से विवाद का समाधान करे।
2. तत्काल कम्पनी के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाय।
3. भविष्य में एक अंग्रेज प्रतिनिधि हमेशा दरबार में रहेगा।
4. बर्मा होते हुए चीन से व्यापार पूरी तरह अंग्रेजों के द्वारा किया जाय।
5. वैदेशिक नीति का निर्धारण भारतीय गवर्नर जनरल की राय से की जाय।

उपरोक्त मांगों को मानने की सीमा 10 नवम्बर तय की गयी। बर्मा दरबार से 9 नवम्बर को उसका उत्तर मिला जिसमें कहा गया कि राज दरबार कम्पनी की प्रार्थना पर विचार करेगा। साथ ही बर्मा ने तीसरी एवं चौथी मांगें स्वीकार कर ली तथा पांचवी के बारे में संबंधित देशों से राय लेने की बात कही गयी।

दूसरी तरफ गवर्नर जनरल डफरिन ने युद्ध की तैयारी प्रारंभ कर दी थी। उसने बर्मा पर मांगें नहीं मानने का आरोप लगाते हुए 9 नवम्बर 1885 ई० को ही युद्ध की घोषणा कर दी। उधर बर्मा के शासक थीबा ने भी युद्ध प्रारंभ कर दिया।

2.6.2 तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध की लड़ाईयां

इस प्रकार आपने अध्ययन किया कि 1852 ई० के बाद अंग्रेजों की अनुचित मांगों के मानने के बावजूद भी बर्मा पर 1885 ई० में दबाव बनाकर उसकी आंतरिक एवं विदेश नीति पर नियंत्रण का प्रयास अंग्रेजों ने किया और असफल होने पर युद्ध की घोषणा कर दी। शीघ्र ही अंग्रेजों ने मॉडले पर अधिकार कर लिया तथा बर्मा के शासक थीबा में आत्मसमर्पण कर दिया। अपने ही महल में बन्दी के रूप में रहा, जिसे बाद में महाराष्ट्र के रत्नागिरी नामक स्थान पर राजनीतिक कैदी के रूप में रखा गया। 01 जनवरी 1886 ई० उपरि बर्मा को भी ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी गयी। इस प्रकार सम्पूर्ण बर्मा पर अंग्रेजों का अधिकार स्थापित हो गया। इस प्रकार यह निर्णायक युद्ध दो महीने के अंदर ही समाप्त हो गया।

2.6.3 तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के परिणाम

तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध जो 1885 ई० में लड़ा गया काफी महत्वपूर्ण साबित हुआ। उपरि बर्मा को अधिकृत कर लिया गया जिससे सम्पूर्ण बर्मा पर अंग्रेजों का एकाधिकार स्थापित हो गया। अंग्रेजों ने रंगून को बर्मा की नई राजधानी बनाई। इस समय ब्रिटिश साम्राज्य की सीमा चीन तक विस्तृत हो गई। बर्मा को भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य में एक राज्य का दर्जा दिया गया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण पूर्वी भारतीय समुद्र तट तथा बंगाल की खाड़ी पर अंग्रेजों का अधिकार पूर्ण हो गया।

2.7 बर्मा नीति की आलोचना

इस प्रकार उपरोक्त विवरण में आपने अध्ययन किया कि अंग्रेजों ने धीरे - धीरे सम्पूर्ण बर्मा पर अधिकार कर लिया। बर्मा के साथ हुए तीन युद्धों में व्यय की गई राशि भारतीय राजस्व से दी गई जिससे भारत का शोषण बढ़ा। बर्मा का भारतीय साम्राज्य में विलय अंग्रेजों की लालची प्रवृत्ति तथा नंगा साम्राज्यवाद का जीता जागता उदाहरण है। अंग्रेजों ने फ्रांसीसी प्रभुत्व का बहाना बनाकर अपने आर्थिक लाभ के लिए बर्मा पर अधिकार किया। पी०ई० रावर्ट्स का कहना कि अंग्रेजों ने पूरब के इस 'अर्द्ध - सम्य' क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, ब्रिटिश उपनिवेशवाद के "सम्य बनाने के मिशन" का उदाहरण है।

2.8 विलय के पश्चात बर्मा की स्थिति

अंग्रेजों ने 1886 ई० में बर्मा पर अधिकार करने के पश्चात उसे ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में मिला लिया और एक प्रांत का दर्जा दिया। लगभग एक दशक तक बर्मा में गुरिल्ला युद्ध तथा विद्रोह चलते रहे। सीमा पर स्थित जनजातियों जैसे शान तथा शिन का विरोध काफी समय तक चला।

परंतु धीरे - धीरे अंग्रेजों ने अपनी लोकप्रिय नीतियों के कारण बर्मा में शांति स्थापित कर ली। 1935 ई० के भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत बर्मा को एक अलग प्रांत बनाने की घोषणा की गई। इस प्रावधान के अंतर्गत बर्मा को 1 अप्रैल 1937 ई० को भारत से अलग करते हुए अलग औपनिवेशिक राज्य की श्रेणी में रखा गया। इस प्रकार बर्मा की इंग्लैण्ड प्रत्यक्ष प्रशासन तथा शोषण प्रारंभ हुआ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए -

1. प्रथम आंग्ल - बर्मा युद्ध के कारण तथा परिणाम।
2. द्वितीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के कारण तथा परिणाम।
3. तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के कारण तथा परिणाम।
4. अंग्रेजों द्वारा बर्मा पर अधिकार।

2.9 सारांश

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में अंग्रेजों द्वारा उन्नीसवीं सदी में औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापना के क्रम में उनका संबंध बर्मा के साथ प्रारंभ हुआ। यह संबंध विशुद्ध आर्थिक तथा व्यापारिक था। परंतु अंग्रेजों की नजर में आर्थिक लाभ अधिकतम करने के लिए बर्मा पर अधिकार करना जरूरी था। साथ ही भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से भी बर्मा महत्वपूर्ण था। भारत के गवर्नर जनरल एमहर्स्ट, डलहौजी तथा डफरिन के शासनकाल में बर्मा के साथ युद्ध हुआ और अन्ततः 1886 ई० में बर्मा के विलय की घोषणा कर दी गयी। अंग्रेजों ने अपनी इस औपनिवेशिक विस्तार को मानवीय आधार पर उचित ठहराने का प्रयास किया। 1935 ई० तक बर्मा भारत का अंग रहा जब इसे अलग किया गया।

2.10 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 2.4 प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध तथा इसके उप शीर्षक 2.4.1, 2.4.2, 2.4.3, 2.4.4।
2. देखिए 2.5 द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध तथा इसके उप शीर्षक 2.5.1, 2.5.2, 2.5.3।
3. देखिए 2.6 तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध तथा इसके उप शीर्षक 2.6.1, 2.6.2, 2.6.3।

4. देखिए सम्पूर्ण इकाई।

2.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ब्रिटिश - बर्मा गजेटियर खण्ड 1 एवं 2
2. Fytche, A. – Burma, Past and Present 2 Vols.
3. Niobert, J. – Burma Under British Rule and before.
4. Harvey, G.E – History of Burma.
5. Andrew, W.P. – India and Her Neighbours.

2.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Majumdar, Raychaudhary and Datta – An Advanced History of India.
2. शर्मा, एलपी - आधुनिक भारत।
3. Aggarwal, J.C. – Modern Indian History.
4. Chhabra, G-S – Advanced Study in the History of Modern India, Vol. 2

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय साम्राज्य में बर्मा के विलय की चर्चा कीजिए।
2. तृतीय आंग्ल - बर्मा युद्ध के कारणों तथा परिणाम की व्याख्या कीजिए।

सिक्खों के साथ अंग्रेजों के संबंध

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 सिक्खों का उत्कर्ष
- 3.4 रणजीत सिंह का उत्थान एवं उपलब्धियां
 - 3.4.1 रणजीत सिंह का प्रशासन
- 3.5 रणजीत सिंह एवं अंग्रेजों के संबंध
 - 3.5.1 रणजीत सिंह का मूल्यांकन
- 3.6 रणजीत सिंह के बाद सिक्ख राजनीति एवं अंग्रेजों का हस्तक्षेप
- 3.7 प्रथम आंग्ल - सिक्ख युद्ध
 - 3.7.1 प्रथम आंग्ल - सिक्ख युद्ध के कारण
 - 3.7.2 युद्ध
 - 3.7.3 प्रथम आंग्ल - सिक्ख युद्ध के परिणाम
- 3.8 द्वितीय आंग्ल - सिक्ख युद्ध एवं पंजाब का विलय
 - 3.8 द्वितीय आंग्ल - सिक्ख युद्ध के कारण
 - 3.8 युद्ध
 - 3.8 द्वितीय आंग्ल - सिक्ख युद्ध के परिणाम
- 3.9 पंजाब का विलय
- 3.10 सारांश
- 3.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 3.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 3.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.14 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

मध्यकाल में भक्ति आंदोलन के दौरान सिक्ख सम्प्रदाय की स्थापना गुरु नानक के द्वारा हुई थी। परवर्ती मुगल शासकों की अदूरदर्शी धार्मिक नीति के कारण यह सम्प्रदाय धीरे-धीरे सैनिक एवं राजनीतिक स्वरूप धारण कर लिया। अठारहवीं सदी में मुगल साम्राज्य के विखण्डन तथा अफगान आक्रमण विशेषकर अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण के परिणामस्वरूप पंजाब में राजनीतिक अराजकता तथा शून्यता व्याप्त थी। ऐसी परिस्थिति में सिक्ख शक्ति का उद्भव एक क्षेत्रीय राजनीतिक शक्ति के रूप में हुआ। धीरे-धीरे यह राज्य विस्तृत हो रहा था तथा इसी समय

पूर्वी भारत से ब्रिटिश सत्ता भी पूरे भारत पर अपना अधिकार क्षेत्र विस्तृत कर रही थी। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में महाराजा रणजीत सिंह के कुशल नेतृत्व में सिक्ख राज्य का चहुमुखी विकास तथा विस्तार हुआ। इसी समय आंग्ल - मराठा संघर्ष के दौरान अंग्रेजों की दृष्टि पंजाब पर पड़ी। महाराजा रणजीत सिंह की कुशल नीति के कारण अंग्रेजों से संबंध अच्छे थे। परंतु रणजीत सिंह की मृत्यु के एक दशक के अंदर इस राज्य की आंतरिक कमजोरियां सामने आ गईं। सिक्ख सरदारों के आपसी झगड़े का लाभ अंग्रेजों ने उठाया और आंग्ल - सिक्ख संघर्ष प्रारंभ हुआ। डलहौजी के समय अंग्रेजों ने आसानी से पंजाब पर अधिकार करते हुए 1849 ई० में पंजाब को ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में मिला लिया।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको मुगल साम्राज्य के विखण्डन के पश्चात सिक्ख साम्राज्य की स्थापना एवं विस्तार तथा अंग्रेजों के साथ हुए संघर्ष से अवगत कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे -

1. सिक्खों का उत्कर्ष।
2. महाराजा रणजीत सिंह।
3. रणजीत सिंह के बाद सिक्ख राजनीति।
4. आंग्ल - सिक्ख संबंध।
5. अंग्रेजों का पंजाब पर अधिकार।

3.3 सिक्खों का उत्कर्ष

मध्यकालीन भारत में हिन्दू धर्म एवं समाज सुधार के लिए विभिन्न क्षेत्रों में भक्ति आंदोलन प्रारंभ हुआ। इसी क्रम में पंजाब क्षेत्र में गुरु नानक (1469-1539ई०) द्वारा सिक्ख धर्म स्थापित हुआ। सतरहवीं सदी में मुगल शासकों के दमनात्मक नीति तथा धर्मान्धपूर्ण व्यवहार के कारण सिक्ख धर्म का सैन्यीकरण छठवें गुरु हरगोविन्द (1606-1645ई०) के द्वारा किया गया तथा सिक्खों का मुख्यालय अमृतसर से किरतारपुर स्थानान्तरित हुआ। सिक्खों के दसवें और अंतिम गुरु गोविंद (1675-1708ई०) के समय सिक्ख धर्म और भी विस्तृत हुआ और यह मान लिया गया कि उनके पश्चात पवित्र ग्रंथ साहब को ही गुरु के रूप में माना जाएगा। गुरु गोविन्द सिंह के मरणोपरांत राजनीतिक विरासत बन्दा बहादुर को मिली, जिन्होंने सिक्खों की सामान्य सभा “सरबत खालसा” की स्थापना की। मुगल शासक फरूखशियर द्वारा 1716 ई० में बन्दा बहादुर को दिए गए मृत्यु दण्ड के पश्चात् सिक्ख विरोध उभरा और सैनिक टुकड़ी “जत्था” निर्मित हुई। 1748 ई० में कपूर सिंह ने विभिन्न जत्थों को संगठित कर दल खालसा की स्थापना की, जिसका प्रथम नायक जस्सा सिंह को बनाया गया।

इसी समय पश्चिमोत्तर सीमा से भारत पर अहमदशाह अब्दाली के नेतृत्व में आक्रमण प्रारंभ हुआ। अब्दाली के आक्रमण का उद्देश्य भारत से केवल धन प्राप्त करना था। इसलिए

लगातार हो रहे आक्रमण तथा पतनशील मुगल सत्ता के कारण पंजाब क्षेत्र में राजनीतिक शून्यता तथा अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई। इस स्थिति का लाभ सिक्खों ने उठाया और अपनी शक्ति एवं सत्ता का विस्तार प्रारंभ किया। पानीपत की तीसरी लड़ाई (1761 ई0) के पश्चात उत्तर भारत पर अफगानों तथा मराठों का प्रभाव कम हुआ, जिसका फायदा सिक्ख राज्य को मिला। 1764 ई0 में सिक्खों ने लाहौर पर अधिकार कर इसे अपना मुख्यालय बनाया और यहां से सिक्ख साम्राज्य का विस्तार किया। 1773 ई0 में सिक्ख साम्राज्य सहारनपुर से अटौक तथा मुल्तान से जम्मू तक विस्तृत था। सिक्ख राज्य का स्वरूप सामन्तवाद पर आधारित “धार्मिक संघ” था जिसमें सैनिक तत्व की अधिकता थी। दल-खालसा सबसे बड़ी सैन्य इकाई थी जो 12 हिस्सों में विभाजित थी जिन्हें मिसल कहा जाता था तथा उसके प्रमुख को मिसलदार कहा जाता था। धीरे धीरे यह सैनिक इकाई क्षेत्रीय प्रशासनिक इकाई में परिवर्तित हो गयी। यानि सिक्ख साम्राज्य 12 मिसल में विभाजित था। उन्हीं में से एक मिसल सुकारचकिया थी। इस मिसल का प्रभुत्व क्षेत्र रावी और चिनाब के बीच था। इसी मिसल का मिसलदार रणजीत सिंह बने जिन्होंने अपने प्रयास से सभी मिसल पर अपना आधिपत्य जमाया तथा एक प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया।

इस प्रकार सिक्खों का उत्कर्ष महाराजा रणजीत सिंह के काल में उत्तर भारत में एक प्रमुख शक्ति के रूप में हुआ।

3.4 रणजीत सिंह का उत्थान एवं उपलब्धियां

रणजीत सिंह का उद्भव एक मिसलदार से विस्तृत सिक्ख साम्राज्य संस्थापक के रूप में हुआ। यह उद्भव व्यक्तिगत सैनिक तथा नेतृत्व क्षमता, प्रशासनिक कुशलता, कूटनीति तथा दूरदर्शिता पर आधारित था। इसीलिए यह विस्तृत साम्राज्य जिसका निर्माण महाराजा रणजीत सिंह ने किया था, संस्थागत आधार के अभाव में उनके मरणोपरान्त ताश के पत्ते की तरह बिखर गया।

रणजीत सिंह का जन्म 2 नवम्बर 1780 ई0 को हुआ था। उनके पिता महा सिंह सुकारचकिया मिसल के मिसलदार थे। 1792 ई0 में महा सिंह की मृत्यु गुजरावाला में हो गई। इसलिए एक संरक्षक मण्डल के नेतृत्व में 12 वर्ष की उम्र में रणजीत सिंह को सुकारचकिया का मिसलदार बनाया गया। संरक्षक मण्डल में रणजीत सिंह की माता, उनकी पत्नी की माता तथा दीवान लखपत राय थे। 1797 ई0 में रणजीत सिंह ने समस्त कार्यभार स्वयं संभाल लिया। इसी समय अफगानिस्तान के नए शासक जमान शाह ने पंजाब पर तीन आक्रमण किए। आखिरी आक्रमण (1798 ई0) के दौरान रणजीत सिंह ने जमानशाह की मदद की। ब्रिटिश इतिहासकार प्रिंसेप के अनुसार जमानशाह की कुछ तोपें झेलम नदी के दलदल में फंस गई थीं, जिन्हें निकलवाकर रणजीत सिंह ने वापस कर दिया। जमानशाह ने 1798 ई0 में रणजीत सिंह को राजा की उपाधि प्रदान की तथा लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया एवं उस पर अधिकार करने की अनुमति दे दी।

रणजीत सिंह ने राज्य विस्तार प्रारंभ किया। 1799 ई० में उसने लाहौर पर अधिकार कर इसे अपना मुख्यालय बनाया। 1802 ई० में भंगी मिसल को अधिकृत कर लिया जिससे अमृतसर पर उसका अधिकार हो गया। इस प्रकार सिक्खों की राजनीतिक राजधानी लाहौर तथा धार्मिक केन्द्र बिन्दु अमृतसर पर रणजीत सिंह का अधिकार हो गया। इसका अर्थ था, रणजीत सिंह सिक्खों का सबसे बड़ा सरदार बन गया। तीव्र गति से उसने झेलम से सतलज नदी तक का प्रदेश जीत लिया। सतलज नदी के पश्चिम के सभी सिक्ख सरदारों ने रणजीत सिंह की सर्वोच्चता स्वीकार कर ली। परंतु सतलज नदी के पूरब उसका अधिकार मजबूत नहीं था। कनिंघम के शब्दों में, “रणजीत सिंह विविधतापूर्ण और बिखरे परंतु विस्तृत सिक्ख राष्ट्र को एक संगठित राज्य अथवा राष्ट्रमण्डल में परिवर्तित करने का प्रयत्न प्रायः उसी प्रकार की बुद्धिमता पूर्ण योजना से किया जिस प्रकार गुरु गोविन्द सिंह ने एक समुदाय को जन-समुदाय में परिवर्तित करके नानक के आदर्शों को एक ध्येय तथा क्रियात्मक रूप प्रदान किया था। इसी उद्देश्य से रणजीत सिंह सतलज नदी के पूरब के क्षेत्रों पर भी अधिकार करना चाहता था।

26 जुलाई 1806 ई० रणजीत सिंह ने प्रथम बार सतलज नदी को पार किया तथा लुधियाना पर अधिकार कर लिया तथा पटियाला तक गया। अगले वर्ष उसने पुनः सतलज पार किया और पटियाला के महाराजा तथा उसकी पत्नी आसकौर के बीच मध्यस्थता की। रणजीत सिंह ने इस अभियान में छोटे-छोटे सरदारों से कर भी वसूले। इसलिए कुछ सरदार अंग्रेजों की संरक्षण में चले गए। अंग्रेज सतलज नदी को सीमा बनाने की तैयारी कर रहे थे। इस समय नेपोलियन के आक्रमण के भय से अंग्रेजों ने रणजीत सिंह के साथ नरमी बरती। परन्तु यूरोप में नेपोलियन के पेनिनसुला युद्ध में फँसते ही गवर्नर जनरल मिंटो ने आक्टरलोनी के नेतृत्व में एक सेना भेजी। उसने सतलज नदी के पूर्व के राज्यों को अपने संरक्षण में ले लिया तथा स्पष्ट कर दिया कि यदि रणजीत सिंह उन पर आक्रमण करता है तो उसे अंग्रेजों से युद्ध करना पड़ेगा। रणजीत सिंह को झुकना पड़ा और 1809 ई० में अमृतसर की संधि के द्वारा सतलज नदी को सीमा मान लिया तथा मित्रता का संबंध स्थापित हुआ।

इस प्रकार अमृतसर की संधि ने रणजीत सिंह को समस्त सिक्ख-राज्यों को संगठित करने की महत्वाकांक्षी योजना पर लगा दी। उसके बाद उसने पश्चिम तथा उत्तर की ओर ध्यान केन्द्रित किया। नेपाल के गोरखा नरेश अमरसिंह थापा के नेतृत्व में कांगड़ा घाटी जीतने का प्रयास रहे थे। रणजीत सिंह ने स्वयं अगस्त 1809 ई० में कांगड़ा के शासक संसार चन्द्र से कांगड़ा घाटी जीत लिया तथा दीवान मोहकम सिंह के नेतृत्व में सिक्खों ने गोरखों को परास्त किया। कांगड़ा विजय के पश्चात् उसने सतलज नदी के पश्चिम शेष बचे राज्यों पर अधिकार कर लिया।

अहमदशाह अब्दाली की मृत्यु (1773 ई०) के पश्चात् सिक्खों ने मुल्तान एवं कश्मीर को छोड़कर लगभग अन्य सभी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। अफगानों की आपसी फूट का लाभ रणजीत सिंह को मिला। शाहशुजा ने काबुल पर अधिकार करने के लिए रणजीत सिंह से सहायता मांगी तथा कोह-ए-नूर नामक प्रसिद्ध हीरा रणजीत सिंह को भेंट किया। परन्तु रणजीत सिंह से निराश होकर शाहशुजा अंग्रेजों की शरण में चला गया। 1834 ई० रणजीत सिंह ने

अफगानियों से पेशावर जीत लिया। वहाँ के शासक दोस्त मुहम्मद के द्वारा पेशावर को पुनः जीतने का प्रयास किया गया। रणजीत सिंह के जनरल हरि सिंह नलवा ने पेशावर की सफलतापूर्वक रक्षा की तथा जमरूद का दुर्ग भी जीत लिया। इस प्रकार खैबर दर्रे तक का समस्त क्षेत्र रणजीत सिंह के अधीन आ गया।

महाराजा रणजीत सिंह ने मुल्तान पर अधिकार करने का प्रयास 1803 ई० से प्रारम्भ किया था, परन्तु प्रत्येक बार असफलता ही हाथ लगी। 1818 ई० में एक सफल अभियान के पश्चात् रणजीत सिंह ने मुल्तान पर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार लगातार प्रयत्न के पश्चात् 1819 ई० में रणजीत सिंह ने कश्मीर पर अधिकार कर लिया। इसके उपरांत उसके डेरा गाजी खाँ, डेरा इस्माइल खाँ, बक्खर, लेह तथा मंकेरा पर अधिकार कर लिया। रणजीत सिंह की योजना सिंध पर अधिकार करने की थी, परन्तु अंग्रेजों ने उसके रोक लिया।

इस प्रकार महाराजा रणजीत सिंह ने अपने बाहुबल से पिता से प्राप्त छोटे से मिसल को वृहद् साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया और अपने आप को एक महान विजेता के रूप में स्थापित किया। दक्षिण और पूरब में उसके साम्राज्य विस्तार ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य के कारण नहीं हुआ परन्तु पश्चिम एवं उत्तर में उसने व्यापक विस्तार किया और अपने द्वारा निर्मित साम्राज्य में प्रशासनिक व्यवस्था लागू करने का प्रयास किया। 27 जून, 1839 ई० को 59 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

3.4.1 रणजीत सिंह की प्रशासनिक व्यवस्था

मध्ययुगीन भारतीय शासकों की भाँति रणजीत सिंह भी एक स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासक था, परन्तु अत्याचारी नहीं। राज्य की सम्पूर्ण सैनिक एवं असैनिक शक्तियाँ महाराजा में केन्द्रित थी। उसने किसी नयी संस्था का निर्माण नहीं किया। प्रशासन में धर्म हावी था। राज्य का स्वरूप “धार्मिक राष्ट्रमण्डल” था। वह अपने आपको खालसा का सेवक मानता था और खालसा के नाम से प्रशासन करता था। अपनी सरकार को सरकार-ए-खालसा भी कहा करता था। उसने गुरूनानक तथा गुरू गोविन्द सिंह के नाम से सिक्के चलाए। परन्तु वह धर्मान्ध तथा कट्टर नहीं था। प्रशासन में डोगरा-राजपूत, मुसलमान, फ्रांसीसी आदि उच्च पदों पर आसीन थे।

केन्द्रीय प्रशासन में महाराजा की सहायता के लिए एक मंत्रि परिषद् थी। मंत्रियों की नियुक्ति महाराजा करता था तथा मंत्रि परिषद् महाराजा के प्रति उत्तरदायी थी। सामूहिक उत्तरदायित्व की कोई धारणा नहीं थी।

प्रशासनिक सुविधा के लिए उसने साम्राज्य को प्रांतों में विभाजित किया था, जिन्हें सूबा कहा जाता था। रणजीत सिंह के साम्राज्य में चार सूबे थे - लाहौर, मुल्तान, कश्मीर और पेशावर। सूबे का मुख्य प्रशासक नाजिम कहलाता था, जिसकी सहायता के लिए विभिन्न अधिकारी नियुक्त थे। सूबे को परगना तथा परगना को तालुकाओं में बाँटा गया था। प्रत्येक तालुका में 50 से 100 गाँव होते थे। तालुका का मुख्य अधिकारी कारदार कहलाता था। कारदार

तालुका से कर वसूलता था। साथ ही वह खजांची तथा न्यायाधीश भी था। ग्राम प्रशासन पंचायतों के अधीन था जिसमें राजा का हस्तक्षेप कम था।

राज्य की आय का मुख्य स्रोत भूमि कर था जिस पर राज्य विशेष ध्यान देता था। कर लगाने में उदारता बरती जाती थी, परन्तु कर वसूली कठोरता से की जाती थी। भूमि कर की मात्रा उत्पादन का 33 से 40 प्रतिशत थी। कर का निर्धारण भूमि की उर्वरता के आधार पर किया जाता था। कृषकों के हितों का ध्यान रखा जाता था। उसके अलावा सीमा कर तथा चुंगी भी वसूला जाता था। दण्ड स्वरूप आर्थिक वसूली की जाती थी।

न्याय प्रशासन कठोर था। राज्य के प्रत्येक इकाई पर न्यायालय की व्यवस्था थी तथा प्रशासनिक अधिकारी ही न्यायाधीश का भी कार्य करते थे। राज्य का मुख्य न्यायालय लाहौर में था जिसे अदालत-ए-आला कहा जाता था। न्याय स्थानीय परम्परा के आधार पर होता था। दण्ड में आर्थिक दण्ड ज्यादा प्रचलित था क्योंकि आर्थिक दण्ड भी आय का स्रोत था।

रणजीत सिंह का सैन्य संगठन विशिष्ट था। खालसा सेना का संगठन प्रशासन की मुख्य विशेषता थी। सेना का आधार घुड़सवार थे। अश्व सेना दो तरह की थी। एक घुड़चढ़ा खास जिन्हें अपने घोड़े स्वयं रखने पड़ते थे और राज्य उन्हें वेतन भत्ते भी देता था। दूसरा भाग मिसलदारों का था। यह उन अधीनस्थ सरदारों के घुड़सवार थे, जिनके क्षेत्र पर रणजीत सिंह ने अधिकार कर उनके घुड़सवारों को अपनी सेना में सम्मिलित कर लिया था।

रणजीत सिंह ने पैदल सेना को आधुनिक आधार देने का प्रयास किया। लाहौर तथा अमृतसर में तोप, गोला एवं बारूद बनाने के कारखाने लगाए गए। सेना के प्रशिक्षण के लिए विदेशी विशेषकर फ्रांसीसी सेनानायकों को नियुक्त किया गया। सेना में सभी जातियों तथा धर्मों के सैनिक थे।

सेना की एक विशेष टुकड़ी बनायी गयी जिसे फौज-ए-खास कहा जाता था। इस टुकड़ी का गठन 1822 ई० जनरल वन्तूरा तथा अलार्ड के द्वारा किया गया। इस फौज का राजकीय चिह्न अलग था तथा ड्रिल फ्रांसीसी तरीके एवं शब्दों से होता था।

रणजीत सिंह ने तोपखाना पर विशेष ध्यान दिया। सभी आकार की तोपें उपलब्ध थी। तोपखाने के निर्माण में कोर्ट और गार्डनर नामक अधिकारियों ने मुख्य भूमिका निभायी। तोपखाने की देखभाल के लिए एक पृथक अधिकारी “दारोगा-ए-तोपखाना” नियुक्त किया गया था। रणजीत ने सैनिकों को नकद वेतन देने की व्यवस्था भी की थी। इस प्रकार निःसन्देह रणजीत सिंह की सैन्य व्यवस्था उत्तम थी।

3.5 रणजीत सिंह एवं अंग्रेजों के संबंध

यह एक ऐतिहासिक संयोग है कि जिस समय भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर में रणजीत सिंह का साम्राज्य विस्तार हो रहा था, ठीक उसी समय भारत पर ब्रिटिश सर्वोच्चता स्थापित होने की संभावना साकार हो रही थी। इसलिए दोनों शक्तियों में संघर्ष अपरिहार्य था। भारत पर पुनः अफगान आक्रमण (1800 ई०) की संभावना तथा सतलज के पूरब में रणजीत

सिंह के साम्राज्य विस्तार की मनसा के कारण अंग्रेजों से संबंध की शुरुआत हुई। अंग्रेजों ने मुंशी युसुफ अली को रणजीत सिंह के दरबार में भेजा और महाराजा से आग्रह किया गया कि यदि जमान शाह आक्रमण करे तो रणजीत सिंह उसके साथ न मिले।

द्वितीय आंग्ल-मराठा संघर्ष (1803-06 ई0) के क्रम में पुनः रणजीत सिंह के साथ अंग्रेजों ने संबंध स्थापित करने का प्रयास किया। 1805 ई0 में जसवन्त राव होल्कर अंग्रेजों से पराजित होकर पंजाब आ गया और रणजीत सिंह से सहायता मांगी। जनरल लेक ने जसवन्त राव को पंजाब से बाहर निकालने तथा सहायता न देने के उद्देश्य से 1806 ई0 में रणजीत सिंह के साथ लाहौर की संधि की। इस संधि की शर्तें निम्नांकित थीं -

1. रणजीत बिना कोई सहायता दिए होल्कर को सिक्ख क्षेत्र से बाहर करेगा।
2. अंग्रेज ने वादा किया कि वे सिक्खों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।
3. अंग्रेज एवं रणजीत सिंह एक दूसरे के मित्र बनकर रहेंगे।

अंग्रेजों ने यह भी विश्वास दिलाने का प्रयास किया कि वे पंजाब विजय की कोई योजना नहीं बनाएंगे। इस समय रूस एवं नेपोलियन के बीच हुए समझौते ने अंग्रेजों को भयभीत कर दिया। गवर्नर जनरल मिंटो ने चार्ल्स मेटकॉफ को रणजीत सिंह के दरबार में मित्रता करने के लिए भेजा। मेटकॉफ ने आक्रामक एवं रक्षात्मक संधि का प्रस्ताव रखा जिसे मानने को रणजीत सिंह तैयार थे। अंग्रेजों ने सिक्ख-अफगान युद्ध में निष्पक्ष रहने तथा सतलज नदी के पार के क्षेत्र पर रणजीत सिंह के अधिकार को मानने पर राजी हो गए। इसी बीच नेपोलियन के आक्रमण का भय समाप्त हो गया तथा उसके विरुद्ध स्पेन में विद्रोह हो गया। इससे अंग्रेजों का पंजाब के प्रति रूख कठोर हो गया। ब्रिटिश कमाण्डर डेविड आक्टरलोनी सेना लेकर लुधियाना की ओर बढ़ा और घोषणा की कि सतलज पार के प्रदेश अंग्रेजी संरक्षण में हैं और यदि लाहौर उन पर आक्रमण करता है तो अंग्रेज बल प्रयोग करेंगे।

इस प्रकार महाराजा पर दबाव डाला गया और उसे झुकना पड़ा। 25 अप्रैल 1809 ई0 को महाराजा रणजीत सिंह ने अमृतसर की संधि पर हस्ताक्षर कर दिए। इस संधि में निम्नलिखित प्रावधान थे -

1. सतलज नदी के उत्तर के 45 परगनों पर अंग्रेजों ने रणजीत सिंह का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।
2. रणजीत सिंह ने सतलज नदी के पूरब में न बढ़ने का वायदा किया तथा अंग्रेजों ने इसके पश्चिम में न बढ़ने का वचन दिया। इस प्रकार सतलज नदी दोनों राज्य की सीमा मान ली गयी।
3. ब्रिटिश भारतीय सरकार तथा लाहौर के बीच शाश्वत मित्रता रहेगी एवं ब्रिटिश सरकार इस राज्य को सर्वमाननीय राज्यों में स्वीकार करेगी।
4. सिक्ख राज्य जरूरत से ज्यादा सेना नहीं रखेंगे तथा पड़ोसी प्रदेश पर आक्रमण नहीं करेंगे।

5. इस संधि के प्रावधानों का उल्लंघन करने अथवा मित्रता के सिद्धान्तों को तोड़ने पर संधि निष्प्रभावी मानी जायेगी।

इस प्रकार इस संधि ने सतलज नदी के पूरब साम्राज्य विस्तार के रणजीत सिंह के सपने को तोड़ दिया, परन्तु पश्चिम दिशा में प्रसार की खुली छूट दे दी। साथ ही इस संधि ने स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेजों की तुलना में रणजीत सिंह कमजोर है। इसीलिए महाराजा ने अपने जीवनकाल में अंग्रेजों से युद्ध टालने का प्रयास किया।

महाराजा रणजीत सिंह ने जब सिंध पर अधिकार करने की योजना बनाई तब एलेग्जेण्डर बर्न्स सिंध नदी होते हुए लाहौर पहुँचा। 1831 ई० में विलियम बैटिक ने रणजीत सिंह से रोपड़ में मुलाकात की। दोनों की मित्रता की बात दुहराई परन्तु बैटिक ने सिंध को आपस में बाँटने के रणजीत सिंह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इस समय महाराजा और अंग्रेज एक-दूसरे की चाल समझ रहे थे। परन्तु दोनों कुछ नहीं कर सकते थे। अंग्रेजों ने फिरोजपुर को छावनी बना ली।

अफगानिस्तान में कम्पनी शाहशुजा को शासक बनाना चाहती थी और इसमें रणजीत सिंह का सहयोग अपेक्षित था। मैकनॉटन के दबाव में आकर रणजीत सिंह ने इस कार्य में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। उसने अंग्रेजों के समक्ष शर्त रखी कि अंग्रेजी सेना पंजाब होकर नहीं गुजरेगी।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि महाराजा रणजीत सिंह ने अंग्रेजों को प्रसन्न तथा तुष्ट करने का प्रयास किया और नाराज करने का कोई अवसर नहीं दिया, फिर भी अंग्रेजों ने मित्रता का ध्यान नहीं रखा एवं समय-समय पर उसे अपमानित करते रहे। 1838 ई० में अंग्रेज, शाहशुजा तथा रणजीत सिंह के बीच एक त्रिपक्षीय संधि हुई। यह संधि अंग्रेजों के लिए फायदेमंद थी। रणजीत सिंह केवल अंग्रेजों को प्रसन्न करने के लिए सम्मिलित हुआ था। इस प्रकार रणजीत सिंह को अपनी कमजोरी का अहसास था। उसने कमजोरी दूर करने तथा अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय शक्तियों को संगठित करने का कोई प्रयास नहीं किया। यह रणजीत सिंह की कूटनीतिक दुर्बलता का प्रमाण है। इसलिए कई इतिहासकार उसकी आलोचना करते हैं। परन्तु सत्य यह है कि अंग्रेजों की तुलना में सिक्ख कमजोर थे। अतः रणजीत सिंह को वास्तविकता का ज्ञान था। इसलिए अपने शासनकाल तक अंग्रेजों के साथ युद्ध टालता रहा।

3.5.1 रणजीत सिंह का मूल्यांकन

उन्नीसवीं सदी के भारतीय इतिहास में महाराजा रणजीत सिंह को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसी समय भारत में ब्रिटिश साम्राज्य अपना पाँव जमा रहा था तथा एक-एक कर भारतीय शक्तियों को अपना निशाना बना रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति में रणजीत सिंह द्वारा एक वृहद् साम्राज्य निर्माण उसके महान व्यक्तित्व का प्रमाण है। रणजीत सिंह देखने में बहुत सुन्दर नहीं था परन्तु व्यक्तित्व में आकर्षण एवं तेज था।

रणजीत सिंह एक धर्म सहिष्णु शासक था। यद्यपि वह स्वयं धर्म से प्रभावित था तथा सिक्खों को अपना सहयोगी एवं सहधर्मी मानकर कार्य करता था। अन्य धर्मों को भी बराबर का दर्जा देता था। अपने यहाँ नौकरी देने में कोई भेदभाव नहीं रखता था। सभी धर्मों के विद्वानों का आदर करता था।

रणजीत सिंह एक कुशल सैनिक तथा सेनानायक था। इस कार्य में वह फुर्तीला, साहसी तथा धैर्यवान था। वह हमेशा शेर की तरह निर्भीक होकर ऐना का नेतृत्व करता था तथा एक सामान्य सैनिक की तरह युद्ध करता था। उसे अपनी शक्ति तथा कमजोरी का पूर्ण ज्ञान था, इसलिए वह योजनाबद्ध होकर कार्य करता था। जीते हुए प्रदेश तथा आदमी पर कभी अत्याचार नहीं करता था।

एक शासक के रूप में रणजीत सिंह निरंकुश था परन्तु हितकारी एवं लोक कल्याणकारी। वह अपनी शक्ति का प्रयोग जनहित में करता था। न्यायप्रिय शासक के रूप में वह लोगों की मौखिक व लिखित फरियाद सुनता था तथा फैसले देता था। शिकायत पेटिका उपलब्ध थी। न्याय कठोर था इसलिए काफी लम्बे अन्तराल के पश्चात् पंजाब में शांति स्थापित हुई थी।

इतिहासकारों ने रणजीत सिंह की तुलना शिवाजी से की है। उनका मानना है कि शिवाजी ने मराठों को संगठित करने का कार्य किया जबकि रणजीत सिंह ने बिखरे हुए सिक्खों को संगठित कर एक राज्य बनाने का कार्य किया। शिवाजी ने मुगलों का प्रतिरोध किया और रणजीत सिंह को अंग्रेजों के विरोध का सामना करना पड़ा। इस प्रकार शिवाजी तथा रणजीत सिंह में काफी समानता दिखाई देती है परन्तु दोनों में अन्तर भी काफी अधिक है। भाग्य की बात थी कि शिवाजी को योग्य तथा कर्मठ एवं समर्पित उत्तराधिकारी तथा अधिकारी एवं सेनानायक मिले जबकि रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी अयोग्य एवं सेनानायक तथा अधिकारी स्वार्थी एवं अक्षम साबित हुए। इसलिए रणजीत सिंह द्वारा निर्मित सिक्ख राज्य उसके मरने के एक दशक के अन्दर ही समाप्त हो गया।

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर हम कह सकते हैं कि निस्संदेह भारत के प्रमुख शासकों एवं साम्राज्य निर्माताओं में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिमोत्तर क्षेत्र विशेषकर पंजाब में एक वीर योद्धा एवं कुशल संगठनकर्ता के रूप में आज भी जन स्मृति में रणजीत सिंह व्याप्त है। उसने पंजाब की रक्षा मराठों तथा पठानों से की तथा शक्तिशाली एवं धूर्त अंग्रेजों से भी बचाए रखा। इसलिए विभिन्न व्यक्तिगत बुराइयों तथा असफलताओं के बावजूद एक कुशल प्रशासक के रूप में इतिहास के पन्नों में अमर है।

3.6 रणजीत सिंह के बाद सिक्ख राजनीति तथा अंग्रेजों का हस्तक्षेप

अभी तक आपने अध्ययन किया कि किस प्रकार महाराजा रणजीत सिंह ने बिखरे हुए सिक्खों को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया ? यह राजनीतिक एकता व्यक्तिगत शौर्य पर आधारित थी इसलिए 1839 ई० में रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्ख साम्राज्य में

राजनीतिक तथा आर्थिक अराजकता फैल गई। विभिन्न गुट जैसे डोगरा, सिंधनवालिया आदि का उद्भव हुआ और इन सेनानायकों ने राजा बनाने वालों की भूमिका निभानी शुरू कर दी। सैनिकों की संख्या में वृद्धि के साथ वेतन का बोझ बढ़ने से राज दरबार में गुटबाजी प्रारंभ हुई। सैनिकों ने वेतन बढ़ाने तथा प्राप्त करने के लिए असैनिक प्रशासन पर दबाव बढ़ाना तथा अपनी वफादारी बदलना प्रारंभ किया। इस प्रकार सैनिक-असैनिक प्रशासन का समन्वय टूटा। पंजाब की राजनीति विभिन्न गुटों की शक्ति परीक्षण का केन्द्र बन गया। एक-एक कर रणजीत सिंह के अयोग्य पुत्र गद्दी पर बैठते रहे और दरबार के षडयंत्र तथा हत्याओं का सिलसिला जारी रहा।

रणजीत सिंह के मरणोपरान्त उनका एक अयोग्य पुत्र खड़गसिंह जून 1839 ई० में गद्दी पर बैठा। दरबार में दो विरोधी दलों, सिंधनवालिया सरदार चैत सिंह, अत्तर सिंह, लौहन सिंह तथा उसके भतीजे अजीत सिंह और डोगरा बंधुओं- ध्यान सिंह, गुलाब सिंह और सुचेत सिंह की प्रतिद्वन्द्विता के कारण पूरे पंजाब में अराजकता फैल गई। 8 अक्टूबर 1839 ई० को वजीर ध्यान सिंह के समर्थकों ने चैत सिंह की हत्या कर दी। खड़ग सिंह की मृत्यु 5 नवम्बर 1840 ई० को हो गई। रणजीत सिंह के पुत्र नौनिहाल सिंह को महाराजा घोषित किया गया। परन्तु शीघ्र ही वह षडयंत्र का शिकार हो गया। नौनिहाल सिंह की पत्नी चाँद कौर ने अपने होने वाले बच्चे को उत्तराधिकारी बनाने की मांग की। सिंधनवालिया सरदार उसका समर्थन कर रहे थे। रणजीत सिंह के एक अन्य पुत्र शेर सिंह ने इसका विरोध किया। अन्ततः शेर सिंह सफल रहा। 1843 ई० में शेर सिंह, उसके पुत्र प्रताप सिंह और वजीर ध्यान सिंह की हत्या कर दी गई। इस षडयंत्र में अंग्रेज एवं सिंधनवालिया सरदार सम्मिलित थे। सरदार हीरा सिंह ने सेना की सहायता से रानी जिन्दन कौर के पुत्र दलीप सिंह को महाराजा घोषित किया। दलीप सिंह नाबालिग था। अतः रानी जिन्दन संरक्षिका बनी। 1844 ई० में हीरा सिंह की हत्या कर दी गई। राज्य की शक्ति रानी के भाई और वजीर जवाहर सिंह और उसके प्रेमी लाल सिंह के हाथों में आ गयी। सभी व्यसनी तथा अक्षम थे। इस प्रकार 1845 ई० तक पंजाब की राजनीतिक स्थिति काफी खराब हो गई। दरबार विभाजित हो गया तथा षडयंत्र का अड्डा बन गया। ऐसी परिस्थिति अंग्रेजों के अनुकूल थी।

इस प्रकार आपने अध्ययन किया कि रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्ख राज्य की कमजोरी उभर कर सामने गई। अंग्रेजों को स्वयं सिक्खों ने आमंत्रित किया और अंग्रेजों ने सिक्ख राजनीति में हस्तक्षेप किया तथा पंजाब को अपना शिकार बनाया।

3.7 प्रथम आंग्ल - सिक्ख युद्ध

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य तीव्र गति से उन्नीसवीं सदी में विस्तृत हुआ। सिंध विलय के पश्चात् अब केवल बड़ी शक्तियों में पंजाब अंग्रेजों के प्रभुत्व से बाहर था। रणजीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् पंजाब की राजनीतिक स्थिति खराब हुई और शीघ्र ही अंग्रेजों ने इसका लाभ उठाने का प्रयास किया और पंजाब के साथ संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

3.7.1 प्रथम आंग्ल - सिक्ख युद्ध के कारण

आंग्ल-सिक्ख युद्ध का मूल कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति थी। पंजाब की सामरिक स्थिति तथा आर्थिक महत्व के कारण अंग्रेज इस पर अधिकार करने को आतुर थे। अफगानिस्तान में मिली असफलता छुपाने के लिए भी अंग्रेज पंजाब पर अधिकार करना चाहते थे। एलनबरो ने सिक्ख शक्ति समाप्त करने की योजना बनानी शुरू की, परन्तु इसे कार्यान्वित नहीं कर पाया।

1844 ई० में एलनबरो की जगह हार्डिंग गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। वह एक प्रख्यात विस्तारवादी था। उसने पंजाब में अपनी सेना शक्तिशाली बनाना प्रारम्भ किया। पंजाब की राजनीतिक अस्थिरता को बहाना बनाकर अंग्रेजों ने पंजाब के विरुद्ध सैनिक तैयारी प्रारम्भ कर दी। सिंध में भी सेना को सतर्क कर दिया गया कि जरूरत पड़ने पर मुल्तान की ओर से आक्रमण किया जा सके। लुधियाना स्थित कम्पनी के एजेण्ट ब्रॉडफुट ने घोषणा की कि दलीप सिंह की मृत्यु के पश्चात् सतलज पार के सभी राज्य जब्त कर लिए जाएंगे। फिरोजपुर एवं मुल्तान में भी अंग्रेजी सेना ने सीमा का उल्लंघन किया। अंग्रेजों ने सिक्खों में फूट डालकर ऐसी परिस्थितियाँ बनानी प्रारम्भ की जिससे सिक्ख स्वयं ही युद्ध के लिए तैयार हो गए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अंग्रेज बड़ी उत्सुकता से युद्ध की प्रतीक्षा कर रहे थे। साम्राज्य विस्तार को पंजाब अधिकृत कर पूरा करना चाहते थे। उन्होंने अपनी तैयारियाँ पूरी कर लीं और सिक्ख सरदारों को उकसाना शुरू किया। उन्होंने सतलज पार के लगभग सभी क्षेत्र पर अधिकार कर लिया तथा सिक्खों का अपमान करना जारी रखा। मेजर ब्रॉडफुट अपने प्रयास में कामयाब हुआ। तेज सिंह और गुलाब सिंह उसके मित्र थे। उसके प्रेरित करने पर तेज सिंह के नेतृत्व में सिक्ख सेना सतलज के किनारे तक आ गई और घोषणा की कि जब तक अंग्रेज लुधियाना और फिरोजपुर से आगे नहीं बढ़ेंगे तब तक वे स्थिर रहेंगे। अंग्रेज इस अवसर की तलाश में थे। उन्होंने मेरठ तथा अम्बाला से अपनी सेना को आगे बढ़ने के आदेश दे दिये। 13 दिसम्बर 1845 ई० को खालसा सेना ने सतलज पार किया और अपने ही क्षेत्र में छावनी बनाई। हार्डिंग को बहाना मिल गया और इस स्वर्णिम अवसर का लाभ उठाते हुए सिक्खों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आंग्ल-सिक्ख युद्ध का मूल कारण सिक्ख सेना का सतलज पार करना नहीं बल्कि अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति थी। इसमें सिक्ख सरदारों को व्यक्तिगत स्वार्थ ने भी प्रमुख भूमिका निभायी। अंग्रेजों के अथक प्रयास के बाद भी सिक्खों ने आक्रमण नहीं किया। केवल सतलज नदी को पार करने की घटना को अंग्रेजों ने बहाना बनाया और युद्ध की घोषणा कर दी।

3.7.2 प्रथम आंग्ल - सिक्ख युद्ध की लड़ाइयाँ

इस प्रकार प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध 13 दिसम्बर 1845 ई० से प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध की प्रथम लड़ाई मुदकी में 18 दिसम्बर को लाल सिंह और हयू रोज के मध्य लड़ी गई। सिक्ख सेना बुरी तरह परास्त हुई। दूसरी लड़ाई 21 दिसम्बर को फिरोजशाह में हुई जहाँ तेज सिंह के

नेतृत्व वाली सिक्ख सेना परास्त हुई। 21 जनवरी 1846ई. को तीसरी लड़ाई बुदवाल में हुई। इस युद्ध में सिक्खों का नेतृत्व रनजोर सिंह मजीठिया ने किया। इस बुदवाल युद्ध में सिक्खों की हार हैरी स्मिथ के हाथों हुई। चौथी लड़ाई अलीवाल में हुई जहाँ 28 जनवरी को हैरी स्मिथ ने सिक्खों को पराजित किया। इस प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध की अंतिम और निर्णायक लड़ाई 10 फरवरी 1846 ई0 को सोबराँव में हुई। इस युद्ध में सिक्ख सरदारों ने ही षडयंत्र किया। केवल साम सिंह के नेतृत्व वाली सेना ने युद्ध किया। शेष सरदारों ने धोखा दिया और सिक्ख निर्णायक रूप से परास्त हो गए। अंग्रेजों ने सतलज पार कर 20 फरवरी को लाहौर पर अधिकार कर लिया और अपनी शर्तों पर संधि की। 01 मार्च 1846 ई0 को लाहौर की संधि के साथ प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध समाप्त हुआ।

3.7.3 प्रथम आंग्ल - सिक्ख युद्ध के परिणाम

इस प्रकार प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध समाप्त हुआ, जिसमें अंग्रेजों की जीत हुई और अपनी इच्छानुसार अपनी योजनाओं के अनुरूप 01 मार्च 1845 ई. को लाहौर की संधि पर हस्ताक्षर करा लिए। इस संधि के प्रावधान निम्नांकित थे-

1. महाराजा दलीप सिंह ने सतलाज पार के समस्त क्षेत्रों से सदा के लिए अपने अधिकार और दावे छोड़ दिए।
2. महाराजा ने सतलज और व्यास नदी के बीच भूमि के सभी किलों, पहाड़ियों तथा भू-भाग से अपना अधिकार हटा लिया।
3. अंग्रेजों ने युद्ध में हुई क्षति की पूर्ति के लिए डेढ़ करोड़ रुपये सिक्खों के ऊपर थोपा। उसमें से 50 लाख नकद लिया गया तथा शेष के बदले व्यास एवं सिंध नदी के बीच का क्षेत्र ले लिया जिसमें कश्मीर तथा हजारा के प्रांत भी सम्मिलित थे।
4. महाराजा की सेना में 12000 घुड़सवार तथा 25 बटालियन पैदल सेना छोड़ कर शेष भंग कर दी जाएगी।
5. सिक्खों की सम्पूर्ण तोपें अंग्रेजों ने ले ली।
6. अंग्रेज सैनिकों को पंजाब की सीमा में प्रवेश करने की खुली छूट दे दी गई।
7. महाराजा ने किसी भी अमेरिकन तथा यूरोपीय को अंग्रेजों की अनुमति के बिना अपने यहाँ नौकरी नहीं देने का वायदा किया।
8. अवयस्क दलीप सिंह को राजा, रानी जिंदन को उसका संरक्षक तथा लाल सिंह को वजीर स्वीकार कर लिया गया।
9. अंग्रेजों ने सिक्ख राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने का वचन दिया।
10. दलीप सिंह की रक्षा के लिए अंग्रेजी सेना पंजाब में रखी गयी।
11. हेनरी लॉरेन्स को लाहौर में रेजिडेण्ट नियुक्त किया गया।

इस संधि के दो दिन बाद एक पूरक संधि द्वारा ब्रिटिश सेना को 1846 ई० के अंत तक लाहौर में रहने की स्वीकृति दी गयी। इस सेना पर होने वाले खर्च का भार सिक्ख दरबार उठाएंगे।

इस प्रकार प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध के परिणाम स्वरूप पंजाब की शक्ति काफी कम हो गई। क्षेत्रीय नुकसान के साथ-साथ दरबार को अंग्रेजों के प्रभाव क्षेत्र में आना पड़ा। सही है कि अंग्रेजों ने पंजाब पर अधिकार नहीं किया, परन्तु इस युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेजों के लिए पंजाब पर अधिकार समय की बात है।

शीघ्र ही सिक्ख सरदारों को अपनी गलती का अहसास हो गया और मौके की तलाश करने लगे, जब गलती सुधारी जाए। अंग्रेजों ने रानी जिन्दन को कश्मीर विवाद पर संरक्षक मण्डल से हटा दिया। संरक्षक मण्डल अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बन गया। लाल सिंह ने कश्मीर में गुलाब सिंह के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। इस विद्रोह को दबाकर अंग्रेजों ने 16 दिसम्बर 1846 ई० को भैरोंवाल की संधि की। इस संधि के द्वारा सिक्ख प्रशासन की देखभाल करने के लिए अंग्रेज रेजिडेण्ट के नेतृत्व में आठ सरदारों की एक संरक्षक परिषद स्थापित की गई। लाहौर दरबार ने अपने यहाँ एक स्थायी अंग्रेजी सेना रखना और उसके व्यय के लिए 20 लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार किया। रानी सिन्दन को पेंशन देकर अलग कर दिया गया। जॉन लारेंस को नया रेजिडेण्ट नियुक्त किया गया जो ज्यादा शक्तिशाली था।

3.8 द्वितीय आंग्ल - सिक्ख युद्ध एवं पंजाब का विलय

प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध के परिणाम स्वरूप पंजाब में अंग्रेजों का प्रभाव क्षेत्र बढ़ा तथा सरदारों की प्रतिष्ठा को झटका लगा। अंग्रेजी साम्राज्यवाद की भूख समाप्त नहीं हुई, क्योंकि उसके लिए पंजाब पर सीधा अधिकार आवश्यक था। सिक्ख सरदार अपनी स्वाधीनता वापस चाहते थे। अतः दोनों में पुनः संघर्ष हुआ और पंजाब, ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

3.8.1 द्वितीय आंग्ल - सिक्ख युद्ध के कारण

प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध के बाद हार्डिंग के द्वारा की गई व्यवस्था अस्थायी सिद्ध हुई। इससे अंग्रेज एवं सिक्ख दोनों ही असंतुष्ट थे। अंग्रेजों ने 'फूट डालो एवं शासन करो' की नीति को पंजाब में नया आयाम दिया तथा मुसलमानों को अधिक सुविधाएँ प्रदान की। इससे सिक्ख सरदार नाराज थे। सेना से निकाले गए सैनिकों में भी असंतोष था क्योंकि उनकी जीविका का साधन समाप्त हो गया था। उन्हें यह विश्वास था कि उनकी पराजय सरदारों की गद्दारी से हुई है। इसलिए उनका मानना था कि पुनः युद्ध की स्थिति में वे अंग्रेजों को हरा देंगे। दरबार में अंग्रेज रेजिडेण्ट के हस्तक्षेप से भी सिक्ख सरदार तथा पदाधिकारी असंतुष्ट थे।

इसी असंतोष के वातावरण में जनवरी 1848 ई० में डलहौजी गवर्नर जनरल बनकर भारत आया। वह घोर साम्राज्यवादी था। उसका उद्देश्य सम्पूर्ण भारत पर प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से ब्रिटिश सर्वोच्चता स्थापित करना था। पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के लिए एक बहाने की तलाश में था। पंजाब पर पुनः आक्रमण का अवसर मुल्तान के सूबेदार मूलराज के विद्रोह ने प्रदान किया। यह विद्रोह द्वितीय आंग्ल-सिक्ख युद्ध का तात्कालिक कारण सिद्ध हुआ।

मूलराज इस समय मुल्तान का सूबेदार था। ब्रिटिश रेजिडेंट के दबाव में आकर उससे 20 लाख रुपया नजराना देने को कहा गया और रावी नदी के उत्तर का प्रदेश लाहौर दरबार को सौंप देने को कहा गया। यह निर्णय लिया गया कि मूलराज से जंग का जिला सदा के लिए ले लिया जाएगा और उसे लाहौर दरबार को कर के रूप में 25 लाख रुपया प्रथम वर्ष तथा बाद में 30 लाख रुपया प्रतिवर्ष देना पड़ेगा। मूलराज इसके लिए तैयार न था और उसने सूबेदारी से त्याग-पत्र दे दिया। ब्रिटिश रेजिडेंट फ्रेडरिक क्यूरी ने काहन सिंह को सूबेदार बनाकर दो ब्रिटिश पदाधिकारियों की देख-रेख में मुल्तान भेजा गया। दोनों अधिकारियों की हत्या कर दी गई तथा विद्रोह प्रारम्भ हो गया। विद्रोहियों ने मूलराज को अपना नेता मान लिया। शीघ्र ही विद्रोह पूरे पंजाब में फैल गया। शेर सिंह के नेतृत्व में लाहौर-दरबार ने विद्रोह दबाने के लिए एक सेना भेजी। परन्तु वह विद्रोहियों से मिल गया। सिक्खों ने पेशावर शहर अफगानों को देकर उनकी मित्रता तथा सहायता प्राप्त कर ली और अंग्रेजों के विरुद्ध सक्रिय हो गए।

अभी भी अंग्रेज शांत रहे और विद्रोह को फैलने दिया तथा विद्रोह दबाने का प्रयास नहीं किया गया, क्योंकि लाहौर-दरबार का विद्रोह करना या सम्मिलित होना जरूरी था। लाहौर अभी भी मित्र था, इसलिए उस पर अधिकार नैतिकता से परे था। अक्टूबर 1848 ई० में डलहौजी ने सिक्ख विद्रोह दबाने तथा पंजाब पर अधिकार करने का निर्णय लिया। डलहौजी ने घोषणा की कि सिक्खों ने पूर्व चेतावनी के बिना अकारण ही युद्ध की घोषणा कर दी है। अतः युद्ध प्रतिशोध के रूप में लड़ा जाना है।

3.8.2 युद्ध

16 नवम्बर 1848 ई० को जनरल ह्यू रोज तथा जनरल गॉफ ने नेतृत्व में ब्रिटिश सेना ने रावी नदी पार किया। 22 नवम्बर को रामनगर का युद्ध हुआ। इस युद्ध में ब्रिटिश सेना का नेतृत्व ह्यू रोज तथा सिक्खों का नेतृत्व शेर सिंह ने किया। शेर सिंह पराजित हुआ, परन्तु यह अनिर्णायक रहा। 13 जनवरी 1849 ई० को चिलियाँवाला का भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में दोनों पक्षों का नुकसान हुआ, परन्तु निर्णय नहीं हो पाया। 22 जनवरी को अंग्रेजों ने मुल्तान पर अधिकार कर लिया। मूलराज ने आत्म-समर्पण कर दिया। इस बीच शेर सिंह तथा छत्तर सिंह की सेनाएँ मिल गई थी। इसी समय चार्ल्स नेपीयर ने पंजाब में अंग्रेजी सेना का नेतृत्व संभाला। अंतिम एवं निर्णायक युद्ध चिनाव नदी के किनारे गुजरात नामक स्थान पर हुआ। इसमें सिक्ख बुरी तरह परास्त हुए। अंग्रेजों ने 25 किलोमीटर तक उनका पीछा किया। 12 मार्च 1849 ई० को शेर सिंह, छत्तर सिंह तथा अन्य सरदारों ने आत्म-समर्पण कर दिया। इस समय समस्त पंजाब अंग्रेजों की दया पर था।

3.8.3 द्वितीय आंग्ल-सिक्ख युद्ध के परिणाम

इस प्रकार गुजरात युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण पंजाब अंग्रेजों के समक्ष खुला हुआ था। डलहौजी के समक्ष कई विकल्प थे। युद्ध पूर्व की स्थिति बहाल की जा सकती थी, ब्रिटिश रेजिडेंट को और अधिक अधिकार दिया जाए अथवा पंजाब को ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में

मिला लिया जाए। इस समय गवर्नर जनरल डलहौजी था जिसका उद्देश्य भारत में ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना करना था। उसने निदेशक मण्डल की अनुमति की प्रतीक्षा के बिना स्वयं जिम्मेदारी पर 29 मार्च 1849 ई० को सम्पूर्ण पंजाब को ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसकी उद्घोषणा में कहा गया कि पंजाब का राज्य समाप्त हो गया है और अब तथा अब से आगे महाराजा दलीप सिंह का सम्पूर्ण राज्य अंग्रेजों के राज्य का एक भाग है। महाराजा दलीप सिंह को पेंशन देकर उसकी माँ रानी जिन्दन के संरक्षण में इंग्लैण्ड भेज दिया गया।

द्वितीय आंग्ल-सिक्ख युद्ध के परिणामस्वरूप पंजाब पर अधिकार होने से ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य की सीमा भारत की प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं तक विस्तृत हो गई। अंग्रेज अब अफगानिस्तान के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ गए? भारत में मुगल साम्राज्य के विखण्डन के पश्चात् उदित भारतीय शक्तियों में सिक्ख अंतिम शक्ति थे, जिनसे अंग्रेजों को खतरा हो सकता था, परन्तु 1849 ई० में उनकी निर्णायक हार ने इस खतरे को सदा के लिए समाप्त कर दिया। अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय उपमहाद्वीप पर अंग्रेजों का अधिकार पूर्ण हो गया।

3.9 पंजाब का विलय

इस प्रकार द्वितीय आंग्ल-सिक्ख युद्ध में विजय के पश्चात् डलहौजी ने नैतिकता तथा विधिक मान्यताओं को दरकिनार करते हुए 29 मार्च, 1849 ई० को एक घोषणा द्वारा सिक्खों के पंजाब राज्य को समाप्त करते हुए, पंजाब को भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग बना दिया। पंजाब को एक कमिश्नर प्रांत का दर्जा देते हुए, पंजाब का प्रशासन एक कमिश्नरों के बोर्ड को सौंप दिया, जिसमें लॉरेंस बंधुओं ने मुख्य भूमिका निभायी। अंग्रेजों ने पंजाब में फूंक-फूंक कर कदम रखा तथा अपने सुधार कार्यक्रमों से शीघ्र ही सिक्खों को अपना समर्थक बना लिया। यही कारण था कि “1857 ई० विद्रोह के समय पंजाब न केवल शान्त रहा, अपितु सिक्ख सैनिकों ने उसे दबाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

पंजाब को अंग्रेजी साम्राज्य में सम्मिलित किये जाने पर विभिन्न मत दिए गए हैं। इतिहासकारों के एक मत के अनुसार सिक्खों ने विद्रोह करके डलहौजी को पंजाब पर अधिकार करने के लिए बाध्य कर दिया और ऐसा करना आवश्यक हो गया। दूसरे मत के अनुसार डलहौजी का यह कार्य सर्वथा अन्यायपूर्ण था। लाहौर-दरबार अंत तक अंग्रेजों के प्रति बफादार था तथा संरक्षक परिषद के आठ सदस्यों में से केवल एक ने उस विद्रोह में भाग लिया था तथा एक अन्य पर शक था। इस प्रकार अंग्रेज एक वैध सत्ता के समर्थन में लाहौर थे। अतः उस वैध सत्ता को समाप्त करना न्याय संगत नहीं था। इसके अतिरिक्त दलीप सिंह का तो कोई अपराध ही नहीं सकता, क्योंकि वह नाबालिग था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने का आधार सिक्खों का विद्रोह या नैतिक अथवा कोई अन्य न्याय संगत आधार न था। उसका मूल आधार डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति थी जिसका शिकार आर्थिक एवं सामरिक रूप से महत्वपूर्ण पंजाब हुआ।

इस प्रकार डलहौजी की नीति की आलोचना चाहे जितनी भी आलोचना की जाए उसकी नीति की सफलता पर कोई विवाद नहीं रहा। पंजाब को भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य में

मिलाने के पश्चात् पंजाब का प्रशासन तीन कमिश्नरों के एक बोर्ड के हाथ में सौंपा। बाद में उसका शासन केवल जॉन लॉरेन्स के हाथ में रहा। सिक्खों का शान्त करने तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थक बनाने में उसकी भूमिका सराहनीय रही। उसने कूटनीति एवं कठोरता से शासन किया तथा अनेक सुधार भी किए। उसके शासन की सफलता इस बात से स्पष्ट है कि पंजाब की जीत के अल्प अंतराल पर हुए 1857 ई० के विद्रोह में सिक्ख शान्त रहे और अंग्रेजों का साथ दिया।

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए-

1. सिक्ख राज्य की स्थापना।
2. रणजीत सिंह की जीवनी तथा उपलब्धियाँ।
3. रणजीत सिंह का प्रशासन।
4. रणजीत सिंह के शासनकाल तक अंग्रेजों से संबंध।
5. प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध के कारण एवं परिणाम।
6. द्वितीय आंग्ल-सिक्ख युद्ध।

3.10 सारांश

इस प्रकार आपने अध्ययन किया कि भारत में मध्यकाल में हुए भक्ति आन्दोलन के दौरान पश्चिमोत्तर क्षेत्र में सिक्ख सम्प्रदाय की स्थापना गुरु नानक के द्वारा हुई। आर्थिक शोषण तथा धार्मिक उत्पीड़न के कारण सिक्ख धार्मिक सम्प्रदाय का सैनिक तथा राष्ट्रीय रूपान्तरण हुआ। विघटित होते मुगल साम्राज्य तथा लगातार हो रहे अफगान आक्रमण का लाभ उठाकर सिक्ख एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में उभर कर भारतीय राजनीतिक क्षितिज में चमकने लगे। यह एक ऐतिहासिक संयोग है कि ठीक इसी समय पूर्वी एवं दक्षिण भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपना व्यापारिक स्वरूप छोड़कर साम्राज्य निर्माण में लगी थी। उन्नीसवीं सदी में महाराजा रणजीत सिंह ने बिखरे हुए सिक्ख क्षेत्र को संगठित कर एक राष्ट्र निर्मित करने का प्रयास किया। द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध के दौरान अंग्रेजों का मित्रतापूर्ण संबंध सिक्खों के साथ स्थापित हुआ। सतलज पार के क्षेत्र को लेकर विवाद प्रारम्भ हुआ। रणजीत सिंह यथार्थवादी थे। उन्हें अपनी कमजोरी तथा अंग्रेजों की शक्ति का वास्तविक ज्ञान था। इसलिए अपने जीवनकाल (1839 ई०) तक अंग्रेजों से युद्ध टालता रहा। रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद सिक्ख राष्ट्र मण्डल की कमजोरियाँ सामने आ गईं। सिक्ख सरदार आपस में लड़ने लगे और अपने आपको राज दरबार की राजनीति में सम्मिलित कर लिया। राज दरबार ने सिक्ख सरदारों को कमजोर करने के उद्देश्य से सतलज पार कर अंग्रेजों से युद्ध के लिए उकसाया और आंग्ल-सिक्ख संघर्ष प्रारम्भ हुआ। 1845-46 ई० में प्रथम तथा 1848-49 ई० में द्वितीय आंग्ल-सिक्ख युद्ध सम्पन्न हुए और डलहौजी ने 1849 ई० में सम्पूर्ण पंजाब को अपने साम्राज्य का हिस्सा बना लिया। इस प्रकार अंग्रेजों ने अपने साम्राज्यवादी मनसा की पूर्ति के लिए अपने मित्र को भी नहीं छोड़ा और

आखिरी महत्वपूर्ण भारतीय भक्ति पर अधिकार कर लिया। शीघ्र ही लॉरेंस बंधुओं ने सिक्खों को शान्त कर अपना समर्थक बना लिया।

3.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 3.3 सिक्खों का उत्कर्ष।
2. देखिए 3.4 रणजीत सिंह का उत्थान एवं उपलब्धियां तथा 3.5.1 रणजीत सिंह का मूल्यांकन।
3. देखिए 3.4.1 रणजीत सिंह की प्रशासनिक व्यवस्था।
4. देखिए 3.5 रणजीत सिंह एवं अंग्रेजों के संबंध।
5. देखिए 3.7 प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध।
6. देखिए 3.8 आंग्ल-सिक्ख युद्ध एवं पंजाब का विलय।

3.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. Griffin, L. – Ranjit Singh.
2. Lunningham, J.D. – History of the Sikhs.
3. Singh, Khushwant – The Sikhs.
4. Bell, Evans – Annexation of the Punjab.
5. Banerjee – Anglo – Sikh Relations

3.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. ग्रोवर एवं यशपाल - आधुनिक भारत का इतिहास - एक नवीन मूल्यांकन
2. शर्मा, एल0पी0 - आधुनिक भारत।
3. Chhabra, G.S. – Advanced Study in the History of Modern India.
4. Chandra, Bipin – History of Modern India.
5. Aggarwal, J.C. – Modern Indian History.

6. Majumdar, Raychaudhuri and Datta – An Advanced History of India.

3.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. रणजीत सिंह की जीवनी तथा उपलब्धियाँ की चर्चा कीजिए।
2. रणजीत सिंह के शासन प्रबन्ध की समीक्षा कीजिए।
3. प्रथम आंग्ल-सिक्ख युद्ध के कारणों एवं परिणाम पर प्रकाश डालिए।
4. द्वितीय आंग्ल-सिक्ख युद्ध के कारणों तथा परिणामों की चर्चा कीजिए।
5. रणजीत सिंह एवं अंग्रेजों के संबंधों का विश्लेषण कीजिए।
6. अंग्रेजों द्वारा पंजाब विजय की समीक्षा कीजिए।

सिंध की विजय

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 सिंध की स्थिति
- 4.4 अंग्रेजों का सिंध के साथ आरंभिक संबंध
- 4.5 उन्नीसवीं सदी में सिंध के संबंध में अंग्रेजों की नीति
- 4.6 सिंध विजय का कारण
- 4.7 अंग्रेजों का सिंध के साथ युद्ध
- 4.8 सिंध का विलय
- 4.9 सिंध के विलय की आलोचना
- 4.10 सारांश
- 4.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 4.12 संदर्भ ग्रंथ
- 4.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.14 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

अंग्रेजों का भारत विजय उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पूर्ण हुआ। पश्चिमोत्तर में कच्छ की खाड़ी से जुड़े सिंध का सामरिक एवं व्यापारिक महत्व बहुत अधिक था। सिक्खों के साम्राज्य विस्तार तथा रूस - फ्रांसीसी विस्तार के भय ने अंग्रेजों की सिंध नीति में परिवर्तन किया। सिंध के शासक जिन्हें अमीर कहा जाता था, अंग्रेजों की सभी मांगे मानते रहे। परंतु आंग्ल-अफगान नीति के क्रम में अंग्रेजों ने 1843 ई० में एक युद्ध के पश्चात सिंध को ब्रिटिश भारतीय साम्राज्यवाद का शिकार बना लिया।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में अंग्रेजों के साम्राज्य स्थापना के क्रम में सिंध के विजय से अवगत कराना है। इस इकाई में आप निम्नांकित संबंधित विषयों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे -

1. सिंध की स्थिति।
2. सिंध की प्रशासनिक व्यवस्था।
3. सिंध के साथ अंग्रेजों के संबंध।

4. सिंध के साथ की गई विभिन्न संधियां।
5. सिंध का ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में विलय।

4.3 सिंध की स्थिति

मुगल साम्राज्य के विखण्डन के पश्चात सिंध एक क्षेत्रीय राजनीतिक इकाई के रूप में उदित हुआ। अठारहवीं सदी में यहां कोल्लरों का शासन था। तालपुरा की बलोच जनजाति पहाड़ों से उतरकर यहाँ बसने लगी। उन्होंने कृषि एवं व्यापार से धन अर्जित कर लिया तथा राजनीति में हस्तक्षेप करना प्रारंभ किया। अन्ततः 1783 ई० में इन्होंने सिंध पर अधिकार कर लिया तथा तीन प्रमुख अमीरों ने सिंध को आपस में बांट लिया। इस प्रकार मीर फतेह अली खान द्वारा सिंध पर वलूचियों का शासन स्थापित हुआ। 1800 ई० में सिंध में अमीरों का अधिकार क्षेत्र निर्मित हुआ। सिंध के उपरि भाग की राजधानी खैरपुर, निचले भाग की राजधानी हैदराबाद तथा दोनों के मध्य एक छोटा क्षेत्र जिसकी राजधानी मीरपुर थी। सिद्धान्त में हैदराबाद का अमीर सम्पूर्ण सिंध का मालिक था, परंतु व्यावहारिक रूप से अमीर स्वतंत्र थे और आपस में लड़ते रहते थे। इन अमीरों ने साम्राज्य विस्तार का प्रयास किया परंतु सिक्ख तथा अफगान शक्तियों ने इस पर रोक लगा दी। इस प्रकार सिंध राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण नहीं था। परंतु सामरिक एवं व्यापारिक दृष्टि से सिंध काफी महत्वपूर्ण था।

4.4 अंग्रेजों का सिंध के साथ आरंभिक संबंध

भारतीय उपमहाद्वीप में अंग्रेजों ने पश्चिम समुद्र तट से ही अपना व्यापारिक संबंध प्रारंभ किया था और मुगल शासक से अनुमति लेकर विभिन्न फैक्टरियां स्थापित की थीं। 1630 ई० में अंग्रेजों सिंध क्षेत्र में भी फैक्टरियां स्थापित की थीं लेकिन विभिन्न कारणों से सिंध अंग्रेजों को आकर्षित नहीं कर पाया। 1758 ई० में अंग्रेजों ने थट्टा में एक बही फैक्टरी स्थापित की। अमीरों के हस्तक्षेप एवं कर लगाने के कारण 1775 ई० से व्यापार कम कर दिया तथा 1792 ई० में इसे बंद कर दिया गया। वेल्लेजली के शासनकाल में 1799 ई० में तालपुरा अमीरों के दरबार में भेजा गया व्यावसायिक मिशन अमीरों से छूट प्राप्त करने में असफल रहा। इसी समय नेपोलियन के आक्रमण के भय ने अंग्रेजों को सिंध के साथ अपने संबंध पर पुनर्विचार को बाध्य कर दिया। 1801 ई० सिंध के अमीरों से एक मित्रता की संधि हुई जिसमें अमीरों ने वायदा किया कि वे अपने क्षेत्र में फ्रांसीसियों को नहीं बसने देंगे। इस प्रकार अठारहवीं सदी तक अंग्रेजों की सिंध में कोई विशेष रुचि नहीं थी परंतु उन्नीसवीं सदी के आरंभ से ही संबंध में परिवर्तन आया एवं अंग्रेजों की लालची दृष्टि सिंध पर पड़ी।

4.5 उन्नीसवीं सदी में सिंध के संबंध में अंग्रेजों की नीति

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भारतीय तथा यूरोपीय राजनीति में हुए परिवर्तन ने सिंध के संबंध में अंग्रेजों की नीति में परिवर्तित किया। भारत में द्वितीय आंग्ल - मराठा युद्ध के पश्चात् मराठा शक्ति का पतन केवल समय की बात थी। पंजाब के सिक्ख शासक रणजीत सिंह से

मित्रता थी। पश्चिमोत्तर सीमा पर फ्रांसीसी तथा रूसी दबाव बढ़ रहा था। इसलिए अंग्रेजों ने अब अपना ध्यान पश्चिमोत्तर सीमा पर केन्द्रित किया और सिंध से संबंधित तटस्थता की नीति का परित्याग किया। 1809 ई० में मिन्टो के शासनकाल में सिंध के अमीरों के साथ चिरंतन मित्रता की संधि हुई जिसका नवीनीकरण 1820 ई० में हुआ। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के प्रमुख एलनबरो के निर्देश पर एलेग्जैण्डर बर्न्स ने 1831 ई० लाहौर जाते हुए सिंधु नदी के सामरिक तथा व्यापारिक महत्व को उजागर किया। इस यात्रा के पश्चात अंग्रेजों ने सिंध पर अधिकार का बहाना खोजना प्रारंभ किया। इस यात्रा को देखकर एक सैयद ने कहा था, “सिंध अब अंग्रेजों के अधीन गया क्योंकि अंग्रेजों ने सिंध के विजय राजमार्ग सिंधु नदी को देख लिया”। यह उक्ति शत प्रतिशत सच साबित हुई।

4.6 सिंध विजय के कारण

सिंध से मित्रता के बावजूद अंग्रेजों ने 1843 ई० में सिंध को भारतीय साम्राज्य में मिला लिया। सिंध पर अंग्रेजों के आक्रमण एवं अधिकार के कारणों की व्याख्या निम्नवत की जा सकती है -

सिंध पर सिक्ख शासक महाराजा रणजीत सिंह की साम्राज्यवादी मनसा को रोकने के लिए अंग्रेजों ने सिंध पर नियंत्रण करना उचित समझा। विलियम बैंटिक के समक्ष 1831 ई० में रोपड़ में महाराजा रणजीत सिंह ने प्रस्ताव रखा था कि सिंध को जीत कर आपस में बांट लिया जाय। बैंटिक ने महाराजा रणजीत सिंह को रोकने के उद्देश्य से कर्नल पोर्टिंगर को 1832 ई० सिंध भेजा। कर्नल पोर्टिंगर ने अमीरों को भयभीत कर एक संधि की, जिसकी शर्तें निम्नवत थीं -

1. अंग्रेज व्यापारियों तथा पर्यटकों के लिए सभी स्थल तथा जलमार्ग खोल दिए जाय।
2. अंग्रेज इन रास्तों का उपयोग युद्ध सामग्री भेजने के लिए नहीं करेंगे तथा नदियों से कोई युद्धपोत नहीं गुजरेगा।
3. पर्यवेक्षकों को पहचान पत्र रखना होगा तथा सिंध में बसने का अधिकार नहीं होगा।
4. आयात - निर्यात कर की दरें निर्धारित होंगी, जिसमें परिवर्तन अमीरों के द्वारा किया जा सकता है।
5. अंग्रेज किसी भी प्रकार का सैनिक कर अथवा सहायता सिंध से नहीं लेंगे।
6. अमीर समुद्री डाकुओं पर नियंत्रण रखेंगे।
7. पूर्व में की गई मित्रता की संधियों की पुनः पुष्टि की गई तथा एक दूसरे की सीमा का उल्लंघन नहीं करने का वचन दिया गया।
8. भविष्य में वार्ता जारी रहेगी।

इस प्रकार अंग्रेजों को सिंध में पहली सफलता मिली। सिंध ने अफगानिस्तान से सहायता मांगी परंतु कोई लाभ नहीं मिला। इस संधि के आधार पर 1834 ई० में व्यापारिक संधि

के द्वारा करों का निर्धारण किया गया और कच्छ के रेजिडेंट कर्नल पोर्टिंगर को राजनैतिक एजेण्ट नियुक्त किया गया। कम्पनी ने संधि के शर्तों का उल्लंघन करते हुए सिंध नदी पर लगाए गए चुंगी कर में हिस्सा मांगना प्रारंभ कर दिया।

महाराजा रणजीत सिंह ने पुनः सिंध पर आक्रमण की योजना बनाई। रणजीत सिंह ने सीमा पर स्थित रोझन नामक शहर पर अधिकार कर लिया था। भारत के गवर्नर जनरल ऑकलैण्ड ने कर्नल पोर्टिंगर को हैदराबाद भेजा। पोर्टिंगर ने सिक्खों के आक्रमण का भय दिखाकर सहायता का प्रस्ताव रखा। इसके लिए सिंध क्षेत्र में सेना की एक टुकड़ी रखी जाएगी। मजबूर होकर 1838 ई० में अमीरों ने एक संधि के द्वारा सिक्खों के साथ झगड़े में ब्रिटिश मध्यस्थता स्वीकार कर ली तथा एक ब्रिटिश रेजिडेंट रखने को राजी हो गए। इस प्रकार सिंध अब अंग्रेजों के संरक्षण में आ गया। दबाव में की गई इस संधि के लिए अंग्रेजों पर अनैतिकता का आरोप ब्रिटिश लेखक जैसे चार्ल्स नेपियर, पी०ई० रॉबर्ट्स तथा वी०ए० स्मिथ लगाते हैं। इस प्रकार सिक्ख आक्रमण के बहाने सिंध की स्वतंत्रता पर काले बादल मंडराने लगे।

अंग्रेजों के द्वारा सिंध पर विजय अफगान समस्या के समाधान के क्रम में किया गया। अफगान समस्या के समाधान के उद्देश्य से अंग्रेजों ने महाराजा रणजीत सिंह तथा अफगान के भगोड़े शासक शाहशूजा के साथ त्रिपक्षीय संधि की। इस संधि के द्वारा रणजीत सिंह ने सिंध के अमीरों से झगड़े में कम्पनी की मध्यस्थता स्वीकार कर ली तथा सिंध के अमीरों से नजराने का शेष राशि मिलने पर शाहशूजा सिंध पर अपना दावा छोड़ने को तैयार हो गया।

शाहशूजा ने अमीरों पर दावा पहले ही छोड़ दिया था परंतु अंग्रेजों ने अपने अफगान अभियान के लिए धन एकत्र करने के उद्देश्य से शेष राशि का मुद्दा उठाया। इस शेष राशि का निर्धारण अंग्रेजों के द्वारा किया जाना था। अंग्रेजों ने इसे 25 लाख रुपये निर्धारित किया और कर्नल पोर्टिंगर को हैदराबाद भेजा गया। वास्तव में अंग्रेजों की योजना अफगान अभियान में सिंध को आधार कैंप तथा आपूर्ति पंक्ति के रूप में उपयोग करने की थी। ऐसा करना अंग्रेजों की मजबूरी भी थी क्योंकि रणजीत सिंह ने ब्रिटिश सेना को पंजाब से गुजरने की अनुमति नहीं दी थी। पोर्टिंगर ने अमीरों पर धन देने के लिए दबाव बनाना शुरू किया तथा पूर्व में की गई संधि जिसके द्वारा सिंध होकर ब्रिटिश सेना या युद्धपोत नहीं जायेंगे रद्द करने की मांग की। पोर्टिंगर ने स्पष्ट कर दिया की अंग्रेजों की शर्तें नहीं मानने पर सिंध को समाप्त कर दिया जाएगा। अमीरों ने शाहशूजा को धन देने की मांग को गलत बताया, क्योंकि वह अपना दावा पहले ही छोड़ चुका था। पोर्टिंगर ने तर्क दिया, “जिस राजा को आप विगत 25 वर्षों से रोटी दे रहे हैं, उसकी ओर से मांग आपकी मांग है न कि शाह की।”

ठीक इसी समय जॉन कीन एक सेना लेकर हैदराबाद पहुंच गया। इस दबाव में आकर अमीर अब सारी शर्तें मानने को तैयार हो गए। फरवरी 1839 ई० में शिकारपुर तथा भक्कड़ में ब्रिटिश सेना रखने तथा सेना के रख-रखाव के लिए धन देने पर अमीर राजी हो गए। संधि के इस दस्तावेज को ऑकलैण्ड ने अपने अनुसार बदला और 11 मार्च 1839 ई० को नहीं चाहते हुए अमीरों को इस पर हस्ताक्षर करने पड़े। यह एक सहायक संधि थी जिसका अर्थ था अमीरों के द्वारा अपनी स्वतंत्रता को अंग्रेजों के अधीन करना। इस संधि की शर्तें निम्नांकित थी -

1. ब्रिटिश सेना सिंध क्षेत्र में रखी जाएगी।
2. इस सेना के रख - रखाव के लिए अमीर 3 लाख वार्षिक कर देंगे।
3. भक्कड़ तथा शिकारपुर का किला अंग्रेजों को दिया जाएगा।
4. करांची अंग्रेजों को दे दिया गया।
5. एक स्थायी ब्रिटिश रेजिडेण्ट की नियुक्ति की जाएगी।
6. अमीर अपनी क्षमता अनुसार अंग्रेजों को सैनिक तथा अन्य सहायता देंगे।
7. अंग्रेज सिंध क्षेत्र का उपयोग किसी भी उद्देश्य के लिए करेंगे।
8. अंग्रेज आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करेंगे तथा बाह्य आक्रमण की स्थिति में सिंध की रक्षा करेंगे।

इस प्रकार सिंध के अमीरों पर अमानवीय एवं अनुचित दबाव बनाकर ऑकलैण्ड ने संधि पर हस्ताक्षर करा लिये। सिंध अब ब्रिटिश संरक्षण में आ गया और अमीरों की स्वतंत्रता जाती रही। केवल नाम के लिए सिंध पर अधिकार करना शेष रह गया। इसी समय करांची पर लगभग अधिकार कर लिया था।

अंग्रेजों द्वारा सिंध की विजय का कारण आंग्ल - अफगान युद्ध (1839 - 42 ई०) भी था। प्रोफेसर आर०सी० मजूमदार के शब्दों में “सिंध की विजय अफगान युद्ध से संबंधित ही नहीं बल्कि उसका परिणाम भी थी।” इसी प्रकार सिंध की विजय का मुख्य नायक चार्ल्स नेपियर ने लिखा है: “सिंध विजय अफगान तूफान की पूंछ थी।” अफगान युद्ध के दौरान पुरानी संधियों को तोड़ते हुए अंग्रेजों ने युद्ध के लिए सिंध का उपयोग किया। अमीरों को सैनिक तथा आर्थिक भार उठाना पड़ा। कर के अतिरिक्त उन्हें धन तथा सामान देना पड़ा तथा सिंध के कई हिस्सों पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिए। अंग्रेजों का प्रभाव क्षेत्र विस्तृत हो गया। इस बफादारी के बावजूद अंग्रेजों ने अमीरों पर षड्यंत्र करने तथा असहयोग का आरोप लगाया तथा सिंध पर अधिकार करने की योजना बनानी प्रारंभ कर दी। अफगान युद्ध में अंग्रेजों को हुई क्षति के पश्चात उन्होंने अपनी छवि सुधारने एवं प्रतिष्ठा बचाने के लिए भी सिंध पर अधिकार करना जरूरी समझा।

इस प्रकार उपरोक्त कारणों से अंग्रेजों ने सिंध पर विजय की योजना का कार्यरूप देना प्रारंभ किया। ठीक इसी समय एलनबरो भारत का गवर्नर जनरल बनकर भारत आया और उसने शीघ्रता से इस योजना को कार्यरूप दिया।

4.7 अंग्रेजों का सिंध के साथ युद्ध

एलनबरो को 1842 ई० में भारत का गवर्नर जनरल बनाया गया। उसने कार्यभार ग्रहण करते ही सिंध के विलय की योजना को कार्यरूप देना शुरू कर दिया। उसने आउट्रम के स्थान पर चार्ल्स नेपियर को हैदराबाद में रेजिडेण्ट नियुक्त किया और इसे समस्त सैनिक, असैनिक तथा राजनयिक अधिकार प्रदान कर दिए गए। सिंध के अमीरों पर लगाए गए आरोपों के अलावा भी नए आरोप लगाए गए। नेपियर घोर विस्तारवादी और विलयवादी था। अपने नए आरोप पत्र में

उसने अमीरों पर अंग्रेजों के प्रति वफादार नहीं होने का आरोप लगाया। प्रमुख अंग्रेज इतिहासकार एवं आई०सी०एस०, वी०ए० स्मिथ का मानना है कि नेपियर सिंध के विलय के लिए प्रतिबद्ध था इसलिए उसने आक्रामक नीति अपनाई। उसने जल मार्ग पर नियंत्रण का बहाना बनाया।

खैरपुर के अमीर रूस्तम खां पर आरोप लगाया गया कि उसने संधि की धाराओं का उल्लंघन करते हुए विदेशी शक्तियों से बात की है, अंग्रेज व्यापारियों तथा पदाधिकारियों के साथ दुर्व्यवहार किया है, सिंधु नदी से यातायात में बाधा डाली है तथा ब्रिटिश नागरिकों को अवैध रूप से बंधक बना रखा है। हैदराबाद के नासिर खां पर यह आरोप था कि अंग्रेजों के मित्र एवं अधीनस्थ मीरपुर के शेर मुहम्मद के साथ सीमा विवाद में सेना एकत्र कर रखी है। साथ ही अमीर पर अंग्रेजों के विरुद्ध गुप्त आक्रामक तथा रक्षात्मक संधियां करने का आरोप लगाया गया।

गवर्नर जनरल एलनबरो की राय से चार्ल्स नेपियर ने एक संधि का प्रस्ताव रखा जिसमें भविष्य में अधिक नजराना देने तथा की गई गलती एवं अपराध के बदले कुछ नए प्रदेश सौंपने की बात की गई। नेपियर ने अमीरों से मांग की कि -

1. सिक्के ढालने का अधिकार अंग्रेजों को दे दें।
2. सिंध नदी में स्थित अंग्रेजी जहाजों को कोयले की आपूर्ति कर दें।
3. करांची, थड्डा, सक्कर, भक्कर तथा रोहरी के बीच के सभी भाग अंग्रेजों को दे दें।
4. 1845 ई० के पश्चात कम्पनी सिंध के जो नए सिक्के ढालेगी उनमें एक ओर इंग्लैण्ड की साम्राज्य की प्रतिमा होगी।

इसी समय खैरपुर में उत्तराधिकार का विवाद प्रारंभ हुआ। खैरपुर के अमीर रूस्तम खां ने अपने पुत्र मीर मुहम्मद को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। परंतु नेपियर ने अमीर के भाई अली मुराद को उसका उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। नेपियर ने 20 जनवरी 1843 ई० को खैरपुर पर आक्रमण कर दिया और इस प्रकार सिंध के साथ युद्ध छिड़ गया। खैरपुर के अमीर भी हैदराबाद चले गए ताकि मिलकर विद्रोह कर सकें। शेष अमीरों ने उपरोक्त संधि पर न चाहते हुए भी हस्ताक्षर कर दिए।

इस प्रकार नेपियर द्वारा निरन्तर अमीरों का अपमान किए जाने और सेना के साथ आगे बढ़ने के कारण हैदराबाद ने भी विद्रोह कर दिया। नेपियर तेजी से आक्रमण करना चाहता था। जिससे कि ग्रीष्म काल से पहले सिंध पर अधिकार हो जाए। उसने इमामगढ़ दूर्ग पर आक्रमण कर जनवरी 1843 ई० में ही जीत लिया। बलूची सैनिकों ने हैदराबाद में विद्रोह कर आउट्रम के आवास पर धाबा बोल दिया। आउट्रम को भागकर अपनी जान बचानी पड़ी। नेपियर ने भागकर जहाज पर शरण ली और कार्यवाही शुरू की। 17 फरवरी 1843 ई० को नेपियर ने बलूचियों को मियानी तथा 24 मार्च 1843 ई० को दाबो नामक स्थान पर बुरी तरह परास्त किया। इस युद्ध में मीरपुर का अमीर शेर मुहम्मद भी परास्त हुआ। अप्रैल 1843 ई० तक समस्त सिंध पर अंग्रेजों

ने बलात् अधिकार कर लिया था। सभी अमीर लगभग घुटने टेक चुके थे। 4 अप्रैल को नेपियर ने गवर्नर जनरल एलनबरो को सूचित किया, “मैंने सिंध ले लिया है।” शेर मुहम्मद ने एक प्रयत्न और किया, परंतु 14 जून को पुनः उसकी पराजय हुई और वह भाग गया। इस प्रकार सिंध युद्ध समाप्त हुआ और सिंध पर अधिकार पूर्ण हुआ।

4.8 सिंध का विलय

इस प्रकार युद्ध प्रारंभ होने के लगभग पांच महीने के अंतर्गत ही समस्त सिंध अंग्रेजों के अधीन था। विरोध एवं विद्रोह शांत हो गए। गवर्नर जनरल एलनबरो ने अगस्त 1843 ई० में सिंध को ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी। इस प्रकार असहाय सिंध ब्रिटिश साम्राज्य में विलीन हो गया। लेफ्टिनेण्ट जनरल डब्ल्यू०एफ०पी० नेपियर ने चार्ल्स नेपियर के सिंध विजय की प्रशंसा की है, “इस प्रकार उसने हमारे एंग्लो-इण्डियन साम्राज्य को पश्चिम में एक अधिक छोटी तथा सुरक्षित सीमा प्रदान की और सिंध नदी पर अधिकार दिलाकर मध्य एशिया के लिए सीधा व्यापारिक मार्ग खोल दिया तथा एक बड़े प्रदेश में अंग्रेजी शक्ति की धाक जमा दी।” परन्तु सिंध विजय की आलोचना भी काफी प्रबल है।

4.9 सिंध के विलय की आलोचना

एलनबरो द्वारा सिंध के विलय की आलोचना समकालीन तथा परवर्ती इतिहासकारों तथा राजनीतिज्ञों ने की है। सिंध विलय की आलोचना इस घटना के नायक चार्ल्स नेपियर की डायरी से प्रारंभ होती है। नेपियर ने लिखा है: “हमें सिंध को अपने अधीन करने का अधिकार नहीं है, फिर भी हम ऐसा करेंगे और यह एक बहुत लाभदायक, उपयोगी तथा मानवतापूर्ण नीचता होगी।” हैदराबाद के पूर्व रेजिडेण्ट आउट्रम ने भी इस नीति की आलोचना की। उसके अनुसार ताकत का उपयोग सबसे आसान था परंतु अफसोस की बात की ताकत का उपयोग हमने अच्छे काम में नहीं किया। ब्रिटिश पार्लियामेंट तथा पत्रों में भी इस नीति की आलोचना हुई। एक पक्ष तो सिंध वापस अमीरों को लौटाने के पक्ष में था। परंतु साम्राज्यवादी बाध्यता ने सिंध विलय को उचित माना।

वास्तव में सिंध पर अधिकार करना अनुचित था, क्योंकि सिंध के साथ मित्रता की संधियां की गई थीं। समय-समय पर अंग्रेजों द्वारा संधियों में किए गए एक तरफा बदलाव को भी सिंध के अमीरों ने स्वीकार किया। अमीरों ने अफगान युद्ध के समय भी पूर्ण सहयोग किया परंतु अंग्रेजों की लालची निगाहें तृप्त न हो पायीं। साथ ही अफगान युद्ध में अमीरों ने यथाशक्ति अंग्रेजों को अपना सहयोग प्रदान किया, परंतु अंग्रेजों ने अमीरों पर विविध निराधार एवं मन गढ़न्त आरोप लगाए। इस प्रकार सिंध मित्र के रूप में अपनी भूमिका अच्छी तरह निभा रहा था। परंतु अंग्रेजों ने नैतिकता की परवाह न करते हुए सामरिक एवं आर्थिक महत्व के कारण सिंध को अपनी साम्राज्यवादी नीति का शिकार बना लिया। अफगान में खोई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के उद्देश्य से भी सिंध पर अधिकार कर लिया गया।

इस प्रकार पश्चिमोत्तर में स्थित सिंध को 1843 ई0 में ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य का हिस्सा बना लिया गया। डॉ ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, “सिंध के अमीर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ऐसे अभागे शिकार थे, जो कहीं अपील भी नहीं कर पाए।”

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए -

1. अंग्रेजों की सिंध विजय।
2. सिंध विजय अफगान युद्ध के परिणाम के रूप में।

4.10 सारांश

इस प्रकार आपने अध्ययन किया कि सिंध, भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य के पश्चिमोत्तर में स्थित एक स्वतंत्र राज्य था, जहां बलूची जनजातियों ने अपना शासन स्थापित किया था। यहां के शासक अमीर कहलाते थे। अंग्रेजों का सिंध के साथ गहरे संबंध की शुरुआत एलेग्जेण्डर बर्नर्स की सिंध यात्रा से शुरू हुई जब सिंध का आर्थिक तथा सामरिक महत्व सामने आया। अंग्रेज शक्तिशाली सिक्ख शासक महाराजा रणजीत सिंह तथा अफगानिस्तान से बचाने के बहाने सिंध से विभिन्न सुविधाएं प्राप्त करते रहे और मित्र बनने का ढोंग करते रहे। परंतु प्रथम आंग्ल - अफगान युद्ध में अंग्रेजों की बुरी स्थिति तथा एलनबरो की विस्तारवादी नीति का शिकार बना सिंध और एक छोटे संघर्ष के उपरांत अगस्त 1843 ई0 में सिंध को भारतीय साम्राज्य में मिला लिया गया। सिंध की विजय अनैतिक कदम था। परंतु आर्थिक एवं सामरिक महत्व के कारण अंग्रेजों ने चार्ल्स नेपियर के आक्रामक सिंध नीति का समर्थन करते हुए इसे उचित बताया।

4.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 4.1 प्रस्तावना, 4.4 अंग्रेजों का सिंध के साथ आरंभिक संबंध, 4.5 उन्नीसवीं सदी में सिंध के संबंध में अंग्रेजों की नीति, 4.6 सिंध विजय का कारण, 4.7 अंग्रेजों का सिंध के साथ युद्ध तथा 4.8 सिंध का विलय।
2. देखिए 4.6 सिंध विजय का कारण, 4.7 अंग्रेजों का सिंध के साथ युद्ध।

4.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. Lambrick, H.T. – Sir Charles Napier and Sind.
2. Khera, P.N. – Annexation of Sind.
3. William Napier – Conquest of Sind.
4. Dodwell, H.H. – Cambridge History of India.
5. Smith, V.A.- Oxford History of India.
6. Roberts, P.E. - History of British India.

4.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. यशपाल एवं ग्रोवर - आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन।
2. शर्मा, एलपी - आधुनिक भारत।
3. Chhabra, G-S – Advanced Study in the History of Modern India, Vol. 2
4. Aggarwal, J.C. – Modern Indian History.
5. Majumdar, Raychaudhuri and Datta – An Advanced History of India.

4.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. अंग्रेजों द्वारा सिंध की विजय की चर्चा कीजिए।
2. “हमें सिंध को अपने अधीन करने का अधिकार नहीं है, फिर भी हम ऐसा करेंगे और यह एक बहुत लाभदायक, उपयोगी तथा मानवतापूर्ण नीचता होगी।” इस कथन की व्याख्या कीजिए।

ब्लॉक चार- आधुनिक भारत का इतिहास: भारतीय प्रतिक्रिया एवं प्रत्युत्तर

- इकाई एक- 1857 का विद्रोह: 1857 के पूर्व के विद्रोह, 1857 का विद्रोह: कारण, प्रमुख नेता, घटनाएँ एवं प्रसार, प्रकृति, असफलता के कारण एवं परिणाम
- इकाई दो- औपनिवेशिक राज्य के उपकरण: सेना, पुलिस एवं कानून
- इकाई तीन- लोकप्रियप्रतिरोध:संथाल विद्रोह(1857),नील विद्रोह (1860) डेक्कन दंगे(1875)
- इकाई चार- आधुनिक भारत में धर्म तथा समाज सुधार आंदोलन

1857 का विद्रोह: 1857 के पूर्व के विद्रोह, 1857 का विद्रोह: कारण, प्रमुख नेता, घटनाएँ एवं प्रसार, प्रकृति, असफलता के कारण एवं परिणाम

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 1857 से पहले के विद्रोह

1.4 कारण

1.4.1 दीर्घकालिक कारण

1.4.1.1 किसानों का शोषण

1.4.1.2 परंपरागत आर्थिक ढांचे का विनाश

1.4.1.3 राज्य हड़प की नीति और अवध का विलय

1.4.1.4 धार्मिक- सामाजिक मान्यताओं में हस्तक्षेप

1.4.1.5 विदेशी शासन और नस्लीय भेदभाव

1.4.1.6 मध्य एवं उच्च वर्गों की उपेक्षा

1.4.1.7 एकक्षत्र राजनीतिक प्रभुसत्ता बनाने के प्रयास

1.4.1.8 तात्कालिक कारण: चर्बीदार कारतूस

1.5 1857 का विद्रोह

1.5.1 मेरठ छावनी में विद्रोह

1.5.2 दिल्ली कूच

1.5.3 विद्रोह का क्षेत्रीय तथा सामाजिक विस्तार

1.5.4 विद्रोह का नेतृत्व तथा विभिन्न केंद्र

1.5.4.1 बहादुरशाह ज़फर

1.5.4.2 नाना साहेब एवं तातियाँ टोपे

1.5.4.3 रानी लक्ष्मीबाई

1.5.4.4 कुंवर सिंह

1.5.4.5 मौलवी अहमदुल्लाह

1.5.4.6 खान बहादुर खां

1.5.4.7 बेगम हज़रत महल एवं बिरजीश कादिर

1.5.4.8 शहजादा फ़िरोज़

1.5.4.9 असंख्य अज्ञात सिपाही एवं नागरिक

1.6 विद्रोह का दमन

- 1.7 असफलता के कारण
 - 1.7.1 विचारधारा एवं कार्यक्रम का अभाव
 - 1.7.2 तकनीक एवं संसाधनों की कमी
 - 1.7.3 भारतीयों की आपसी फूट और वैमनस्य
 - 1.7.4 नेताओं की आपसी जलन एवं प्रतिस्पर्धा
 - 1.7.5 ब्रिटिश सेना की अद्वितीय शक्ति
 - 1.7.6 शिक्षित भारतीयों द्वारा विरोध
- 1.8 विद्रोह की प्रकृति
- 1.9 परिणाम
- 1.10 सारांश
- 1.11 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.12 सन्दर्भ- ग्रन्थ सूची
- 1.13 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

1857 का विद्रोह भारत के औपनिवेशिक इतिहास का पहला व्यापक जनप्रतिरोध था। जिसने भारत में कुछ समय के लिए ब्रिटिश राज की चूलें हिला दीं। यह विद्रोह इतना व्यापक था कि लगभग समूचा उत्तर और मध्य भारत इसकी चपेट में आ गए। भले ही इस विद्रोह की शुरुआत मेरठ छावनी में कुछ सिपाहियों की खुली बगावत से शुरू हुयी थी, इस विद्रोह का स्वरूप कहीं ज्यादा व्यापक था। एक बार चिंगारी भड़कते ही लाखों-लाख किसान, दस्तकार, हस्तशिल्पी, दिहाड़ी मजदूर और जमींदार – सब अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ने में जुट गए। और, लगभग एक साल तक बहादुरीपूर्ण तरीके से हर मोर्चे का सामना किया। यह 19 वीं सदी में किसी भी उपनिवेशवादी सत्ता के विरुद्ध सबसे बड़ा जनविद्रोह था।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको **1857** के विद्रोह के बारे में विस्तार से अवगत कराना है। संयोगवश भारत में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की औपचारिक शुरुआत-**1757** के प्लासी के युद्धके ठीक सौ साल बाद कम्पनी शासन के विरुद्ध यह ताकतवर जन प्रतिरोध खड़ा हुआ था। इस इकाई में आप इस विद्रोह के कारणों, घटनाओं, क्षेत्रीय विस्तार, नेतृत्व, विद्रोह के पतन, उसकी असफलता के कारणों और इस विद्रोह के परिणामस्वरूप उभरने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे।

1.3 1857 से पहले के विद्रोह

कम्पनी राज में विद्रोह कोई अनोखी बात नहीं थी। शायद ही ऐसा कोई वर्ष रहा हो जब उसे स्थानीय स्तरों पर विद्रोह का सामना न करना पड़ा हो। 1763 से लेकर 1856 तक कंपनी के अधीन राज्य में तकरीबन 40 बड़े विद्रोह हुए थे। इस आंकड़े में सैंकड़ों छोटे विद्रोह शामिल नहीं हैं। पहला सिपाही विद्रोह भी बक्सर की लड़ाई के वर्ष यानि 1764 में बंगाल में फूटा था। जिसे अभूतपूर्व सरख्ती के साथ कुचल दिया गया था। 30 सैनिकों को तोपकी नाल से बांधकर उड़ा दिया गया था। 1806 में वेल्लोर का प्रसिद्ध सैनिक विद्रोह हुआ, जो केवल एक दिन ही चला था। दोनों ही तरफ से भयानक-खून खराबा हुआ और सैंकड़ों सैनिकों को इस विद्रोह में अपनी जान से हाथधोना पड़ा। इस विद्रोह की जड़ें भी धार्मिक मान्यताओं में कम्पनी सरकार के हस्तक्षेप में छुपी थीं। इसके बाद, 1824 में बैरकपुर की 47 वीं रेजिमेंट ने उस वक़्त बर्मा जाने से इनकार कर दिया जब आंग्ल- बर्मा युद्ध (1824-26) चल रहा था। मैदान में इकट्ठा बागी रेजिमेंट पर तोपों से गोले बरसाए गए और आर्मी लिस्ट से पूरी की पूरी रेजिमेंट का नामो-निशान मिटा दिया गया। 1825 में आसाम के तोपखाने में सैनिक विद्रोह पर उतर आये। फिर 1844 का साल कम्पनी के लिए बड़ी परीक्षा बन कर आया। इस साल सेना की कुल 7 बटालियनों में विद्रोह हुए बहरहाल, इन विद्रोहों की प्रकृति अपने मूल स्वरूप में सैनिक विद्रोह की ही बनी रही। जनता की सहानुभूति के बावजूद ये विद्रोह किसानों और मजदूरों तथा अन्य वर्गों तक नहीं फैल सके। 1857 के विद्रोह के साथ इन विद्रोहों की चर्चा करने का उद्देश्य सैनिक विद्रोहों की परंपरा का उल्लेख- मात्र करना है। इनको किसी भी रूप में 1857 के विद्रोह की पूर्वपीठिका नहीं माना जा सकता।

1.4 कारण

1.4.1 दीर्घकालिक कारण

1.4.1.1 किसानों का शोषण

भले ही 1857 के विद्रोह की शुरुआत एक सैनिक विद्रोह से हुयी थी, उसकी जड़ें कृषक असंतोष में छुपी हुयी थीं। दरअसल, सैनिक भी उसी समाज का हिस्सा थे जिसका अंगरेजी शासन द्वारा पिछले 100 सालों में भयानक शोषण किया गया था। बिपन चन्द्र के शब्दों में कहें तो "सैनिक वर्दीधारी किसान" थे। सर जेम्स आउट्रम ने लिखा भी है- "अवध का हर किसान परिवार, बिना किसी अपवाद के, अपने परिवार के एक आदमी को सेना में भेजता ही था"। इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि कम्पनी की कुल सेना में 75,000 सिर्फ अवध के थे।

वास्तव में, खेती की अवनति ने किसान परिवारों को आय के दूसरे साधन तलाशने के लिए मजबूर किया था। इस तरह, सैनिकों की चिंताएं वस्तुतः देश के बाकी वर्गों से भिन्न नहीं थीं।

1857 विद्रोह के ठीक पहले करीब **14,000** याचिकाएं सैनिकों की ओर से दायर की गयी थी जिनमें भूराजस्व व्यवस्था के खिलाफ असंतोष ज़ाहिर किया गया था।

अंग्रेजों की भूमि और भूराजस्व संबंधी नीतियों ने किसान को ज़मीन के मालिकाना हक से वंचित कर दिया था। वे अब काश्तकार की से हैसियत से गिरकर बंटाईदार बनकर रह गए थे। अब लगान न चुकाए जाने की स्थिति में ज़मींदार किसानों की ज़मीनें नीलाम करा सकता था। परन्तु, ज़मींदार को भी निर्धारित लगान न वसूलने की स्थिति में अपनी ज़मींदारी से हाथ धोना पड़ता था। ज़मींदारों से छीनी गयी ज़मीनों को और ऊंचे दामों पर नीलाम कर और अधिक लगान वसूलने की कोशिश की जाती थी। एक अनुमान के मुताबिक **1794** और **1807** के बीच ज़मींदारों की लगभग आधी ज़मीनें बेच दी गयी थीं। ऐसी ज़मीनों पर मनचाही बोलियाँ लगाकर ज़मीनें खरीदने वाले लोग गावों के यथार्थ से कटे हुए शहरी, संपन्न लोग होते थे। जो अपने बिचौलियों के माध्यम से लगान की तय रकम वसूलने के सब हथकंडे अपनाते थे। इस नए चलन ने "दूरस्थ ज़मींदारी" को बढ़ावा दिया। जिससे कि गाँव के प्रशासन में बाहरी लोगों का आविर्भाव हुआ, जिनका ग्रामीणों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था।

सूर्यास्त क़ानून जैसी दमनकारी परम्पराएं चलायी गयी थीं। जिसमें लगान चुकाने की आख़री तारीख को सूर्यास्त के साथ ही किसान की ज़मीन की बोली लगा दी जाती थी। तिस पर भी उन्हें अपने खेतों में मनचाही फसल उगाने का अधिकार नहीं था। कम्पनी सरकार उनसे कच्चा कपास, कच्चा रेशम और नील जैसी फसलें उगाने को बाध्य करती थी, जिनकी अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में खासी मांग थी। इस तरह खेती का वाणिज्यीकरण एक नयी प्रवृत्ति बन गया।

इस तरह, ज़मींदार, महाजन और बिचौलियों के तिहरे मकडजाल में उलझा किसान कर्जे के दलदल में डूबता जा रहा था। लगभग पूरे साल भुखमरी की कगार पर रहकर अपनी ज़िन्दगी चलाना उनकी नियति बन गया था। इस स्थिति में पड़ने वाले अकालों में मरने वालों की संख्या बहुत बढ़ जाती थी। **1770** और **1857** के बीच तकरीबन **12** भीषण और अनेकों छोटे अकाल पड़े थे।

1.4.1.2 परंपरागत आर्थिक ढांचे का विनाश

अंग्रेजों ने भारत के अधिकतम आर्थिक दोहन के लिए परंपरागत आर्थिक ढांचे का विनाश किया था। भारत का सूती कपड़ा उद्योग, जिसकी गुणवत्ता और कम कीमत की दुनिया भर में धाक थी, इस शोषण का सबसे बुरा शिकार बना। लन्दन और मैनचेस्टर के कारखानों में बनने वाले सूती कपड़े के आयात को बढ़ावा देने के लिए भारत में कम्पनी सरकार ने ब्रिटिश माल के आयात पर शुल्क में भारी कटौती कर दी थी। जिससे यह लगभग मुक्त व्यापार की वस्तु बन गयी थी। विदेश में मशीन से बने कपड़े के सामने हथकरघा उद्योग प्रतियोगिता में टिक न सका। यही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्य में हर कहीं भारतीय माल पर बहुत अधिक आयात शुल्क थोप दिए गए। भारतीय बुनकरों को कम्पनी ने बेहद कम दाम में अपना उत्पाद बेचने पर मजबूर किया गया। **1813** में ब्रिटिश सूती कपड़े का जो आयात **11,00,000** पौंड था, **1856** तक बढ़कर

63,00,000 पौंड हो गया था। और फिर, कच्चे कपास की बिक्री पर कम्पनी के एकाधिकार के बाद हथकरघा उद्योग की दम निकल गयी। कम्पनी के बेहद घाटे वाले सौदों से आजिज़ आकर अपने अंगूठे काट लेने वाले ढाका के बुनकरों की कहानियां तो प्रसिद्ध हैं। भारतीय उद्योगों के इस पतन को विऔद्योगीकरण कहा जाता है। लगभग यही हाल अन्य हस्तशिल्पों का भी हुआ जोकि कम्पनी शासन से पहले भारतीय राज्यों के संरक्षण में फल-फूल रहे थे। एक साथ कृषि और उद्योग दोनों की अवनति ने रोजगार और आजीविका का घोर संकट पैदा किया। जो कि कम्पनी राज की मजबूती के साथ और बढ़ता गया। दरअसल, प्रत्येक किसान, दस्तकार और हस्तशिल्पी, जिनमें से बहुतेरे आंशिक रूप से दस्तकार भी थे और किसान भी, दोहरा अभिशाप भुगत रहे थे।

1.4.1.3 राज्य हड़प की नीति और अवध का विलय

डलहौजी ने कम्पनी राज्य के विस्तार के लिए एक नीति चलायी थी, जिसे अब राज्य हड़प की नीति कहा जाता है। इस नीति के अंतर्गत **1848** में सतारा और **1854** में झाँसी और नागपुर को वाजिब उत्तराधिकारी न होनेकी वजह से हड़प लिया गया। **1856** में अवध का विलय भी कम्पनी राज में हो गया। यह ऐसा राज्य था जिसने कम्पनी राज के प्रति निष्ठां और वफादारी निभाने में कभी कोई कोर-कसर नहीं छोडी थी। इसके बाद लोगों में यह भावना घर करने लगी थी कि कम्पनी से वफादारी का कोई मोल नहीं है। कम्पनी का दावा था कि वह नवाब के कुशासन से लोगों को निजात दिलाएगी। लेकिन उन्होंने आते ही शोषण के सब औजार खोल दिए थे। कम्पनी सैनिकों में कम्पनी के इस कदम को लेकर जबरदस्त गुस्सा था। इस अधिग्रहण के फलस्वरूप अवध के **21,000** तालुकेदार सम्पत्तिविहीन हो गए थे। उनकी ज़मीनें ज़ब्त कर ली गयी थीं। वे भी कम्पनी राज के प्रति नफरत की आग से जल रहे थे। इस तरह कम्पनी सरकार के प्रति एक अविश्वसनीयता ने जन्म लेना शुरू कर दिया था।

1.4.1.4 धार्मिक- सामाजिक मान्यताओं में हस्तक्षेप

1820 के बाद कम्पनी राज ने सेना को समरूप बनाने के लिए सैनिकों के धार्मिक- सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप करने शुरू कर दिए थे। कम्पनी सरकार को लेकर एक बहुत गंभीर शिकायत ईसाई मिशनरी गतिविधियों और सामाजिक सुधारवादी कदमों से जुडी थी। ईसाई मिशनरी कम्पनी सरकार और प्रशासन के प्रोत्साहन से काफी मुखर ढंग से हिन्दू और मुस्लिम सामाजिक मान्यताओं की तीखी खिल्ली उड़ाते थे। ईसाई मिशनरियों का मुख्या उद्देश्य लोगों का धर्म परिवर्तन कराके उन्हें ईसाई बनाना हुआ करता था। **1850** में एक कानून के द्वारा धर्म परिवर्तन से ईसाई बनने वाले लोगों को उनकी पैत्रिक संपत्ति में हिस्सा कानूनी बना दिया गया। सेनामें कम्पनी के खर्चे पर रखे गए ईसाई धर्मप्रचारकों को लेकर सिपाहियों में भी बहुत गुस्सा था। दूसरी ओर, भारतीय समाजसुधारकों की मदद करते हुए भारतीय सामाजिक कुरीतियों जैसे सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह, शिशु- हत्या और मानव बलि आदि को गैर- कानूनी घोषित करने की उपयोगितावादी नीति ने भी परंपरागत भारतीय समाज को यकीन दिलाया कि उनका दीन- धर्म खतरे में है। सैनिकों की गंभीर शिकायतें हस्तक्षेपकारी सेवा- शर्तों और उनकी अपनी धार्मिक

और जातीय पहचान से भी जुड़ी थीं। बंगाल आर्मी में ब्राह्मण बहुतायत से थे। 1856 में कम्पनी ने उनसे समुद्र पार सेवा की जमानत लेने को मजबूर किया। एक अन्य आदेश में कहा गया कि पंजाब और सिंध जाने वाले सैनिकों को विदेश-सेवा भत्ता नहीं दिया जाएगा। कम्पनी की देश-विदेश की भले अपनी परिभाषाएं थी, लेकिन सिपाहियों के लिए अवध ही उनका वतन था। फिर धार्मिक प्रतीकों जैसे तिलक, माला, दाढ़ी आदि को लेकर सिपाहियों के पुराने आग्रह थे ही।

1.4.1.5 विदेशी शासन और नस्लीय भेदभाव

अंग्रेजों का समूचा रहन-सहन, पहनावा, रोब-दाब भारतीयों को हरदम उनके विदेशी होने का अहसास कराता था। पूरा का पूरा तंत्र नस्लीय भेदभाव पर आधारित था। भारतीय सिपाहियों को गोरे सिपाहियों से बहुत कम वेतन मिलता था। भारतीयों को सेना या प्रशासन में कोई ऊंचा ओहदा नहीं दिया जाता था। कितनी ही बहादुरी और वफादारी के बाद भी, एक भारतीय सूबेदार से ज्यादा कुछ नहीं बन सकता था। उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था और रोजमर्रा के मामलों में भी उन्हें अपमानजनक विशेषण और गालियाँ सुननी पड़ती थीं।

1.4.1.6 मध्य एवं उच्च वर्गों की उपेक्षा

कम्पनी राज के स्थापित होने के साथ ही वे सारे वर्ग जो देशी राज्यों के संरक्षण में आबाद थे, सत्ता और शक्ति से दूर होते चले गए। इनमें उच्च प्रशासनिक ओहदों पर रहने वाले लोग, बुद्धिजीवी, साहित्य, कला तथा अन्य क्षेत्रों से जुड़े लोग शामिल थे। ये न केवल राज्य के आश्रय से बेदखल कर दिए गए वरन इनके सामने आजीविका का संकट भी आन खड़ा हुआ। कम्पनी राज के अंतर्गत सेना और प्रशासन के सभी ऊंचे पद भारतीयों के लिए बंद थे। धर्मगुरु-पंडित और मौलवी-भी एक प्रभावशाली तबका हुआ करता था, जिसे अनिवार्य रूप से लगभग हर राज्य ने संरक्षण प्रदान किया था। इन सभी वर्गों ने अपने विशेषाधिकारों पर हुयी चोट का बदला कम्पनीराज की घोर मुखालफत करके चुकाया। ये धार्मिक वर्ग, जिनका समाज में अपना सम्मान था, घूम-घूम कर राज-विरोधी चेतना का प्रचार कर रहे थे।

1.4.1.7 एकक्षत्र राजनीतिक प्रभुसत्ता बनाने के प्रयास

कम्पनी ने डलहौजी के नेतृत्व में राज्य विस्तार की आक्रामक नीति अपनाई थी। 1849 में ही डलहौजी ने स्पष्ट कर दिया था कि बहादुरशाह ज़फर के बाद मुगलों को लालकिला खाली कर देना होगा। 1856 में कैनिंग ने बहादुरशाह के बाद सम्राट की पदवी किसी मुगल वंशज को न देने की घोषणा कर दी। दूसरी ओर, नाना साहेब की पेशवा होने के नाते दी जा रही पेंशन बंद कर दी गयी और उन्हें कानपुर के पास बिठूर में बसने को मजबूर किया गया था। यह पुराने शासक वर्गों-मुगलों और अन्य स्थानीय शासकों-की वैधानिक सर्वोच्चता को सीधी चुनौती थी।

1.4.1.8 तात्कालिक कारण: चर्बीदार कारतूस

सेना में इनफील्ड रायफल में इस्तेमाल होने वाली कारतूसों को भरने से पहले दांत से काटना पड़ता था। कलकत्ता के पास दमदम से यह अफवाह फैली कि कारतूसों में इस्तेमाल की जाने वाली ग्रीस गाय और सूअर की चर्बी से तैयार की जाती है। जल्द ही यह खबर सेना के कई हलकों में आग की तरह फैल गयी। हिन्दू और मुस्लिम दोनों सैनिकों को यह बात नागवार गुजरी। वैसे भी बंगाल आर्मी में ब्राह्मण, राजपूत और भूमिहारों की बहुतायत थी। इस खबर ने घटनाओं की एक ऐसी श्रृंखला को जन्म दिया, जिससे सैनिकों के सब्र का बाँध टूट गया।

1.5 1857 का विद्रोह

1.5.1 मेरठ छावनी में विद्रोह

मेरठ छावनी में विद्रोह भड़कने से तकरीबन एक महीना पहले 29 मार्च, 1857 को बैरकपुर छावनी में मंगल पाण्डे को अपने सार्जेंट मेजर पर हमला करने और विद्रोह की घोषणा करने की वजह से फांसी से दी गयी थी। असली बगावत मेरठ छावनी में तब भड़की जब 24 अप्रैल को तीसरी घुड़सवार सेना के 90 से ज्यादा सैनिकों ने चर्बीदार कारतूसों का इस्तेमाल करने से खुला इनकार कर दिया। इस घटना ने सिपाहियों में आम विद्रोह भड़का दिया और उन्होंने खुली बगावत करते हुए अपने साथी सैनिकों को जेल से छुड़ा लिया। अधिकारियों को मार डाला गया और लगभग पूरे शहर से ब्रिटिश सत्ता का नामोनिशान मिट गया। लोग जैसे कि इसी पल के इंतजार में बैठे थे, गावों से लोगों के हुजूम चल पड़े और सैनिक बाजार, अधिकारियों के बंगले समेत हर वो चीज जो ब्रिटिश सत्ता का प्रतीक थी, आग के हवाले कर दी गयी।

1.5.2 दिल्ली कूच

मेरठ के सैनिकों के अगले कदम ने विद्रोह के पूरे चरित्र को बदल दिया। रात में ही सैनिक दिल्ली की ओर कूच कर गए। दिल्ली के सैनिक उनसे आ मिले। दिल्ली के पॉलिटिकल एजेंट साइमन फ्रेजर तथा अन्य ब्रिटिश अधिकारियों को

मौत के घात उतार दिया गया। पूरा शहर घेर लिया गया और, 10 मई की सुबह लालकिले पर पहुँच कर उन्होंने बहादुरशाह को शहंशाह-ए-हिंदुस्तान घोषित कर दिया। उनकी यह समझ इस बात का परिचायक थी कि मुगल बादशाह भारत की राजनीतिक एकता का सर्वमान्य प्रतीक था। इसके अलावा, इसने हिन्दू-मुस्लिम एकता की मिसाल पेश की और सिद्ध किया कि उस वक़्त लोगों में हिन्दू और मुसलमानों के एक-दूसरे से भिन्न होने की भावना नहीं थी।

1.5.3 विद्रोह का क्षेत्रीय तथा सामाजिक विस्तार

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह विद्रोह अपने क्षेत्रीय स्वरूप में बहुत व्यापक था। भारत के उत्तर में यह पूर्वी पंजाब तक फैल गया था। दक्षिण में नर्मदा तक इसका विस्तार था। पूर्व में बिहार

से लेकर पश्चिम में राजस्थान तक इस विद्रोह ने ब्रिटिश राज को लगभग उखाड़ फेंका था। देखते ही देखते विद्रोह कानपुर, लखनऊ, बरेली तथा रूहेलखंड, जगदीशपुर (बिहार), झाँसी, अलीगढ़, इलाहाबाद तथा ग्वालियर तक के इलाके इसकी ज़द में आ गए। लेकिन देश के बाकी हिस्सों में इस विद्रोह के प्रति गहरी हमदर्दी थी। यहाँ तक हैदराबाद और बंगाल में भी विद्रोह की घटनाएं सामने आईं। रजवाड़े, जिन्होंने काफी हद तक खुद को इस विद्रोह से दूर रखा, की सेनाएं मौका पाते ही विद्रोहियों के साथ आकर मिल गए। इंदौर के अनेक सिपाहियों ने विद्रोह की राह पकड़ ली और ग्वालियर के सिंधिया की सेना के तकरीबन 20,000 सिपाही झाँसी की रानी के साथ संघर्ष में उतर पड़े।

इस विद्रोह को सिपाही विद्रोह से कहीं ज्यादा एक जनविद्रोह का स्वरूप उन किसानों, दस्तकारों, हस्तशिल्पियों, दिहाड़ी मजदूरों, दुकानदारों और अवध के उन ज़मींदारों ने दिया, जो हर तरह से अंग्रेजी शासन के विरुद्ध डट कर लड़े। यही लोग विद्रोह की ताकत बने। जिनकी वजह से गाँव-गाँव तक कम्पनी शासन की ज़द से कुछ समय के लिए बाहर निकल गया था। इन्होंने ब्रिटिश सत्ता के प्रतिष्ठानों- थाना, कचहरी, चुंगी, बंगले आदि- सहित सूदखोरों, महाजनों, बिचौलियों और दूरस्थ ज़मींदारों पर हमले किये। बही-खाते तथा अन्य लिखा-पढी के दस्तावेज जल दिए गए। लोगों की जनभागीदारी का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि अवध में विद्रोह और उसके दमन के दौरान शहीद हुए तकरीबन 1,50,000 लोगों में 1,00,000 नागरिक थे।

1.5.4 विद्रोह का नेतृत्व तथा विभिन्न केंद्र

बहादुरशाह ज़फर

एक बार विद्रोहियों के दिल्ली पहुँचते ही यह विद्रोह का स्वाभाविक केंद्र बन गया। क्योंकि भारत की सार्वदेशिक एकता के प्रतीक सम्राट बहादुरशाह ज़फर यहाँ लालकिले में मौजूद थे। 82 वर्षीय वृद्ध बहादुरशाह ज़फर विद्रोह में विद्रोह के का प्रतीकात्मक एकता का प्रतीक बन गए।

नाना साहेब, तात्याँ टोपे एवं अजीमुल्लाह (कानपुर)

नाना साहेब (वास्तविक नाम धोंधू पन्त) अंतिम पेशवा बाजीराव II के दत्तक पुत्र थे। उन्होंने स्वयं को मुगल बादशाह का पेशवा घोषित कर दिया। 5 जून, 1857 को कानपुर से अंग्रेजी सेना खदेड़ दी गयी। तात्याँ टोपे उनके विश्वस्त सेनापति थे। उनकी वीरता, स्वामीभक्ति और ब्रिटिश-विरोध की दास्तानें मशहूर हैं। अजीमुल्लाह नाना साहेब के एक अन्य विश्वसनीय सहायक थे।

रानी लक्ष्मीबाई (झाँसी)

अपने गोद लिए पुत्र को उत्तराधिकारी न मानने के कारण विद्रोह में उतरी झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिए। उनकी सेना में स्त्रियों ने भी कंधे से कन्धा लड़ाकर अंग्रेजी सेना का मुकाबला किया था। झांसी को आज़ाद कराने के बाद रानी ने अंग्रेजों के वफादार सिंधिया पर तात्याँ टोपे और अपनी अफगान टुकड़ी की मदद से ग्वालियर पर हमला कर दिया। इस हमले से घबराकर सिंधिया भाग खड़ा हुआ था।

कुंवर सिंह (बिहार)

आरा (बिहार) के पास जगदीशपुर के कुंवर सिंह ने अस्सी वर्ष के करीब का होते हुए भी जिस रणकौशल का परिचय दिया, उससे उन्हें 1857 के विद्रोह का संभवतः सबसे प्रमुख सेनापति तथा रणनीतिज्ञ माना गया है। उन्हें आम जनता "बिहार का सिंह" के नाम से पुकारती थी। वे रोहतास, मिर्जापुर, रीवा, बांदा और लखनऊ तक लड़े। अपने अंतिम

युद्ध में भी उन्होंने अंग्रेजों को बुरी तरह हराया था। लेकिन इसी युद्ध में जख्मी होने की वजह से 26 अप्रैल, 1857 को वे काल कवलित हो गए।

मौलवी अहमदुल्लाह (फैजाबाद)

विद्रोह के पहले ही मौलवी अहमदुल्लाह के खिलाफ कम्पनी ने अपनी एक सेना भेजी थी। अंग्रेज उनकी बहादुरी और चतुरता से इतना भयाक्रांत थे कि उन पर 50,000 रुपये का नगद इनाम घोषित कर रखा था। जो उस समय के

हिसाब से बहुत बड़ी रकम थी। फैजाबाद और आस-पास के इलाकों में वे विद्रोह के सबसे बड़े नेता थे।

बख्त खान (बरेली)

बख्त खान ब्रिटिश सेना के तोपखाने में एक मामूली सूबेदार थे। उन्होंने बरेली में विद्रोह का नेतृत्व किया और सैनिकों के साथ दिल्ली कूच कर दिया था। बख्त खान विद्रोह के बाद राज-काज चलाने के लिए बनी नियंत्रण समिति के नेता तथा बहादुरशाह के निकट सहयोगी थे।

बेगम हज़रत महल एवं बिरजीश कादिर (लखनऊ)

लखनऊ में अवध की बेगम हज़रत महल ने अपने अल्पायु पुत्र बिरजीश कादिर को नवाब घोषित किया और लखनऊ रेजीडेन्सी पर धावा बोल दिया। उनके बाद बेगम ने मौलवी अहमदुल्लाह के साथ शाहजहाँपुर तक विद्रोह का नेतृत्व किया।

असंख्य अज्ञात सिपाही एवं नागरिक एवं स्थानीय नेता

परन्तु विद्रोह के इन ज्ञात नायकों के अलावा असंख्य सिपाही, नागरिक और छोटे ज़मींदारों जिन्होंने स्थानीय स्तरों पर विद्रोह को नेतृत्व और संसाधन मुहैया कराए, इस विद्रोह की रीढ़ थे। स्थानीय स्तरों पर 1857 की धमक छोटे-छोटे कस्बों और गावों तक सुनायी देती है। विद्यार्थी अपने शहर का डिस्ट्रिक्ट गजेटिएर खोज कर अपने जिले में इस दौरान हुयी गतिविधियों को जान सकते हैं। इस विद्रोह से प्रेरित होकर देश के कुछ अन्य इलाकों में भी विद्रोह खड़े करने के प्रयास हुए। असाम में ठीक इसी समय दीवान मनीराम दत्त ने वहां के अंतिम राजा के पोते को राज घोषित कर विद्रोह कर दिया। कोटा (राजस्थान) में कुछ सिपाहियों ने अंग्रेज एजेंट की हत्या कर दी। उड़ीसा में संबलपुर के राजकुमारों ने विद्रोह किया। उड़ीसा में ही गंजाम जिले भी विद्रोह हुआ। पंजाब के अजनाला में घुड़सवार सेना के सैनिक वजीर खान ने बगावत का बिगुल फूंक दिया। कुल्लू जैसे पर्वतीय क्षेत्र में राणा प्रताप सिंह और वीर सिंह ने विद्रोह का नेतृत्व किया। यहाँ तक दक्षिण भारत में भी हैदराबाद, सतारा और कोल्हापुर में विद्रोह हुए। लेकिन ये विद्रोह तुरंत कुचल दिए गए। अधिकांश मामलों में ये इतने अल्पजीवी थे कि विद्रोह का रूप नहीं ले सके।

1.6 विद्रोह का दमन

लेकिन दुनिया की सबसे ताकतवर सैन्य ताकत के सामने बरछे, भाले, तलवारों, कम्पनी शस्त्रागार से लूटी हुयी बन्दूकों और कभी-कभी लाठी-डंडों से लड़ने वाली विद्रोही बहुत लम्बे समय तक टिक न सकी। अचानक हुए विद्रोह से घबराए अंग्रेजों ने सँभालते ही अपने साम्राज्य की रक्षा के संगठित और सुनियोजित प्रयास कर दिए। ब्रिटेन की सरकार इन मामलों में गहरी दिलचस्पी ले रही थी। उसकी विकासमान पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अपने उपनिवेशों के अंधाधुंध आर्थिक शोषण पर टिकी थी। 20 सितम्बर, 1857 को यानि तकरीबन साधे चार महीने बाद अंगरेजी सेना ने दिल्ली पर फिर से अधिकार कर लिया। बहादुरशाह हुमायूँ के मकबरे से बंदी बना लिए गए और लेफ्टिनेंट हडसन ने उनके पुत्रों को गोली से उड़ा दिया। बाद में बादशाह को रंगून निर्वासित कर दिया गया। इसके पहले ही विद्रोहियों की हालत कानपूर, आगरा और लखनऊ जैसे केन्द्रों में बहुत कमजोर हो चुकी थी। दिल्ली हाथ से निकलने के बाद विद्रोह का सांकेतिक पतन हो गया था। उसके बाद झांसी की रानी 17 जून, 1858 को जनरल ह्यू रोज से लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हो गयी। बेगम हजरत महल नेपाल भाग गयीं जहाँ उनकी गुमनाम मौत हुयी। 1859 तक बख्त खान, कुंवर सिंह, मौलवी अहमदुल्लाह आदि भी वीरगति को प्राप्त हो चुके थे। नाना साहेब लगातार पराजय झेलते हुए नेपाल चले गए। तात्यान टोपे मध्य भारत के जंगलों में अप्रैल 1859 तक छापामार युद्ध लड़ते रहने के बाद एक ज़मींदार मित्र के विश्वासघात के कारण पकड़े गए। 15 अप्रैल को उन्हें फांसी पर चढ़ा दिया गया। हालाँकि

अंगरेजी सेना को सिर्फ विद्रोही सेनाओं से ही नहीं बल्कि गावों-गावों तक लड़ना पड़ा। इस जनप्रतिरोध के दमन के लिए पूरे के पूरे गाँव जला दिए गए और, गाँवों- शहरों में निर्मम कत्लेआम मचाया गया।

1.7 असफलता के कारण

1.7.1 विचारधारा एवं कार्यक्रम का अभाव

विद्रोहियों के पास किसी उपनिवेशवाद- विरोधी विचारधारा का अभाव था। और, न ही वे किसी वैकल्पिक कार्यक्रम के आधार पर संचालित थे। हालाँकि विद्रोह के दौरान उन्होंने न केवल संगठन बनाने का प्रयास किया था, बल्कि

नियंत्रण समिति जैसे नए प्रयोग भी किये। लेकिन उनका नेतृत्व जिन सामंती तत्वों के हाथ था, वे अलग उद्देश्यों के लिए संघर्षरत थे। उनमें से अधिकांश अपनी पुरानी सत्ता और रुतबे के छिन जाने से क्षुब्ध थे। उनसे किसी भविष्योन्मुख नवीन व्यवस्था की उम्मीद नहीं की जा सकती थी।

1.7.2 तकनीक एवं संसाधनों की कमी

विद्रोही धन और संसाधन की भारी समस्या से जूझते रहे। अधिकांशतः तो उनके भोजन का प्रबंध भी शहर और गाँव के लोगों द्वारा किया जाता था। हथियार और गोला- बारूद की भारी कमी थी और उनके नियंत्रण और संयोजन के लिए कोई प्रभावी तंत्र मौजूद नहीं था।

1.7.3 भारतीयों की आपसी फूट और वैमनस्य

दक्षिण, पूर्व और पश्चिम भारत इस विद्रोह से लगभग अछूता रहा। रूद्रांशु मुखर्जी बताते हैं कि अवध के सारे तालुकेदार भी इस विद्रोह में शामिल नहीं हुए थे। कुछ वफादार बने रहे, कुछ ने बीच की राह पकड़े रखी। रजवाड़ों ने विद्रोह का दमन करने में अंग्रेजों की पूरी मदद की। कैनिंग ने उनकी भूमिका की तुलना "तूफान में बाँध" से की थी। उच्च और मध्य वर्ग इस विद्रोह के कटु आलोचक थे। व्यापारियों ने जल्द ही अपने हाथ खींच लिए क्योंकि विद्रोह का खर्चा उन्हीं से वसूला जा रहा था। वे सामान्य लूट- पाट का शिकार भी बन रहे थे। सेना के अन्दर भी पंजाबी और गोरखा बटालियनों ने विद्रोह के दमन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दिल्ली को फिर से जीतने वाली अंग्रेज सेना में महज 1700 ब्रिटिश थे, जबकि भारतीयों की संख्या 3200 थी।

1.7.4 नेताओं की आपसी जलन एवं प्रतिस्पर्धा

विद्रोही नेता आपस में एक दूसरे से जलन एवं प्रतिस्पर्धा रखते थे, यह एक बड़ी समस्या था। बहादुरशाह स्वयं विद्रोहियों से हमेशा सशक्त रहे। मुगल राजकुमारों का हाल तो और भी खराब था। बेगम हज़रत महल और मौलवी अहमदुल्लाह में नहीं बनती थी। नाना साहेब भी मुगल बादशाह की ओर से खुद के लिए खतरा महसूस करते रहे। इस तरह, अपनी पद और प्रतिष्ठा के पुराने संघर्ष विद्रोही नेताओं के दिलो-दिमाग पर हावी थे।

1.7.5 ब्रिटिश सेना की अद्वितीय शक्ति

सबसे बढ़कर, विद्रोहियों का सामना एक ऐसी सत्ता से था, जिसके पास उपनिवेशवाद की एक बेहतर समझ और रणनीति थी। पूंजीवाद के विकास से अर्जित राज्य-संसाधन और युद्ध की नवीनतम तकनीक से युक्त ब्रिटिश सेना पूरी दुनिया में अपना सिक्का जमाये हुए थी। उसके पास एक विशाल, प्रशिक्षित और अनुशासित और केंद्रीय कमान युक्त सेना थी। उनकी नौसैनिक ताकत तो दुनिया भर में बेजोड़ थी। उनके पास साजो-सामान और गोला-बारूद की कोई कमी नहीं थी।

1.7.6 शिक्षित भारतीयों द्वारा विरोध

अंग्रेजी शिक्षा और विचारों से प्रभावित मध्यवर्गीय शिक्षित भारतीय यकीन करते थे कि ब्रिटिश राज भारतीयों को आधुनिकता की ओर ले जाएगा। इसलिए उन्होंने विद्रोह से दूरी कर ली और उसकी जोरदार मुखालफत की। जबकि यह तबका विद्रोह को एक नयी दिशा प्रदान करने में सक्षम था।

1.8 विद्रोह की प्रकृति

सवाल उठता है कि यह विद्रोह किसी सुनियोजित योजना का परिणाम था या स्वतःस्फूर्त ढंग से लोग अपनी-अपनी वजहों से बगावत में कूद पड़े थे। यहाँ हमें इतिहास में स्रोतों की अनिवार्यता को समझने में मदद मिल सकती है। बागी सैनिकों और नागरिकों ने गैर-कानूनी होने और अंग्रेजों द्वारा पकड़े जाने के डर से लिखित दस्तावेज नहीं छोड़े या अधिकांशतः उन्हें नष्ट करते गए। गाँव-गाँव तक कमल और चपाती के माध्यम से बगावत का सन्देश देने की कहानियाँ हमें सुनायी देती हैं। लेकिन उन्हें अब तक ऐतिहासिक रूप से पुष्ट नहीं किया जा सका है। यह भी कहा जाता रहा है कि नाना साहेब और तात्यां टोपे भी गुप्त रूप से संगठन का प्रयास करते रहे थे। लेकिन इस मामले में भी स्रोत चुप हैं। भारतीय पक्ष को समझने के लिए हमारे पास स्रोतों का अभाव है या वे अभी तक उद्धाटित नहीं हुए हैं। इसलिए हमारी समझ का मूल आधार

औपनिवेशिक दस्तावेज हैं। जैसे राष्ट्रीय अभिलेखागार में संरक्षित 'म्युटिनी पेपर्स' आदि जो कि इस पहलू पर ज्यादा रौशनी नहीं डालते।

दूसरा प्रश्न विद्रोह के सैनिक- विद्रोह, जन-विद्रोह या राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम होने से सम्बंधित है? उपनिवेशवादी इतिहासकारों तथा अधिकारियों ने इस विद्रोह को महज एक सिपाही विद्रोह सिद्ध करने का प्रयास किया है। जेम्स आउट्रम, ब्रिटिश सेना के महत्वपूर्ण सेनापति थे जिन्होंने विद्रोह का दमन करने में बड़ी भूमिका निभाई थी, की समझ में यह विद्रोह "एक मुस्लिम षडयंत्र था जिसने हिन्दुओं की नाराजगी का फायदा उठाया"। ठीक इसी तरह एल० ई० आर० रीज ने इसे "कट्टरपंथियों का ईसाइयों के विरुद्ध" और टी० आर० होम्ज ने ""सभ्यता और बर्बरता के विरुद्ध संघर्ष" कहा। समकालीन अधिकारियों की इस समझ को सबसे पहली चुनौती बेंजामिन डिजरेली की ओर से मिली। उन्होंने इसे कई कारकों की उपज बताया और पूछा- "यह एक सैन्य विद्रोह है या फिर राष्ट्रीय विद्रोह?" कार्ल मार्क्स ने भी १८५७ पर टिप्पणी करते हुए सिपाही विद्रोह से ज्यादा इसके राष्ट्रीय चरित्र पर बल दिया था। कर्नल जी बी मालेसन, जो कि भारत में नियुक्त एक ब्रिटिश अधिकारी थे, के अनुसार विद्रोह की शुरुआत भले ही सिपाही विद्रोह से हुयी थी लेकिन जल्दही वह एक राष्ट्रीय विप्लव में तब्दील हो गया। थॉमस मेटकाफ का निष्कर्ष है कि १८५७ के विद्रोह का स्वरूप राष्ट्रीय से कम और सिपाही से ज्यादा था। विनायक दामोदर सावरकर ने अपनी किताब "द हिस्ट्री ऑफ़ द वार ऑफ़ इंडियन इंडिपेंडेंस" में १८५७ के विद्रोह को 'भारत का प्रथम स्वतंत्रता संघर्ष' बताया। विद्रोह के आधिकारिक विद्वान् एस एन सेन के अनुसार "जो कुछ धर्म के लिए लड़ाई के रूप में शुरू हुआ, वह स्वतंत्रता संग्राम के रूप में समाप्त हुआ"।

जनविद्रोह की अवधारणा को सबसे ज्यादा पुख्ता बनाया एस बी चौधरी ने। उन्होंने विद्रोह में किसानों की व्यापक भागीदारी पर जोर दिया और कहा कि यह विद्रोह सही मायनों में जनता का उभार था। तालमिज़ खलदून ने इसके चरित्र को और क्रांतिकारी बताते हुए कहा कि लोग इस संघर्ष में न सिर्फ अंग्रेजों से लड़े बल्कि उन्होंने सामंती चरित्र से भी लड़ने का प्रयास किया। दूसरी तरफ, ताराचंद और पर्सीवल स्पीयर विद्रोह के सामंती पहलू को ज्यादा अहमियत देते हैं। वे इसे एक पुरानी, जीर्ण- शीर्ण व्यवस्था द्वारा खुद की खोई हुयी प्रतिष्ठा को फिर से हासिल करने की आखिरी कोशिश की तरह देखते हैं। परन्तु आर सी मजुमदार इस विद्रोह को महज सिपाही विद्रोह से ज्यादा कुछ नहीं मानते।

हालिया अध्ययनों में सबाल्टर्न इतिहासकार जूडिथ ब्राउन एवं एरिक स्ट्रोकस इस विद्रोह को अभिजात्य चरित्र का मानते हैं। क्योंकि विद्रोह का नेतृत्व उच्च वर्गों के पास था और वही निर्णय लेने के हकदार थे। रणजीत गुहा का मानना है कि बागियों ने इसलिए हथियार उठाये ताकि वह सब कुछ बचाया जा सके जो उनके पुश्तैनी अधिकार- क्षेत्र में आता था। हालाँकि स्ट्रोकस ने

विद्रोह को किसानों की ऋणग्रस्तता से जोड़कर उसके सामाजिक आधार को व्याख्यायित करने का प्रयास किया। वहीं बिपन चन्द्र के अनुसार विद्रोह का रुझान निश्चित तौर पर पीछे की ओर लौटने वाला था, लेकिन उनका स्वरूप लोकप्रिय था।

1.9 परिणाम

1857 का विद्रोह इतना प्रबल था, जिसने भारत में कम्पनी स्वरूप में आमूलचूल परिवर्तन किये।

सत्ता का हस्तांतरण

कम्पनी के भारतीय साम्राज्य की सत्ता ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों से निकलकर ब्रिटिश क्राउन में समाहित हो गयी। 1858 के एक्ट अनुसार भारत का शासन एक सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट के हाथों में आ गया जो कि ब्रिटिशसंसद के प्रति उत्तरदायी था।

सेना में परिवर्तन

विद्रोह से सबक लेते हुए सेना में भारतीय और ब्रिटिश सैनिकों का संतुलन बदल दिया गया। बंगाल आर्मी, जिसने बगावत शुरू की थी, में यह अनुपात 1:2 यानि एक यूरोपीय पर दो हिन्दुस्तानी कर दिया गया। जबकि अन्य में यह 2:5 का हो गया। तोपखाना एवं अन्य खास जगहों पर सिर्फ यूरोपीय नियंत्रण की नीति अपनाई गयी। सेना की साम्राज्य में पकड़ बढ़ाने के लिए कैटोनमेंट एरिया (कैन्ट) बनाये जाने लगे। जिनकीस्थापना महत्वपूर्ण रणनीतिक स्थानों पर की जाती थी। भारतीय सेना के संगठन में "बांटो और राज करो" की नीति अपनाई गयी और उन्हें जाति, समुदाय और धर्म के आधार पर बाँट दिया गया।

बांटो और राज करो की नीति

इसके तहत भारतीय जनता की एकता को तोड़ने के लिए सांप्रदायिक नीति का सहारा लिया गया। विद्रोह की जबर्दस्त हिन्दू- मुस्लिम को तोड़ने के लिए आपस में बंटवारे पैदा करने और आपसी फूट का फायदा उठाना इस नीति का मुख्य उद्देश्य था। जिसकी वजह से ही साम्प्रदायिकता का उदय और विकास हुआ। जिसकी चरम परिणति 1947 में भारत के विभाजन के साथ हुयी।

समर्थक वर्ग बनाने की नीति

भारतीय रजवाड़ों के प्रति विजय और विलय की पुरानी नीति का त्याग कर दिया गया। अब उन्हें वारिस न होने कीस्थिति में गोद लिए बच्चे को राज्य का वारिस बनाने का अधिकार मिल गया। ब्रिटिश भारत में रजवाड़ोंका विलय न करना भी राज्य- नीति का हिस्सा बन गया। ज़मींदार,

भूस्वामी और अन्य ऐसे वर्ग जो ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार रह सकते थे, उन्हें भी असंतुष्ट न करना इस नीति का अंग था। इन प्रतिक्रियावादी तत्वोंको संरक्षण देने की नीति ने ही बाद में शिक्षित भारतीयों को यह अहसास दिलाया कि ब्रिटिश शासन का भारत में एकमात्र उद्देश्य किसी तरह अपने राज्य को बनाये रखना है।

1.10 सारांश

इस तरह, 1857 का विद्रोह औपनिवेशिक नीतियों और दृष्टिकोण से उपजे भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति था। अपनी सारी सीमाओं के बावजूद इस विद्रोह ने भारत में अंग्रेजी राज की चूलेंहिला दी थीं। जिससे एक ओर न केवल ब्रिटिश नीतियों में आमूलचूल परिवर्तन हुआ बल्कि भविष्य के भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के वैचारिक आधारों की भी आधारशिला पड़ी।

1.11 पारिभाषिक शब्दावली

उपनिवेशवाद- किसी ताकतवर देश द्वारा किसी अन्य कमजोर देश पर राजनीतिक- आर्थिक अधिकार, जो हर मामले में पहले के फायदे और दूसरे के विनाश के लिए काम करता हो, उपनिवेशवाद कहलाता है।

उपयोगितावाद- ब्रिटिश दार्शनिक जेरेमी बेंथम और जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा प्रवर्तित दर्शन जिसमें किसी भी चीज़ या काम का ठीक होना उसकी उपयोगिता के आधार पर तय किया जाता था। इसका उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा लोगों के लिए ज्यादा से ज्यादा खुशी प्राप्त करना था।

दूरस्थ ज़मींदारी- गाँवों में रहने वाले ज़मींदारों की ज़मीनें नीलाम करके उन्हें शहरों में रहने वाले या दूरदराज के धनी वर्गों को ठेके पर देने से उपजा ज़मींदार वर्ग।

मुक्त व्यापार- किन्हीं दो देशों के बीच बिना किसी आयात शुल्क तथा अन्य करों के व्यापार। ब्रिटिश राज ने भारत के साथ इकतरफ़ा मुक्त व्यापार की नीति अपनाई थी। जिसमें ब्रिटेन का माल भारत में बिना किसी शुल्कके जबकि भारत का माल विदेशों में भारी आयात शुल्क के साथ बेचा जाता था।

वाणिज्यीकरण- किसी भी वस्तु को बाज़ार की ज़रूरत के साथ जोड़ देने की नीति।

विऔद्योगीकरण- पहले से स्थापित उद्योगों को नष्ट करना। भारत में ब्रिटेन की आर्थिक नीतियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त शब्द।

साम्प्रदायिकता- एक ऐसी विचारधारा, जो लोगों के हितों को धर्म के आधार पर तय करती हो और मानती हो कि एक धर्म के लोगों के हित दूसरे धर्म के लोगों के हितों की कीमत पर ही पूरे किये जा सकते हैं।

1.12 सन्दर्भ- ग्रन्थ सूची

1. चन्द्र, बिपन एवं अन्य, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,
2. चन्द्र, बिपन, आधुनिक भारत, एनसीईआरटी
3. बंद्योपाध्याय, शेखर, प्लासी से विभाजन तक, ओरिएंट ब्लैकस्वान
4. Chattopadhyay, Harprasad, **The Sepoy Mutiny- A Social Study and Analysis**

1.13 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Chaudhury, S.B., Civil Rebellion in the Indian Mutinies
2. Joshi, P.C, editor, Rebellian 1857: A Symposium
3. Mukherjee, Rudrangshu, Awadh in Revolt
4. Sen, S. N., Eighteen Fifty Seven
5. Stokes, Eric, The Peasants and the Raj, Cambridge University Press

1.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. 1857 विद्रोह के कारणों की समीक्षा कीजिये।
2. 1857 का विद्रोह मात्र सैनिक विद्रोह नहीं था। टिप्पणी कीजिये तथा इसकी असफलता के कारणों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।

औपनिवेशिक राज्य के उपकरण: सेना, पुलिस एवं कानून

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 औपनिवेशिक भारतीय राज्य का स्वरूप
- 2.4 औपनिवेशिक राज्य के उद्देश्य
- 2.4 सिविल सेवा: ब्रिटिश राज का इस्पाती चौखटा
- 2.5 पुलिस व्यवस्था
- 2.6 न्यायिक व्यवस्था
 - 2.6.1 न्यायिक व्यवस्था का संगठन
 - 2.6.2 संहिताबद्ध न्यायिक व्यवस्था की स्थापना
 - 2.6.3 ब्रिटिश न्यायिक व्यवस्था के गुण- दोष
- 2.7 सेना का संगठन
- 2.8 सारांश
- 2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.10 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

राज्य के शासन के उपकरण उस राज्य की प्रकृति पर निर्भर करते हैं। भारत में ब्रिटिश राज्य का प्राथमिक उद्देश्य भारत का अधिक से अधिक आर्थिक दोहन करना था। भूराजस्व की नियमित वसूली, व्यापारिक एकाधिकार की स्थापना और मुक्त व्यापार नीतियों का सही कार्यान्वयन- ये ब्रिटिश राज्य की मूल चिंताएं थीं। भारत ब्रिटेन का उपनिवेश था, जिसके हितों की उपेक्षा करके ब्रिटेन के नवविकसित पूंजीवाद को पाला- पोसा जा रहा था। जनता के भीतर पनप रहे इस असंतोष को दबाने और औपनिवेशिक राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए शक्ति का अधिकाधिक प्रयोग करना औपनिवेशिक राज्य की मजबूरी थी। इसलिए भारत में औपनिवेशिक राज्य के उपकरण का अध्ययन करते हुए हमें उसके तीन प्रमुख आधारों- सिविल सेवा, सेना और पुलिस- पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। जिसे एक व्याख्यायित और विस्तृत न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से वैधानिक बनाया गया था।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको ब्रिटिश राज्य- सञ्चालन के अंगों और उनकी प्रकृति से परिचित कराना है। साथ ही, 1857 के विद्रोह से पहले और बाद में इस सम्बन्ध में बदलती ब्रिटिश चिन्ताओं, प्राथमिकताओं और नीतियों से भी अवगत कराया जाएगा। कम्पनी राज से ब्रिटिश राज के संक्रमण के दौरान हुए परिवर्तन इस दिशा में अत्यंत महत्वपूर्ण भाग हैं। इस दौरान, कम्पनी द्वारा स्थापित भारतीय उपनिवेश पर ब्रिटिश संसद का नियंत्रण बढ़ता चला गया। इस इकाई के माध्यम से आप जान सकेंगे-

- कम्पनी और ब्रिटिश राज्य में सिविल सेवा का संगठन, नियुक्ति के तरीके, उत्तरदायित्व और भूमिका।
- ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारिक उद्देश्यों से साम्राज्यी उद्देश्यों तक सेना का स्वरूप, उसका संगठन और कार्य।
- पुलिस व्यवस्था की आवश्यकता, उसकी स्थापना और विकास तथा मुख्य उत्तरदायित्व।
- भारत में ब्रिटिश न्यायिक व्यवस्था की बुनियाद, उसका विकास और मूल उद्देश्य।

2.3 औपनिवेशिक भारतीय राज्य का स्वरूप

1757 के प्लासी युद्ध में विजय के साथ ही बंगाल पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की औपचारिक शुरुआत हो गयी थी। परन्तु राज्य की सत्ता औपचारिक तौर पर बंगाल के नवाब के हाथ में बनी रही, जो प्रतीकात्मक रूप से मुगल बादशाह का प्रतिनिधि था। कम्पनी उसकी नीतियों को प्रभावित करते हुए धीरे- धीरे राज्य पर अपनी पकड़ मजबूत बनाने का प्रयास कर रही थी। परन्तु 1764 के बक्सर युद्ध के बाद कम्पनी ने बंगाल, बिहार, उड़ीसा के दीवानी अधिकार अपने नियंत्रण में ले लिए। भूराजस्व की वसूली नवाब से छीन लेने के बावजूद कम्पनी ने भूराजस्व के पुराने तंत्र का ही इस्तेमाल जारी रखा। 1772 में द्वैध शासन की नीति समाप्त करने के साथ ही कम्पनी के लिए शासन- प्रशासन का वैकल्पिक तंत्र खड़ा करना अनिवार्य था।

एक व्यापारिक कम्पनी द्वारा राज्य के संचालन से ब्रिटेन की अन्य व्यापारिक कम्पनियों के हित प्रभावित होते थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरोधी गुट भारत के लाभदायक व्यापार में बराबर का हिस्सा चाहते थे। फिर, ब्रिटिश संसद की अपनी लोकतांत्रिक परंपरा के मुताबिक भारत के कम्पनी साम्राज्य का स्वरूप और संचालन हमेशा ही एक महत्वपूर्ण मुद्दा बना रहा। एक व्यापारिक कम्पनी सैद्धांतिक रूप से राज्य करने योग्य नहीं थी। इसलिए कम्पनी के ऊपर ब्रिटिश संसद का दबाव लगातार बना रहता था। संसद के लिए सुनहरा मौका तब आया जब कम्पनी ने भारी कर्जे से उबरने के लिए ब्रिटेन से मदद की प्रार्थना की। संसद ने इसके बदले में भारतीय उपनिवेश पर अपना नियंत्रण स्थापित करना शुरू कर दिया। 1773 का रेग्युलेटिंग एक्ट इस दिशा

में पहला कदम था। जिससे कम्पनी के नागरिक प्रशासन, सेना और भूराजस्व संबंधी संसद की निगरानी में आ गए। 1784 के पिट के इंडिया एक्ट ने इस निगरानी को नियंत्रण में बदल दिया। 1813 के चार्टर के साथ ही कम्पनी का भारतीय साम्राज्य पर व्यापारिक एकाधिकार समाप्त हो गया। और, 1833 में कम्पनी ने अपनी व्यापारिक संपत्ति को एक ट्रस्ट बनाकर ब्रिटिश संसद को सौंप दिया। अब ईस्ट इंडिया कम्पनी की हैसियत मात्र ब्रिटिश संसद के राजनीतिक प्रतिनिधि के रूप में भारत के शासक की बची थी। इस तरह, भारत के प्रशासन पर ब्रिटिश क्राउन का सीधा नियंत्रण अब केवल समय की बात थी। 1857 के बाद यह मौका भी आ गया। 1861 की महारानी की उद्घोषणा के साथ ही भारत पर क्राउन का सीधा राज स्थापित हो गया।

2.4 औपनिवेशिक राज्य के उद्देश्य

औपनिवेशिक भारतीय राज्य का प्रमुख उद्देश्य भारत के अधिकाधिक शोषण और उस पर नियंत्रण का प्रभावी ढांचा तैयार करना था। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने शासन के दौरान भारतीय परिस्थितियों के अनुसार शासन- प्रशासन का एक तंत्र निर्मित करने के प्रयास किये थे। वस्तुतः "प्रयोग और संशोधन" की नीति पर आधारित यह तंत्र कई मायनों में प्रभावी ढंग से काम कर रहा था। सिविल सेवा, पुलिस, सेना और न्यायिक व्यवस्था- सभी का एक प्राथमिक ढांचा ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा खड़ा किया गया था। जिसमें ब्रिटिश संसद ने समय- समय पर संशोधन किये। शुरुआती दौर में कम्पनी ने सिर्फ राजस्व वसूली पर नियंत्रण की नीति अपनाई। लेकिन राजस्व वसूली को सुचारू बनाने के लिए प्रशासन पर प्रत्यक्ष नियंत्रण होना आवश्यक था। इसलिए जल्द ही प्रशासन के उत्तरदायित्व से मुक्त रहने की नीति का परित्याग कर दिया गया और औपनिवेशिक जरूरतों के मुताबिक प्रशासनिक इकाइयों और निकायों की स्थापना की गयी। कालांतर में जिनका विकास हुआ और 1857 के बाद ब्रिटिश संसद के नियंत्रण के अधीन जिसे अंतिम स्वरूप प्रदान किया गया। यह समूची व्यवस्था एक स्पष्ट न्यायिक व्यवस्था के बिना काम नहीं कर सकती थी। इसलिए न्याय प्रणाली को विकसित किया गया और न्याय को संहिताबद्ध करने के प्रयास शुरू हुए। यह समूची व्यवस्था प्रभावी ढंग से काम करे, इसके लिए पुलिस व्यवस्था अनिवार्य थी। सेना की जरूरत तो राज्य की विजय, विस्तार और स्थायित्व से जुड़ी थी ही। एक सार्वभौमिक संप्रभुता के निर्माण के लिए राज्य की सैनिक शक्ति का विकसित होना जरूरी था।

2.4 सिविल सेवा: ब्रिटिश राज का इस्पाती चौखटा

➤ नियुक्ति एवं प्रशिक्षण

नवाब से प्रशासन का दायित्व अपने हाथ में लेने के बाद कम्पनी ने अपने कर्मचारियों की मदद से प्रशासन का संचालन करने का प्रयास किया। कम्पनी डायरेक्टर्स की ओर से नियुक्त इन कर्मचारियों ने स्थानीय स्तरों पर भ्रष्टाचार की सारी हदें पार कर दीं। इन्होंने अपने-गैर कानूनी निजी व्यापार चलाये, लोगों को रियायतें देने के लिए हर वर्ग से जबरदस्त घूस- नजराने वसूले।

घूस देने वालों में स्थानीय बुनकर, दस्तकार, व्यापारी से लेकर ज़मींदार, नवाब और राजा तक सभी शामिल थे। इस माहौल में लार्ड कार्नवालिस ने सबसे पहले एक नागरिक सेवा की स्थापना का प्रयास किया। नागरिक प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार से कम्पनी को राजस्व में भारी नुकसान का सामना करना पड़ता था। कार्नवालिस ने कम्पनी कर्मचारियों के निजी व्यापार पर रोक लगा दी। उसने भ्रष्टाचार रोकने के लिए सख्त कानूनों का प्रावधान किया और कर्मचारियों के वेतन- भत्ते में वृद्धि कर दी गयी। एक व्यवस्था के तहत जिला कलेक्टर को कुल वसूले गए राजस्व का 1% प्रोत्साहन स्वरूप दिया जाने लगा। इससे बहुत हद तक स्थानीय स्तरों पर व्याप्त भ्रष्टाचार पर रोक लगी। लार्ड वेलेजली ने कर्मचारियों को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए उनके प्रशिक्षण पर जोर दिया। इसके बाद फोर्ट विलियम कॉलेज में 3 साल के प्रशिक्षण के बाद ही नियुक्ति की व्यवस्था की गयी। लेकिन कम्पनी डायरेक्टर्स के शक- सुबहे की वजह से 1802 में ही इस व्यवस्था का अंत हो गया। इसके बाद लन्दन के पास हार्टफोर्ड में ईस्ट इंडिया कॉलेज बनाया गया, जिसे 1809 में हेलीबरी स्थानांतरित करने के बाद हेलीबरी कॉलेज के नाम से जाना गया। 1833 के एक्ट ने सिविल सेवा में नियुक्ति के लिए प्रतियोगिता का प्रावधान किया। लेकिन यह प्रतियोगिता कम्पनी द्वारा नामित उम्मीदवारों के बीच ही आयोजित की जाती थी। जिसमें चयन के लिए भाई- भतीजावाद का बुरा हाल था। एक अनुमान के मुताबिक 1840 और 1860 के बीच नागरिक सेवा के अधिकतर कर्मचारी मात्र 50-60 परिवारों के बीच से चुने गए थे। अंततः 1853 में एक चार्टर एक्ट के माध्यम से खुली प्रतिस्पर्धा का प्रावधान किया गया। जिसके आयोजन के लिए सिविल सर्विसेज कमीशन की स्थापना भी हुयी।

भारत में ब्रिटिश राज की सिविल सेवा के दो मुख्य दायित्व थे- भूराजस्व की नियमित वसूली और कानून- व्यवस्था की स्थापना। डिस्ट्रिक्ट कलेक्टर अधिकारियों के सोपानक्रम में जिले की प्राथमिक प्रशासनिक इकाई का मुखिया होता था। जिसके भीतर राजस्व व्यवस्था और सामान्य प्रशासन के समस्त अधिकार निहित होते थे। यह पद अपने आप में जिला स्तर पर औपनिवेशिक सत्ता का प्रतीक होता था। हेस्टिंग्स द्वारा 1772 में सृजित इस पद को पहले दीवानी न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे। बाद में सिविल जज और कलेक्टर के पद अलग कर दिए गए। मद्रास में तो कलेक्टर को 1814 के बाद दण्डाधिकारी (मजिस्ट्रीरिअल), राजस्व और न्यायिक- तीनों ही अधिकार प्राप्त रहे।

➤ शिक्षित भारतीयों के साथ भेदभाव

प्रशासन की उच्च सेवाओं में भारतीयों के साथ भेदभाव शुरुआत से ही औपनिवेशिक नीति का हिस्सा रहा। कार्नवालिस के साथ शुरू हुयी इस नीति में अब्बल तो भारतीयों के लिए दरवाजे बंद रखे गए या खुले भी तो प्रक्रिया इतनी महंगी और कठिन बनाए रखी गयी, जिसमें उनके सफल हो सकने की संभावनाएं न के बराबर थीं। कम्पनी डायरेक्टर्स के द्वारा भारतीयों की नियुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता था। खुली प्रतिस्पर्धा में भी परीक्षा का आयोजन सिर्फ लन्दन में होता था। जिसमें लैटिन, ग्रीक और अंगरेजी की बहुतायत होती थी। परीक्षा की पात्रता की अधिकतम आयु 1859 में 21 वर्ष थी जिसे 1878 में घटाकर 19 कर दिया गया। 1870 के बाद

बदली नीति के मुताबिक यूरोपियों के लिए आरक्षित कुछ पदों पर भारतीयों की नियुक्ति संभव हुयी। इसके बावजूद पुलिस, पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट (पी० डब्ल्यू० डी०), वन विभाग, डाक एवं तार, स्वास्थ्य विभाद आदि में भारतीयों को कभी उच्च पद नहीं दिए जाते थे।

इसके पहले हेस्टिंग्स और बैटिक ने स्थानीय जरूरतों के चलते निम्न पदों पर भारतीयों की नियुक्ति के महत्व को समझा था। रिपन ने भारतीयों के साथ भेदभाव को खतरनाक बताते हुए भारतीयों के लिए एक कॉन्वेंटेड सिविल सर्विस का प्रावधान कराया। अंततः 1892 में एक पब्लिक सर्विस कमीशन की सिफारिश पर कॉन्वेंटेड सिविल सर्विस को बरकरार रखते हुए प्रांतीय सिविल सेवा बनायी गयी। जिसमें पहले के वे सारे पद समाहित कर दिए गए जो पहले स्टेटियुटरी सिविल सर्विस में आते थे। यह भी कहा गया कि भारतीय लन्दन जाकर परीक्षा दे सकते हैं। 1919 के एक्ट के अनुसार एक पृथक परीक्षा भारत में आयोजित करने की बात कही गयी। यह सेवा लन्दन में होने वाली सिविल सर्विसेज परीक्षा से भिन्न थी। धीरे- धीरे सिविल सेवा में सारे विभेदकारी प्रावधानों के बावजूद भारतीयों की सफलता की दर बढ़ती गयी। दूसरी ओर ब्रिटेन के नवयुवक भी अब भारत की ओर कम आकर्षित हो रहे थे। परिणाम कि 1941 में सिविल सर्विसेज में भारतीय बहुसंख्यक हो गए। इस कारक को ही ब्रिटेन के लिए नौकरशाही का संकट कहा गया।

2.5 पुलिस- व्यवस्था

पुलिस व्यवस्था का सीधा सम्बन्ध कानून- व्यवस्था की स्थापना से था। कम्पनी ने प्रारंभिक दिनों में भूराजस्व की वसूली अपने हाथों में ले ली थी लेकिन वह कानून- व्यवस्था की जिम्मेदारी लेने से बचती रही। इस व्यवस्था के अंतर्गत नायब नाज़िम नवाब की ओर से यह उत्तरदायित्व संभालता रहा। उसे आपराधिक मामलों में (निजामत) न्यायिक अधिकार भी प्राप्त थे। इस तरह 1781 तक पुरानी मुगल फ़ौजदारी व्यवस्था, जिसमें कोतवाल शहर का प्रभारी होता था, चलती रही। लेकिन 1770 के अकाल के बाद लगातार बढ़ रहे अपराध और लूट-पाट की वजह से पुलिस व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त बनाने की आवश्यकता महसूस की गयी। इस दिशा में भी कार्नवालिस की भूमिका महत्वपूर्ण थी। उसने थानों की सुदृढ़ व्यवस्था का निर्माण किया। जो कि 20 से 30 वर्गकिलोमीटर तक के इलाके में कानून- व्यवस्था की स्थापना के लिए उत्तरदायी होते थे। जिनका प्रभारी दरोगा होता था जिसकी नियुक्ति मजिस्ट्रेट करता था। यह दरोगा अपने इलाके में रुतबे और खौफ का प्रतीक बन गया था। ब्रिटिश काल में दरोगा लोगों की सामान्य घृणा का पात्र हुआ करता था। स्थानीय स्तर पर ज़मींदार तथा अन्य ताकतवर लोगों के साथ मिलकर दरोगा लोगों पर हर तरह के जुल्म में भागीदार होता था। ज़मींदारों के लठैतों की एक सामानांतर व्यवस्था दरोगा के प्रश्रय में ही फलती- फूलती रही। कार्नवालिस की यह पुलिस व्यवस्था थोड़े बहुत संशोधनों के साथ कालान्तर में अन्य जगहों पर भी लागू की गयी थी। 1817 में बड़ा परिवर्तन करते हुए कानून- व्यवस्था के नियमन का अधिकार डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट में समाहित कर दिया गया। 1843 में चार्ल्स नेपियर ने सिंध में एक नया प्रयोग किया। पुलिस विभाग के नाम से एक स्वतन्त्र विभाग का निर्माण किया गया। पुलिस व्यवस्था का भी सिविल

सर्विसेज की तरह क्रमिक सोपानक्रम निर्मित हुआ। इस व्यवस्था में जिम्मेदारियों का स्पष्ट विभाजन किया गया था। यह व्यवस्था बाद में मद्रास, बम्बई और पंजाब में भी लागू की गयी थी।

1860 में क्रानून- व्यवस्था के नए सिरे से संयोजन के प्रयासों के तहत एक पुलिस कमीशन की स्थापना की गयी। जिसकी सिफारिशों के आधार पर 1861 में पूरे भारतीय साम्राज्य के लिए एक पुलिस एक्ट पारित किया गया। जिसके अंतर्गत प्रांतीय आधारों पर नागरिक नियंत्रण में पुलिस व्यवस्था की स्थापना हुयी। दरोगा को सब- इंस्पेक्टर कहा जाने लगा और डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट इस व्यवस्था का नियंत्रक बन गया। जिले के सुपरिंटेंडेंट ऑफ़ पुलिस को भी डी०एम० को रिपोर्ट करना होता था। पुलिस विभाग में नियुक्ति के मामले में भी भारतीयों के साथ भेदभाव की सामान्य नीति बनाये राखी गयी। निचले स्तर पर सिपाहियों और थानेदारों की नियुक्ति करना तो मजबूरी थी। इतनी भारी संख्या में अंग्रेज छोटी नौकरियों के लिए मौजूद नहीं थे। लेकिन बड़े पदों पर उनकी नियुक्ति के दरवाजे हमेशा बंद रखे गए। हालांकि 1902 के कमीशन ने सैद्धांतिक रूप से भारतीयों की नियुक्ति की मंजूरी दे दी थी।

2.7 सेना का संगठन

➤ 1857 के पहले सेना का स्वरूप एवं संगठन

व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के चलते प्रारंभ से ही कम्पनी ने अपनी निजी सेना का संगठन किया था। इस कम्पनी सेना को मुश्किल समय में ब्रिटेन की रॉयल आर्मी का सहयोग प्राप्त था। कम्पनी की सेना में कुछ उच्च अधिकारियों को छोड़ कर शेष की नियुक्ति भारतीयों के बीच से की जाती थी। एक अध्ययन के मुताबिक 1794 में कम्पनी की कुल सेना 82,000 थी। 1824 में यह संख्या 154,000 तक पहुँच गयी। जबकि 1856 में कम्पनी के पास कुल 214,000 की विशाल सेना थी। सेना के आकार में यह वृद्धि कम्पनी राज के विस्तार के सापेक्ष बढ़ती रही। कम्पनी राज की सीमाओं के विस्तार, उन पर प्रभावी नियंत्रण और राज की परिधि में हो रहे विद्रोहों से निपटने के लिए एक विशाल सेना कम्पनी की जरूरत थी। जैसे- जैसे राज का विस्तार होता गया, सेना का आकार भी बढ़ता गया।

सेना का संगठन मूल रूप से उच्च वर्गों के बीच से किया जाता था। ब्राह्मण, राजपूत और भूमिहार इस सेना की रीढ़ हुआ करते थे। क्योंकि कम्पनी की नीति थी कि वह स्थापित सामाजिक मान्यताओं के साथ छेड़छाड़ नहीं करना चाहती थी। 1820 के बाद से जैसे ही एकरूपता स्थापित करने के प्रयास हुए, सेना के भीतर असंतोष बढ़ने लगा। जिसकी चरम परिणति 1857 के विद्रोह के साथ हुयी। कम्पनी राज की पहुँच पहाड़ों तक होने के बाद पहाड़ों पर युद्ध करने के काबिल सैनिकों की जरूरत पूरी करने के लिए गोरखा सैनिकों की नियुक्ति महत्वपूर्ण सिद्ध हुयी। नेपाली, गढ़वाली और सिरमौरी गोरखा ब्रिटिश राज के सबसे विश्वस्त

सैनिक सिद्ध हुए। 1857 के विद्रोह के दमन में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आज भी गोरखा बटालियन ब्रिटेन की शाही सेना का अंग है।

इस विशाल सेना के रखरखाव पर कम्पनी अपनी राजस्व आय का सबसे बड़ा हिस्सा खर्च करती थी। यह राजस्व जनता के खून-पसीने की कमी से वसूला जाता था। जबकि उसका उपयोग खालिस औपनिवेशिक उद्देश्यों के लिए किया जाता था। आरंभिक राष्ट्रवादियों सेना पर इस भारी-भरकम निवेश को अपने राजनीति का बड़ा मुद्दा बनाया था।

➤ 1857 के बाद सैन्य संगठन में परिवर्तन

1857 विद्रोह की शुरुआत एक सैनिक विद्रोह से हुयी थी। जिसमें लगभग पूरी बंगाल आर्मी ने कम्पनी राज के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था। इस विद्रोह के दमन के बाद ब्रिटिश राज ने सावधानीपूर्वक सेना के पुनर्संगठन के प्रयास किये। कम्पनी सेना का ब्रिटेन की शाही सेना में विलय कर दिया गया। सैन्य पुनर्गठन में उनकी मूल प्राथमिकता और जोर इस बात पर था कि सैनिकों को आपस में जाति, धर्म के आधारों पर बांटा जा सके। ताकि उनमें विद्रोह की कोई संगठित भावना न पनप सके। दूसरी बड़ी प्राथमिकता भारतीय और यूरोपीय सैनिकों का संतुलन था। बंगाल सेना में यह संतुलन 1:2 का रखा गया यानि १ यूरोपीय पर दो भारतीय। जबकि मद्रास और बम्बई के लिए यह औसत 2:5 का था। भारतीयों को सभी महत्वपूर्ण पदों और सेना के अंगों जैसे तोपखाना आदि से सख्ती के साथ अलग रखने की नीति अपनाई गयी।

1857 के बाद सैन्य पुनर्संगठन के लिए पील समिति का गठन किया गया। जिसने अपनी संस्तुतियों में साफ़-साफ़ कहा कि देशी सेना का गठन भिन्न-भिन्न राष्ट्रियताओं और जातियों से मिलकर होना चाहिए। यह कदम दरअसल भारतीयों के बीच उभरती हुयी राष्ट्रिय चेतना से निपटने के लिए उठाया गया था। इसे ही हम "बांटो और राज करो" की नीति से जानते हैं। इसी के साथ क्षेत्रीय आधार पर रेजिमेंट्स का गठन किया गया। पंजाब, हिंदुस्तान, मद्रास, बम्बई आदि रेजिमेंट्स को अलग-अलग रखा गया। ताकि उनके सैनिक क्षेत्रीय पहचानों के प्रति ज्यादा प्रतिबद्ध रहे और उनके बीच राष्ट्रियता की भावना न पनप सके।

➤ लड़ाकू जाति का सिद्धांत

बाद में सैनिकों की भर्ती के लिए एक अनोखे सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। जिसे लड़ाकू जाति (मार्शल रेस) की संकल्पना कहा जाता है। इसके मुताबिक वे सभी जातियों जिन्होंने 1857 विद्रोह के दमन में अंग्रेजों का साथ दिया था, लड़ाकू जातियां कहलाई कहा गया कि ये वे जातियां हैं जिनके लड़ाकूपन का अपना इतिहास और समृद्ध परंपरा है। इन जातियों में पंजाबी जाट, राजस्थान के राजपूत (अवध के राजपूत इसमें शामिल नहीं थे), पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के

पठान, और पहाड़ी इलाकों के गोरखा मुख्य थे। ध्यान रहे आज की भारतीय सेना के अंतर्गत स्थापित राजपूत, जाट गोरखा, सिख, डोगरा, महार आदि के नाम पर बनी रेजीमेंट्स सिर्फ नाम से जाति आधारित हैं। लेकिन इनमें सभी धर्मों और जातियों के सैनिक शामिल हैं। दूसरी तरफ, जो जातियाँ पिछले 100 सालों से ब्रिटिश सेना का अभिन्न अंग रही थीं, गैर-लड़ाकू जातियाँ घोषित कर दी गयीं। जिनमें अवध के सैनिक, बिहार, बंगाल और दक्षिण भारतीय लोग शामिल थे। जबकि इन्हीं के बल पर कम्पनी ने न केवल भारत के साम्राज्य का निर्माण और विकास किया था बल्कि विदेशों में भी इन सैनिकों ने अपनी वीरता की मिसालें कायम की थीं।

2.6 न्यायिक व्यवस्था

1764 के बक्सर युद्ध के बाद कम्पनी ने भूराजस्व व्यवस्था अपने हाथ में ले ली थी। इस नाते दीवानी अदालत संबंधी मामले सीधे उसके नियंत्रण में आ गए थे। कम्पनी इस मामले में दिलचस्पी रखती थी क्योंकि भूराजस्व से होने वाली आय उसकी आय का प्रमुख साधन था। लेकिन आपराधिक मामलों में अधिकार-क्षेत्र नवाब के अंतर्गत नायब नाजिम संभालता रहा। लेकिन जल्द ही कम्पनी ने अपनी संप्रभुता की दृष्टि से इस प्रबंध की सीमाओं को पहचान लिया। इस सम्बन्ध में कम्पनी को ब्रिटेन में कई वर्गों की मुखर आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ रहा था। उपयोगितावादी विचारक कानून के शासन की मांग कर रहे थे। ब्रिटिश परंपरा का हवाला देते हुए न्याय की सार्वभौमिक अवधारणा पर बल दिया जा रहा था। इसके अलावा, कम्पनी के नवविजित भारतीय साम्राज्य पर नियंत्रण बढ़ाने की दृष्टि से भी यह प्रबंध अनुकूल नहीं था।

2.6.1 न्यायिक व्यवस्था का संगठन

इस दिशा में सबसे पहले कदम उठाने का श्रेय वारेन हेस्टिंग्स को जाता है। उसने 1772 में जिले को न्याय की प्राथमिक इकाई बनाकर प्रत्येक जिले में दीवानी और आपराधिक न्यायालयों की स्थापना पर जोर दिया। इनमें पहली डिस्ट्रिक्ट कलक्टर के अधीन होती थी। इस अदालत के न्यायाधिकार में उत्तराधिकार, विवाह, तलाक आदि मामले आते थे। यूरोपीय जज पंडित और मौलवियों की सलाह से इन मामलों में निर्णय सुनाते थे। लेकिन वह कार्नवालिस था जिसने सबसे पहले एक व्यवस्थित न्यायिक व्यवस्था की नींव डाली। उसने कलक्टर से दीवानी अदालतों के न्यायाधिकारण की शक्ति वापस ले ली और अदालतों की एक क्रमिक व्यवस्था स्थापित की। किसी प्रशासक का एक साथ प्रशासन और न्याय दोनों पर अधिकार ब्रिटिश मूल्यों के खिलाफ था। इस व्यवस्था के अंतर्गत दीवानी अदालतों के सोपानक्रम में सबसे नीचे अनेक छोटी अदालतें होती थीं। इनके प्रधान भारतीय अधिकारी मुंसिफ और अमीन होते थे। केवल इन्हीं अदालतों के जज भारतीय हो सकते थे। अन्य सभी अदालतों में सख्ती के साथ भारतीयों

को उच्च पदों से अलग रखा जाता था। इनके ऊपर यूरोपीय जजों वाली रजिस्ट्रार अदालतें होती थीं। रजिस्ट्रार अदालत के ऊपर सुनवाई जिला अदालत, उनके ऊपर चार प्रांतीय अदालतें होती थीं जोकि कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना में स्थित थीं। सबसे बड़ी अदालत सदर दीवानी अदालत होती थी। इसकी स्थापना 1801 में की गयी थी। वहीं आपराधिक मामलों की सुनवाई फौजदारी अदालतों में होती थी। कार्नवालिस द्वारा बनाई गयी व्यवस्था के अनुसार बंगाल प्रेसिडेंसी को चार डिवीजनों में बांटकर उनमें से हर एक में एक क्षेत्रीय न्यायालय की स्थापना की गयी। जिनके नीचे भारतीय जजों वाली अनेक छोटी- छोटी अदालतें होती थीं। जबकि आपराधिक मामलों की अंतिम सुनवाई सदर निजामत अदालत में होती थी। 1861 में इंडियन हाई कोर्ट एक्ट बना जिसके आधार पर 1865 में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में हाई कोर्ट्स की स्थापना हुयी। इसी के साथ सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालत अदालतों की व्यवस्था का अंत हो गया। क्षेत्रीय और प्रांतीय अदालतों की व्यवस्था तो बैटिक ने पहले ही खत्म कर दी थी।

2.6.2 संहिताबद्ध न्यायिक व्यवस्था की स्थापना

न्यायिक व्यवस्था के सन्दर्भ में अगली बड़ी चुनौती कानून की स्पष्ट व्याख्या करने से सम्बंधित थी। दीवानी न्याय में उत्तराधिकार, विवाह, तलाक, संपत्ति में अधिकार को लेकर पंडित और मौलवी अलग- अलग धर्मशास्त्रों का सहारा लेकर कानून की मनचाही व्याख्या कर देते थे। यह कानून की लिखित और स्पष्ट व्यवस्था की दिशा में बाधक था। दूसरी और आपराधिक मामलों में मुस्लिम कानून के अंतर्गत तमाम मध्ययुगीन बर्बर सजाएं प्रचलित थीं। जिन्हें आधुनिक न्याय प्रणाली की दृष्टि से अच्छा नहीं माना जाता था। इसलिए कानून को संहिताबद्ध करने की जरूरत महसूस की गयी। हेस्टिंग्स ने अपनी अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया जिसमें 11 पंडित शामिल थे। इस समिति ने 1775 में ए डाइजेस्ट ऑफ़ हिन्दू लॉ तैयार किया। इसी तर्ज पर 1779 में ए कोड ऑफ़ मुस्लिम लॉ बनाया गया। 1833 के चार्टर एक्ट ने इस मामले में कानून बनाने का अधिकार गवर्नर जनरल को दे दिया। बैटिक ने तुरंत ही मैकाले की अध्यक्षता में एक विधि आयोग का गठन कर दिया। जिसने 1837 में ही अपनी संस्तुतियाँ सरकार को सौंप दी थीं। लेकिन भारतीय मामलों में इतना बड़ा हस्तक्षेप करने का साहस कम्पनी सरकार नहीं जुटा सकी। यह काम 1857 के विद्रोह के दमन के पश्चात ही किया जा सका। 1859 में द कोड ऑफ़ सिविल प्रोसीजर, 1860 में इंडियन पीनल कोड और 1860 में क्रिमिनल प्रोसीजर कोड लागू किया गया।

2.6.3 ब्रिटिश न्यायिक व्यवस्था के गुण- दोष

ब्रिटिश न्यायिक प्रणाली ने भारत की न्यायिक व्यवस्था को सुसंगत बनाया। पहले की न्याय प्रणाली परम्परा और धर्मशास्त्रों की पण्डितों- मौलवियों की व्याख्या पर निर्भर करती थी। लेकिन अब कानून की परिभाषित व्याख्या मौजूद थी। इसके अलावा, शासन- प्रशासन का संचालन अब लिखित कानूनी व्यवस्था के अंतर्गत किया जाने लगा। जिसे दूसरे शब्दों में कानून का शासन कहा जाता है। इस व्यवस्था ने कानून की मनचाही व्याख्याओं की संभावना बहुत कम कर दी। दूसरी महत्वपूर्ण खासियत थी कानून के सम्मुख समानता का सिद्धांत अर्थात् कानून के दृष्टि में सभी नागरिक समान हैं। तीसरे, पूरे देश में समरूप कानून व्यवस्था लागू हुयी। वरना पहले स्थानीय राज्य के स्वरूप के मुताबिक भी कानून बदलता रहता था। फिर सर्वोच्च अपीलीय अधिकार शासक में निहित होता था। जिसकी कोई निश्चित व्याख्या नहीं होती थी। यद्यपि ब्रिटिश न्यायिक व्यवस्था के अंतर्गत केवल वे ही क्षेत्र सम्मिलित थे जो उनके सीधे नियंत्रण में आते थे। भारतीय रियासतों पर इस न्यायिक व्यवस्था का मिला- जुला असर देखने को मिलता था। कुछ शासक ब्रिटिश राज्य संगठन की तर्ज पर अपने राज्य के संचालन में खासी रूचि प्रदर्शित करते थे। जबकि ब्रिटिश पोलिटिकल एजेंटों और रेजीडेंटों के दबाव में भी कई रियासतों को थोड़े- बहुत सुधार लागू करने पड़े। लेकिन कुल मिलाकर, रियासतों में अहस्तक्षेप की ब्रिटिश नीति के कारण वहाँ मोटे तौर पर कानून का परंपरागत ढांचा ही बना रहा।

लेकिन यह व्यवस्था अपने आप में बेदाग नहीं थी। न ही इस व्यवस्था की स्थापना भारतीय जनता के भले के लिए की गयी थी। न्यायिक प्रक्रिया दरअसल कुछ इस तरह संगठित की गयी थी, जिसने आम गरीब भारतीय को कानून की पहुँच से दूर कर दिया। फिर यह व्यवस्था औपनिवेशिक राज्य को स्थापित करने का औजार थी। जिसके माध्यम से शासन- प्रशासन से लेकर न्याय व्यवस्था तक का सार्वभौम अधिकार और संप्रभुता ब्रिटिश राज्य में जाकर समाहित होती थी। जिसका मुख्य उद्देश्य भारत पर राज करना और उसका अधिकतम दोहन करना था। इस न्यायिक व्यवस्था में भी शिक्षित भारतीयों को हरसंभव तरीकों से उच्च पदों से दूर रखा गया। केवल निचली अदालतों में ही उन्हें स्थान दिए गए। यहाँ तक की यूरोपीय लोगों के मुकदमों की सुनवाई भी यूरोपीय जज ही कर सकते थे। यह भेदभाव की नस्लीय परंपरा थी। इस मामले में 1883 में पारित इल्बर्ट बिल विधेयक के विरोध में एक देशव्यापी विरोध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। इसके अलावा, इस व्यवस्था ने न्याय की ग्रामीण और पंचायती परम्पराओं का गला घोट दिया। पहले आपसी समझदारी से स्थानीय स्तरों पर ही तमाम मामलों का निपटारा तत्काल प्रभाव से कर दिया जाता था। नए कानूनी ढांचे के अंतर्गत यह संभव नहीं रह गया। कानून की जानकारी के लिए अब कानून के जानकारों की जरूरत उठ खड़ी हुयी। इसने एक नए वकील वर्ग को जन्म दिया। वकील के बिना मुकदमा लड़ना असंभव हो गया। वकीलों की फीस काफी ज्यादा होती थी। गरीब भारतीय इतनी भारी रकम चुका नहीं सकता था। फिर कानूनी प्रक्रिया

इतनी जटिल और पेंचीदी हो गयी कि बिना कानून की जानकारी के उसे समझना असंभव था। अशिक्षित भारतीय लोगों के लिए यह एक और बड़ी मुसीबत थी। वे हर जानकारी के लिए वकीलों पर निर्भर हो गए। सबसे बढ़कर, अमीर और ताकतवर लोगों के लिए कानून को दिग्भ्रमित करना बहुत आसान था। वे अपने ढंग से कानूनी प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते थे। वकील प्रक्रिया को लम्बा खींचकर, उसे टालते रहकर, गवाहों को खरीदकर या डरा-धमकाकर और कई और तरीकों से गरीब और कमजोर पक्षों को हतोत्साहित कर सकते थे। अदालतें बहुत दूर होती थीं। उनकी अपीलिय अदालतें तो और भी दूर स्थित हुआ करती थीं। ऐसी स्थिति में वकील की फीस और यात्रा के खर्च को वहन कर पाना बहुत कठिन हुआ करता था। इस तरह, यह व्यवस्था अपने मूल स्वरूप में गरीबों की पक्षधर और भारतीयों के लिए मददगार साबित नहीं हुयी।

2.8 सारांश

इस प्रकार, औपनिवेशिक राज्य ने अपने भारतीय साम्राज्य के संचालन, उस पर नियंत्रण और उसे अपने औपनिवेशिक हितों के अनुसार बनाने के लिए राज्य- उपकरणों का निर्माण किया था। कम्पनी राज की स्थापना से ब्रिटिश क्राउन के सीधे नियंत्रण तक यह राज्य- उपकरण तमाम प्रयोगों और उनमें समय- समय पर किये गए संशोधनों के माध्यम से विकसित हुए थे। इस दौरान स्थानीय संरचनाओं को तोड़ते हुए उनमें एक नयी औपनिवेशिक संरचना का निर्माण ब्रिटिश राज की स्थिति और क्षमताओं पर निर्भर करता था। नागरिक सेवा, पुलिस व्यवस्था, न्याय प्रणाली का विकास और शक्तिशाली सैन्य तंत्र का निर्माण ब्रिटिश राज की भारत पर पकड़ गहरी और मजबूत बनाने के साधन थे। जिनका उद्देश्य भारतीय जनता के किसी भी संभावित प्रतिक्रिया को समय रहते समझने की कोशिश करना, शांत करना और अंततः उसका दमन करना था।

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चन्द्र, बिपन, आधुनिक भारत, एनसीईआरटी

बंद्योपाध्याय, शेखर, प्लासी से विभाजन तक, ओरिएंट ब्लैकस्वान

सरकार, सुमित, आधुनिक भारत

Chandler, David and Beckett, Ian, The Oxford History of the British Army

Thakur, R.N., The All India Services: A Study of their Origin and Growth

2.10 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

Alavi, Seema, The Sepoys and the Company: Tradition and Transition in Northern India

Dewey, Anglo-Indian Attitudes: The Mind of the Indian Civil Services

Heathcote, T.A., The Indian Army: The Garrison of British Imperial in India, 1822- 1922

Singha, Radhika, A Despotism of Law: Crime and Justice in Early Colonial India

Yong, Tan Tai, The Garrison State: The Military, Government and Society in Colonial Punjab, 1849-1947

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. औपनिवेशिक भारतीय राज्य के उपकरण उपनिवेशवादी हितों की पूर्ति के साधन थे। समीक्षा कीजिये।
2. ब्रिटिश भारतीय न्यायिक प्रणाली के विकास पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
3. सिविल सेवा, पुलिस तथा सेना- यही वे उपकरण थे जिनसे ब्रिटेन ने भारत पर राज किया। विस्तृत टिप्पणी कीजिये।

लोकप्रिय प्रतिरोध: संथाल विद्रोह (1857) , नील विद्रोह (1860) डेक्कन दंगे (1875)

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 कारण
- 3.4 1857 के पहले के विद्रोह
 - 3.4.1 सन्यासी एवं फ़कीर विद्रोह
 - 3.4.2 पागलपंथी, फैराज़ी और तहरीक-ए-मुहम्मदिया
 - 3.4.3 वहाबी आन्दोलन
 - 3.4.4 रामोसी एवं गडकरी विद्रोह
 - 3.4.5 उड़ीसा का खोंड विद्रोह
 - 3.4.6 कोल विद्रोह
 - 3.4.7 संथाल विद्रोह
- 3.5 1857 के बाद के विद्रोह
 - 3.5.1 कूका आन्दोलन
 - 3.5.2 फड़के आन्दोलन
 - 3.5.3 मोपला विद्रोह
 - 3.5.4 पाबना
 - 3.5.5 नील विद्रोह
 - 3.5.6 दक्कन के दंगे
 - 3.5.7 लगान नाअदायगी आन्दोलन
 - 3.5.8 मुण्डा विद्रोह
 - 3.5.9 ताना भगत आन्दोलन
 - 3.5.10 चेंचू एवं रम्पा
- 3.6 प्रकृति
- 3.7 सारांश
- 3.8 सन्दर्भ- ग्रन्थ सूची
- 3.9 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद को जनता के विभिन्न वर्गों की ओर से हमेशा तीखे प्रतिरोध का सामना करना पड़ा था। बंगाल पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के शुरुआती दिनों से ही किसान और आदिवासी औपनिवेशिक नीतियों के शोषण का जवाब अपने- अपने ढंग से देने लगे थे। इन सभी विद्रोहों की मूल जड़ें कहीं न कहीं ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों में छुपी हुयी थीं। जिन्होंने स्थानीय स्तरों पर भूस्वामी वर्ग को अपना स्वाभाविक मित्र मानकर उनके माध्यम से किसानों पर शोषण का शिकंजा कास दिया था। भूराजस्व की ज्यादा से ज्यादा उगाही, अनुचित अव्वाब यानि उप-करों का बोझ, जमीन से किसान की बेदखली के प्रावधान, ग्रामीण अर्थव्यवस्था में बाहरी तत्वों- महाजन और साहूकार- का प्रवेश और कानून- पुलिस के माध्यम से इस समूची व्यवस्था को वैधानिक बनाने के प्रयास इस असंतोष की मूल वजह थे। आदिवासी इलाकों में भी समस्याएं लगभग इसी तरह थीं। बस फर्क इतना था कि वहां जंगल पर आदिवासियों के स्वाभाविक अधिकारों को चुनौती देना असंतोष का एक अन्य बड़ा कारण था।

3.2 उद्देश्य

पिछली एक इकाई में आपने भारत में 1857 के महान विद्रोह के बारे में जानकारी हासिल की। इसे भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का पहला व्यापक प्रतिरोध आन्दोलन माना जाता है। लेकिन इस इकाई का उद्देश्य आपको अन्य जन आन्दोलनों की परंपरा से परिचित कराना है, जिसने स्थानीय स्तरों पर प्रतिरोध की मिसालें कायम की थीं। इनमें किसान एवं आदिवासी विद्रोह प्रमुख हैं। जिन आन्दोलनों का नेतृत्व धार्मिक समूहों के हाथ में था, उनका सामाजिक आधार भी कृषक असंतोष पर आधारित था। इस इकाई के माध्यम से आप जानेंगे-

- भारत के विभिन्न हिस्सों में हुए कृषक और आदिवासी विद्रोहों के कारण
- महत्वपूर्ण किसान और आदिवासी विद्रोहों की जानकारी
- इन विद्रोहों की प्रकृति और विशेषताएं
- ब्रिटिश राज- स्थानीय भूस्वामी वर्ग और किसानों- आदिवासियों के हितों के मध्य अन्तर्विरोध

3.3 कारण

उपनिवेशवादी आर्थिक नीतियाँ के प्रति समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त असंतोष औपनिवेशिक भारत में हुए विद्रोहों का सबसे बड़ा कारण थे। अंग्रेजों ने भारत के अधिकतम आर्थिक शोषण के लिए एक नयी भूराजस्व व्यवस्था और प्रशासनिक तंत्र का निर्माण किया था। इस नयी व्यवस्था के तहत नए तरह के भूराजस्व बंदोबस्त किये गए थे। जिन्हें हम रैयतवारी या अस्थायी बंदोबस्त, इस्तमरारी या स्थायी बंदोबस्त और महालवारी बंदोबस्त के नाम से जानते हैं। इन तीनों

व्यवस्थाओं में एक सामान्य बात यह थी कि वे किसानों से अधिकाधिक भूराजस्व वसूलने का प्रयास करती थी।

लगान से माफ़ी ब्रिटिश राज में एक नामुमकिन बात थी। किसान को मौसम और प्राकृतिक आपदाओं जैसे सूखा और बाढ़ की मार से जूझते हुए भी भूराजस्व से कोई राहत प्राप्त नहीं होती थी। लगान न चुकाने की दशा में उनकी जमीन नीलाम कर दी जाती थी। इस नीलामी में बोली लगाने वाले संपन्न लोग दूरदराज के शहरों से आये होते थे। यानि जमीन पर किसानों के मालिकाना हक को गुलाम भारत में एक वैधानिक काम बना दिया गया था। जिसे पुलिस, प्रशासन और कानून का संरक्षण प्राप्त था।

अपनी जमीन की नीलामी से बचने के लिए किसान कर्ज लेने पर मजबूर कर दिए जाते थे। कर्ज देने वाले तत्व भी बाहर से आये मारवाड़ी- गुजराती आदि संपन्न लोग होते थे। ये लोग खाता-बहियों में तमाम तरह की धांधलियाँ करके किसानों का और अधिक आर्थिक दोहन करते थे। मूलधन पर ब्याज पहले से ही बहुत ऊँचा होता था, किसान ब्याज ही चुकाने की स्थिति में नहीं रहता था। उस पर से भूराजस्व की नियमित वसूली और अधिक कर्ज लेने पर मजबूर करती थी। इस ऋण- जाल में उलझकर किसान पूरे साल लगभग भुखमरी और अभाव के कगार पर खड़े रहते थे। ऐसी स्थिति में अंततः महाजन और साहूकार किसान की नीलामी करके अपने कर्जे की वसूली करते थे। इस तरह, दूरस्थ जमींदार, महाजन- साहूकार और उनके बिचौलिए भारत की ग्रामीण जनता के आक्रोश की एक बड़ी वजह बन गए थे।

अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार को ध्यान में रखते हुए खेती के वाणिज्यीकरण कर दिया गया था। नील, अफीम और कपास आदि नकदी फसलों की खेती किसानों से जबरदस्ती करवाई जाती थी। भारत को कच्चे माल का निर्यातक और बने- बनाए माल का आयातक बना दिया गया था। बेहद कम दाम मिलने और घाटे का सौदा होने की वजह से किसान इन फसलों की बजाय अनाज उगाना पसंद करते थे जो कि उनका पेट भरने का साधन हुआ करता था। भारत में रोजगार और आय के वैकल्पिक साधन जैसे हथकरघा जैसे उद्योग भी औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की भेंट चढ़ाए जा चुके थे। इनकी जगह पर कोई उद्योग पैदा नहीं किये गए बल्कि भारत को ब्रिटिश उत्पादों का बाज़ार बनाने की नीति अपनाई गयी।

आदिवासी समाज की स्थितियाँ भी इसी प्रकार जटिल थी। ब्रिटिश शासन ने लगभग पूरे भारतीय समाज को समरूप आर्थिक नीतियों से शोषित कर रखा था। आदिवासी, जो कि अपने विशिष्ट आदिवासी अधिकारों को लेकर अत्यधिक संवेदनशील थे, जमीन के साथ जंगल पर अपने अधिकारों से भी वंचित कर दिए गए। औपनिवेशिक तत्वों के उनकी अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप ने कमोबेश वही जटिलताएं आर तत्व पैदा किये थे, जो कृषक अर्थव्यवस्था में कमोबेश हर जगह पैदा हुए थे।

इस तरह, विदेशी शासन ने भारतीय समाज में एकसमान सामाजिक तनाव पैदा कर दिया था। जो न केवल विदेशी शासन के प्रति बल्कि उसकी सहयोगी हर चीज से उनके मन में नफरत और

आक्रोश पैदा करता था। जो अलग- अलग समय पर, अलग- अलग क्षेत्रों में और अलग- अलग रूपों में नागरिक, आदिवासी और किसान विद्रोहों के रूप में व्यक्त होता रहा।

इस इकाई में नागरिक, किसान और आदिवासी विद्रोहों को अलग- अलग हिस्सों में न बांटकर उनका एक साथ विश्लेषण किया गया है। जिन्हें मूल रूप से दो कालखंडों- 1857 से पहले और 1857 के बाद- में विभाजित करने का आधार उनके स्वरूप में आये कुछ परिवर्तनों से है। पहले कालखंड के विद्रोह औपनिवेशिक शोषण के प्रति खालिस हिंसक प्रतिक्रियाएं हैं। लेकिन 1857 के विद्रोह के दमन के पश्चात हमें प्रतिरोध के कुछ अन्य नायाब तरीके देखने को मिलते हैं। दूसरे, ये विद्रोह पहले के विद्रोहों के विपरीत सक्रिय प्रतिरोध के साथ- साथ कानून का सहारा भी लेते हुए दिखाई देते हैं। तीसरी महत्वपूर्ण बात, उनमें से कुछ आन्दोलनों का मुख्यधारा के राष्ट्रीय संघर्ष यानि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ संपर्क भी उन्हें विशिष्ट बनाता है।

3.4 1857 के पहले के विद्रोह

3.4.1 सन्यासी एवं फ़कीर विद्रोह

सन्यासी एवं फ़कीर विद्रोह हिन्दू एवं मुस्लिम धार्मिक समूहों द्वारा उत्तरी बंगाल से लेकर बिहार के सीमावर्ती इलाकों तक 1763 से 1800 के मध्य किये गए थे। सन्यासी विद्रोही वास्तव में दसनामी सन्यासी थे, जो स्वयं को शंकराचार्य का अनुयायी मानते थे। जिन्हें हिन्दू नागा और गिरि सन्यासी कहा जाता था। ये सशस्त्र धार्मिक समूह, जो अत्यंत गुस्सैल और आक्रामक माने जाते थे, स्थानीय स्तरों पर सामाजिक- आर्थिक दृष्टि से काफी मजबूत थे। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था ने उनके हितों को चोट पहुंचाई थी। बंकिमचंद्र चटर्जी का प्रसिद्ध उपन्यास "आनंदमठ" इसी पृष्ठभूमि पर आधारित है। वारेन हेस्टिंग्स ने एक लम्बे सैन्य अभियान के बाद इस विद्रोह को कुचलने में सहायता प्राप्त की थी।

फ़कीर विद्रोह, मुसलमानों के एक धार्मिक समूह, जो फ़कीरी में विश्वास रखते थे और घुमंतू स्वभाव के होते थे, के नेता मजनुंशाह के नेतृत्व में हुआ था। एक सूफी सिलसिले से सम्बंधित ये फ़कीर मुगलों के समय से ही करमुक्त जमीन के हकदार होते थे। औपनिवेशिक राज ने इनके सामाजिक- आर्थिक विशेषाधिकारों को चोट पहुंचाई थी। परिणामस्वरूप, इस सशस्त्र धार्मिक समूह ने अंगरेजी राज को अपने इलाकों से उखाड़ फेंकने का प्रयास किया। मजनुंशाह की मौत के बाद चिराग अली ने विद्रोह का नेतृत्व संभाला। विद्रोह को समाज के अन्य वर्गों का समर्थन भी प्राप्त था।

3.4.2 पागलपंथी, फैराजी और तहरीक-ए-मुहम्मदिया

फ़कीर एवं सन्यासी विद्रोहों के दमन के बाद पूर्वी बंगाल के मैमनसिंह जिले के शेरपुर परगना में एक अन्य धार्मिक आन्दोलन फूट पड़ा। जिसका नेतृत्व पहले करीमशाह और फिर उनके शिष्य

टीपू शाह द्वारा किया गया। सत्य, समानता और भाईचारे के सिद्धांतों के आधार पर संगठित इस आन्दोलन ने गारोस, हजांग और हादी आदिवासियों के बीच अपना आधार बनाया। इन इलाकों में भी औपनिवेशिक नीतियों के विरुद्ध किसान असंतोष बहुत तीव्र था। 1824 में टीपू ने एक नयी सरकार और करों के बोझ से मुक्ति के नाम पर एक सशक्त विद्रोह छेड़ दिया। जमींदारों के गढ़ों पर हमले किये गए। एक समय यह विद्रोह इतना शक्तिशाली था कि टीपू ने अपने प्रशासनिक ढाँचे का निर्माण करना शुरू कर दिया था। 1833 में यानी करीब 9 साल बाद ही अंग्रेज इस विद्रोह को कुचलने में सफल हो सके।

हाजी शरीयतुल्लाह के नेतृत्व में पूर्वी बंगाल में ही एक अन्य धार्मिक आन्दोलन चला, जिसे फैराजी आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। इसके नेता हाजी शरीयतुल्लाह थे। यह इस्लाम में गैर- इस्लामी विश्वासों और परम्पराओं से शुद्धि का आन्दोलन था। इस आन्दोलन के झंडे तले गरीब मुस्लिम किसानों ने जमींदारों, साहूकारों, निलहों और ब्रिटिश अधिकारियों पर हमला किया। 1839 में हाजी शरीयतुल्लाह की मृत्यु के बाद उनके पुत्र दूधू मियां ने नेतृत्व सम्भाला और आन्दोलन को संगठित किया। उन्होंने स्थानीय प्रशासन के संगठन का निर्माण करने का प्रयास किया। 1862 में उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र नया मियां ने आन्दोलन की कमान संभाली।

तहरीक-ए-मुहम्मदिया की विचारधारा वहाबी आन्दोलन से काफी प्रभावित थी। इसके नेता टीटू मीर थे। चौबीस परगना जिले में इन्होंने इस्लाम का प्रचार- प्रसार करते हुए गरीब मुस्लिम किसानों और बुनकरों को संगठित हुआ। इसके सदस्य एक खास तरह की वारी पहनते और दाढ़ी रखते थे। जमींदारों ने किसानों का हौसला तोड़ने के लिए दाढ़ी रखने पर भी कर लगा दिया। इस कदम की मुखालफत करते हुए टीटू मीर और उनके अनुयायियों ने समानान्तर सरकार की स्थापना कर ली और कर तक वसूलने लगे। अंततः सरकार ने सेना भेजकर नवम्बर, 1831 में विद्रोह को कुचल दिया।

3.4.3 वहाबी आन्दोलन

यह मूल रूप से मुस्लिम सुधारवादी आन्दोलन था जो कि उत्तर पश्चिम, मध्य और पूर्वी भारत तक फैला हुआ था। इसका उद्देश्य को इस्लाम को अन्य धार्मिक परम्पराओं, प्रतीकों और संस्कारों से मुक्त करना था। इसके संस्थापक अब्दुल वहाब थे। लेकिन इस आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने का श्रेया सैय्यद अहमद रायबरेलवी को जाता है। 1820 से लगभग 1870 तक चले इस आन्दोलन ने पंजाब में सिखों (तब तक पंजाब में कम्पनी शासन की शुरुआत नहीं हुई थी) और बंगाल में अंग्रेजों को उखाड़कर मुस्लिम साम्राज्य की पुनर्स्थापना का स्वप्न देखा था। इन धार्मिक अनुयायियों ने स्वयं को एक सैन्य शक्ति की तर्ज पर संगठित किया। सैय्यद अहमद ने तो एक समय पेशावर पर कब्जा कर लिया था और अपने नाम के सिक्के भी चलवाए थे। लेकिन 1831 में उनकी मृत्यु के साथ ही पंजाब में यह आन्दोलन कमजोर पड़ गया। बाद में विलायत अली, इनायत अली और मौलवी कासिम के नेतृत्व में पटना इस आन्दोलन का मुख्या कार्यक्षेत्र बना।

3.4.4 रामोसी एवं गडकरी विद्रोह

महाराष्ट्र में संगठित हुए ये दोनों विद्रोह दरअसल मराठा सेना के अपदस्थ सैनिक और पदाधिकारियों के असंतोष का परिणाम था। रामोसी विद्रोह 1822 में मराठा सेना के बेरोजगार हुए सैनिकों द्वारा भूमिकर के विरोध में किया गया था। मूलतः कृषक परिवारों से ताल्लुक रखने वाले ये सैनिक अब खेती-किसानी पर ही आश्रित रह गए थे। लेकिन वहां अंग्रेजी राज की शोषणकारी भूराजस्व नीतियों एवं करों के दबाव से जूझते-ने महाराष्ट्र के सतारा इलाके में जमकर लूटपाट मचाई। इस विद्रोह के नेता चित्तर सिंह थे। बाद में 1825 में पड़े भीषण अकाल ने स्थितियों को और कठिन बना दिया . और, एक बार फिर रामोसी विद्रोह उमाजी के नेतृत्व में भड़क उठा। रामोसी विद्रोह की पृष्ठभूमि में भील आदिवासी किसानों का असंतोष भी काम कर रहा था। भील मराठा प्रदेश के खानदेश क्षेत्र की पहाड़ियों पर बसे आदिवासी 1818 में यह क्षेत्र अंग्रेजों के अधीन आ गया था और यहाँ भी अन्य जगहों की तरह बाहरी तत्व आकर आदिवासियों का शोषण कर रहे थे।

इस विद्रोह के तकरीबन बीस साल बाद कोल्हापुर में लगभग इन्हीं परिस्थितियों में गडकरी विद्रोह हुआ। जिसका नेतृत्व मराठा सरदार फोंड सावंत कर रहे थे। गडकरी भी मराठा राज्य में किलों में कार्यरत आनुवांशिक कर्मचारी थे। यह विद्रोह बहुत शक्तिशाली था। इन विद्रोहों में स्थानीय कृषक आबादी ने जमकर भाग लिया था। इसलिए इनका मूल चरित्र कृषक विद्रोहों का था।

3.4.5 उड़ीसा का खोंड विद्रोह

उड़ीसा के विद्रोहों में चक्र बिसोई के नेतृत्व में लड़ा गया खोंड विद्रोह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने 1837 से ही पुलिस को छकाते हुए घुमसर और बाउद में प्रशासन की नींद हराम कर रखी थी। खोंड विद्रोह का प्रमुख कारण आदिवासियों पर नए करों का आरोपण, जमींदारों और साहूकारों का आदिवासी अर्थव्यवस्था में प्रवेश और उनके मानव बलि के अधिकार पर प्रतिबन्ध था। बाद में राधाकृष्ण दण्डसेन के नेतृत्व में पारलियाखेमेड़ी में सवारा विद्रोह हुआ। इसका सम्बन्ध चक्र बिसोई के विद्रोह से जोड़ा जाता रहा लेकिन इस सम्बन्ध में पक्की तौर पर कुछ भी कह सकना ऐतिहासिक तौर पर संभव नहीं है।

3.4.6 कोल विद्रोह

1832 से 37 तक चले इस आदिवासी विद्रोह का मूल कारण था- आदिवासियों की भूमि पर उनका अधिकार छीनकर मुस्लिम तथा सिख किसानों को स्थानांतरित किया जाना। इससे क्षुब्ध आदिवासियों ने रांची, सिंहभूमि, हजारीबाग, मानभूम और पालामाऊ के इलाके में जबरदस्त विद्रोह किया।

3.4.7 सथाल विद्रोह

आदिवासी विद्रोहों में सथालों का हूल विद्रोह सबसे जबरदस्त था। सथाल आबादी मुख्यतः भागलपुर से राजमहल के बीच, जिसे दामन-ए-कोह के नाम से जाना जाता था, बसी हुयी थी। लेकिन उनका विस्तार कटक, धालभूम, मानभूम, छोटा नागपुर, पलामू, हजारीबाग, मिदनापुर, बांकुरा और बीरभूम तक फैला हुआ था। सथाल गैर- आदिवासी लोगों को दिकु नाम से पुकारते थे। उनके भीतर औपनिवेशिक राज द्वारा किये जा रहे हस्तक्षेप के प्रति जबरदस्त असंतोष व्याप्त था। भूमिकर अधिकारी उनके साथ दुर्व्यवहार करते थे। पुलिस उनके दमन का साधन बन गयी थी। जमींदार और साहूकार वसूलियाबी के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाती थी। सथालों की जमीनों पर भूराजस्व नीतियों के चलते गैर- सथाल जमींदारों और साहूकारों का कब्जा होता जा रहा था। इन इलाकों में रेलवे के विस्तार के लिए भी प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा था। सथाल इस पूरे वर्ग को अपना दुश्मन समझते थे, जो उनका शोषण करने पर उतारू था।

यह आन्दोलन आकस्मिक रूप से नहीं फूटा था। विद्रोह के करीब एक साल पहले ही स्थानीय आदिवासी मुखिया विद्रोह की संभावनाएं तलाश रहे थे। 30 जून, 1855 को करीब 400 गाँवों के 10,000 सथाल इकट्ठे हुए और विद्रोह की घोषणा कर दी। तीर और धनुष से लैस सथालों ने बाहरी तत्वों और उनके अंग्रेजी संरक्षकों को बाहर खदेड़ने और 'सतयुग' की स्थापना करने की घोषणा कर दी। लगभग पूरे सथाल इलाके से अंग्रेजी राज का सफाया हो गया। ढोल- नगाड़ों के शोर में सथालों ने घूम- घूमकर आजादी के गीत गाये। जमींदारों, साहूकारों, थाना सहित हर वो चीज जो दिकु शोषण और अंग्रेजी राज का प्रतीक थी, उस पर हमला किया गया। सथालों के इस विद्रोह में गैर आदिवासी निम्नजातीय किसानों और गरीब दिकु लोगों ने भी जमकर हिस्सा लिया।

इस विद्रोह का नेतृत्व सीदो और कान्हू नाम के दो नेताओं ने किया। उन्होंने अपने भीतर दैवीय शक्तियों के होने का दावा किया और कहा कि उन्हें ठाकुरजी (आदिवासी ईश्वर को इसी नाम से संबोधित करते थे) का आदेश प्राप्त है। आन्दोलन की तीव्रता को देखते हुए सरकार ने विद्रोह को कुचलने के लिए एक बड़ा सैनिक अभियान चलाया। उपद्रवग्रस्त इलाकों में मार्शल लॉ लगा दिया गया। सथालों के गाँव के गाँव जल दिए गए। तकरीबन 60,000 आदिवासी विद्रोहियों में से 15,000 से 20,000 इस संघर्ष में शहीद हो गए। अगस्त, 1855 में सीदो को पकड़ कर मार डाला गया। फ़रवरी, 1866 में कान्हू भी पकड़ कर मौत के घात उतार दिए गए। सथाल गजब जीवट वाले लोग थे। जाबांज सथालों ने मरते दम तक हार न मानी। लगभग 6 महीने चले इस संघर्ष में आत्मसमर्पण की एक भी घटना सामने नहीं आयी।

3.5 1857 के बाद के विद्रोह

3.5.1 कूका आन्दोलन

1860 से लेकर 1870 के बीच चला यह आन्दोलन सिख धार्मिक समुदाय द्वारा शुरू किया गया सुधारवादी आन्दोलन था। जिसका प्रारंभिक उद्देश्य सिख धर्म में व्याप्त बुराइयों और अंधविश्वासों से सिख धर्म को मुक्त करना था। इसका नेतृत्व भगत जवाहरमल कर रहे थे जिन्होंने अंग्रेजों के राज को उखाड़कर सिख राज्य की पुनर्स्थापना का स्वप्न देखा था। बाद में बालक सिंह और रामसिंह कूका इस विद्रोह के नेता बने। 1863 में इस आन्दोलन के खतरे को पहचानकर उसका दमन कर दिया गया।

3.5.2 फड़के आन्दोलन

वासुदेव बलवंत फड़के का विद्रोह वास्तव में रामोसी विद्रोह का विस्तार था। रामोसी उमाजी के नेतृत्व में हुए विद्रोह के लगभग पचास साल बाद 1876- 77 में फड़के ने एक बार फिर रामोसी किसानों को संगठित कर बगावत का बिगुल फूँक दिया। इसकी पृष्ठभूमि में पश्चिम भारत के अकालों से हुयी भारी तबाही थी, जिससे किसानों का असंतोष भड़क उठा था। यह आन्दोलन भी राष्ट्रीय आन्दोलन की जागृति से प्रभावित था। माना जाता है कि फड़के जस्टिस रानाडे के भारत के आर्थिक शोषण के सम्बन्ध में दिए गए भाषणों से बहुत प्रभावित थे। वे पूना के चितपावन ब्राह्मण होने के नाते उभरती हुयी राष्ट्रवादी चेतना के गहरे संपर्क में भी थे। उन्होंने हिन्दू राज की पुनर्स्थापना के लिए व्यापक स्तर पर लूटपाट और डकैतियों की योजना बनाई। उन्होंने चालीस लोगों का एक दल संगठित कर लिया। जिसमें कुछ चितपावन ब्राह्मणों के अलावा रामोसी और ढांगर युवक शामिल थे। इन्हें ग्रामीण जनता का अपार संरक्षण और सहयोग प्राप्त था। 1880 में फड़के गिरफ्तार कर लिए गए जहाँ जेल में ही तीन साल बाद उनकी मृत्यु हो गयी। हालाँकि दौलता रामोसी के नेतृत्व में रामोसी विद्रोहियों का दल अगले कुछ सालों तक सक्रिय रहा। फड़के को राष्ट्रवादी चेतना से संचालित क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिहाज से प्रथम क्रान्तिकारी माना जाता है।

3.5.3 मोपला विद्रोह

केरल के मालाबार में रहने वाले मोपला मुस्लिम किसान थे। इनमें से कुछ अरब से आकर मालाबार में बस गए थे, जबकि शेष यहाँ के स्थानीय मलयाली भाषी लोग थे जिन्होंने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। ये लोग केरल के उच्चवर्गीय जेन्मी यानि हिन्दू नम्बूदरी एवं नायर भूस्वामियों के यहाँ बटाईदार या आसामी काश्तकार के तौर पर काम करते थे। जेन्मियों को ब्रिटिश शासन का पूरा संरक्षण प्राप्त था। संपन्न तबका होने के नाते ये लोग कानून- कचहरी को भी अपने ढंग से तोड़ते- मरोड़ते रहते थे। पुलिस, अदालत और कानून का सहारा लेकर जेन्मियों ने मोपलाओं पर अपना शोषण और नियंत्रण का शिकंजा इतना कस लिया कि उन्नीसवीं सदी में मोपलाओं को बार- बार ब्रिटिश शासन और भूस्वामियों के खिलाफ विद्रोह करने पर मजबूर

होना पड़ा। इन गरीब, अनपढ़ और मेहनती किसानों पर इस्लामिक धार्मिक नेताओं, जिन्हें थंगल कहा जाता था, का गहरा प्रभाव था। इस धार्मिक वर्ग और ब्रिटिश अधिकारियों ने इस वर्गीय संघर्ष को सांप्रदायिक रंग देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। क्योंकि इस संघर्ष में भूस्वामी हिन्दू और किसान मुस्लिम थे। यह ब्रिटिश राज की एक चाल थी ताकि वास्तविक मुद्दों से लोगों का ध्यान भटकाया जा सके। 1849 के मोपला विद्रोह में पहली बार बड़ी संख्या में हिन्दू भी विद्रोहियों का निशाना बने। इस आन्दोलन का चरित्र उन्नीसवीं सदी के अंत तक आते- आते पूरी तरह साम्प्रदायिक ही गया। इस परिस्थिति में आर्य समाज के हस्तक्षेप से स्थितियां पूरी तरह ध्रुवीकृत हो गयीं।

19 वीं सदी के ये विद्रोह प्रथम मोपला विद्रोह के नाम से जाने जाते हैं। वैसे तो मोपलाओं के विद्रोह एकदम आम बात हो गयी थी, लेकिन 1836 से 1854 के बीच हुए मोपला विद्रोह, 1849, 1873, एवं 1880 के विद्रोह और 1883 से 1885 के बीच हुए मोपला विद्रोह सबसे प्रबल थे। इनमें 1884 के विद्रोह ने तो लगभग समूचे मोपला क्षेत्र को ही तहस- नहस कर दिया था।

3.5.4 पाबना

पूर्वी बंगाल के रैयतवारी बंदोबस्त के इलाकों में 1859 के एक अधिनियम के द्वारा रैयतों को अपनी जमीन पर दखल अधिकार दिए गए थे। जो उन्हें बेदखली और करों की असीमित वृद्धि से संरक्षण प्रदान करते थे। लेकिन ज़मींदार और साहूकार गठजोड़ तमाम गलत तरीकों से उनके इन अधिकारों का हनन करता था। किसानों पर अक्वाब (उप- कर) लगाकर उन पर करों का बोझ बढ़ाया जाता था। जमीन की पैमाइश में धांधली करना, उन्हें बेवजह मुकदमेबाजी में फंसाना और किसी भी तरह मौका पाकर उनको जमीन से बेदखल करने के बहाने ढूंढना उनकी फितरत बन गए थे। इन अन्यायपूर्ण तरीकों से आजिज आकर 1873 में पाबना के यूसुफजाही परगना के किसानों ने एक कृषक लीग की स्थापना की। पाबना के किसान इस लड़ाई को कानूनी तरीकों से लड़ना चाहते थे। इसलिए इस लीग का काम चन्द इकट्ठा करना, गाँव- गाँव घूमकर जनसभाओं को संबोधित करना और कई बार लगान न चुकाने का अभियान चलाना था। यह शांतिपूर्ण तरीकों से कानून की सीमा में रहकर चलाया जाने वाला आन्दोलन था। जो अपनी विचारधारा में अंगरेजी राज को चुनौती नहीं देता था। बल्कि इस आन्दोलन का नारा था- हम महारानी की रैयत होना चाहते हैं। यानि उनका आन्दोलन कर देने के खिलाफ नहीं, भ्रष्टाचार के खिलाफ था। धीरे- धीरे यह आन्दोलन आस- पास के जिलों ढाका, राजशाही, बाकरगंज, फरीदपुर और बोगरा आदि तक लोकप्रिय हो गया।

लगभग एक दशक तक चले इस आन्दोलन ने जनभागीदारी के लिए नायाब तरीके आजमाए। जिनमें शंख बजाकर, ढोल पीटकर और रात में सामूहिक रूप से शोर मचाकर एकता का प्रदर्शन किया जाता था। ज़मींदार- समर्थक समाचार- पत्रों जैसे हिन्दू पेट्रियट और अमृत बाज़ार पत्रिका ने इस आन्दोलन का विरोध किया और इसे मुस्लिम काश्तकारों का हिन्दू ज़मींदारों के खिलाफ साम्प्रदायिक आन्दोलन सिद्ध करने के प्रयास भी किये। पाबना की 70% आबादी मुस्लिम थी।

लेकिन इस आन्दोलन में हिन्दू और मुस्लिम काश्तकार कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ रहे थे। क्योंकि दोनों ही ज़मींदारों और साहूकारों के शोषण से एकसमान रूप से पीड़ित थे। इस आन्दोलन को आर० सी० दत्त जैसे प्रख्यात विद्वान् की सराहना मिली थी और इण्डियन एसोसिएशन जैसे संगठनों ने भी इस आन्दोलन को अपना समर्थन दिया था।

3.5.5 नील विद्रोह

पूर्वी भारत में नील बागानों की स्थापना ईस्ट इण्डिया कम्पनी कम्पनी के शासन की देन थी। यूरोपीय नील बागान मालिक किसानों को अपनी जमीन के एक हिस्से पर नील की खेती करने के लिए बाध्य करते थे। नील एक नकदी फसल थी जिसकी अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में जबरदस्त मांग थी। लेकिन किसानों के साथ नील की खेती की शर्तें और तौर-तरीके इतने स्वेच्छाचारी, निर्मम और कठोर होते जिनसे किसानों को बहुत नुकसान उठाना पड़ता था। गैर-कानूनी ढंग से अपहरण, बंदी बनाना, मार-पीट, फसलें लूट लेना या उनमें आग लगा देना और औरतों-बच्चों के साथ बदसलूकी रोजमर्रा की बात थी। यहाँ तक कि किसान अपनी जरूरत भर का अनाज भी उत्पादन नहीं कर पाते थे। इन वजहों से किसानों के भीतर नील की खेती को लेकर जबरदस्त असंतोष व्याप्त था। आज्ञा आकर 1859 से किसानों ने नील की खेती न करने का निर्णय लिया। जिन जिलों में नील की खेती करवाई जाती थी, वहाँ किसानों ने अपने संगठन विकसित किये और नील बागान मालिकों और उनके लठैतों के अत्याचार के खिलाफ सड़कों पर उतर पड़े। दंगों की शुरुआत बंगाल के नदिया जिले से हुयी और जल्द ही पूरे इलाके में फैल गयी। नील कारखाने, पुलिस थाने और अन्य शोषणकारी तंत्र विद्रोहियों के निशाने पर आ गया। इसी की साथ, किसानों ने मुकदमेबाजी से निपटने के लिए चन्दा लगाकर पैसा इकट्ठा करना भी शुरू कर दिया। द बंगाली और हिन्दू पेट्रियट जैसे समाचार-पत्रों ने इस विद्रोह को शिक्षित समुदाय तक पहुँचाया और आन्दोलन को खूब लोकप्रियता प्राप्त हुयी।

रैयतों ने अभूतपूर्व एकता का प्रदर्शन किया। प्रतिरोध की तीव्रता को देखते हुए नील बागान मालिक अपना कारोबार समेटने लगे। 1860 में एक सरकारी अधिसूचना में किसानों से नील की जबरन खेती पर रोक लगा दी गयी और कहा गया कि समस्त विवादों का निपटारा कानूनी प्रक्रिया के तहत होना चाहिए। यह एक महान सफलता थी। नील विद्रोह भारतीय जनता के उपनिवेशवाद-विरोधी प्रतिरोध की दृष्टि से मील का पत्थर साबित हुआ।

3.5.6 दक्कन के दंगे

महाराष्ट्र के पूना और अहमदनगर जिलों में फैले दक्कन के दंगे एक मामले में अन्य किसान विद्रोहों से भिन्न थे। इनका नेतृत्व संपन्न मराठा किसानों द्वारा किया गया था। इस असंतोष की जड़ें भी औपनिवेशिक भूराजस्व नीतियों में छुपी थीं। रैयतवारी बंदोबस्त के अधीन इन इलाकों में भूराजस्व की दरें काफ़ी ऊंची थीं। किसान को किसी भी आपदा के समय लगान से माफ़ी नहीं मिलती थी। यह कपास उत्पादक क्षेत्र अमेरिकी गृह युद्ध के चलते यूरोप में कपास निर्यात के माध्यम से समृद्ध हुआ था। लेकिन 1864 में अमेरिकी गृह युद्ध समाप्त हो गया और दक्कन से

कपास निर्यात पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। पहले से ही भूराजस्व की अधिकता में पिस रहे किसान के लिए यह त्रासदी बन गया और उन्हें महाजन-सूदखोर की शरण में जाना पड़ा। ये वर्ग जो मूलतः गुजराती थे, सिर्फ अपने मुनाफे से मतलब रखते थे। कर्ज के बोझ तले दबे किसानों की जमीनें गिरवी रखकर, हिसाब-किताब में हेरा-फेरी करके ये लोग किसानों को ऋण के जाल में फंसा लेते थे। भारी संख्या में किसानों की जमीनें जब्त हो गयीं और असंतोष बढ़ता रहा। दिसंबर, 1874 में सिरूर तालुका से साहूकार-विरोधी दंगों की शुरुआत हो गयी। पटेलों के नेतृत्व में किसानों ने ऋण बंध-पत्र यानी रुककों, डिग्रियों और खाता-बहियों को लूटकर जला दिया। जहाँ साहूकारों ने आनाकानी की, वहीं हिंसा का प्रयोग किया गया। इस विद्रोह को जल्द ही सेना और पुलिस ने मिलकर कुचल दिया। लेकिन इस उपद्रव की जांच के लिए बने आयोग ने इसके लिए किसानों की ऋणग्रस्तता को मूल वजह माना। इस आयोग की संस्तुतियों के आधार पर 1879 में एक कृषक-राहत अधिनियम पारित हुआ, जिसने किसानों को जेल जाने और जमीन की जब्ती से कुछ हद तक कानूनी संरक्षण प्रदान किया।

3.5.7 लगान नाअदायगी आन्दोलन

आसाम के कामरूप और दर्रांग जिलों में एक अनोखा लगान नाअदायगी आन्दोलन 1893-94 में सामने आया। दरअसल इससे वर्ष एक नए राजस्व व्यवस्था के तहत लगान में तकरीबन 50 से 70 प्रतिशत की वृद्धि कर दी थी। यह इलाके अस्थायी बंदोबस्ती वाली रैयतवारी व्यवस्था के अंतर्गत आते थे। गाँवों के प्रभावशाली तबकों-ब्राह्मणों, गोसाईं और डोलोइस के नेतृत्व में तुरंत ही राज मेल यानि गांववालों की सभाएं बुलाई गयीं और नागान न अदा करने की मुहीम छेड़ दी गयी। आन्दोलन में एकरूपता लाने के लिए लगान चुकाने वालों के सामाजिक बहिष्कार की घोषणा ने इस आन्दोलन की सौ प्रतिशत सफलता सुनिश्चित कर दी। इस लगभग शांतिपूर्ण आन्दोलन में कुछ हिंसा भी हुयी और बाजार फूंकने जैसी घटनाएं सामने आयीं। दो मौकों पर पुलिस ने गोली चलाकर भीड़ को तितर-बितर किया। लेकिन सरकार को इस आन्दोलन के दबाव में किसानों को तत्काल राहत देनी पड़ी। इसी प्रकार का एक अन्य लगान नाअदायगी आन्दोलन महाराष्ट्र में 1896-97 और 1899-1900 के बीच पूना सार्वजनिक सभा के तत्वावधान में चलाया गया था। जिसके प्रणेता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रसिद्ध नेता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक थे।

3.5.8 मुण्डा विद्रोह

1857 के बाद के आदिवासी विद्रोहों में 1899 से 1900 के मध्य बिरसा मुण्डा के नेतृत्व में हुआ मुण्डा विद्रोह या उल्गुनान सबसे व्यापक और प्रबल विद्रोह था। मुण्डा आदिवासी सरदार पिछले काफी समय से अपनी खुंटकट्टी (एक प्रकार की सामुदायिक खेती की प्रथा) व्यवस्था पर ब्रिटिश राज के हस्तक्षेप से नाराज थे। व्यापारी, जागीरदार, ठीकादार और साहूकार के आदिवासी व्यवस्था में प्रवेश के बाद आदिवासियों का अपनी जमीन और जंगल से सम्बंधित अधिकारों पर खत्म होता जा रहा था। बेगार और ठेकेदारी जैसी प्रथाएं इस नए परिवर्तन की देन थीं। आदिवासियों ने प्रारम्भ में अदालत का सहारा लेने की कोशिश की। आदिवासी संघर्ष की

दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण बात थी। कुछ सरदारों ने कलकत्ता के वकीलों की मदद से बेट बगारी (बलात श्रम) के खिलाफ 1890 की शुरुआत में मुकदमा लड़ने का प्रयास किया। लेकिन यह प्रयास विफल रहे। अंततः बिरसा मुण्डा के नेतृत्व में क्रिसमस की पूर्वसंध्या पर एक शक्तिशाली बगावत उठ खड़ी हुयी। बिरसा मुण्डा 1874 में एक गरीब आदिवासी परिवार में जन्मे थे। जिन्होंने 1895 में 21 में खुद को देवदूत घोषित कर दिया। उनका दावा था कि ईश्वर ने उनको अब्दुत शक्तियों से नवाजा है। जल्द ही हजारों की तादाद में आदिवासी और उनके सरदार बिरसा के ईर्द- गिर्द इकट्ठा हो गए। धार्मिकता की पृष्ठभूमि में खेती- किसानी, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दे भी उपदेशों का विषय बन गए। बिरसा को षडयंत्र करने के आरोप में दो साल के लिए जेल में डाल दिया गया। लेकिन वापस आकर तो उनकी लोकप्रियता आसमान छूने लगी। बिरसा गाँव- गाँव घूमकर और लोगों को संबोधित करके "मुंडा राज की स्थापना" और ठीकादार, जागीरदार, राजाओं, हाकिमों और ईसाईयों की हत्या का फरमान जारी करने लगे। सतयुग की स्थापना के नारे के साथ तकरीबन 6,000 की मुण्डा फ़ौज जो बरछे- भाले, तलवार, तीर- कमान और कुल्हाड़ियों से लैस थी अंगरेजी राज और उसके हर अंग पर धावा बोलने लगी। लेकिन बिरसा को जल्द ही फरवरी, 1900 में गिरफ्तार कर लिया गया और विद्रोह असफल हो गया। लेकिन बिरसा और उल्गुनान भारतीय जनता के प्रतिरोध का प्रतीक बन गए।

3.5.9 ताना भगत आन्दोलन

ताना भगत आन्दोलन आदिवासियों और राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्यधारा के बीच सम्बन्ध का प्रतीक है। बिरसा के आन्दोलन की तरह उराँव आदिवासियों के मध्य ताना भगत का आन्दोलन मूलतः एक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन की तरह शुरू हुआ। जोकि कुरुख धरम यानी उराँवों के असली धर्म की स्थापना के लिए शुरू हुआ था। 1914 में जात्रा भगत के नेतृत्व में यह एक शुद्धतावादी आन्दोलन की तरह शुरू हुआ जिसमें मदिरा और माँस के त्याग जैसे आह्वान भी शामिल थे। ताना भगत के नेतृत्व में इसमें एकेश्वरवाद का सिद्धांत भी जुड़ गया। भगत (भक्त का अपभ्रंश रूप) दरअसल आदिवासी समुदायों के धार्मिक नेता हुआ करते थे। बाद में गांधीवादी कार्यकर्ताओं ने आदिवासियों के मध्य अपने रचनात्मक कार्यक्रमों की शुरुआत की। इसके प्रभाव से भगत कांग्रेस के अधिवेशनों में जाने लगे और महात्मा गाँधी जैसे शीर्ष नेता से भी मिले। इन लोगों ने अपने क्षेत्र के ज़मींदारों को लगान देना बंद कर दिया और उनके खेतों में काम करने से भी इनकार कर दिया। शराब की दुकानों पर पिकेटिंग, सत्याग्रह में हिस्सा लेना जैसे गांधीवादी तरीकों के साथ उराँव आदिवासियों ने खुद को मुख्यधारा की राजनीति से जोड़ने के प्रयास किये। कालांतर में यह आन्दोलन कई हिस्सों में टूटकर निष्प्रभावी हो गया।

3.5.10 चेंचू एवं रम्पा

चेंचू विद्रोह आन्ध्र प्रदेश के गुंटूर जिले में हुआ एक जंगल सत्याग्रह था। 1920 में हुए इस सत्याग्रह पर असहयोग आन्दोलन का सीधा प्रभाव था। चेंचू नेताओं ने प्रांतीय कांग्रेस नेताओं से संपर्क स्थापित किये थे और गांधीजी ने भी 1927 में इस इलाके का दौरा किया था। सत्याग्रह जैसे गांधीवादी तरीके को अपनाना स्वयं ही इस आन्दोलन पर राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव का

उदाहरण है। वहीं रम्पा विद्रोह भी आन्ध्र प्रदेश के गोदावरी जिले में हुआ था। वन कानूनों और ज़मींदारों और साहूकारों के शोषण के विरुद्ध हुए इस आन्दोलन के नेता अल्लूरी सीताराम राजू थे। इस विद्रोह की खास बात यह थी कि अल्लूरी सीताराम राजू एक गैर- आदिवासी नेता होकर आदिवासी हकों की लड़ाई लड़ रहे थे। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्हें गांधीजी के असहयोग आन्दोलन से प्रेरणा प्राप्त हुयी थी। लेकिन हिंसा को संघर्ष का अनिवार्य अंग मानने वाले राजू की बंगाल के क्रांतिकारियों से भी बहुत प्रभावित थे। इसलिए उन्होंने पुलिस थानों पर हमला करके ब्रिटिश राज के नियंत्रण को खत्म करने की रणनीति अपनाई थी। इस विद्रोह से निपटने के लिए 1922 में सेना को लगाया गया और विद्रोह का दमन कर दिया गया। अल्लूरी सीताराम राजू भी पकड़ लिए गए और उन्हें एक पेड़ से बांधकर बिना किसी ट्रायल के गोली मार दी गयी।

3.6 प्रकृति

अपनी मूल प्रवृत्ति में यह विद्रोह उपनिवेशवाद- विरोधी असंतोष के प्रतीक अवश्य थे लेकिन इनके पीछे कोई उपनिवेशवाद- विरोधी चेतना काम नहीं कर रही थी। उनकी समझ अधिकांशतः पीछे की ओर लौटने वाली, पुराने सामाजिक- आर्थिक ढाँचे को पुनर्स्थापित करने वाली और परम्परावादी थी। कई बार उनमें जाति, धर्म और इस तरह की अन्य पहचानों का बाहुल्य भी साफ़ देखा जा सकता है। जैसे सतनामी, वहाबी और कूका जैसे विद्रोह अपने- अपने धार्मिक राज्यों की स्थापना का उद्देश्य रखते थे और धर्म को ही लोगों को आंदोलित करने का माध्यम मानते थे। मोपला विद्रोह तो लगभग पूरी तरह साम्प्रदायिक चेतना की अभिव्यक्ति था। जिसने हिन्दुओं को भी अपना निशाना बनाया।

आदिवासी विद्रोह में टोटम- टटके और अंधविश्वासों की भरमार थी। ईश्वर के आदेश, हथियारों की चोट का असर न होने के दैवीय वरदान और तमाम तरह के अन्य मिथक इन विद्रोहों के पीछे काम कर रहे थे। इन विद्रोहों में किसी वैकल्पिक व्यवस्था का स्वप्न नहीं था। साहूकारों- महाजनों के अत्याचार और ब्रिटिश राज की भूराजस्व नीतियों के अन्य दुष्प्रभावों को मिटाना इनका उद्देश्य था। वे एक शोषणमुक्त व्यवस्था के लिए लड़ रहे थे, लेकिन उनके समाधान उपनिवेशवाद की व्यापक चौहद्दी को तोड़ने में सक्षम नहीं थे। मिसाल के तौर पर पाबना के किसानों का तो नारा ही था- हम सिर्फ और सिर्फ महारानी की रैयत होना चाहते हैं। कई मामलों में तो इनका नेतृत्व ही पुराने सामंती तत्वों के हाथ में था, जो कि अपने व्यक्तिगत हितों पर हुए कुठाराघात से कुपित थे।

उन्नीसवीं सदी के दूसरे भाग में हमें कुछ नयी प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। इसके पहले हिंसक तरीकों से उपनिवेशवादी व्यवस्था के अंगों पर हमला करके उन्हें नष्ट करना ही एक तरीका था। लेकिन बाद में लगान की नाअदायगी जैसे तरीके भी देखने को मिले। विद्रोहों की एक शुद्धतावादी प्रवृत्ति भी हमें देखने को मिलती है। जिसमें सामाज की बुराइयों से लड़ने और उन्हें खत्म करने का उत्साह भी दिखाई दिया। कानूनी ढंग से भी लड़ाई लड़ने के प्रयास भी किये गए। फिर स्वतःस्फूर्त विद्रोहों के साथ- साथ ग्रामीणों और आदिवासियों ने खुद को संगठित करना भी

शुरू कर दिया था। बौद्धिक तबके में खासतौर पर बंगाली बुद्धिजीवी नील विद्रोह जैसे मामलों में खुलकर सामने आये। ताना भगत आदि आन्दोलनों में मुख्यधारा के राष्ट्रीय संघर्ष से जुड़ने की भी प्रवृत्ति दिखाई दी। यानि बाद के आन्दोलनों ने अपने स्थानीय स्वरूप से बाहर निकलकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ विकसित हुयी चेतना को अपनाना शुरू कर दिया था। इसी वजह से बाद में राष्ट्रीय आन्दोलन में किसान एक बड़ी परिवर्तनकारी शक्ति बनकर उभरे।

3.7 सारांश

ये विद्रोह ब्रिटिश राज की शोषण और अन्याय पर आधारित व्यवस्था के विरुद्ध आम जनता के असंतोष की उपज थे। भले ही इन विद्रोहों ने औनिवेशिक सत्ता को उखाड़ फेंकने में सफलता प्राप्त न की हो, इन्होंने विदेशी शासन के प्रति घृणा को आम बनाया। अलग- अलग इलाकों में और अलग- अलग समय पर होने के बावजूद इनमें समानता थी। ये सभी शोषितों और शोषकों के बीच के संघर्ष थे। शोषक चाहे विदेशी उपनिवेशवाद हो या उपनिवेशवाद के स्थानीय सहयोगी, वे लोगों के निशाने पर थे। सरकार ने इन विद्रोहों के पीछे छुपे असंतोष को झुठलाने के लिए कभी इन्हें साम्प्रदायिकता की देन कहा तो कभी जातियों का आपसी संघर्ष। इन विद्रोहों ने भारत में उपनिवेशवाद विरोध की एक पृष्ठभूमि का निर्माण किया। जो अपने मूल चरित्र में पारंपरिक, ठहरा हुआ और यथास्थितिवादी होने के बावजूद ब्रिटिश राज के शोषणकारी चरित्र को उजागर करता था।

3.8 सन्दर्भ- ग्रन्थ सूची

चन्द्र, बिपन एवं अन्य, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष,
चन्द्र, बिपन, आधुनिक भारत, एनसीईआरटी
बंधोपाध्याय, शेखर, प्लासी से विभाजन तक, ओरिएंट ब्लैकस्वान
सरकार, सुमित, आधुनिक भारत

3.9 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

Dhanagre, D.N., Peasant Movement in India, 1920-1950
Desai, A. R., Peasant Struggles in India
Guha, Ranajit, Elementary Aspects of Peasant Insurgency In Colonial India
Singh, Suresh, The Dust-Storm and the Hanging Mist

3.10 निबन्धात्मक प्रश्न

औपनिवेशिक भारत में हुए किसान और आदिवासी विद्रोह वास्तव में शोषक और शोषितों के बीच का संघर्ष थे। सविस्तार टिप्पणी कीजिये।

आधुनिक भारत में धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन

- 4.1. प्रस्तावना
- 4.2. उद्देश्य
- 4.3. सुधार आन्दोलनों के कारण एवं स्वरूप
- 4.4. कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलन
 - 4.4.1. ब्रह्म समाज और राजा राममोहन रॉय
 - 4.4.2. विधवा- पुनर्विवाह आन्दोलन एवं ईश्वरचंद्र विद्यासागर
 - 4.4.3. यंग बंगाल आन्दोलन और हेनरी विवियन डेरोजियो
 - 4.4.4. प्रार्थना समाज और महादेव गोविन्द रानाडे
 - 4.4.5. आर्य समाज और स्वामी दयानंद सरस्वती
 - 4.4.6. रामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानंद
 - 4.4.7. थियोसाफिकल सोसाइटी
 - 4.4.8. अलीगढ़ आन्दोलन और सर सैयद अहमद खान
 - 4.4.9. देवबंद आन्दोलन
 - 4.4.10. अहमदिया आन्दोलन
 - 4.4.11. अरव्विपुरम आन्दोलन
 - 4.4.12. ज्योतिबा फूले एवं सत्यशोधक समाज
- 4.5. सामाजिक सुधार के परिणाम
- 4.6. सारांश
- 4.7. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- 4.8. सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.9. निबंधात्मक प्रश्न

4.1. प्रस्तावना

भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना ने समाज में व्यापक वैचारिक उथल-पुथल को जन्म दिया था। 19 वीं सदी के बौद्धिक जगत में भारत की आंतरिक सामाजिक-सांस्कृतिक कमजोरियों के प्रति एक आलोचनात्मकदृष्टिकोण का विकास हो रहा था। इस परिदृश्य में नवशिक्षित भारतीयों के बीच आधुनिक पश्चिमी विचारों की पहुँच से एक नयी विचारधारा का निर्माण हुआ, जो कि तमाम तरीकों से अपने समाज की अन्तर्निहित बुराइयोंको जड़ से मिटाना चाहती थी। यह कोई संगठित और सुनियोजित प्रयास नहीं था। बल्कि अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग समय में कुछ व्यक्तियों के प्रयासों के मार्फत शुरू हुए ये आन्दोलन 19वीं सदी के भारत की खासियत बन गए। जिन्हें हम सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन या जागरण के नाम से जानते हैं।

4.2. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको 19वीं सदी में देश के विभिन्न भागों में हुए सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों की पृष्ठभूमि, उनकी प्रकृति, उनके प्रभाव और उनके वैचारिक आधार सहित कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलनों से परिचितकराना है। इस इकाई के अंतर्गत आप पढ़ेंगे-

- सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलनों की जरूरत कैसे महसूस हुयी?
- इस आन्दोलनों का स्वरूप और वैचारिक आधार क्या थे?
- कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलनों और उनसे जुड़े व्यक्तित्वों के बारे में जानकारी
- आन्दोलन का परिणाम, एवं
- इतिहास पर उसका प्रभाव

4.3. सुधार आन्दोलनों के कारण एवं स्वरूप

सामाजिक-धार्मिक समाज सुधार आन्दोलनों पर औपनिवेशिक राज्य का क्या प्रभाव था, यह एक रोचक प्रश्न है। निश्चित रूप से अंगरेजी शासन प्रणाली के अंतर्गत भारत का राजनीतिक और प्रशासनिक रूप से एकीकरण कर दिया गया था। परन्तु यह किसी भले के उद्देश्य से नहीं किया गया था वरन उसके पीछे भारत के महत्तम आर्थिक दोहन का मंतव्य था। लेकिन समूचे देश पर इसके विरुद्ध हुयी प्रतिक्रिया लगभग एक सामान थी। बिपन चन्द्र के शब्दों में सारे देश के दुःख-दर्द एक समान हो गए थे। इस तरह ही सारे देश में पश्चिमी शिक्षा के संपर्क में आये शिक्षित भारतीय मध्यवर्ग के भीतर भी इस नयी औपनिवेशिक चुनौती की प्रतिक्रिया भी लगभग एक

समान हुयी। सबसे पहले बंगाल और फिर महाराष्ट्र होते हुए अपने समाज के भीतर की कमजोरियों के विरुद्ध संघर्ष करने की समझ इसी प्रतिक्रिया का बौद्धिक उत्पाद थी। यानि भारतीय लोगों के बौद्धिक विकास की जो परिस्थितियां औपनिवेशिक राज्य के अंतर्गत उत्पन्न हुयी थी, भारतीय बुद्धिजीवियों ने उसे अपने सामाजिक ढाँचे की पुनर्रचना की दृष्टि विकसित करने के लिए इस्तेमाल कर लिया। कुल मिलाकर, भारत का सुधार आन्दोलन अंग्रेजी राज की कृपा का परिणाम नहीं था। सुशोभन सरकार ने दो टूक लिखा है- "विदेशी विजय और आधिपत्य शासित लोगों के उत्थान में सहायक नहीं बल्कि बाधाएं पैदा करने के लिए होता है।"

इस दिशा में भारत के प्राचीन इतिहास की खोज महत्वपूर्ण थी, जिसने लोगों को अपने अतीत के प्रति जागरूक बनाया। प्रच्यावादियों का इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने प्राचीन भारतीय धर्मों का महिमामंडन करके लोगों को उनकी क्षमताओं पर यकीन करना सिखाया। ईसाई मिशनरियों के हिन्दू और इस्लाम धर्मों के खिलाफ आक्रामक प्रचार ने भी धार्मिक ढाँचों में सैकड़ों सालों में व्याप्त हो गयी बुराइयों और कुरीतियों को खत्म करने के लिए प्रेरित किया। इन तमाम परिस्थितियों में प्रबुद्ध वर्ग के बीच से अलग- अलग तरह की प्रतिक्रियाएं हुयी। जिन्होंने सुधार के अलग- अलग तरीके सुझाए और उन पर अमल किया। इनमें पहला तरीका आंतरिक सुधारों का था। यानि समाज के भीतर जागरूकता का प्रसार करना और उसकी चेतना को विकसित करना। मसलन राममोहन रॉय ने सती प्रथा को रोकने के लिए लोगों को समझाने- बुझाने, उन्हें प्राचीन धर्मशास्त्रों का हवाल यकीन दिलाने का काम किया। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह के लिए कलकत्ता की सड़कों पर कई बार जान के जोखिम का सामना किया। कट्टरपंथी हिन्दुओं ने उन पर हमले किये। लेकिन इसी सबके बीच लोगों में एक विधवा पुनर्विवाह को लेकर एक नयी तरह की चेतना भी विकसित हुयी। भीतर से सुधार की यह पद्धति वास्तव में सुधार आन्दोलनों की सबसे बड़ी पद्धति थी। दूसरा तरीका था कानूनी रोक के माध्यम से समाज में व्याप्त कुरीतियों को रोकना। जैसे राजा राममोहन रॉय के सती- प्रथा विरोधी अभियान के बाद लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा पर रोक लगा दी थी। लेकिन इस पद्धति के मुख्या प्रतिनिधि थे केशवचंद्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे और वीरेशलिंगम आदि। इन्होंने कानून के सहारे सामजिक कुरीतियों से लोगों को विमुख करने के विचार की हिमायत की। लेकिन एक विदेशी राज्य में लोग ऐसे कदमों को अपनी परंपरा में हस्तक्षेप मानते थे। 1857 में धार्मिक- जातीय मामलों में दखल का दुष्परिणाम अंग्रेज झेल चुके थे। इसलिए इस तरह के कदमों की एक सीमा थी और यह ज्यादा प्रभावी तरीका नहीं सिद्ध हो सकता था। तीसरा तरीका था मिसाल बनाने का। इस तरीके में कुछ सुधारक अपनी ओर से परंपरागत रूढ़ियों को चुनौती देते हुए एक प्रतीक बन जाते थे और उम्मीद करते थे कि अन्य लोग भी उनकी देखा- देखी उनका अनुसरण करेंगे। इस धारा के महत्वपूर्ण सुधारक थे दक्षिणारंजन मुखर्जी, राम गोपाल घोष और कृष्णा मोहन बनर्जी। ये तीनों ही डेरोजियो के अनुयायी थे और यंग बंगाल आन्दोलन से

सम्बन्ध रखते थे। चौथा तरीका सामाजिक सेवा और कार्यों के माध्यम से लोगों के हृदयमें स्थान बनाने का था। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन इस धारा का प्रतिनिधित्व करते थे। आर्य समाज ने स्कूल- कॉलेज के तंत्र के माध्यम से तो रामकृष्ण मिशन अस्पतालों, दवाखानों और अनाथालयों के माफ़त लोगों की सेवा करके अपने सन्देश का प्रचार- प्रसार करते थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने तो अपना सबकुछ विधवा पुनर्विवाह के नाम पर दांव पर लगा दिया। मशहूर है कि भरे जाड़ों में भी उनके पासकभी कोई गर्म कोट नहीं रहा। क्योंकि किसी गरीब को देखते ही वे अपना कोट निकालकर उसे दे दिया करते थे। समाज सुधार अपने वैचारिक धरातल पर कुछ आधुनिक मूल्यों की स्थापना करता था। जिनमें महत्वपूर्ण थे-मानवतावाद, तर्कवाद, सर्वहितवाद और प्रगतिशीलता। लगभग सभी सुधार आन्दोलनों ने इन मूल्यों पर बराबर जोर दिया। चाहे वे हिन्दू धर्म सुधार से सम्बंधित हो अथवा मुस्लिम धर्मसुधार से।

4.4. कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलन

4.4.1. ब्रह्म समाज और राजा राममोहन रॉय

राजा राममोहन रॉय को "आधुनिक भारत का पिता" कहा जाता है। वास्तव में वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय समाज को मध्ययुगीन सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति दिलाने का आह्वान किया। 22 मई, 1772 को बंगालके हुगली जिले में उनका जन्म हुआ था। वे कई भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्हें अरबी- फ़ारसी, संस्कृत, अंग्रेजी, फ़्रांसीसी, ग्रीक, लैटिन और हिब्रू जैसी भाषाओं पर अधिकार प्राप्त था। उनकी सामाजिक दृष्टि तमामधर्मों के अच्छे विचारों को गृहण करके निर्मित हुयी थी। उनकी सोच में प्रगतिशीलता के सभी तत्व विद्यमान थे। वे मानव समाज की मूलभूत समानता, स्त्रियों के नागरिक अधिकारों, और मानवमात्र की श्रेष्ठता के पैरोकार थे। यही नहीं उन्होंने भारत के लिए पूँजीवाद का समर्थन किया था। यानी उनकी सोच का परास एक तरफ पाश्चात्य विचारों से जुड़ता था तो दूसरी ओर उसकी जड़ें भारतीय सभ्यता में भी गहरे तक जुड़ी थी।

उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं- तुल्फ़ात-उल-मुवाहिदीन (एकेश्वरवादियों को उपहार), मंजार्तुल अदयान (विभिन्न धर्मों पर फारसी में परिचर्चा) और , प्रीसेप्ट्स ऑफ़ जीसस। इसके अलावा उन्होंने वेदों और पांच उपनिषदों के बांगला अनुवाद किये और एकेश्वरवाद पर कई अन्य किताबें का लेखन भी किया। 1814 में उन्होंने कलकत्ता में कुछ नौजवानों की मदद से आत्मीय सभा की स्थापना की। उन्होंने मूर्तिपूजा, जातिगत भेदभाव, धार्मिक आडम्बरों, बहुविवाह, कुलीनवाद और सतीप्रथा जैसी कुरीतियों का विरोध किया। अपने विचारों के समर्थन के लिए उन्होंने प्राचीन धार्मिक ग्रंथों का सहारा लिया। क्योंकि आम जनता इस तरह आसानी से समझ जाती थी। लेकिन उनके विचारों का मूल स्रोत था मानवतावाद और तर्कवाद। वे वेदान्त दर्शन में अगाध आस्था

रखते थे। यही नहीं, उन्हें भारत में पत्रकारिता का अग्रदूत भी माना जाता है और राजनीतिक मुद्दों पर भी उनके विचार और सक्रियता के कारण वे राजनीतिक जन आन्दोलनों के प्रवर्तक भी थे।

1829 में उन्होंने ब्रह्म सभा नामक धार्मिक संस्था की स्थापना की जो बाद में ब्रह्म समाज के नाम से जाना गया। इस नए पंथ में धार्मिक और जातीय कट्टरता के लिए कोई जगह नहीं थी। इसका उद्देश्य था- हिन्दू धर्म को उसमें व्याप्त कुरीतियों से मुक्त बनाना, एकेश्वरवाद का प्रचार- प्रसार करना, सती प्रथा का विरोध करना और मानवमात्र की प्रतिष्ठा को स्थापित करना। इस संस्था के लोग वेद और उपनिषद का सहारा लेकर तर्क के आधार पर सामाजिक कुरीतियों को गलत ठहराते थे। **1818** से उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध जनमत का निर्माण करने का अभियान छेड़ दिया। वे श्मशान घाट जाते और लोगों को सती प्रथा का पालन न करने के लिए समझाते थे। बाद में इनके प्रयासों और फिर लार्ड विलियम बैंटिक द्वारा **1829** में सती प्रथा पर कानूनी पाबंदी लगाने से इस दिशा में काफ़ी मदद मिली। बाद में देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचंद्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज का काफी विस्तार हुआ।

4.4.2 विधवा- पुनर्विवाह आन्दोलन एवं ईश्वरचंद्र विद्यासागर

ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह आन्दोलन के लिए कोई संगठित प्रयास नहीं किये, जिस तरह ब्रह्म समाज आदि ने सती प्रथा आदि मुद्दों पर किये थे। लेकिन फिर भी उन्होंने समकालीन समाज सुधार आन्दोलन में महान योगदान किया। सती प्रथा के उन्मूलन के राजा राममोहन रॉय के प्रयासों ने यह धारणा स्थापित की कि पुरुष के बिना भी स्त्री को जीवन जीने के अधिकार प्राप्त हैं। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने उस दिशामें आगे बढ़ते हुए स्त्रियों के सम्मानजनक जीवन के लिए संघर्ष किया। बाल- विवाह, बहु- विवाह आदि कुप्रथाओं के मुखर विरोधी विद्यासागर ने विधवा पुनर्विवाह के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। यह उन्हीं के प्रयासों का परिणाम था कि सरकार ने **1856** में विधवा पुनर्विवाह कानून पारित किया। स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने स्कूलों के सरकारी निरीक्षक होने की हैसियत से बंगाल में अनेक बालिका विद्यालय खोले। बेथुन स्कूल के मंत्री होकर भी उन्होंने नारी शिक्षा के लिए अगाध प्रयत्न किये। ब्राह्मण जाति के संस्कृत पर एकाधिकार के विरोधस्वरूप उन्होंने संस्कृत कॉलेज में पढ़ने के लिए गैर- ब्राह्मणों को भी पात्र बना दिया। वे स्वयं भी संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे।

4.4.3. यंग बंगाल आन्दोलन और हेनरी विवियन डेरोजियो

इस आन्दोलन के प्रवर्तक एक नौजवान हेनरी विवियन डेरोजियो थे जो अपने विचारों में कहीं ज्यादा आधुनिक और मुखर थे। **1809** में जन्मे डेरोजियो सत्रह साल की उम्र में एक धड़ीसाज के रूप में कलकत्ता आये थे। इसी उम्र में उन्होंने हिन्दू कॉलेज में पढ़ाना शुरू कर दिया और अपने ईर्द- गिर्द अनुयायियों का एक दल संगठित कर लिया। वे फ्रांसीसी क्रांति से प्रेरणा ग्रहण करते थे

और अपने क्रांतिकारी विचारों के लिए जाने जाते थे। ये प्रचंडदेशभक्त लोगों का दल ही यंग बंगाल कहलाया। डेरोजियो ने समाज सुधार के लिए कुछ अन्य संस्थाओं जैसे बंगहित सभा, एंग्लो- इंडियन हिन्दू एसोसिएशन, अकादमिक एसोसिएशन और सोसाइटी फॉर द एक्वीजीशन ऑफ़ जनरल नॉलेज की स्थापना भी की। यंग बंगाल आन्दोलन के मुख्य मुद्दे थे- प्रेस की स्वतंत्रता, जमींदारों के अत्याचारों से रैयतों की रक्षा, उच्च सरकारी सेवाओं में भारतीयों के प्रतिनिधित्व की मांग, जूरी द्वारा मुकदमों की सुनवाई। ये लोग नारी अधिकारों के घोर हिमायती थे। इन्होंने सामाजिक कुरीतियों पर तीखे प्रहार किये। भले ही डेरोजियो और उनके अनुयायी कोई बड़ा और संगठित आन्दोलन नहीं चला सके और सिर्फ 22 वर्ष की उम्र में ही वे चल बसे, उन्होंने बंगाल में तमाम जनहित के मुद्दों पर आन्दोलन खड़ा करके लोगों को सामाजिक- राजनीतिक रूप से सक्रिय बनाया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने डेरोजियो और उनके अनुयायियों को "बंगाल में आधुनिक सभ्यता के अग्रदूत कहा था"।

4.4.4. प्रार्थना समाज और महादेव गोविन्द रानाडे

प्रार्थना समाज की स्थापना महादेव गोविन्द रानाडे और डॉक्टर आत्माराम पांडुरंग ने केशवचंद्र सेन की महाराष्ट्र यात्रा से प्रभावित होकर 1867 में की थी। रानाडे को "पश्चिमी भारत में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अग्रदूत" कहा जाता है। बंगाल में समाज सुधार के विस्तार के बाद महाराष्ट्र में समाज सुधार की भावना भावना ने जोर पकड़ा। इस समाज का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों से जुड़े हुए मुद्दों पर जनचेतना का निर्माण, जातिगत संकीर्णता का प्रतिषेध, स्त्री शिक्षा का आरम्भ और बाल विवाह- विधवा पुनर्विवाह आदि विषयों पर काम करना था। रानाडे ने ही बाद में सार्वजनिक समाज की स्थापना की थी। इनके अभियान में विष्णु शास्त्री और जी० डी० कर्वे ने अमूल्य सहयोग प्रदान किया। कर्वे की मदद से ही 1867 में रानाडे ने एक विधवा आश्रम संघ की स्थापना की। 1870 में रानाडे और उनके साथियों ने मिलकर पूना सार्वजनिक सभा की स्थापना की। यह संस्था बाद में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पूर्ववर्ती संस्थाओं में गिनी जाती है जिसने एक अखिल भारतीय संगठन की नींव स्थापित की।

4.4.5. आर्य समाज और स्वामी दयानंद सरस्वती

सोलह वर्ष की आयु में ही संन्यास ग्रहण कर लेने वाले दयानंद सरस्वती ने 1875 में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की थी। जिसका मुख्यालय बाद में लाहौर स्थानांतरित कर दिया गया था। आर्य समाज की स्थापनाके मूल उद्देश्य थे- वैदिक धर्म यानि वेदों पर आधारित धर्म को पुनः शुद्ध करना और उसे बाद के समय में आ गयी बुराइयों- कुरीतियों से मुक्त करना, समूचे भारत को धार्मिक एकता के सूत्र में पिरोना और उस पर पद रहे पाश्चात्य प्रभाव का निषेध करना। स्वामी दयानंद ने नारा दिया- "वेदों की ओर लौटो"। वे मानते थे कि वेद भारतीय सभ्यता के

आधार स्तम्भ हैं और उन्हें ही पुनर्स्थापित करके तत्कालीन बुराइयों से छुटकारा पाया जा सकता है। वेदों की अपरिवर्तनीयता, शाश्वतता और दैवीयता पर यकीन करने वाले आर्य समाज ने हिन्दू धर्म पर बढ़ रहे इस्लामिक और ईसाई धर्मप्रचारकों के प्रभाव का मुकाबला करने के लिए आक्रामक नीति अपनाई। उन्होंने "सत्यार्थ प्रकाश" नामक अपनी पुस्तक में इन धर्मों की बुराइयों पर प्रहार किया। छुआछूत और जातिभेद को सिरे से नकारने वाले आर्य समाजियों द्वारा धर्मान्तरित हुए लोगों की हिन्दू धर्म में घर वापसी के लिए शुद्धि आन्दोलन चलाया। इसके अलावा दूसरा महत्वपूर्ण कार्यक्रम गौरक्षा से सम्बंधित था। इन दोनों ही मुद्दों ने बाद में मुस्लिम धर्मप्रचारकों के साथ सीधे मुकाबले में सांप्रदायिक राह पकड़ ली थी। आर्य समाज आन्दोलनकी पहुँच भारतीय समाज में इतनी गहरी थी कि विन्सेंट चिरोल ने अपनी किताब "द इंडियन अनरेस्ट" में आर्य समाज को "भारतीय अशांति का जन्मदाता" कहा था। स्वामी दयानंद की मृत्यु के बाद दयानंद एंग्लो- वैदिक शिक्षा आन्दोलन ने समूचे उत्तर भारत में शिक्षा के विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

4.4.6. रामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानंद

स्वामी विवेकानंद कलकत्ता के पास दक्षिणेश्वर काली मंदिर के पुजारी स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे। सभी धर्मों को सत्य मानने वाले और धर्म के रहस्यवादी आध्यात्मिक साधक परमहंस महान व्यक्तित्व थे। 1886 में परमहंस की मृत्यु के बाद चौबीस वर्षीय विवेकानंद ने समूचे भारत की यात्रा की और घोषित किया- "मैं जिस प्रभु में विश्वास करता हूँ वह सभी आत्माओं का समुच्चय है और सर्वोपरि है। मेरा प्रभु पतितों, पीड़ितों और सभी प्रजातियों में निर्बलों का रक्षक और उद्धारक है।" 1893 में शिकागो में हुए विश्व धर्म सम्मलेन में उनके द्वारा दिए गए भाषण से उनकी ख्याति दूर- दूर तक पहुँच गयी। अमेरिकी अखबारों द्वारा उनके भाषण की रिपोर्टिंग के बाद वे भारत में बहुत प्रसिद्ध हो गए। 1897 में स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इस मिशन ने देश भर में अनेक स्कूल, अस्पताल, अनाथालय और पुस्तकालय खोल कर लोगों की सेवा करने का प्रयास किया। स्वामी विवेकानंद का मुख्य जोर सेवा पर था और इसे ही उन्होंने मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र तरीका कहा था। स्वामी विवेकानंद की सामाजिक- राजनीतिक दृष्टि बहुत व्यापक थी। उन्होंने साफ़ शब्दों में कहा था- "जब तक देश में लाखों लोग भूखे और अज्ञानी हैं, मैं ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही समझूँगा जिन्होंने उनकी मेहनत की कमाई से शिक्षा गृहण की पर उनकी परवाह नहीं करते।" उन्होंने छुआछूत, साम्प्रदायिकता और लगभग हर पहलू पर प्रहतिशील दृष्टि से विचार किया और कहा- "मैं ऐसे धर्म या ईश्वर को नहीं मानता जो विधवाओं के आँसू पोंछ सके, या किसी अनाथ को एक टुकड़ा रोटी भी न दे सके। वेद, कुरआन और अन्य सभी धर्म ग्रंथों को अब कुछ समय के लिए विश्राम करने दें।"

4.4.7. थियोसाफिकल सोसाइटी

थियोसाफिकल सोसाइटी की स्थापना मैडम ब्लावात्सकी और कर्नल आल्काट ने न्यूयार्क में 1875 में की थी। बाद में भारत आकर इन्होंने मद्रास के करीब अडियार में अपना मुख्यालय बनाया। ये लोग प्राच्य धर्मों से अत्यंत प्रभावित थे और इस सोसाइटी की स्थापना भी इन धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए की गयी थी। थियोसोफिस्ट हिन्दू धर्म के आध्यात्मिक दर्शन और उसके कर्म सिद्धांत को मानते थे। इसीलिए पुनर्जन्म में भी उनकी गहरी आस्था थी। परन्तु जाति-पाति, साम्प्रदायिक या लैंगिक विभेदों से इतर थियोसोफिस्ट सार्वभौमिक बंधुत्व का प्रचार करते थे। इस आन्दोलन ने भले ही एक बड़े आन्दोलन का स्वरूप प्राप्त न किया हो, भारतीय धर्मों की भूरि-भूरि प्रशंसा ने भारतीयों में आत्मविश्वास का संचार किया। साथ ही इस आन्दोलन को पहचान इसकी नेता एनी बेसेंट के कामों से मिली। जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उत्साह का संचार किया और उसकी अध्यक्ष तक बनीं। उन्होंने ही बाद में होम रूल लीग की स्थापना की थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने बनारस में एक केंद्रीय हिन्दू विद्यालय खोला था, जिसे बाद में मदन मोहन मालवीय के प्रयासों ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का रूप दिया।

4.4.8. अलीगढ़ आन्दोलन और सर सैयद अहमद खान

मुस्लिम धर्मसुधार की आन्दोलन की शुरुआत हिन्दू धर्मसुधार आन्दोलन की तुलना में देर से हुयी। कलकत्ता में 1863 में मुहम्मडन लिटरेरी सोसाइटी के साथ ही इसकी औपचारिक शुरुआत मानी जा सकती है। परन्तु इस दिशा में सर सैयद अहमद खान का और उनके द्वारा चलाये गए अलीगढ़ आन्दोलन का योगदान सबसे प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण था। आधुनिक वैज्ञानिक विचारों में यकीन रखने वाले सर सैयद अहमद ने मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा की ओर प्रवृत्त किया। उन्होंने कुरआन को एकमात्र प्रमाणिक पुस्तक माना और उसकी व्याख्या समकालीन आधुनिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से की। वे धर्म की गतिशीलता में विश्वास करते थे। जीवन भर वे इस्लाम को अधिक उदार, तर्कसंगत और आधुनिक धर्म बनाने के प्रयास किये। वे मानते थे कि विचार की स्वतंत्रता अनिवार्य है और किसी भी तरह के कट्टरतावाद और संकुचित दृष्टिकोण के वे खिलाफ थे। कहा जा सकता है कि वे इस्लाम के उदारवादी नेता थे जिन्होंने हिन्दुओं को काफिर मानने से इनकार कर दिया और हिन्दू-मुस्लिम एकता की जरूरत पर बल दिया। उन्होंने मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए 1875 में अलीगढ़ में मुहम्मदन एंग्लो-ओरिएण्टल कॉलेज की स्थापना की जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाद के दिनों में इस कॉलेज के प्रति अपने लगाव के चलते सर सैयद अहमद खान ने समाज सुधार के अपने प्रयासों को लगभग खत्म कर दिया। रूढ़िवादी मुसलमानों के विरोध को रोकने के लिए उन्होंने ऐसा किया था। वे मानते थे कि मुसलमानों की तरक्की आधुनिक शिक्षा के माध्यम से ही संभव है। साथ ही, मुस्लिम मध्य वर्ग के पिछड़ेपन को देखते हुए और हिन्दू मध्य

वर्ग के तीव्र उत्थान ने उनके विचारों में कुछ विसंगतियां पैदा कर दी। जिन्होंने बाद में बहुत नुकसान पहुँचाया। वेधीरे- धीरे हिन्दू और मुस्लिम एकता के खिलाफ बोलने लगे और कहा कि ऐसे किसी भी प्रयास से मुसलमानों का नुकसान होगा और हिन्दुओं का वर्चस्व और बढ़ता जाएगा। साथ ही वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भी घोरआलोचक हो गए जो कि एक बहुधार्मिक राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का प्रयास कर रही थी।

4.4.9. देवबंद आन्दोलन

मुहम्मद कासिम ननौतवी और रशीद अहमद गंगोही - दो इस्लामिक धर्मशास्त्रियों ने उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के देवबंद में 1867 में एक मदरसे की स्थापना की थी, जो बाद में विश्वप्रसिद्ध इस्लामिक केंद्र बना। इसका उद्देश्य कुरआन और हदीस के आधार पर इस्लामिक शुद्धतावाद का प्रचार- प्रसार करना था। इस मदरसे ने विदेशी शासन को एक कलंक माना और उसके खिलाफ मुसलमानों से जिहाद छेड़ देने का आह्वान किया। इसी वजह से देवबंद आन्दोलन अलीगढ़ आन्दोलन के विपरीत विदेशी शासन के खिलाफ संघर्ष का एक बड़ा केंद्र बना था। इस आन्दोलन ने भारत को एक राष्ट्र माना और इसके मौलानाओं ने आखिर तक मुसलमानों से कांग्रेस में शामिल होने और उसके साथ अंगरेजी राज के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान किया। देवबंद आन्दोलन की वजह से मुस्लिम लीग को मुसलमानों को अपने साथ जोड़ने में बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। इसीलिए उसने बाद के वर्षों में पाकिस्तान की मांग मनवाने के लिए दंगों और अराजकता के तरीकों का सहारा लेना पड़ा था।

4.4.10. अहमदिया आन्दोलन

अहमदिया आन्दोलन के प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद थे। इन्होंने 1889 में खुद के मसीहा और महदी होने का दावा किया और बाद में वे खुद को कृष्ण और ईसामसीह का अवतार भी कहने लगे थे। दरअसल उनपरथिओसोफी, हिन्दू धर्म सुधार आन्दोलन और पश्चिमी सुधारवाद का प्रभाव था और वे मानवजाति के सर्वव्यापक धार्मिक सिद्धांतों में विश्वास करते थे। इस आन्दोलन ने मुसलमानों में आधुनिक विचारों के प्रचार- प्रसारके लिए स्कूल- कॉलेज खोले जाने पर बल दिया। उन्होंने एक ओर आर्य समाज और ईसाई धर्मप्रचारकों के विरुद्ध इस्लाम के रक्षक होने का दावा किया और दूसरी ओर दूसरे धर्मों के विरुद्ध संघर्ष का जोरदार विरोध भी किया। आज के पाकिस्तान में अहमदियों को अपने उदारवादी विचारों के चलते तालिबान के जुल्म का सामना करना पड़ रहा है।

4.4.11. अरव्विपुरम आन्दोलन

सन 1888 में शुरू हुए इस आन्दोलन के प्रणेता केरल के समाज सुधारक श्री नारायण गुरु थे। ब्राह्मणवाद और पुरोहितों के द्वारा निम्न जातियों के शोषण के विरुद्ध छेड़ा गया यह आन्दोलन मंदिर सम्बंधित अनुष्ठानों पर ब्राह्मण जाति के पुरोहितों के वर्चस्व को तोड़ता था। इस आन्दोलन के तहत स्वयं श्री नारायण गुरु ने सारे ब्राह्मण निषेधों को ठुकराते हुए अरव्विपुरम मंदिर में शिवरात्रि के अवसर पर शिव की प्राण प्रतिष्ठा की। उनके द्वारा शुरू किया गया यह आन्दोलन बाद के कई समाज सुधार आंदोलनों का प्रेरणा स्रोत बन गया। इसने मंदिर में प्रवेश के निषेध को लेकर निम्नजातियों में पनप रहे असंतोष को सामने ला दिया और बाद में मंदिर प्रवेश आन्दोलन केरल में एक महत्वपूर्ण सामाजिक- राजनीतिक गतिविधि बन गया।

4.4.12. ज्योतिबा फूले एवं सत्यशोधक समाज

ज्योतिबा फूले उन कुछ समाज सुधारकों में एक हैं जिन्होंने ब्राह्मणवाद और पुरोहिती- पाखण्ड पर सबसे जोरदार प्रहार किया। उन्होंने ब्राह्मण व्यवस्था और हिन्दू धर्म की समग्र आलोचना की। उनका मानना था कि इस व्यवस्था के शोषण के न सिर्फ सामाजिक आयाम हैं बल्कि उसके आर्थिक आधारों को भी ज्योतिबा ने पहली बार चिन्हित किया। उनकी इस सोच ने उन्हें घोर ब्राह्मण- विरोधी बना दिया। वे गरीब भारतीय किसानों के जबरदस्त हिमायती थे। उन्होंने 1873 में सत्यशोधक समाज की स्थापना इस उद्देश्य से की थी कि दलित वर्गों को शिक्षित करके उन्हें जाति की जकड़न से मुक्ति दिलाई जा सके। उनकी पुस्तक गुलामगिरी इस सन्दर्भ में लिखी गयी एक नायाब किताब है।

4.5. सामाजिक सुधार के परिणाम

सुधार आन्दोलनों ने भारत में एक नए युग का सूत्रपात किया था। यह नया युग दरअसल तर्कवाद की रौशनी में अपनी सामाजिक चुनौतियों से निपटने का प्रयास करता था। नए ज्ञान- विज्ञान, दृष्टिकोण और परिप्रेक्ष्य में समस्याओं के विश्लेषण और विवेचन की इस पद्धति ने सोच- विचार के नए तौर- तरीकों को जन्म दिया था। समाज सुधार की भावना से निकले कार्यक्रम का धीरे- धीरे विस्तार होता गया और कहा जा सकता है कि इसकी चौहद्दी में ही राजनीतिक कार्यक्रमों की आधारशिला निर्मित हुयी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पहले के तमाम समाज सुधारक बाद में कांग्रेस के महत्वपूर्ण नेता भी बने। और काफी लम्बे समय तक उपनिवेशवाद- विरोधी राजनीतिक कार्यक्रम के लिए समाज सुधार कार्यक्रमों से दूर रहने वाली कांग्रेस के भीतर से ही गांधी के आगमन के बाद समाज सुधार के एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इस तरह, समाज सुधार आन्दोलन और बाद में विकसित हुए राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच गहरा अंतर्संबंध था। राजा राममोहन रॉय जैसे प्रारम्भिक सुधारवादी भी राजनीतिक मुद्दों पर न सिर्फ अपनी बेबाक राय

सामने रखने लगे थे, बल्कि उन मुद्दों पर उन्होंने जनमत का निर्माण करने का तरीका भी अपनाया था। यानि सुधार कार्यक्रमों का एक राजनीतिक पहलू भी था, जिसने ही बाद में राजनीतिक चेतना का निर्माण किया।

मोटे तौर पर उन्नीसवीं सदी की अंतिम चौथाई तक आते- आते सुधार आन्दोलनों से निकली धारा तीन स्पष्ट धाराओं में विभाजित हो गयी। पहली धारा समाज सुधार और उपनिवेशवाद विरोधी चेतना के समुच्चय का परिणाम थी। जिसने राष्ट्रवादी चेतना के निर्माण में अपनी ऊर्जा को खपाया। दूसरी धारा धार्मिक कट्टरपंथ की और बढ़ती हुयी सांप्रदायिक चेतना में समाहित हो गयी। जिसका प्रतिनिधित्व आर्य समाज और अलीगढ़ आन्दोलन करते हैं। तीसरी धारा जाति सम्बन्धी मुद्दों पर उपरोक्त दोनों प्रवृत्तियों से पृथक विकसित हो रही थी। जिसमें ज्योतिबा फूले, श्री नारायण गुरु आदि आते थे। यद्यपि अन्य धाराओं में भी जाती सम्बन्धी मुद्दे प्रधान थे परन्तु इस प्रवृत्ति की दृष्टि अन्य आन्दोलनों से भिन्न थी। कुल मिलकर कहें तो, समाज सुधार आन्दोलन के भारतीय इतिहास में दूरगामी परिणाम हुए और इससे विकसित हुयी चेतना ने परवर्ती हर विचार और राजनीतिक आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

4.6. सारांश

इस प्रकार, सामाजिक- धार्मिक सुधार आन्दोलन औपनिवेशिक राज्य द्वारा उत्पन्न चुनौतियों पर भारतीय बौद्धिक वर्ग की प्रतिक्रिया थी। जिसने विभिन्न तरीकों से समाज के तत्कालीन रूढ़िवादी और पिछड़े सामाजिक ढाँचे को बदलने का प्रयास किया। जाति व्यवस्था, छुवाछूत, महिलाओं की अत्यंत दयनीय और गुलामों जैसी दशा, जाति व्यवस्था के अंतर्गत हो रहा शोषण, तमाम धार्मिक आडम्बर, आधुनिक शिक्षा से दूरी और इस तरह के तमाम मुद्दे समाज सुधारकों द्वारा उठाये गए और उनके निस्तारण के प्रयास किये गए। इन समाज सुधार आन्दोलनों ने समाज में जिस चेतना का निर्माण किया उसने आधुनिक भारत के स्वरूप को काफी हद तक प्रभावित किया।

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

चन्द्र, बिपन एवं अन्य, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष

चन्द्र, बिपन, आधुनिक भारत

बंद्योपाध्याय, शेखर, प्लासी से विभाजन तक

4.8 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

Panikkar, K.N., 'Intellectual and Cultural History of Colonial India: Some Conceptual and Historiographical Questions' in S. Bhattacharya and Romila Thapar edited "Situating Indian History"

Panikkar, K.N., editor, Studies in History, Special Issue on 'Intellectual History of India', Volume 3, No. 1, January- June, 1987

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलनों की वैचारिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलनों पर प्रकाश डालिए?

ब्लाक पाँच
आधुनिक भारत का इतिहास: आर्थिक पराभव

इकाई एक- भू-राजस्व व्यवस्था एवं वन नीति

इकाई दो- वाणिज्यीकरण , ऋणग्रस्तता एवं अकाल

इकाई तीन- ग्रामीण समाज: परिवर्तन एवं निरंतरता

इकाई चार- व्यापार एवं राजकोषीय नीति , अव-औद्योगीकरण, धन का पलायन, महिला प्रश्न

भू-राजस्व व्यवस्था एवं वन नीति

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्था के प्रकार
 - 1.3.1 स्थायी बंदोबस्त
 - 1.3.1.1 स्थानीय बंदोबस्त का प्रभाव/मूल्यांकन
 - 1.3.1.2 स्थायी बंदोबस्त का क्षेत्र
 - 1.3.2 रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त
 - 1.3.2.1 रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त का प्रभाव
 - 1.3.2.2 रैय्यतवाड़ी व्यवस्था का क्षेत्र
 - 1.3.3 महालवाड़ी बंदोबस्त
 - 1.3.3.1 महालवाड़ी व्यवस्था का प्रभाव
- 1.4 समग्र भू-राजस्व व्यवस्था का मूल्यांकन/प्रभाव
- 1.4 स्वमूल्यांकित प्रश्न
- 1.5 सारांश
- 1.6 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 1.7 निबंधात्मक प्रश्न
- 1.8 संदर्भ ग्रंथ

1.1 प्रस्तावना

भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के साथ ही भू-राजस्व बंदोबस्त का एक नया दौर प्रारंभ हुआ। भू-राजस्व प्राचीन काल से ही भारतीय अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। स्वाभाविक रूप से आप का सबसे बड़ा हिस्सा इससे ही प्राप्त होता रहा है। भारत के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार करने के बाद कंपनी ने भू-राजस्व बंदोबस्त कायम करने का प्रयास किया और इस क्रम में वह विभिन्न प्रयोगों के दौर से गुजरा। भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये ये बंदोबस्त किये गये। इस बंदोबस्त में उपनिवेशवादी आवश्यकताओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। साथ ही यूरोप में प्रचलित बौद्धिक विचारधाराएं भी भूमि बंदोबस्त को लागू करने के क्रम में प्रभाव डाल रही थीं। इस तरह ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था स्थानीय परिस्थितियों, उपनिवेशवादी आवश्यकताओं और यूरोप में प्रचलित विचारधाराओं के संयोग से उत्पन्न हुई थी।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्था के गुण-दोषों से आपको अवगत कराना है। साथ ही यह भी स्पष्ट करना है कि अंग्रेजों को इस भू-राजस्व व्यवस्था की आवश्यकता क्यों पड़ी? ब्रिटिश सत्ता, भू-राजस्व की आप अपनी शक्ति की बदौलत लूट खसोट के जरिए भी प्राप्त कर सकती थी, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। इसके पीछे तीन कारण थे-

- (1) इस प्रकार की लूट में लुटेरा लूट का माल अपने पास रख लेता है और सरकारी खजाने को इसका लाभ नहीं मिल पाता।
- (2) इस प्रकार की गतिविधियों से या तो वह स्थान बिल्कुल कंगाल हो जाता है, या फिर लोग स्थान को छोड़कर चले जाते हैं।

(3) इस प्रकार की नीतियों से शोषण को लंबे समय तक बताए नहीं रखा जा सकता। यही कारण है कि किसी उपनिवेश से संसाधनों का दोहन लंबे समय तक तभी बनाया रखा जा सकता है जब वहाँ ऐसी व्यवस्था की जाए जो उपनिवेशवाद के दीर्घकालीन हित में हो। स्पष्ट: ब्रिटिश उपनिवेशवाद का स्वरूप नादिरशाह या अहमदशाह अबदालीके शासन या आक्रमण के स्वरूप से भिन्न था।

1.3 ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्था के प्रकार

1.3.1 स्थायी बंदोबस्त

स्थायी बंदोबस्त की संरचना तथा कार्य-विधि पर विचारधारा तथा दृष्टिकोण का प्रभाव माना जाता रहा है तथा ऐसा कहा जागा है कि यह ब्रिटिश अधिकारिक दृष्टिकोण में परिवर्तन का परिणाम थी। परीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि विचारधारा तथा दृष्टिकोण के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः कार्नवालिस के आगमन से पूर्व 1770 के दशक में कंपनी के कुछ अधिकारी तथा टॉमस लॉ जैसे यूरोपीय चिंतकों ने इस बात पर बल देना आरंभ किया कि भू-राजस्व को स्थायी रूप से निश्चित किया जाना चाहिये। किंतु सक्षमतः देखने पर यह ज्ञात होता है कि विचारधारा व दृष्टिकोण की तुलना में अधिक निर्णायक भूमिका वित्तीय तथा आर्थिक कारक की रही। वस्तुतः बंगाल में स्थायी बंदोबस्त का विकास पिछले तीन दशकों के निरंतर प्रयोग एवं अनुभव का परिणाम था। इस काल में ब्रिटिश नीति का मुख्य बल भू-राजस्व की अधिकतम वसूली पर रहा था ताकि बंगाल के राजस्व से प्राप्त एक बड़ी रकम का निवेश वाणिज्य-व्यापार के लिये किया जा सके। जब कंपनी ने 1765 में बंगाल की दीवानी प्राप्त की तब कोई ऑफ डायरेक्टर्स ने कंपनी पर इस बात के लिये दबाव डाला कि कंपनी के निवेश को अधिकतम स्तर पर पहुँचाया जाना चाहिये।

किंतु, यह उम्मीद पूरी नहीं की जा सकी तथा कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की आशाओं पर पानी फिर गया। इस विफलता के लिये द्वैध शासन को उत्तरदायी माना गया। द्वैध शासन प्रणाली के तहत रशा खान को उप-नशीम के पद पर नियुक्त किया गया था तथा साथ ही वह दीवान के पद को भी

सुशोभित करता था। इस प्रणाली के तहत भू-राजस्व की वसूली का अधिकार देशी अधिकारियों को पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण का अधिकार दिया गया। किंतु इन अधिकारियों के भ्रष्टाचार तथा स्थानीय परिस्थितियों के ज्ञान के अभाव के कारण बंगाल की कृषि व्यवस्था को गहरा धक्का लगा। यह 1769-70 में होने वाले बंगाल के अकाल का महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ। अतः 1771 में यह व्यवस्था समाप्त कर दी गयी तथा अगले वर्ष 1772 में वारेन हेस्टिंग्स ने पंचसाला योजना पर आधारित 'फार्मिंग पद्धति' की शुरुआत की इसके अन्तर्गत राजस्व की वसूली अब यूरोपीय कलेक्टर को दिया गया तथा फिर राजस्व वसूली का अधिकार नीलामी पद्धति के आधार पर आवंटित किया जाने लगा। किंतु यह पद्धति भी समस्या को सुलझाने में असफल रही।

इसी संकटपूर्ण स्थिति में भू-राजस्व व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने के लिये 1784 में कार्नवालिस का आगमन हुआ। कार्नवालिस ने 1790 में भू-राजस्व में एक व्यवस्था को जन्म दिया जो 'जमींदारी/ईस्तमराटी/स्थायी बंदोबस्त' के नाम से जानी गयी। प्रारंभ में यह प्रबंधन 10 वर्षों के लिये किया गया परंतु 1793 में इसे 'स्थायी बंदोबस्त' में तब्दील कर दिया गया।

इस संबंध में एरिक स्टोक्स का कहना है कि 19वीं सदी के आरंभ में इंग्लैंड में बौद्धिक क्षेत्र पर उपयोगितावादी, उदारवादी जैसी विचारधाराएँ छाई हुई थी जिसके फलस्वरूप 19वीं सदी के आरंभ में स्थायी बंदोबस्त को त्यागकर रैय्यतवाड़ी व महालवाड़ी व्यवस्था को अपनाया पड़ा। रंजीत गुहा स्थायी बंदोबस्त का आधार ब्रिटेन की वाणिज्यवादी विचारधारा तथा फ्रांसीसी विचारधारा में अच्छे और स्थिर समान का आधार संपत्ति की सुरक्षा में देखा गया। रंजीत गुहा के अनुसार इसी विचारधारा को फिलिप फ्रांसिस द्वारा 1776 में एक योजना के रूप में प्रस्तुत किया गया जिसमें इंग्लैंड के स्थायी भू-स्वामी वर्ग के अनुभव भी शामिल थे। कुल मिलाकर विद्वानों की आम राय है कि स्थायी बंदोबस्त को लाने के पीछे चाहे जो भी परिस्थितियाँ हो, लेकिन यह अधिकतम राजस्व की प्राप्ति के सिद्धांत पर ही प्रेरित था।

नये स्थायी बंदोबस्त के संबंध में दो मुख्य प्रश्न थे-

- (1) लगान की अवधि कितनी होनी चाहिये?
- (2) समझौता किसके साथ किया जाना चाहिये?

लगान की अवधि के प्रश्न पर ब्रिटिश नीति निर्धारकों व प्रशासनिक अधिकारियों में एक मत नहीं था, लेकिन बहुमत इस पक्ष में था कि इसे लंबी अवधि के लिये ही किया जाना चाहिए। मुख्य विवाद इस प्रश्न पर था कि समझौता किससे किया जाए? जमींदारों से या किसानों से। ब्रिटिश अधिकारी जॉन शोर जमींदारों के पक्ष में था क्योंकि उनका यह अधिकार वंशगत था वहीं दूसरी ओर गल्स ग्रॉंट जैसे कुछ अधिकारी किसानों के पक्ष में थे। क्योंकि ग्रॉंट का मानना था कि समस्त भूमि राज्य की है जमींदार कर संग्रहकर्ता से अधिक नहीं हैं, इसलिये जमींदारों को भूमि-स्वामित्व नहीं दिया जाना चाहिए। लार्ड कार्नवालिस, जो स्वयं एक जमींदार परिवार से संबंध रखता था, सर जॉन शोर के विचारों से सहमत था। स्वाभाविक रूप से लाखों किसानों के

साथ बंदोबस्त करने के बजाय कुछ जमींदारों से बंदोबस्त कर राजस्व वसूलना अपेक्षाकृत सरल था। लंबे विचार विमर्श के बाद कार्नवालिस ने 1790 में 10 वर्षीय बंदोबस्त लागू किया। इसी बंदोबस्त को उसने 1793 में स्थायी बंदोबस्त में तब्दील कर दिया।

- (1) जमींदार एवं भू-राजस्व संग्रकर्ताओं को जमीन का वास्तविक स्वामी बना दिया गया। उनके स्वामित्व के अधिकार को वंशानुगत और स्थानांतरणीय बना दिया गया।
- (2) किसानों को अधीनस्थ रैयतों में तब्दील कर दिया गया और जमीन पर उनके दीर्घकालिक अधिकारों को छीन लिया गया। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य प्रकार के पैतृक अधिकारों से भी वंचित होना पड़ा।
- (3) इसके तहत किसान अपने उन अधिकारों से भी वंचित हो गये जो उन्हें परंपरा में मिले थे। जैसे-चारागाह भूमि, जंगल की भूमि, सिंचाई के लिये तालाब और नहरें, मछली पालन के लिये तालाब और पोखर तथा झोपड़ी डालने के लिये परती पड़ी जमीनों के उनके अधिकारों से वंचित कर दिया गया।
- (4) इस व्यवस्था में भू-राजस्व की राशि स्थायी रूप से निर्धारित कर दी गई। इस निर्धारण के लिये 1790-91 के वर्ष में की गई वसूली को आधार बनाया गया। इसमें 10/11 भाग कंपनी का अंश था तथा 1/11 भाग जमींदार का अंश निर्धारित कर दिया गया।
- (5) स्थायी बंदोबस्त में सरकार का अंश सदा के लिये निश्चित हो गया था। आमदनी बढ़ने पर वह जमींदारों के हिस्से में जाती थी। इस व्यवस्था के सुचारू-संचालन के लिये 1793 के रेग्यूलेशन के अनुसार जमींदारों को रैयती जल संपत्ति पर कब्जा करने का अधिकार दे दिया गया तथा आगे 1799 व 1812 में लाए गए बंगाल रेग्यूलेशन के आधार पर जमींदारों को रैयतों की अचल संपत्ति पर कब्जा करने का अधिकार दे दिया गया। दूसरी तरफ जमींदारों के विरुद्ध सरकार की स्थिति सुरक्षित करने के लिये तथा भू-राजस्व की वसूली को नियमित बनाए रखने के लिये 1794 में 'सूर्यास्त कानून' लाया गया। इस कानून के अनुसार अगर निश्चित तिथि को सूर्यास्त तक जमींदार भू-राजस्व की रकम को चुकता नहीं करता तो संबंधित जमींदार की पूरी जमींदारी नीलाम हो जाती थी।
- (6) मालगुजारी का निर्धारण मनमाने तरीके से किया जाता था और इस क्रम में जमींदारों से कोई परामर्श नहीं लिया जाता था। परिणामस्वरूप इसकी राशि बहुत अधिक तय कर दी गयी। 1765-66 एवं 1713 के बीच मालगुजारी संबंधी मांग लगभग दो गुनी हो गयी।

1.3.1.1 स्थानीय बंदोबस्त का प्रभाव/मूल्यांकन

स्थायी बंदोबस्त के प्रभाव की परीक्षा की जाये तो इसके कुछ नकारात्मक पहलू सामने आते हैं तो कुछ सकारात्मक पहलू भी सामने आते हैं। भारतीय हित की दृष्टि से देखा जाये तो जमींदारों का संपत्ति पर पैतृक अधिकार होने से उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति मजबूत हुयी और इसने कालांतर में नये पढ़े लिखे वर्ग को जन्म दिया जो आगे चलकर ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों को उद्धाटित कर रहा था।

इस व्यवस्था को ब्रिटिश हित की दृष्टि से देखा जाये तो सरकार को एक निश्चित आय की प्राप्ति हुयी और उत्पादन की कमी का राज्य की आय पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ा। इसके साथ-साथ एक समर्थक जमींदार वर्ग सामने आया जो 1857 के विद्रोह में सरकार के साथ रहा।

स्थायी बंदोबस्त का ग्रामीण समाज पर सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। भूमि का उपसामंतीकरण स्थायी बंदोबस्त की ही देन है। जमींदार और किसानों के बीच अनेक उप-सामंत पैदा हो गए जिससे भूमि-किराए का तेजी के साथ विकास हुआ जिसका मार किसानों पर पड़ा अतः किसानों का जीवन स्तर गिरता चला गया। अंततः इस बंदोबस्त के कारण पूरे क्षेत्र में गरीबी फैली।

अनुपस्थित जमींदारी व्यवस्था भी स्थायी बंदोबस्त की देन है। मालगुजारी की रकम अत्यधिक होने के कारण पुराने जमींदारों को उनकी जमीनों से वंचित किया जाने लगा उनकी जगह नए बिचौलिये वर्ग का उदय जिसमें अधिकतर ऐसे व्यापारी या बनिया थे जिनका उद्देश्य केवल मुनाफा कमाना था उनका गांव से कोई सीधा संबंध नहीं था न ही उनकी दिलचस्पी उत्पादन बढ़ाने में थी।

स्थायी बंदोबस्त के प्रभाव का आकलन करते हुये हाल के कुछ दशकों में निरंतरता के तत्वों पर बहुत अधिक बल दिया जाने लगा तथा ऐसा स्थापित करने का प्रयास किया गया की स्थायी बंदोबस्त के अंतर्गत ग्रामीण क्षेत्र में जो भी परिवर्तन आया वह महश ऊपरी ओर सतही या किंतु सूक्ष्म विश्लेषण के पश्चात परिवर्तन के तत्वों को अस्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है। वस्तुतः इसी बंदोबस्त ने ऊपरी स्तर पर सामंतवाद व निचले स्तर पर कृषि दासता को प्रोत्साहन दिया। स्थायी बंदोबस्त ने संपत्ति के संबंधों में परिवर्तन लाया पहली बार भूमि को एक वस्तु के रूप में तब्दील कर दिया गया। इस बंदोबस्त के परिणामस्वरूप बंगाल का ग्रामीण समाज तीन वर्गों में बंट गया - जमींदार, किसान, मजदूर। यह तीन स्तरीय ढोंग इस बंदोबस्त से पूर्व बंगाली समाज में नहीं था। इसमें से प्रथम व तृतीय अंग्रेजी व्यवस्था की ही देन है।

स्थायी बंदोबस्त लाने के पीछे ब्रिटिश कंपनी के वित्तीय, प्रशासनिक, राजनीतिक व आर्थिक कारण थे। वित्तीय कारण संभवतः सर्वप्रथम था क्योंकि युद्ध के इस दौर में और अव्यवस्था के माहौल में कंपनी आर्थिक सुरक्षा चाहती थी जो स्थायी बंदोबस्त से ही संभव था प्रशासनिक तौर पर इसकी आवश्यकता इसलिये पड़ी क्योंकि लाखों किसानों से राजस्व वसूलने के लिये बहुत अधिक प्रशासनिक अधिकारियों की आवश्यकता पड़ती जो काफी खर्चीली पड़ती। राजनीतिक कारक के रूप में यह इसलिये उपयोगी था क्योंकि 18वीं सदी के प्रारंभ में अनेक जनविद्रोह हो

रहे थे और इस जनविद्रोह को रोकने में जमींदार तरंगरोध के रूप में कार्य कर रहे थे। 1857 के विद्रोह में भी जमींदारों का साथ उपयोगी रहा। आर्थिक रूप से कंपनी यह चाहती थी के राजस्व निर्धारित होने के बाद जमींदार प्रगतिशील जमींदार की भूमिका निभाएंगे जैसा ब्रिटिश जमींदारों ने किया था इससे वाणिज्य व व्यापार बढ़ेगा किंतु ऐसा हुआ नहीं।

कुल मिलाकर कार्नवालिस तथा कंपनी के ये सारे उद्देश्य आंशिक रूप से ही पूरे हुये। यह सही है कि सरकार को एक निश्चित रकम मिली किंतु इसका नकारात्मक पक्ष यह था कि जो रकम 1713 में निर्धारित की गई थी वही रकम प्राप्त होती रही कई वर्षों तक। अर्थात् सरकार कृषि के विस्तार से होने वाले लाभ से वंचित रही। दूसरे, जमींदार भी प्रगतिशील जमींदार सिद्ध नहीं हुये उन्होंने कृषि विकास में रूचि नहीं ली, कृषि क्षेत्र में निवेश नहीं किया। सरकार को प्रशासनिक झंझटों से भी छुटकार नहीं मिला क्योंकि राजस्व की राशि अधिकतम होने के कारण कई जमींदारियाँ नीलाम होने लगी एवं प्रशासनिक अव्यवस्था ने जन्म ले लिया। यह बात सही है कि इस बंदोबस्त ने एक समर्थक जमींदार वर्ग को जन्म दिया जो 1857 में उपयोगी भी हुआ किंतु इस व्यवस्था में जमींदारों की शोषण मूलक नीति के कारण अधिसंख्य किसान ब्रिटिश शासन से अलग-थलग पड़ते चले गये जिसका परिणाम 19वीं व 20वीं सदी में जमींदारी क्षेत्र में होने वाले निरंतर आंदोलनों एवं विद्रोहों के रूप में दिखता है।

1.3.1.2 स्थायी बंदोबस्त का क्षेत्र

बंगाल, बिहार, उड़ीसा, बनारस तथा उत्तरी कर्नाटक में लागू किया गया था। यह समस्त भारत के 19 प्रतिशत क्षेत्र पर लागू किया।

1.3.2 रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त

जिस समय बंगाल में कार्नवालिस के अंतर्गत स्थायी बंदोबस्त की संरचना विकसित हो रही थी, उस समय मद्रास अनिश्चितता की स्थिति में था। मुख्य मुद्दा यह था कि मद्रास में भू-राजस्व के निर्धारण का आधार क्या हो? निर्धारण की अवधि क्या हो? तथा यह निर्धारण किसके साथ किया जाये? कार्नवालिस के पश्चात् मद्रास प्रेसीडेंसी में लार्ड वेलेशली तथा बोर्ड ऑफ कंट्रोल के सदस्य हेनरी डुंडस के द्वारा जमींदारी व्यवस्था के प्रसार का प्रयास विफल हो गया था क्योंकि मद्रास प्रेसीडेंसी में बंगाल के जमींदार वर्ग की तरह कोई स्पष्ट वर्ग नहीं था।

रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त का मूल आधार क्या था? इस संबंध में इतिहासकारों के बीच मतभेद है। ब्रिटिश प्रशासकों और विचारकों ने यूरोप में प्रचलित बौद्धिक विचारधारा को इस नीति का आधार बताया जो जैम्स मिल रिकार्डो और बेंथम के विचारधारा से प्रेरित था। इस संबंध में एरिक स्ट्रोकस का मानना है कि 19वीं सदी के आरंभ में इंग्लैंड के बौद्धिक वर्ग पर उपयोगितावादी, उदारवादी एवं लगान के सिद्धांत जैसी विचारधाराएँ शामिल थी। इन्हीं विचारधाराओं के संबंध में स्थायी बंदोबस्त की अपेक्षा एक नये बंदोबस्त को तरशीह दी गयी।

इस व्यवस्था के प्रवर्तक मुनरो पहले लगान दर को नियंत्रित रखना चाहते थे बाद में उनका विचार बदल गया और भू-राजस्व बहुत ऊँचा रखा गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रैय्यतवाड़ी व्यवस्था के विकास में विचारधारा तथा दृष्टिकोण की भूमिका रही किंतु सूक्ष्म विश्लेषण से पता चलता है कि विचारधारा की तुलना में आर्थिक व वित्तीय कारक ज्यादा निर्णायक रहे। निरंतर युद्धों में उलझे होने के कारण मद्रास प्रेसीडेंसी को बेहतर राजस्व आधार की शरूत थी जबकि जमींदारी व्यवस्था के विस्तार का अर्थ था सरकार का अंश कम हो जाना।

भारत में रैय्यतवाड़ी व्यवस्था अनेक प्रयोगों के दौर से गुजरकर सामने आया। मुनरो और रीड नामक दो ब्रिटिश अधिकारियों को मद्रास के नए जीते गए इलाके में प्रशासन संचालन हेतु भेजा गया। वे वहाँ जमींदारों से लगान वसूल करने के बजाए सीधे गाँवों से भू-राजस्व वसूलने लगे। उन्होंने किसानों और गाँव का अलग-अलग ब्यौरा प्राप्त करना शुरू किया, फिर खेतों का मूल्यांकन किया और प्रत्येक खेत की उत्पादकता को ध्यान में रखकर भू-राजस्व की एक राशि निर्धारित की गयी। निर्धारित राशि अदा न करने की स्थिति में किसान उस भूमि पर खेती नहीं कर सकते थे भले ही वह शमीन परती क्यों न रह जाए। इस प्रकार 'रैय्यतवाड़ी व्यवस्था' अस्तित्व में आयी। रैय्यतवाड़ी व्यवस्था में प्रत्येक पंजीकृत किसान से रैय्यत बंदोबस्त किया। इन क्षेत्रों में परती भूमि, बंजर भूमि, वन एवं सिंचाई को जमींदारों के बदले सरकार के अंतर्गत कर दिया गया। प्रत्येक किसान भू-राजस्व की अदायगी के लिये व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी था। अगर वे निश्चित तिथि को राजस्व नहीं चुकाते थे तो उनकी संपत्ति नीलाम कर दी जाती थी। मुनरो ने राजस्व कुल उत्पादन का 1/3 या 2/5 निर्धारित किया था। यह इस नई व्यवस्था का सैद्धांतिक पक्ष था, लेकिन व्यावहारिक रूप में राजस्व आकलन अनुमान पर आधारित होता था। यह राशि इतनी अधिक होती थी कि किसान सामान्यतः इसे चुकाने में असमर्थ हो जाते थे।

भू-राजस्व संबंधि आरंभिक प्रयोगों के पश्चात 1820 में मद्रास में रैय्यतवाड़ी व्यवस्था लागू की गई और इस व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिये मुनरो को मद्रास का गवर्नर नियुक्त किया गया। मुनरो का मानना था कि यह मूलतः भारतीय भू-व्यवस्था है जो भारतीय परिवेश के अनुकूल है। साथ ही इस व्यवस्था में कोई बिचौलिया नहीं होगा पूरा का पूरा राजस्व ब्रिटिश खजाने में जायेगा। उसका यह भी दावा था कि बढ़े हुये राजस्व पर जमींदारों के विपरीत ब्रिटिश सरकार का दावा होगा जिससे राजकीय राजस्व में वृद्धि होगी। चूंकि यह बंदोबस्त किसानों के साथ था इसीलिये रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त कहा गया।

1820 के बाद यह व्यवस्था मद्रास के अधिकांश भागों में लागू की गई वह मुनरो की व्यवस्था से थोड़ी भिन्न था जहाँ मुनरो की व्यवस्था सर्वेक्षण व वर्गीकरण पर आधारित थी वहीं उसके बाद वाली व्यवस्था बिना सर्वेक्षण के कुल उत्पादन पर आधारित थी। यद्यपि रैय्यतों को खेतों को चुनने की स्वतंत्रता थी अर्थात् वे कम लगान वाले खेतों को चुन सकते थे लेकिन व्यावहारिक रूप से उन्हें अधिक राजस्व वाली भूमि या परती भूमि पर खेती करने के लिये बाध्य किया जाता था। और इसके लिये ब्रिटिश अधिकारी दमन का अवैध तरीका भी अपनाते थे। किसानों के इस

दमन का पता हमें 1854 में मद्रास यातना आयोग के रिपोर्ट से पता चलता है जिसके अनुसार मद्रास क्षेत्र में जितनी जमीन पर खेती की गई थी, उससे अधिक जमीन परती छोड़ दी गई थी। उदाहरण के लिये 1855 में मद्रास में जहाँ एक करोड़ 45 लाख एकड़ जमीन पर खेती की गई थी वहीं 1 करोड़ 80 लाख एकड़ जमीन परती छोड़ दी गई थी।

बंबई प्रेसीडेंसी में रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त का क्रियान्वयन मुनरो के शिष्य एलिफिन्सटन द्वारा किया गया। इस प्रेसीडेंसी के अंतर्गत गुजरात एवं पेशवा क्षेत्र शामिल थे। अर्थात् लगभग संपूर्ण पश्चिमी भारत में परंपरागत व्यवस्था की जगह अब इस क्षेत्र में सीधे किसानों से राजस्व वसूल किया जाने लगा।

1.3.2.1 रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त का प्रभाव

(1) सैद्धांतिक दृष्टि से किसान स्वतंत्र स्थिति में क्योंकि भूमि पर उसका अधिकार था और सरकार से प्रत्यक्ष संबंध। किंतु व्यवहारिक दृष्टि किसानों का अत्यधिक शोषण हुआ भू-राजस्व की अधिकतम दर होने से उसे साहूकारों से कर्ज लेना पड़ा। इस तरह वह ऋणग्रस्त हुआ और उसकी जमीन हाथ से निकलने लगी। अतः मालिक से मजदूर बन गया।

- (2) इस व्यवस्था में महाजनी प्रथा का सर्वाधिक विकास हुआ।
- (3) इस व्यवस्था में विभिन्न जमींदारों के बदले सरकार स्वयं एक बड़े जमींदार की भूमिका में आ गयी।
- (4) इस व्यवस्था के अंतर्गत रैय्यतों को भूमि का मालिकाना हक दिया गया, जिसके द्वारा ये प्रत्यक्ष रूप से सीधे या व्यक्तिगत रूप से भू-राजस्व अदा करने के लिये उत्तरदायी थे।

1.3.2.2 रैय्यतवाड़ी व्यवस्था का क्षेत्र

यह व्यवस्था ब्रिटिश भारत के 51 प्रतिशत भाग पर लागू की गई। मद्रास, बंबई के कुछ हिस्से, पूर्वी बंगाल, असम, कुर्ग पर लागू की गई।

1.3.3 महालवाड़ी बंदोबस्त

जमींदारी बंदोबस्त की व्यापक आलोचना के बाद 19वीं सदी के आरंभ में इस व्यवस्था के प्रति असंतोष उत्पन्न होने लगा। ब्रिटिश अर्थशास्त्री और ब्रिटिश अधिकारी इस बंदोबस्त का विकल्प तलाशने लगे। इस संबंध में एरिक स्टोक्स और एस.सी. गुप्ता जैसे इतिहासकारों ने महालवाड़ी बंदोबस्त के उदय में इंग्लैंड में उचित शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को श्रेय दिया है जो बाद में उपयोगितावादी अर्थव्यवस्था के रूप में स्वीकार की गई। साथ ही बेंथम, माल्थस और रिकार्डो के विचारों का प्रभाव भी इस नए बंदोबस्त पर पड़ा रिकार्डो ने अपनी पुस्तक में यह विचार व्यक्त किया है कि लगान ऐसा होना चाहिये जिससे उत्पादन में वृद्धि की प्रेरणा हो

किसानों का न्यूनतम शोषण हो। इस प्रकार कर लगाने पर उत्पादन एवं अर्थव्यवस्था पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। रिकार्डों शुद्ध अधिकशेष को भूमि लगाने के रूप में देखता है, जिसके एक हिस्से पर सरकार का अधिकार है। शास्त्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था में इस बात की वकालत की गई थी कि किसानों के परिश्रम के मूल्य सहित कृषि पर जो खर्च हुआ था उसे निकालकर बची हुई आय पर भूमिकर निर्धारित किया जाए। इसका निर्धारण समय-समय पर किया जाए। इस तरह यह विचारधारा स्थायी बंदोबस्त वानी विचारधारा के विपरीत थी।

एरिक स्टोक्स की विचारधारा जिसमें ब्रिटिश शास्त्रीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धांत और रिकार्डों के लगान सिद्धांत को महालवाड़ी व्यवस्था की उत्पत्ति का कारण माना गया है, का विरोध अनेक भारतीय इतिहासकारों द्वारा किया गया है। जिसमें प्रमुख है रवीन्द्र कुमार आशिया सिद्दीकी और इम्तियाश हुसैन। इन विद्वानों ने ब्रिटिश लगान नीति को समाजिक, आर्थिक परिवर्तनों के व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। उनका मानना है कि चूंकि उत्तर भारत की स्थानीय परिस्थितियाँ पूर्वी भारत से भिन्न थी, इसलिये एक नये बंदोबस्त की आवश्यकता थी। दूसरी ओर उत्तरी भारत पर नियंत्रण के समय तक उनकी उपनिवेशवादी आवश्यकताओं में परिवर्तन आ चुका था। इन्हीं सब कारकों को ध्यान में रखते हुये उत्तर भारत में 'महालवाड़ी बंदोबस्त लागू किया गया। महालवाड़ी बंदोबस्त की विशेषता:-

- (1) इस बंदोबस्त में मालगुजारी का बंदोबस्त अलग-अलग गाँव (महाल) व जागीरों के आधार पर उन जागीरदारों या उन परिवारों के मुखिया के साथ किया गया जो सामूहिक रूप से उस गाँव या महाल का भू-स्वामी होने का दावा करते थे।
- (2) चूंकि इस व्यवस्था में राजस्व की इकाई एक महाल (गाँव) थी इसलिये यह व्यवस्था महालवाड़ी व्यवस्था के नाम से जानी गयी। महालवाड़ी क्षेत्रों भी रैयलवाड़ी क्षेत्रों की तरह मालगुजारी का निर्धारण समय-समय पर पुनः किया गया।
- (3) महालवाड़ी व्यवस्था में जहाँ जमींदार लगान एकत्र करते थे, वहाँ लगान कुल उत्पादन का 30 प्रतिशत रखा गया किंतु उन क्षेत्रों में जहाँ भूमि ग्राम समाज की सम्मिलित भूमि थी वहाँ लगान कुल उत्पादन का 95 प्रतिशत तक तय किया। यह लगान बहुत अधिक था।
- (4) महालवाड़ी बंदोबस्त कम से कम 10-12 वर्षों के लिये और अधिक से अधिक 20-25 वर्षों की अवधि के लिये किया गया। इसका उद्देश्य भविष्य में बढ़ने वाले लगान पर सरकार का हिस्सा बनाए रखना था।
- (5) महालवाड़ी बंदोबस्त दूसरे ब्रिटिश भू-राजस्व बंदोबस्त से अपेक्षाकृत बेहतर था, क्योंकि इसमें भारतीय परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा गया था। लगान तय कराने के लिये इसमें पहली बार मानचित्र और पंजीयन का प्रयोग किया था। इस नई योजना को मार्टिन बर्ड व जेम्स टामसन के निजी प्रयत्नों से तैयार किया गया था।

1.3.3.1 महालवाड़ी व्यवस्था का प्रभाव

- (1) महालवाड़ी व्यवस्था चूंकि जमींदारी व्यवस्था का ही संशोधित रूप था, इसलिये न चाहते हुये भी जमींदारी व्यवस्था की अनेक कमियाँ इसमें आ गई। जैसे-भूमि का कुछ विशेष हाथों में संग्रह। उदाहरण के लिये पंजाब के क्षेत्रों में बड़े-बड़े भू-स्वामियों के द्वारा किसानों का शोषण हुआ।
- (2) भू-राजस्व की रकम काफी अधिक निर्धारित करने के कारण किसान धीरे-धीरे महाजनों व सूदखोरों की चपेट में आ गए। उन्होंने बकाए दृण की वसूली शक्ति से की जिसमें ब्रिटिश शासन भी मददगार साबित हुआ। इससे किसान धीरे-धीरे भूमिहीन मजदूर बनते गए।
- (3) महालवाड़ी बंदोबस्त वाले क्षेत्रों में कृषि का वाणिज्यीकरण तो हुआ लेकिन इस वाणिज्यीकरण का लाभ सामान्यतः बड़े किसानों व जमींदारों का मिला जबकि आप किसान वंचित रहे।
- (4) यह बंदोबस्त मानचित्रों और पंजीयन पर आधारित था तथापि पूरा प्रशासन तंत्र के शोषण में लगा हुआ था।
- (5) महालवाड़ी बंदोबस्त के क्षेत्र में आने वाले किसानों का शोषण जमींदारी और रैय्यतवाड़ी वाले क्षेत्रों के किसानों की तुलना में अपेक्षाकृत कम हुआ।

1.3.3.2 महालवाड़ी व्यवस्था के क्षेत्र

यह व्यवस्था संपूर्ण ब्रिटिश भारत के 30 प्रतिशत क्षेत्र पर लागू थी। जिसमें दक्कन के जिले, मध्यप्रांत पंजाब तथा उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रांत), आगरा एवं अवध शामिल थे।

1.4 समग्र भू-राजस्व व्यवस्था का मूल्यांकन/प्रभाव

- (1) ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों ने भूमि को खरीद-बिक्री के योग्य बना दिया फलतः दृण लेने की प्रवृत्ति में वृद्धि हुयी। मुकद्दमेबाजी का विकास हुआ, संयुक्त परिवार टूटे, ग्रामीण दृणग्रस्तता में वृद्धि हुयी, किसानों का अत्यधिक शोषण हुआ फलतः वे निर्धन होते गये और कृषि का विकास अवरूद्ध हुआ फलतः उत्पादन में कमी आयी और भारतीय कृषि पिछड़ी कृषि बन गयी।
- (2) कृषि क्षेत्र में नवीन वर्गों का उदय हुआ। जैसे जमींदार, साहूकार आदि। और इनका सरकार से गठबंधन बना और इन सबने मिलकर परंपरागत भारतीय कृषि में परिवर्तन कर दिया। अब परंपरागत जमींदार - किसान - साहूकार संबंध मधुर नहीं रहे तनावपूर्ण हो गये।

- (3) अत्यधिक भू-राजस्व के कारण कृषकों को नगदी फसल उगाने पर बाध्य होना पड़ा फलतः खाद्यान्न उत्पादन में कमी आयी और अकालों की बारंबारता बढ़ी।
- (4) कुल मिलाकर ब्रिटिश भू-राजस्व नीति ने भारतीय गांवों को प्रतिफल रूप से प्रभावित किया। चूँकि भू-राजस्व नीति का एकमात्र लक्ष्य अधिकतम राजस्व प्राप्त करना था जिससे ब्रिटिश हित पूरा हो सके।

अतः भू-राजस्व नीतियों की भिन्नता के बावजूद कृषकों निर्धनीकरण हुआ। चूँकि भारत गांवों में बसता था और गांवों में किसानों के निर्धनीकरण से गांव तो निर्धन हुये ही भारत भी निर्धन हुआ।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्नलिखित पर प्रकाश डाले-

1. स्थायी/जमींदारी बंदोबस्त
2. स्थायी/जमींदारी का प्रभाव
3. रैयतवाड़ी बंदोबस्त
4. रैयतवाड़ी बंदोबस्त का प्रभाव
5. महलवाड़ी बंदोबस्त
6. महलवाड़ी बंदोबस्त का प्रभाव

1.5 सारांश

भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के साथ ही राजस्व व्यवस्था का एक नया दौर आरंभ हुआ। यह व्यवस्था यूरोप में प्रचलित विचारधाराओं, उपनिवेशवादी आवश्यकताओं और स्थानीय परिस्थितियों के समन्वय का परिणाम था। इस संबंध में विद्वानों की आम राय है कि ये बंदोबस्त अधिकतम राजस्व की प्राप्ति से प्रेरित था।

ब्रिटिश भारत के अलग-अलग भागों में अलग-अलग बंदोबस्त किये गये। पूर्वी भारत, जो कुल ब्रिटिश भारत का 19 प्रतिशत था, में स्थायी बंदोबस्त या जमींदारी बंदोबस्त लाया गया। यह बंदोबस्त जमींदारों से किया गया और लगान की राशि हमेशा के लिए निश्चित कर दिया गया। दक्षिणी और पश्चिमी भारत जो कुल ब्रिटिश क्षेत्र का 51 प्रतिशत था, में रैयतवाड़ी बंदोबस्त लाया गया। यह बंदोबस्त रैयतों के साथ किया गया जिसमें समय-समय पर लगान के पुर्ननिर्धारण का प्रावधान था। उत्तरी भारत, जो कुल ब्रिटिश क्षेत्र का 30 प्रतिशत था, में महलवाड़ी बंदोबस्त लाया गया। यह बंदोबस्त महल (गांव) के प्रधान के साथ किया गया तथा इसमें भी लगान के पुर्ननिर्धारण का प्रावधान था।

भूमि बंदोबस्त का भारतीय समाज पर निर्णायक प्रभाव पड़ा। स्थायी बंदोबस्त ने परंपरागत ग्रामीण समाज के ढाँचे को बदल दिया। जमींदारों को भू-स्वामित्व दिये जाने के कारण किसानों का अधिकतम शोषण हुआ। भूमि के उपसामंतीकरण का महाजन और सूदवारों ने लाभ उठाया जिससे ग्रामीण ऋणग्रस्तता और ग्रामीण गरीबी फैली। रैयतवाड़ी और महलवाड़ी क्षेत्रों में बड़े-बड़े भूस्वामी ही जमींदारों की तरह व्यवहार करने लगे जिससे किसान भूमिहीन मजदूर में परिवर्तित होते चले गये। अंततः भारतीय किसान गरीबी के दुःश्रक्र में फंस गये।

1.6 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

देखिये

1. 1.3.1 स्थायी बंदोबस्त
2. 1.3.1 स्थायी बंदोबस्त का प्रभाव
3. 1.3.2 रैयतवाड़ी बंदोबस्त
4. 1.3.2 रैयतवाड़ी बंदोबस्त का प्रभाव
5. 1.3.3 महल वाड़ी बंदोबस्त
6. 1.3.3 महलवाड़ी बंदोबस्त का प्रभाव

1.7 निबंधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था का आलोचनात्मक परीक्षण करें।
2. ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था का भारतीय समाज पर पड़े प्रभाव की समीक्षा करें
3. स्थायी बंदोबस्त के गुण-दोष पर प्रकाश डालें।

1.8 संदर्भ ग्रंथ

*** David Recharls**

‘On the Principles of Political Economy and Taxation’, John Murray, London, 1817.

*** James Mill**

‘The History of British India’, Cradock and joy, Baldwin, London, (first edition), 1818.

*** Ramkrishna Mukherjee**

‘The Dynamics of a Rural Society : A study of the Economic Structure in Bengal Village’, Akademic – Verlag, Berlin, 1957.

*** Ranajit Guha**

‘A Rule of Property for Bingal : an essay on the idea of permanent settlement’, Mouton & Co., Paris, 1963, New edition Duke University Press.

***Robert Eric Frykenberg**

'Land control and Social Structure in Indian History,' Madison, 1969, New Delhi 1978 Madison: University of Wisconsin Press, 1969. 'Land Control and Social structure in Indian History' Manohar, New Delhi, 1978.

***Rajat and Ratna Ray**

'Dynamics of Continuity in Rural Bengal under the British Emporium : A Study of Quasi-Stable Equilibrium in Underdeveloped Societies in a Changing world', Indian Economic & Social History Review, New Delhi, April, 1973.

*** Dharma Kumar**

'Land ownership and inequality in Madras Presidency', IESHR, 12(2), New Delhi, 1975.

*** David Arnold**

'Police, Power Colonial Rule in Madras', (1859-1947), Oxford University Press, New Delhi, 1986.

वाणिज्यीकरण, ऋणग्रस्तता एवं अकाल

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 कृषि के वाणिज्यीकरण का क्षेत्रीय वितरण
- 2.4 वाणिज्यीकृत फसलें
 - 2.4.1 सिल्क अथवा रेशम
 - 2.4.2 चाय
 - 2.4.3 अफीम
 - 2.4.4 नील
 - 2.4.5 गन्ना
 - 2.4.6 कपास
 - 2.4.7 जूट
- 2.5 कृषि के वाणिज्यीकरण की सीमाएं
- 2.6 कृषि के वाणिज्यीकरण का प्रभाव
- 2.7 भारतीय वाणिज्यीकरण की फ्रांसिसी वाणिज्यीकरण से तुलना
- 2.8 ऋणग्रस्तता
 - 2.8.1 ऋणग्रस्तता के कारण
 - 2.8.2 ऋणग्रस्तता का प्रभाव
- 2.9 अकाल
 - 2.9.1 अकाल के लिये उत्तरदायी कारण
 - 2.9.2 अकाल का प्रभाव
 - 2.9.3 अंग्रेजों की अकाल नीति
 - 2.9.4 ब्रिटिश अकाल नीति का मूल्यांकन
- 2.10 मूल्यांकन
- 2.11 स्वमूल्यांकित प्रश्न
- 2.12 सारांश
- 2.13 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 2.14 निबंधात्मक प्रश्न
- 2.15 संदर्भ ग्रंथ

2.1 प्रस्तावना

कृषि के वाणिज्यीकरण से हमारा तात्पर्य ब्रिटिश काल में नगदी फसलों के उत्पादन और वितरण से है। वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया में फसलों का उत्पादन बाजार को ध्यान में रखकर किया जाता है। इसमें खाद्यान फसलों के बजाए नगदी फसलों के उत्पादन और विनियम पर जोर दिया जाता है। भारत के संदर्भ में वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया में मोटे तौर पर चार बातें शामिल होती हैं-

- (1) नगदी फसलों का उत्पादन
- (2) कृषि अधिशेष में वृद्धि
- (3) ग्रामीण समृद्धि
- (4) कृषकों के स्तर में बढ़ता विभेद

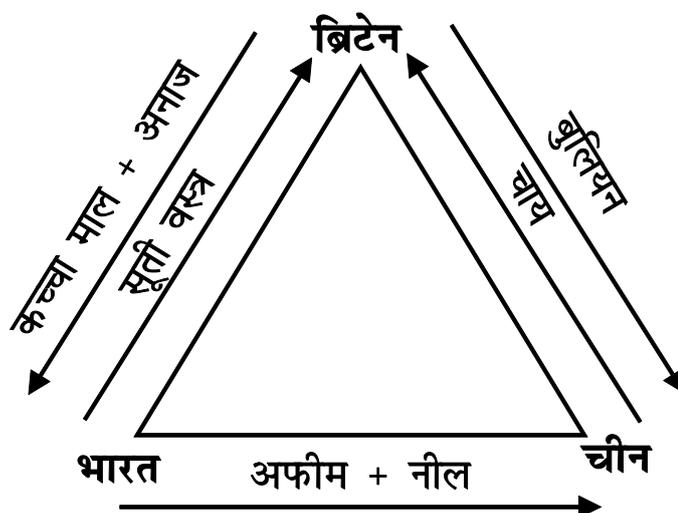
उपनिवेशवाद जो असमान आर्थिक व राजनीतिक संबंधों पर आधारित होता है, का अपना एक जटिल अर्थशास्त्र है और यह वाणिज्यीकरण उसी जटिल अर्थशास्त्र का एक रूप है। भारत में भी वाणिज्यीकरण इसी प्रक्रिया के तहत आया था। यही वजह है कि यह प्रक्रिया स्वतः स्फूर्त न होकर कृत्रिम और थोपी हुई थी। स्वाभाविक रूप से यह वाणिज्यीकरण अपनी स्वाभाविक गति में नहीं आया। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उपनिवेशवाद के अंतर्गत यह प्रक्रिया कोई नई थी लेकिन मध्यकालीन भारत में जो वाणिज्यीकरण हुआ था वह स्वतः स्फूर्त था और भारतीय अर्थव्यवस्था की अपनी शरूतों के अनुसार उपजा था।

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतीय कृषि-उत्पाद विश्व बाजार की मांग से कम प्रभावित होते थे। आमतौर पर यह भारतीय बाजार को ध्यान में रखकर उत्पादित होता था। इसके बावजूद भारतीयों के उत्पादों की विदेशों में काफी मांग थी, दूसरी ओर भारतीय बाजार में विदेशी उत्पादों की मांग अपेक्षाकृत कम थी। इससे व्यापार-संतुलन हमेशा भारत के पक्ष में होता था। ईस्ट-इंडिया कंपनी जो मूलतः एक व्यापारिक कंपनी थी और जिसका मुख्य उद्देश्य अधिकतम मुनाफ़ा कमाना था, ने पूर्वी व्यापार पर एकाधिकार करने का प्रयास किया। इसलिये उसने आरंभ में उन्हीं भारतीय वस्तुओं पर ध्यान केंद्रित किया जिसकी ब्रिटेन सहित यूरोप में काफी मांग थी लेकिन दूसरी ओर भारत में ब्रिटिश वस्तुओं की मांग कम थी जिसके कारण कंपनी को भारतीय उत्पाद खरीदने के लिये बुलियन देना पड़ता था।

जब 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में 1770 के दशक में ब्रिटेन में औद्योगीकरण की प्रक्रिया आरंभ हुई। इस औद्योगीकरण में सबसे अधिक बल सूती वस्त्र उद्योग पर ही दिया गया। अतः ब्रिटेन के उद्योगपतियों और पूंजीपतियों ने ब्रिटिश संसद पर वह दबाव डाला कि वह कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त कर दे ताकि अपने उत्पाद भारतीय बाजार में ला सके। इसी दबाव के मद्देनशर कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। 1813 में व्यापारिक

एकाधिकार समाप्त होने के पश्चात कंपनी ने अपना ध्यान कृषि उत्पादों के निर्यात पर केंद्रित किया। इसके पीछे प्रमुख कारण इस प्रकार थे।

- (1) कृषि उत्पादों की मांग ब्रिटेन में अत्यधिक थी क्योंकि वे औद्योगीकरण में कच्चे माल के रूप में उपयोग में लाये जाते थे।
- (2) कृषि उत्पादों की ब्रिटेन में कोई व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता नहीं थी, जिससे भविष्य में इस पर प्रतिबंध लगाया जा सकता।
- (3) विश्व व्यापी औद्योगीकरण के इस दौर में कृषि उत्पादों की विश्व बाजार में काफी मांग थी।



2.2 उद्देश्य

इस इकाई में वाणिज्यीकरण तथा उसके विभिन्न आयामों से आपको अवगत कराया गया है। कंपनी की रूचि नियंत्रित वाणिज्यीकरण में थी ताकि चीनी बाजार पर नियंत्रण कायम किया जा सके। ब्रिटेन की यह नीति आगे भी जारी रही। जब अमेरिका में गृहयुद्ध (1860 के दशक में) छिड़ा तो भारत में कपास के उत्पादन को प्रोत्साहित किया गया ताकि बाजार की मांग की पूर्ति की जा सके लेकिन ज्यों ही यह गृहयुद्ध समाप्त हुआ प्रोत्साहन की यह नीति वापस ले ली गई और कपास का आयात मेरिका से किया जाने लगा। दूसरे शब्दों में वाणिज्यीकरण विदेशी बाजार की मांग के अनुरूप किया गया न कि भारतीय बाजार की मांग के अनुरूप। दूसरे शब्दों में वाणिज्यीकरण की यह संपूर्ण प्रक्रिया स्वतः स्फूर्त न होकर उपनिवेशवादी प्रक्रिया का एक हिस्सा मात्र थी।

2.3 कृषि के वाणिज्यीकरण का क्षेत्रीय वितरण

कृषि के वाणिज्यीकरण में सबसे पहले पूर्वी क्षेत्र से पहल की गई और इसका सीधा संबंध पूर्वी भारत में स्थापित ब्रिटिश व्यापारिक तंत्र से था। इस काल में इस क्षेत्र में नील, रेशम और सीमित मात्रा में अफीम मुख्य नगदी फसल थी। बाद में चाय और कॉफी प्रमुख नगदी फसलें बन गई। यही वह समय था जब बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा और उसकी काफी बड़ी जनसंख्या इसमें नष्ट हो गयी। इस संबंध में विद्वानों का मानना है कि नगदी फसलों के उत्पादन पर जोर देने के कारण खाद्यान फसलों की कमी हो गयी जिससे बंगाल अकाल की चपेट में आ गया।

यहाँ प्रश्न उठता है कि पूर्वी भारत में होने वाले इस वाणिज्यीकरण के लिये किसने आर्थिक सहायता प्रदान की। इस संबंध में इतिहासकार विनय-भूषण चौधरी का मानना है कि वैसे तो जमींदार वर्ग को परजीवी माना गया है और इस वाणिज्यीकरण का श्रेय छोटे किसानों को दिया गया है लेकिन यह तथ्य आंशिक रूप से ही सत्य है। यह सही है कि छोटे किसानों भूमिका कृषि-क्षेत्र के विस्तार में थी, तथापि वाणिज्यीकरण की वास्तविक प्रेरणा भारतीय जमींदारों और यूरोपीय बागान मालिकों से मिल रही थी, जो स्थायी बंदोबस्त के बाद बड़े भू-आंशिक छूट देकर इस प्रक्रिया को बढ़ावा दिया।

पश्चिम भारत में राजनीतिक एवं जलवायु संबंधी कारकों ने वाणिज्यीकरण के लिये आधार तैयार किया। रैय्यतवाड़ी बंदोबस्त के अंतर्गत रैय्यतों को कानूनी सुरक्षा तो मिली लेकिन अत्यधिक भू-राजस्व के कारण वे नगदी फसलों के उत्पादन के लिये बाध्य हुए। यही वशह है कि 19वीं सदी में गुजरात में तंबाकू का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा। इसी प्रकार चीन में अफीम की मांग को देखते हुए पश्चिम भारत विशेषकर महाराष्ट्र एवं गुजरात के क्षेत्रों में कपास का उत्पादन काफी मात्रा में होने लगा। वस्तुतः काली मिट्टी वाला यह क्षेत्र कपास के उत्पादन के लिये उपयुक्त था। साथ ही समुद्री तट होने के कारण जो नमी इस क्षेत्र में थी उससे धागे टूटते नहीं थे। 1860 के दशक में अमेरिकी गृह युद्ध के कारण भारतीय कपास की विश्व बाजार में मांग अत्यधिक बढ़ गई। इसके कारण पश्चिम भारत में कपास का उत्पादन व्यापक पैमाने पर हुआ।

दक्षिण भारत की स्थिति पूर्वी तथा पश्चिमी भारत से अलग थी। वहाँ की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति अन्य क्षेत्रों से अलग थी। यहाँ बड़े भूमिपतियों का अभाव था और यातायात के साधन उन्नत अवस्था में नहीं थे। इसलिये इस क्षेत्र में कृषि के वाणिज्यीकरण में कोई नवीनता देखने को नहीं मिलती। यहाँ पर कंपनी ने मुख्य रूप से पहले से चले आ रहे मसालों के व्यापार पर अपना ध्यान केंद्रित रखा।

उत्तर-भारत की तस्वीर दक्षिण भारत से अलग थी। गंगा के किनारे व्यापार का अत्यधिक विकास हुआ था जो उस क्षेत्र का सबसे महत्वपूर्ण पहलू था। गंगा के किनारे व्यापारिक मार्गों का विकास हो चुका था। वहीं दूसरी ओर सरकार के प्रयास से कानून और व्यवस्था तथा संचार के साधनों का भी विकास हुआ था। इस अनुकूल परिस्थिति में यूरोपीय और भारतीय उद्यमियों ने भूमि और कृषि में निवेश करना प्रारंभ कर दिया। इस निवेश से संबंधित सबसे बड़ी विडंबना यह रही कि

उन्होंने उत्पादन पद्धति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किया। इससे इस क्षेत्र में वाणिज्यीकरण तो हुआ लेकिन उसका लाभ भारतीय किसानों व उत्पादकों को नहीं मिल पाया। सीमित मात्रा में बंगाल व बिहार के क्षेत्रों में अफीम का उत्पादन आरंभ करवाया गया ताकि चीनी बाजार की मांग की पूर्ति की जा सके। इसी प्रकार पूर्वी बंगाल में जूट के उत्पादन को बढ़ावा दिया गया।

वाणिज्यीकरण की इस संपूर्ण प्रक्रिया में यूरोपीय निवेशकों ने निःसंदेह लाभ के सबसे बड़े हिस्से पर अपना कब्जा जमा लिया तथापि सीमित मात्रा में ही भारतीय किसानों और उत्पादकों को भी इससे लाभ प्राप्त हुआ। इस लाभ से जो आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ उसने सामाजिक विभेदीकरण को बढ़ावा दिया। यद्यपि भारत के अलग-अलग क्षेत्रों में वाणिज्यीकरण का स्वरूप अलग-अलग रहा तथापि इस वाणिज्यीकरण का सामान्य स्वरूप यह था कि यह स्वतः स्फूर्त न होकर औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के दबाव में लाया गया था।

2.4 वाणिज्यीकृत फसलें

ब्रिटिश काल में जिन प्रमुख वाणिज्यिक फसलों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया गया, वे निम्नलिखित हैं।

2.4.1 सिल्क अथवा रेशम

ईस्ट-इंडिया कंपनी ने आरंभ से ही सिल्क के उत्पादन को प्रोत्साहित किया। 1770 ई. के बाद से ही निर्देशक-मंडल का यह मानना था कि ब्रिटेन में उपयोग होने वाली सिल्क भारत से आयात की जानी चाहिये इसलिये ब्रिटेन से सिल्क विशेषज्ञों को भारत में इसके उत्पादन की पद्धति में सुधार लाने के लिये भेजा गया। इस कार्य का सिल्क उत्पादन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। इस क्रम में बिहार में मलबरी सिल्क के उत्पादन में वृद्धि हुयी। लेकिन 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में इसके उत्पादन में कमी आई। इसके बावजूद ब्रिटिश काल में वाणिज्यीकरण से न सिर्फ सिल्क उत्पादकों को मुनाफा हुआ वरन् उन्हें विश्व अर्थव्यवस्था से जुड़ने का मौका भी मिला।

2.4.2 चाय

चीन से होने वाले व्यापार में जब विभिन्न राजनीतिक कारणों से गतिरोध पैदा होतने लगा तो कंपनी ने इसका विकल्प तलाशने का प्रयास किया। ब्रिटेन में चाय की मांग को देखते हुए असम और उत्तरी बंगाल में चाय का उत्पादन को न सिर्फ प्रोत्साहित किया गया वरन् निवेशकों द्वारा इस व्यवसाय में काफी मात्रा में पूंजी निवेश की गई। इसके लिये अनुबंधित मजदूरों की व्यवस्था की गई, जिसकी स्थिति एक प्रकार से दासों के समान थी। 1830 के बाद चाय के उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। 1840 के दशक में इसमें काफी वृद्धि हुयी। 1850 और 60 के दशक में भारतीय उत्पादन उस स्तर पर पहुँच गया जहाँ इसका निर्यात सफलतापूर्वक किया जा सकता था।

चूँकि उस समय भारत में चाय की मांग अपेक्षाकृत कम थी इसलिये अधिकाँश उत्पादनों को विदेशों में निर्यात कर दिया जाता था। चाय के उत्पादन में लगभग सभी पूंजी ब्रिटिश निवेशकों द्वारा लगायी गयी थी, इसलिये लगभग पूरा ही लाभ ब्रिटिश निवेशकों को ही मिला। विदेशों में चाय के निर्यात का यह सिलसिला ब्रिटिश शासनकाल के अंत तक जारी रहा। कृषि के वाणिज्यीकरण में चाय एक मात्र ऐसा उत्पादन है जिसमें भारी मात्रा में ब्रिटिश पूंजी का निवेश किया गया।

2.4.3 अफीम

चाय के विपरीत इसका उत्पादन मजदूरों के द्वारा नहीं बल्कि छोटे किसानों के द्वारा किया गया। यह मुख्य रूप से मालवा के क्षेत्रों और गौण रूप से पूर्वी क्षेत्रों में उगायी जाती थी। चीन के साथ ब्रिटिश व्यापार को संतुलित करने के लिये कंपनी को अफीम की आवश्यकता थी क्योंकि चीन में अफीम की अत्यधिक मांग थी। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कंपनी ने भारत में न सिर्फ अफीम के उत्पादन को प्रोत्साहित किया बल्कि उसके उत्पादन व वितरण को भी निंत्रित करने का प्रयास किया।

वारेन हेस्टिंग्स ने 1773 में अफीम के व्यापार पर सरकारी नियंत्रण लाने का प्रयास किया, क्योंकि वह उसके उत्पादन व वितरण पर नियंत्रण प्राप्त कर अफीम के मूल्य को अंतर्राष्ट्रीय बाजार में गिरने नहीं देना चाहता था और इस ऊँचे मूल्य की बदौलत चीनी व्यापार को संतुलित करना चाहता था। स्वभाविक रूप से इससे व्यापार संतुलन ब्रिटेन पक्ष में हो गया। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि स्वयं ब्रिटेन में अफीम के उत्पादन और वितरण पर प्रतिबंध लगा हुआ था तथापि ब्रिटिशवासी भारत में इसका उत्पादन कर रहे थे और चीन में इसका व्यापार कर रहे थे। इस तरह अफीम का उत्पादन भी भारतीय बाजार के बजाय अंतर्राष्ट्रीय बाजार के अनुरूप विकसित किया गया था।

2.4.4 नील

प्रारंभिक दौर में ब्रिटेन में नील का आपात कैरीबियन देशों से की जाती थी जो ब्रिटिश कपड़ा उद्योग में रंगाई के काम में आता था लेकिन जब कैरिबियाई देशों से आपूर्ति में कमी आई तो इसका विकल्प तलाशा जाने लगा। परिणामतः 1709 के बाद भारत में नील का व्यावसायिक उत्पादन किया जाने लगा। 1825 तक आते-आते नील भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं में एक प्रमुख वस्तु बन गयी। चूँकि नील का उत्पादन एक लंबी प्रक्रिया के तहत होता था इसलिये उसे ब्रिटिश संरक्षकों की आवश्यकता थी, यही कारण है कि नील का उत्पादन तो भारतीय किसानों द्वारा किया जाता रहा लेकिन उसमें निवेश ब्रिटिशवासियों द्वारा किया जाता रहा।

2.4.5 गन्ना

यह भारतीय किसानों की एक परंपरागत फसल थी। 1830 के दशक के बाद नील के उत्पादन में प्रौद्योगिकी का विकास होने लगा था। अतः इस कमी की भरपाई के लिये गन्ने के उत्पादन को प्रोत्साहित किया गया क्योंकि ब्रिटेन में चीनी की काफी मांग थी। कंपनी ने गन्ने के उत्पादन को न केवल प्रोत्साहित किया बल्कि चीनी के निर्यातकों को ब्रिटेन में काफी कम चुंगी देनी पड़ती थी। परिणामस्वरूप उ.प्र. और उ. बिहार में व्यापक पैमाने पर गन्ने की खेती की जाती थी।

2.4.6 कपास

जिस तरह पूर्वी भारत में नील एक प्रमुख वाणिज्यिक फसल थी उसी तरह पश्चिमी भारत में कपास एक प्रमुख वाणिज्यिक फसल थी। ब्रिटेन में कपास की अत्यधिक मांग को देखते हुए भारत में कपास के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाने लगा। काली मिट्टी वाला क्षेत्र, 'जो कपास के उत्पादन के लिये उपयुक्त है', के क्षेत्रों में इसके उत्पादन पर विशेष ध्यान दिया गया। इन क्षेत्रों में कपास के उत्पादन का यह प्रयास 1770 के दशक से ही प्रारंभ हो गया था लेकिन इसमें तेजी 19वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में आई।

2.4.7 जूट

ब्रिटिश शासन के आरंभिक काल में जूट रूस से आयात किया जाता था लेकिन इस प्रक्रिया में बाधा तब पड़ी जब दोनों देशों के बीच क्रीमिया का युद्ध (1853-56) लड़ा गया। परिणामस्वरूप रूसी जूट की जगह भारतीय जूट के आयात के लिये भारत में जूट के उत्पादन को बढ़ावा दिया गया। इसका उत्पादन मुख्य रूप से बंगाल के क्षेत्रों में हुआ। दूसरे फसलों की तरह इसमें कंपनी को भारतीय किसानों पर कोई विशेष दबाव नहीं डालना पड़ा क्योंकि बंगाल के किसानों ने स्वयं ही इसके उत्पादन को अपना लिया। इसकी मुख्य वजह यह थी कि ये किसान जूट के विश्व-बाजार से जुड़कर मुनाफा कमाना चाहते थे। इस समय बंगाल में जूट का उत्पादन चावल से भी अधिक होता था।

2.5 कृषि के वाणिज्यिकरण की सीमाएँ

भारत में औपनिवेशिक काल में जो वाणिज्यिकरण हुआ उसकी कुछ अपनी सीमाएँ थी जो निम्नलिखित हैं-

- (1) भारतीय कृषि का वाणिज्यिकरण स्वतः स्फूर्त न होकर औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के दबाव में लाया गया था।
- (2) वाणिज्यिकरण की प्रक्रिया में निवेश मुख्यतः ब्रिटिशों द्वारा किया गया था इसलिये अधिकांश मुनाफे पर भी इन्हीं निवेशकों का नियंत्रण हो गया।

- (3) वाणिज्यीकरण की प्रेरणा चूंकि ब्रिटिश अर्थव्यवस्था से मिल रही थी इसलिये वाणिज्यीकरण की दशा और दिशा ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की ओर रही।
- (4) वाणिज्यीकरण में नगदी फसलों पर तो जोर दिया गया, लेकिन खाद्यान फसलों को इससे बाहर रखा गया। भारत में बार-बार पड़ने वाले अकालों का संभवतः यही प्रमुख कारण था।
- (5) वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया के कारण मोटे अनाजों का उत्पादन बाधित हुआ क्योंकि आर्थिक दृष्टि से ये लाभदायक नहीं थे। लेकिन दूसरी ओर आम भारतीय या गरीब भारतीय का मुख्य भोजन था। इससे इनका जीवन प्रभावित हुआ।
- (6) भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था विश्व अर्थव्यवस्था से तो जुड़ गयी लेकिन इससे संबंधित अधिसंरचना का विकास नहीं हो सका। इस अधिसंरचना पर ब्रिटिश निवेशकों का ही दबदबा रहा।
- (7) बैंकिंग कंपनियाँ, बीमा कंपनी, आयात-निर्यात एवं जहाजरानी उद्योग पर ब्रिटिश निवेशकों का नियंत्रण था जिससे मुनाफे का एक बहुत बड़ा हिस्सा इनके पास चला गया।
- (8) भारत में वाणिज्यीकरण तो हुआ लेकिन इसी के साथ भूमि बाजार और मजदूर-बाजार का विकास नहीं हो सका।
- (9) वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया में भारतीय किसानों का व्यापक पैमाने पर शोषण किया जाने लगा। इस शोषण ने ग्रामिण गरीबी और ग्रामीण गरीबी में ग्रामीण दृणग्रस्तता को जन्म दिया। यह ग्रामीण दृणग्रस्तता भारतीय समाज की एक प्रमुख समस्या बनकर उभरी। प्रेमचंद ने अपने उपन्यास 'गोदान' में इसका जीवंत चित्रण प्रस्तुत किया है।
- (10) आमतौर पर वाणिज्यीकरण औद्योगिक विकास का आधार बनता है लेकिन भारतीय वाणिज्यीकरण भारतीय उद्योगों के लिये वह आधार तैयार नहीं कर पाया, जिसकी इससे अपेक्षा थी।
- (11) वाणिज्यीकरण की प्रक्रिया से उत्पादन एवं निर्यात तो बढ़ा लेकिन उत्पादन पद्धति एवं उत्पादन संगठन में बदलाव नहीं आया। इसकी मुख्य वजह यह थी कि यह वाणिज्यीकरण भारतीय अर्थव्यवस्था के बजाय ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की जरूरतों के अनुरूप उपजा था।

2.6 कृषि के वाणिज्यीकरण का प्रभाव/परिणाम

कृषि के वाणिज्यीकरण का भारतीय अर्थव्यवस्था पर काफी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव चाहे सकारात्मक हो या नकारात्मक, लेकिन इसके प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता। कुछ प्रभावितनिम्न हैं-

- (1) भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था में पहली बार पूंजीवादी तथ्यों का प्रवेश हुआ।
- (2) भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में पहली बार पूंजी ने सक्रिय भूमिका निभाई।
- (3) इससे उत्पादन-अधिशेष की संभावना बढ़ी।
- (4) पहली बार भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था विश्व-अर्थव्यवस्था से जुड़ी अर्थात् उत्पादन विश्व बाजार की मांग को ध्यान में रखते हुए किया गया।
- (5) वाणिज्यीकरण के फलस्वरूप कुछ क्षेत्रों और लोगों में समृद्धि आई जिससे आर्थिक विभेदीकरण पैदा हुआ।
- (6) यह आर्थिक विभेदीकरण सामाजिक विभेदीकरण का कारण बना। वर्ण और जाति पर आधारित इस भारतीय समाज में अब वर्ग के आधार पर भी विभेदीकरण हुआ।
- (7) स्वनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था अखिल भारतीय अर्थव्यवस्था में तब्दील हो गयी।
- (8) मुद्रा अर्थव्यवस्था का विकास हुआ।

2.7 भारतीय वाणिज्यीकरण की फ्रांसिसी वाणिज्यीकरण से तुलना

भारतीय वाणिज्यीकरण की तुलना फ्रांस में हुए वाणिज्यीकरण से की जा सकती है। यद्यपि दोनों ही देशों में इसकी परिस्थितियाँ अलग-अलग थी, तथापि कुछ समानता के तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। यदि फ्रांसिसी वाणिज्यीकरण की बात हम करें तो पाते हैं कि फ्रांसिसी (1789) क्रांति के पश्चात् प्रफांस छोटे-छोटे किसानों का देश बन गया था। इससे जहाँ फ्रांस में सामाजिक समानता आई, वहीं दूसरी ओर बड़े फार्म हाउस या भूखंडों के अभाव के कारण वहाँ ब्रिटेन की तरह बड़ी मात्रा में पूंजी का निवेश संभव नहीं हो सका। इसके कारण प्रफांस के वाणिज्यीकरण का वह स्तर नहीं आ पाया जो ब्रिटेन में वाणिज्यीकरण के पश्चात् आया था। यही वजह है कि औद्योगिक क्रांति की दौड़ में प्रफांस, ब्रिटेन से पिछड़ गया।

वाणिज्यीकरण की इस सीमा के बावजूद इस प्रक्रिया से होने वाले लाभ वहाँ के किसानों को वास्तविक रूप में मिले, लेकिन यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यह लाभ सिर्फ बड़े किसानों को ही मिला क्योंकि वे ही पूंजी-निवेश करने में सक्षम थे। इन सबों का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि प्रफांस में इससे न केवल उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन आया वरन् उत्पादन संगठन में भी परिवर्तन आया। भारतीय वाणिज्यीकरण में भी प्रफांस की तरह प्रभावशाली लोगों और बड़े

किसानों को ही इस प्रक्रिया से आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ लेकिन भारत में प्रफांस के विपरीत अधिकशेष पर विदेशी निवेशकों का नियंत्रण हो गया, जिससे न तो उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन आया और न ही उत्पादन संगठन में परिवर्तन आया। शायद ही ऐसा कभी हुआ कि ब्रिटेन की बेहतर तकनीक का प्रयोग भारतीय कृषि के विकास में किया गया हो।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर हम देखते हैं कि औपनिवेशिक काल में भारत में कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ। यह वाणिज्यीकरण स्वतः स्फूर्त न होकर औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के दबाव में लाया गया था। इसमें अधिकांश पूंजी ब्रिटिश निवेशकों ने निवेश की थी इसलिये लाभ का बड़ा हिस्सा उन्हें प्राप्त हुआ। सहयोगी संगठनों पर भी अंग्रेजों के नियंत्रण के कारण लाभ का एक ओर हिस्सा ब्रिटेन चला गया। भारतीय उत्पादकों को इससे नाममात्र का लाभ हुआ। खाद्यान्न फसलों की अवहेलना के कारण में बार-बार अकाल पड़ा। भारतीय किसानों की क्रय शक्ति बढ़ने की बजाय घटी। यहाँ तक कि इससे भारतीय उद्योगों को वह आधार नहीं मिल पाया जो ब्रिटिश उद्योगों को मिला था। इन सीमाओं के बावजूद स्वनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था, अखिलभारतीय अर्थव्यवस्था में तब्दील हो गई और भारतीय अर्थव्यवस्था, विश्व अर्थव्यवस्था से जुड़ गयी।

2.8 ऋणग्रस्तता

ब्रिटिश शासन तथा उसकी नीतियों का जो आर्थिक प्रभाव सामने आया उसमें ऋणग्रस्तता एवं महत्वपूर्ण ठहराव बिंदु है। यह ऋणग्रस्तता पूर्णतः आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था की बुनियादी बनावट में नकारात्मक परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न हुयी। अंग्रेजी शासन के पूर्व भारतीय ग्रामीण समाज स्वालंबी ग्राम अर्थव्यवस्था को धारण किए हुए था। परंतु, ब्रिटिश नीतियों की औपनिवेशिक महत्वाकांक्षा ने इसके स्वरूप में आमूल-जूल परिवर्तन कर दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी भारतीय कृषि का व्यावसायीकरण कर दिया तथा दूसरी तरफ लगान की राशि इतनी ज्यादा रखी गयी जिसे अदा कर पाने में भारतीय किसान असफल रहा। कृषि के स्वरूप में परिवर्तन के साथ-साथ परंपरागत उद्योगों का भी हास हो रहा था क्योंकि ये दोनों एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुये थे। ग्रामीण दस्तकारी उद्योगों की बर्बादी रेलवे के बनते ही काफी तेज हो गयी क्योंकि रेलवे के विकास ने ब्रिटिश औद्योगिक माल की सूदूर गांवों तक पहुंच को आसान कर दिया। इसके पूर्व 1813 में लायी गयी एकतरफा मुक्त व्यापार की नीति भारत पर लाद दी गई थी और ब्रिटिश विनिर्मित वस्तुओं, विशेषकर सूती वस्तुओं की तुरंत बड़ी भरमार हो गयी। आदिम तकनीकों से बनी भारतीय वस्तुएं भाप से चलने वाली शक्तिशाली मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर बनाई गई वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता में नहीं टिक सकी। इस सबों का मिलाजुला परिणाम यह हुआ की भारतीय किसान व ग्रामीण दस्तकारी व शिल्पकारी उद्योग पूरी तरह कमशोर होते गये और ग्रामीण गरीबी का विकराल स्वरूप सामने आया जिसने ग्रामीण ऋणग्रस्तता को जन्म दिया। भारत के स्वालंबी गांवों की स्थिति पर अमेरिकी लेखक डी.एच. बुकानन ने लिखा है-

“अलग-थलग रहने वाले स्वालंबी गांव के कवच को इस्पात की रेल ने बेध दिया, तथा उसकी प्राण शक्ति को क्षीण कर दिया।”

ग्रामीण उद्योगों के हास और विऔद्योगीकरण की प्रक्रिया ने कृषि पर लोगों की निर्भरता को बढ़ाया किंतु कृषि क्षेत्र अंग्रेजों की भू-राजस्व नीतियों एवं निवेश के अभाव के कारण इस बढ़े हुये दबाव को सह पाने में असमर्थ रहा और ग्रामीण गरीबी का तथा ग्रामीण ऋणग्रस्तता का यह दुस्चक्र गहराता ही गया।

2.8.1 ग्रामीण ऋणग्रस्तता के उत्तरदायी कारण

1. लगान की राशि अत्यधिक होने के कारण किसान उसे दे पाने में असमर्थ थे। अतः वे महाजनों से कर्ष लेने के लिये विवश थे और एक बार महाजनों के चंगुल में फंसने के बाद निकलना मुश्किल हो गया।
2. कृषि के व्यावसायीकरण ने महाजनी प्रथा को प्रोत्साहित किया क्योंकि महाजन, व्यापारी भी थे अतः ये नगदी फसलों पर नियंत्रण कायम करना चाहते थे।
3. निवेश के अभाव से कृषि सुविधाओं का विकास न हो सका जिसके कारण प्राकृतिक आपदाओं को सहन करने की क्षमता भी भारतीय कृषि में न थी। इसके अलावा भूमि का विखंडन भी उत्पादन को हतोत्साहित करता था।
4. भूमि में वैयक्तिक स्वामित्व और बिक्री के अधिकार स्थापित करने की वशह से महाजनों के लिये किसानों से धन की वसूली करना आसान हो गया था वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश दीवानी विधियों के द्वारा महाजनों को सुरक्षा प्रदान की गयी और इससे सूदखोरी को प्रोत्साहन मिला।
5. भारतीय किसानों में फिजूलखर्ची की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है जो उनके सामाजिक व धार्मिक समारोहों में देखी जा सकती थी इसके अलावा मुकदमों की भी भरमार रहती थी। जिससे उन्हें कर्ष लेना पड़ता था और आर्थिक स्थिति बदहाल हो जाती थी।

2.8.2 ग्रामीण ऋणग्रस्तता का प्रभाव

ग्रामीण ऋणग्रस्तता ने कृषि निवेश को हतोत्साहित किया जिससे उत्पादन पर नकारात्मक असर पड़ा। दूसरी तरफ ऋणग्रस्तता की वशह से कृषक व महाजनों का संबंध तनावपूर्ण बना यही वशह है कि 1857 की क्रांति के समय कंपनी के अधिकारियों के अतिरिक्त महाजन भी विद्रोहियों के आक्रोश के शिकार हुये थे। ग्रामीण ऋणग्रस्तता के परिणामस्वरूप कृषि श्रमिकों को संख्या में काफी वृद्धि हुयी क्योंकि छोटे कृषक अपनी जमीनें बेचने लगे और मजदूरों की शमात में शामिल हो गए। इस प्रकार किसान वर्ग को सरकार, जमींदार और महाजन के तिहरे बोझ से कुचल दिया गया। इन तीनों द्वारा अपने हिस्से ले लेने के बाद इतना नहीं बचता था कि खेतिहर तथा उसके

परिवार का निर्वाह हो सके। परिणामस्वरूप किसान वर्ग की गरीबी बढ़ती गई साथ ही अकालों की बारंबरता तथा भयंकरता भी बढ़ गयी। जब भी सूखे या बाढ़ के कारण फसले खराब हो गईं तथा अभाव की स्थिति आयी तब लाखों की संख्या में लोग मरे।

2.9 अकाल

‘अकाल’ से तात्पर्य खाने पीने की वस्तुओं का अत्यधिक अभाव। भारत में अकाल का अतिहास काफी पुराना रहा है किंतु इस अकाल के उत्तरदायी कारण अलग-अलग रहे हैं। साधारतः अकाल को एक प्राकृतिक आपदा मानते हुये पानी या वर्षा की कमी को इसके लिये प्रमुख रूप से उत्तरदायी माना जाता है। किंतु जब हम ब्रिटिशकालीन अकाल की बारंबारता पर दृष्टि डालते हैं तो यह प्राकृतिक आपदा कम औपनिवेशिक नीतियों का ज्यादा सटीक परिणाम लगता है। यह ब्रिटिश सुशासन के दावे की पोल खोल देता है।

भारत में जनता के दरिद्रता की पराकाष्ठा अकालों की एक शृंखला में हुई, जिन्होंने 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत के सभी हिस्सों में अपनी विनाशलीला दिखाई। भारत में 1765 से 1865 तक 12 अकाल पड़े और चार बार खाद्यान्न का भीषण अभाव हो गया।

2.9.1 भारत में पड़ने वाले अकालों के उत्तरदायी कारण

- (1) कृषि के व्यवसायीकरण की प्रक्रिया ने अकाल की बारंबरता को बढ़ा दिया क्योंकि वाणिज्यिक फसलों को दी जाने वाली प्राथमिकता ने खाद्यान्न तथा मोटे अनाज की उपलब्धता को कम कर दिया। व्यवसायीकरण की प्रक्रिया में भारतीय कृषि ब्रिटिश उद्योगों को कच्चा माल उपलब्ध कराने का साधन मात्र रह गयी।
- (2) अकाल की स्थिति में भी भारत से अंग्रेजों द्वारा अनाज का निर्यात किया जाता था क्योंकि अनाजों के निर्यात के बिना गृह व्यय की रकम चुकाना संभव नहीं था। इसके अलावा भारत से ब्रिटेन भी अनाज का निर्यात किया जाता था जिससे वहां के औद्योगिक श्रमिकों को सस्ते खाद्यान्न की उपलब्धता हो सके।
- (3) उत्पादन में उतनी कमी नहीं हुई थी लेकिन अधिसंख्य जनता के पास रोजगार के अभाव था। अतः अनाज खरीदने के लिये उनके पास क्रय शक्ति नहीं थी।
- (4) रेलवे ने अकाल की स्थिति को और भी तीव्र कर दिया उसने गैर खाद्यान्न फसलों को एक बड़ा बाजार देकर उसके महत्व को बढ़ा दिया जिससे खाद्यान्न उत्पादन को धक्का लगा। 1875 तथा 1895 के बीच कुल फसल क्षेत्र गैर खाद्यान्न फसल का विस्तार 13.42 प्रतिशत से बढ़कर 15 प्रतिशत हो गयी। इसके अलावा रेलवे ने मुख्य भूमि को बंदरगाहों से जोड़कर अनाजों के निर्यात को प्रोत्साहन दिया।

2.9.2 अकाल का प्रभाव

- (1) अकाल की बारंबरता ने करोड़ों की संख्या में जनसमुदाय को नष्ट कर दिया। 1769-70 में बंगाल का अकाल, जिसके कारण बंगाल की एक तिहाई जनसंख्या नष्ट हो गयी। 1781 तथा 1782 में मद्रास में अकाल की स्थिति देखी गयी, फिर 1984 के भीषण अकाल ने संपूर्ण उत्तरी भारत को प्रभावित किया। 1833 में गुंटूर क्षेत्र के अकाल में 5 लाख में से 2 लाख लोग मर गये। 1860-61 में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अकाल में 2 लाख लोग मारे गये। 1865-66 में अकाल ने उड़ीसा, बंगाल, बिहार व मद्रास को अपने शिकंजे में ले लिया और 20 लाख लोगों की जानें ले ली। उस समय तक का शायद सबसे भयंकर अकाल 1876-78 में मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, महाराष्ट्र, पश्चिमी उ.प्र. तथा पंजाब में पड़ा। महाराष्ट्र में 8 लाख लोग मरे, मद्रास में लगभग 35 लाख की जानें गईं, मैसूर को अपनी 20 लाख जनसंख्या से हाथ धोना पड़ा तथा उ.प्र. में 12 लाख से अधिक लोग मारे गये। 1896-97 में सूखे के कारण देशव्यापी अकाल पड़ा साढ़े नौ करोड़ से अधिक लोग प्रभावित हुए तथा 45 लाख लोग मारे गये। इसके तुरंत बाद 1899-1900 के अकाल में व्यापक तबाही हुयी। एक ब्रिटिश लेखक विलियम डिग्बी ने अकाल में मरने वाले लोगों का हिसाब लगाया। उनके अनुसार 1854 से 1901 तक कुल मिलाकर 2,88,25,000 से अधिक लोग मारे गए। एक और अकाल 1943 में बंगाल में पड़ा जिसमें 30 लाख लोग मर गए। ये अकाल और उनमें मरने वालों की भारी संख्या इस बात का संकेत देती है कि गरीबी और भुखमरी की जड़े भारत में कितनी हो गई थी।
- (2) लगातार पड़ने वाले अकालों ने ग्रामीण जनसंख्या को मुख्यतः दो प्रकार से प्रभावित किया-खाने के अभाव तथा चारे के अभाव द्वारा। चारे का अभाव कृषकों के लिये अत्यधिक नुकसानदायक था क्योंकि ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा निवेश पशुओं पर ही आधारित था। फिर ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में ऊँची लगान दरों ने अधिकांश किसानों को दोहरा झटका दिया। ऐसे समय में किसान से बड़ी संख्या में भूमि का हस्तांतरण महाजनों की ओर हुआ तथा ज्यादातर किसान भूमिहीन मजदूर में तब्दील हो गये।
- (3) ये भूमिहीन मजदूर रोजगार की तलाश में सक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में पलायन करने लगे जिससे ग्रामीण सामाजिक संरचना पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसने सामाजिक तनावों तथा राजनीतिक असंतोष को जन्म दिया। जिसकी अभिव्यक्ति कृषक विद्रोहों के रूप में हुयी। जैसे 1875 में दक्कन खेतिहर दंगे, 1894 में असम खेतिहर दंगे आदि।
- (4) अकाल के इसी दौर में भूख से पीड़ित तथा रोजगार की खोज में असंख्य भारतीय दूसरे देशों जैसे अफ्रीका तथा कैरिबियाई देशों में अनुबंधित श्रमिक बनने को बाध्य हुए।

2.9.3 अंग्रेजों की अकाल नीति

कंपनी के शासन के समय अंग्रेजों को कोई अकाल नीति नहीं थी इस समय कंपनी को अकाल के प्रति संवेदनशीलता बहुत ही निराशापूर्ण रही। 1769-70 के अधिकारियों ने कम भाव पर चावल को खरीदकर ऊंचे भाव में उसे बेचकर मुनाफा कमाया। यद्यपि 1792 के मद्रास दुर्भिक्ष तथा 1803 के उ.प्र. के अकाल में सरकार द्वारा कर में छूट तथा टृण देने की व्यवस्था की गई परंतु यह नाकाफी थी। प्रारंभिक दौर में धर्मार्थ संस्थाओं ने ही अकाल राहत का कार्य किया।

भारत का शासन ब्रिटिश क्राउन के हाथ में जाने के बाद सरकार की प्रशासनिक नीति में थोड़ा परिवर्तन देखा जा सकता है जिसमें सरकार ने सिंचाई सुविधाओं के विस्तार, कृषि संबंधी कानून बनाना तथा एक निश्चित अकाल नीति के लिये अपने दायित्व का स्वीकार किया। गवर्नर जनरल लारेन्स के समय 1866 में गठित कैम्पवेल अकाल आयोग ने सर्वप्रथम सिप्रफारिश की कि सरकार सिंचाई तथा कृषि विकास के लिये व्यापक टृण व्यवस्था करे तथा प्रत्येक संभावित मृत्यु को रोकने की जिम्मेदारी स्थानीय प्रशासन की होनी चाहिये। ब्रिटिश शासनकाल के दौरान अकाल पर गठित सबसे महत्वपूर्ण आयोग स्टेथी आयोग था। जिसका गठन 1880 में लार्ड लिटन के समय किया गया। इसी आयोग की रिपोर्ट के आधार पर 1883 में अकाल संहिता लायी गयी। इस आयोग का गठन 1876-78 के उस भीषण अकाल के पश्चात किया जिसमें मद्रास, बंबई, उ.प्र. तथा पंजाब में अत्यधिक जनसंख्या नष्ट हो गयी। आयोग ने सुझाव दिया कि भूख से प्रभावित होने से पूर्व ही लोगों को समुचित रोजगार प्राप्त हो तथा न्यूनतम मजदूरी इतनी हो जिससे के खाने की वस्तु प्राप्त कर सकें। आयोग ने यह भी कहा कि जिन निर्धनों का कोई सहारा नहीं उनको भोजन देना सरकार का कर्तव्य होना चाहिये, अन्न भण्डारण पर सरकार को ध्यान देना चाहिये, अनाजों की उपलब्धता पर्याप्त सुनिश्चित हो जाने के बाद ही अनाज का निर्यात किया जाना चाहिये। आयोग ने भूमि कर तथा लगान में छूट की सिप्रफारिश करते हुए कहा कि अकाल सहायता पर व्यय को प्रांतीय सरकार के खाते से पूरा किया जाना चाहिये अपेक्षित होने पर केन्द्रीय सहायता भी ली जा सकेगी। इस आयोग की सिफारिश में दूधारू पशुओं को हरे-भरे क्षेत्रों में स्थानांतरित करने का भी सुझाव दिया गया था। इसी आयोग की सिफारिश पर अकाल संहिता का निर्माण किया गया जिसके आधार पर 1883 तथा 1896 में अकाल राहत उपाय चलाए गये जो कारगर साबित हुए।

1886 में डफरिन के समय कॉकटेल आयोग तथा 1896 में एल्गिन द्वितीय के समय पंजाब के गवर्नर जेम्स लॉयल की अध्यक्षता में लॉयल आयोग का गठन किया गया। लॉयल आयोग ने स्टेथी आयोग की सिफारिशों पर ही सहमति व्यक्त की तथा कुछेक परिवर्तन किए जिसे राहत कार्यों को और भी सरल व सुचारू बनाया जा सके। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रिटिश अकाल नीति एक ठोस स्वरूप को धारण कर चुकी थी। सन् 1900 में लार्ड कर्ग के समय मैकडॉनल अकाल आयोग का गठन दिया गया था। इस आयोग ने अकाल राहत को सरकार का नैतिक कर्तव्य बताया तथा सरकारी सहायता के तहत पशु तथा बीजों के लिये शीघ्रता से धन बाँटने

तथा अस्थाई हुँए रगेदने की व्यवस्था पर बल दिया। प्रभावित क्षेत्रों में अकाल आयुक्त की नियुक्ति का सुझाव दिया। आयोग ने एक महत्वपूर्ण सुझाव देते हुए कहा कि बारंबार पड़ने वाले अकालों को रोकने के लिये अच्छी परिवहन सुविधाओं, कृषक बैंको, सिंचाई व्यवस्था तथा उत्तम साधनों की उपलब्धता सुनिश्चित करने पर बल दिया जाए।

1943 में बंगाल का भीषण अकाल पड़ा जिसमें 30 लाख लोग मारे गये। इस अकाल का मूल कारण 1938 के पश्चात लगातार फसल खराब होना था। द्वितीय विश्व युद्ध की व्यस्तता के कारण कसरकार के राहत कार्य भी देर से प्रारंभ हुये। वेवेल ने इस अकाल पर 1943 में कडहेड आयोग का गठन किया।

2.9.4 ब्रिटिश अकाल नीति का मूल्यांकन

ब्रिटिश शासनकाल के दौरान जो अकाल नीति बनायी गयी उसमसे व्यवहारिकता का घोर अभाव था। उदाहरण के लिये अकाल संहिता में यह प्रावधान था कि यदि 3/4 फसल नष्ट हो जाये तो भू-राजस्व में माफी कर दी जाएगी, परंतु व्यवहारतः इसका क्रियान्वयन कठिन था तथा इस मांग को पूरा करवाने के लिये किसानों को एक बड़ा संघर्ष करना पड़ता था। जैसे सन् 1896-97 में दक्कन के मामले में पूना सार्वजनिक सभा ने हस्तक्षेप किया और फिर सन् 1918 में खेड़ा के मामले में गांधी जी द्वारा हस्तक्षेप किया गया। उपर्युक्त के अलावा सरकार ने किसानों की सुरक्षा के लिये कुछ अधिनियम बनाये जैसे 1881 पश्चिमोत्तर प्रांत लगान अधिनियम, 1883 मध्य प्रांत काशतकारी विधेयक, 1885 का बंगाल व पंजाब काशतकारी कानून इन सुधार अधिनियमों का वास्तविक उद्देश्य किसानों का कल्याण करना कम, बल्कि राजनीतिक असंतोष की धार को कम करना अधिक था। साथ ही उनका उद्देश्य किसानों में यह भ्रम फैलाना था कि सरकार उनकी भलाई के लिये काम कर रही है। ब्रिटिश काल में अकालों का जो अनवरत सिलसिला नहीं रूका उसका मूल कारण यह था कि इन्होंने जो अकाल नीति बनायी उसमें अकाल के मूल कारणों को दूर करने के उपायों पर बल नहीं दिया गया था बल्कि राहत उपायों पर बल दिया गया था। यही कारण है कि भारत को आजादी मिलने तक अकाल की महामारी से जूझना पड़ा।

2.10 मूल्यांकन

इस संपूर्ण इकाई में ब्रिटिश शासन के आर्थिक प्रभावों को तथा उनकी औपनिवेशिक महत्वाकांक्षा से परिपूर्ण नीतियों के फलस्वरूप उत्पन्न समस्याओं के दुष्चक्र को बताया गया है। अंग्रेजों ने अपने उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति बनाये रखने के लिये भारत में कृषि का वाणिज्यीकरण किया इस वाणिज्यकरण की प्रक्रिया में भारतीय परंपरागत उद्योग नष्ट हुये भारतीय दस्तकार व शिल्पकार टूणग्रस्त हुये तथा अंग्रेजों का मुनाफा निरंतर बढ़ता गया। चूंकि यह वाणिज्यीकरण स्वतः स्फूर्त न होकर औपनिवेशिक दबाव में लाया गया था जिससे भारतीय कृषक समुदाय इसके लाभ से पूर्णतः वंचित रहा। इस प्रक्रिया में भू-राजस्व की ऊँची दरों ने

भारतीय कृषकों को भूमिहीन मजदूरों में तब्दील कर दिया तथा वे ऋणग्रस्तता के दुष्चक्र से निकलने में असमर्थ हो गये। इसके अतिरिक्त वाणिज्यीकरण ने खाद्यान्न फसलों के उत्पादन को हतोत्साहित किया तो ऊँची जगान दरों ने नगदी फसलों के उत्पादन को बजबूर किया जिससे प्रथम के कारण अकाल की बारंबारता बढ़ी तो द्वितीय के कारण ऋणग्रस्तता। इस प्रकार भारतीय ग्रामीण समुदाय अकाल व ऋणग्रस्तता के बीच पिसता चला गया। जो खाद्यान्न भारतीय किसानों के द्वारा पैदा भी किया जाता था उसका बड़ा हिस्सा ब्रिटेन के औद्योगिक श्रमिकों को सस्ता खाद्यान्न उपलब्ध कराने के लिये ब्रिटेन चला जाता था। इस प्रकार कच्चे माल के साथ-साथ खाद्यान्न की आपूर्ति भी भारत से ही होती थी बदले में भारत दरिद्रता व अकाल को सह रहा था। संपूर्ण इकाई में ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप आये वाणिज्यीकरण, ऋणग्रस्तता व अकाल के अंतर्संबंधों को प्रकाशित किया गया है।

2.11 स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्नलिखित पर प्रकाश डालें-

1. कृषि का वाणिज्यीकरण और उसका उद्देश्य
2. वाणिज्यीकृत फसलें
3. वाणिज्यीकरण की सीमाएं
4. वाणिज्यीकरण का प्रभाव
5. फ्रांसीसी वाणिज्यीकरण से तुलना
6. ऋणग्रस्तता
7. ऋणग्रस्तता का प्रभाव
8. अकाल
9. अकाल का प्रभाव
10. ब्रिटिश अकाल नीति

2.12 सारांश

कृषि के वाणिज्यीकरण का तात्पर्य ब्रिटिश शासन काल में नगदी फसलों के उत्पादन तथा वितरण से है। इस काल में फसलों का उत्पादन बाजार को ध्यान में रखकर किया जाता था तथा खाद्यान्न फसलों के बजाय नगदी फसलों के उत्पादन और विनिमय पर बल दिया गया। विश्व बाजार में नगदी फसलों की अत्यधिक मांग थी तथा साथ ही इसकी ब्रिटिश उत्पादों से कोई

सीधी प्रतिद्वंद्विता भी नहीं थी। कंपनी ने जिन फसलों के वाणिज्यीकरण पर अपना ध्यान केंद्रित किया उसमें अफिम, नील, रेशम, कपास, चाय, कॉफी, जूट और गन्ना प्रमुख थे।

वाणिज्यीकरण के कारण पहली बार भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था विश्व अर्थव्यवस्था से जुड़ी तथा इसमें पूंजीवादी तत्वों का प्रवेश हुआ। इससे स्वनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था अखिल भारतीय अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो गई। लेकिन दूसरी ओर इससे सामाजिक और आर्थिक विभेदीकरण बढ़ा तथा खादान फसलों का उत्पादन प्रभावित हुआ, जो संभवतः भारत में बार-बार पड़ने वाले अकालों का सर्वप्रमुख कारण था।

ब्रिटिश भू-राजस्व बंदोबस्त के कारण ग्रामीण समाज में ऋणग्रस्तता एक महत्वपूर्ण समस्या के रूप में उभरी। जमींदारों, महाजनो और सूदरवारों ने नवीन व्यवस्था का लाभ उठाकर भारतीय किसानों के शोषण में अंग्रेजों का पूरा साथ दिया। इस ऋणग्रस्तता ने भारतीयों को अनततः गरीबी की दुःश्रक्र में फंसा दिया।

ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के कारण भारत में बार-बार अकाल पड़े। भू-राजस्व व्यवस्था कृषि का वाणिज्यीकरण, विऔद्योगिकरण और धन का निष्कासन इसके लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी था। इस अकाल के कारण जहाँ लाखों लोग मरे वहीं दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया में अनेक कृषक विद्रोह एवं बलवे हुए। अंग्रेजों ने अपनी अकाल नीति के तहत अनेक आयोगों का गठन किया और उसके सुझावों को क्रियान्वित करने का प्रयास किया। लेकिन यह प्रयास ना काफी था क्योंकि समस्या व्यवस्था की जड़ में थी दूसरे शब्दों में वाणिज्यीकरण, ऋणग्रस्तता एवं अकाल में संबंध अंतर्निहित थे।

2.13 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

देखिये

1. 2.1 और 2.2
2. 2.4
3. 2.5
4. 2.6
5. 2.7
6. 2.8
7. 2.8.2
8. 2.9
9. 2.9.2
10. 2.9.3

2.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश शासनकाल में कृषि के वाणिज्यीकरण का आलोचनात्मक परीक्षण करें?
 2. ब्रिटिश औपनिवेशिक भारत में ऋणग्रस्तता के कारण एवं प्रभाव का मूल्यांकन करें?
 3. ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजों की अकाल नीति की समीक्षा करें?
-

2.15 संदर्भ ग्रंथ

* David Washbrook, 'The Commercialization of Agriculture in Colonial India : Production, subsistence and Reproduction in the 'Dry South', c. 1870-1930

Modern Assia Studies Vol. 28, No.1 Feb, 1994, Published by Cambridge University Press.

ग्रामीण समाज परिवर्तन और निरंतरता

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 18वीं सदी का भारत
- 3.4 परिवर्तन व निरंतरता
 - 3.4.1 राजनीति में परिवर्तन व निरंतरता
 - 3.4.2 अर्थव्यवस्था में परिवर्तन व निरंतरता
 - 3.4.3 समाज व संस्कृति में परिवर्तन व निरंतरता
- 3.5 ग्रामीण समाज के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन व निरंतरता का मूल्यांकन
- 3.6 स्वमूल्यांकित प्रश्न
- 3.7 सारांश
- 3.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 3.9 निबंधात्मक प्रश्न
- 3.10 संदर्भ ग्रंथ

3.1 प्रस्तावना

चिंतन की नई लहरों का पुराने दृष्टिकोणों से हमेशा टकराव होता रहा है। जहां तक भारतवर्ष की बात है तो यहां यह प्रक्रिया और भी ज्यादा रही है क्योंकि यह प्राचीन काल से ही विदेशी आक्रांताओं के आकर्षण का केन्द्र रहा है। यहां हम अंग्रेजों के आगमन के बाद भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तन तथा विद्यमान निरंतरता की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करेंगे। किंतु इस विश्लेषण से पूर्व एक बात स्पष्ट करनी होगी कि ये परिवर्तन और निरंतरता किन-किन क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है। इन सभी बातों को समझने के लिये मुगलकालीन समाज, उस समय की राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक अवस्था तथा सामाजिक व सांस्कृतिक स्थिति पर भी सिंहावलोकन करना होगा।

किसी भी समाज में परिवर्तन व निरंतरता के तत्वों को गहराई से समझने के लिये उस समाज के संक्रमणकालीन दौर को समझना अत्यंत आवश्यक होता है। आधुनिक भारत के संदर्भ में यह संक्रमणकालीन दौर मुख्य रूप से 18वीं शताब्दी तथा 19वीं शताब्दी के मध्य तक रहा। यह वह समय था जब मुगल साम्राज्य अपने अवसान की ओर बढ़ रहा था तो अनेक क्षेत्रीय साम्राज्य शक्तिशाली हो रहे थे। दूसरी तरफ यूरोपीय कंपनियां अपनी नई सोच व वैज्ञानिकता के साथ भारत में अपनी पकड़ मजबूत बनाने का प्रयास कर रही थीं। संक्रमण का दौर हमेशा ही ऊर्जा से

परिपूर्ण होता है और इस अवधारणा पर यह दौर भी खरा उतर रहा था लेकिन दुर्भाग्यवश भारत के संदर्भ में यह दौर इतना सकारात्मक नहीं था क्योंकि इस दौर में भारत के क्षेत्रीय राज्यों ने आपस में ही लड़कर अपनी ऊर्जा का नाश कर दिया और इसका तात्कालिक फायदा अहमदशाह अब्दाली व नादिरशाह ने लिया तो दीर्घकालिक फायदा अंग्रेजों ने उठाया।

3.2 उद्देश्य

इस संपूर्ण इकाई में अंग्रेजों के आगमन के बाद होने वाले परिवर्तनों को तो दिखाया ही जायेगा साथ ही साथ यह भी स्पष्ट किया जायेगा कि वे कौन से तत्व थे जो अपनी निरंतरता के साथ इस युग में भी भारतीय समाजमें बने रहे। यह संपूर्ण विश्लेषण भारतीय समाज को तो केन्द्र में रखेगा ही किंतु ग्रामीण समाज को इस विश्लेषण में विशेष तरकीब दी जायेगी क्योंकि इस संक्रमण के दौर का भारत मुख्यतः गांवों में ही बसता था। ग्रामीण समाज की आर्थिक व सामाजिक स्थिति ने आगे चलकर संपूर्ण भारतीय समाज की नियति को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अर्थात् परिवर्तन व निरंतरता के इन तत्वों को ग्रामीण समाज में ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। संपूर्ण 18वीं शताब्दी तथा 19वीं शताब्दी के मध्य तक परिवर्तन व निरंतरता की यह प्रक्रिया अत्यंत तीव्र थी अतः इसे केन्द्र में रखते हुये इस कार्य का किया गया।

3.3 18वीं सदी का भारत

18वीं शताब्दी में धार्मिक प्रकृति वाला मुगल साम्राज्य खत्म हो रहा था और इसका स्थान लेने के लिये वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी प्रकृति वाली ब्रिटिश सत्ता दरवाजे पर दस्तक दे रही थी। इस सदी में मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही राजनीतिक दृष्टि से अराशकता की स्थिति रही। भारतीय समाज में अनेक कुरीतियां विद्यमान थी। आर्थिक दृष्टि से इस सदी के संबंध में इस तथ्य पर बल दिया गया कि अंग्रेजी उपनिवेशवाद ने व्यापार एवं आर्थिक संबंधों में कोई भी परिवर्तन नहीं किया। आर्थिक संबंधों पर विचार करते हुये सी.ए. बेली ने उत्तरी गंगा क्षेत्रों और वाशबुरक ने कोरोमंडल तटीय क्षेत्रों के अध्ययन पर यह विचार प्रकट किया है कि भारतीय व्यापारिक वर्गों का प्रभाव बना रहा और 18वीं सदी के उत्तरार्ध में व्यापार का और अधिक विकास हुआ। एरिक स्टाक्य ने यह स्पष्ट किया कि अपने शासन के प्रारंभिक वर्षों में अंग्रेजों ने जिस प्रशासनिक ढाँचे की स्थापना की उसमें पूर्वस्थापित व्यवस्था का समावेश भी किया गया। इस तरह निरंतरता के तत्वों पर विशेष बल दिया गया। केंब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया खंड प् से संबंधित इतिहासकारों का यह विचार सही है कि 18वीं शदी के भारतीय अर्थव्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन नहीं हुए थे। उदाहरणार्थ विदेशी व्यापार में भारतीयों की भागीदारी बनी रही। किंतु, इसी के साथ यह स्पष्टीकरण भी जरूरी है कि अंग्रेजों ने इसी शताब्दी में यहाँ पर अंग्रेजी उपनिवेश की स्थापना की। इससे आय के अधिकांश डूडोत अंग्रेजों के अधीन चले गये। यहां एक बात और सही है कि साम्राज्यवाद तुरंत विजित प्रदेश को पूर्णतः परिवर्तित नहीं कर सकता किंतु पूरी सदी में ऐसा नहीं किया गया यह बात मानना असंभव है।

3.4 परिवर्तन व निरंतरता

अंग्रेजों के आगमन के साथ भारतीय समाज विशेषतः ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्तन तथा विद्यमान निरंतरता को समझने के लिये इसे निम्न शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है-

- (1) राजनीतिक दशा
- (2) आर्थिक दशा
- (3) सामाजिक दशा व सांस्कृतिक दशा

3.4.1 राजनीति में परिवर्तन व निरंतरता

मुगलों के पतन के साथ अनेक स्वतंत्र राज्यों का उदय हुआ। दूसरी ओर व्यापार के लिये आई ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। दक्कन में फ्रांसीसियों को तीन कर्नाटक युद्धों में हराया जब 1763 ई. में पेरिस की संधि हुयी तो भारत से फ्रांसीसियों को बाहर का रास्ता देखना पड़ा। बंगाल में प्लासी के युद्ध के बाद अंग्रेजों ने अपने राजनीतिक अधिकारों को और अधिक स्पष्ट करने का फैसला किया। 18वीं सदी की राजनीति में तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखी गईं -----

- (1) मुगल साम्राज्य का विघटन
- (2) क्षेत्रीय राज्यों का उदय
- (3) अंग्रेजों द्वारा भारत में उपनिवेशवाद की स्थापना

इन्हीं तीन प्रवृत्तियों के अंतर्गत इस शताब्दी में राजनीतिक परिवर्तन व निरंतरता के तत्वों का अध्ययन किया जा सकता है।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य को अयोग्य उत्तराधिकारियों, आर्थिक कठिनाइयों, दरबारी राजनीति, विदेशी हमलों और स्वतंत्र राज्यों की स्थापना जैसी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा और मुगल साम्राज्य सिमट कर दिल्ली तक रह गया। इसके बाद अब्दाली के हमलो ने इस साम्राज्य को सफल चुनौती दे दी। बाद में मराठों ने उत्तरी भारत पर कब्जा करने के उद्देश्य से अब्दाली द्वारा नियुक्त अधिकारियों को हटा दिया, तब युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी। 14 जनवरी 1761 को पानीपत का तीसरा युद्ध अब्दाली व मराठों के बीच हुआ जिसने भारतीय राजनीति में निर्णायक भूमिका अदा की। इस युद्ध में मराठों की हार हुयी तथा इन्हें क्षेत्रीय राज्यों का समर्थन भी नहीं मिला क्योंकि इनके संबंध अच्छे नहीं थे इन राज्यों से दूसरी ओर इस युद्ध में मुगल साम्राज्य की भी भूमिका शून्य थी। इस युद्ध से न तो विजेता का लाभ मिला न पराजित को। इससे भारतीय राजनीति में एक शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस युद्ध से यह तो स्पष्ट नहीं हो सका की भारत का भावी शासक कौन होगा लेकिन एक बात अवश्य स्पष्ट हो गयी कि कौन भावी शासक नहीं होगा? और मराठा शक्ति मुख्य भूमिका से हट गयी तथा इसका

अप्रत्यक्ष लाभ अंग्रेजों को मिला। अंग्रेजों ने बंगाल को अपने अधिकार में करने के बाद एक के बाद एक भारतीय राज्यों को हराना शुरू कर दिया।

इतिहासकार सतीशचंद्र ने उत्तराधिकारी राज्यों का विश्लेषण करते हुये स्पष्ट किया है कि इन राज्यों में अनेक ऐसे तत्व पाए गये जो मुगल प्रशासनिक व्यवस्था के ही सिद्ध थे। जो इस परिवर्तनवादी दौर में निरंतरता का सूचक है। इन राज्यों की स्थापना की प्रक्रिया के आधार पर इन्हें तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है:

- (1) मुगलों द्वारा नियुक्त प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा स्वतंत्र राज्यों की स्थापना
- (2) मुगल सत्ता को सफल चुनौती देते हुए अनेक व्यक्तियों व समुदायों द्वारा स्वतंत्र राज्य की स्थापना
- (3) सर्वथा स्वतंत्र राज्यों की स्थापना

बंगाल, अवध आर हैदराबाद के अलावा अनेक स्वतंत्र राज्यों की स्थापना भी इस शताब्दी में हुई। जैसे केरल, अंबर तथा सबसे महत्वपूर्ण मैसूर राज्य जिसकी स्थापना हैदर अली ने की थी। इन सभी राज्यों में मुगल व्यवस्था के अनेक तत्वों का समावेश किया गया था परंतु इसी के साथ नए परिवर्तन भी देखे गये। कमजोर हो चुकी मुगल सत्ता के प्रति सम्मान की भावा बनी रही। मुगल सत्ता के द्वारा नियुक्त अधिकारियों का सम्मान किया जाता था। अधिकांश शासक स्वयं को नवाब ही कहते थे केवल मैसूर के शासक ने स्वयं को सम्राट घोषित किया।

सी.ए. बेली ने स्पष्ट किया है कि सभी उत्तराधिकारी राज्यों की स्थापना में स्थानीय वर्गों ने निर्णायक भूमिका निभाई। मुगल शासन की तरह इन राज्यों के लिये सेना आवश्यक थी किंतु इस दिशा में मराठा महादजी सिंधिया तथा मैसूर राज्य ने ही विशेष प्रयास किये थे। इन सभी राज्यों में मुगलों की तरह आमदनी का प्रमुख साधन भूमिकर ही था तथा इससे किसानों का शोषण पहले की तरह ही हुआ। जिससे ग्रामीण समाज में एक निराशा व्याप्त रही शासक वर्ग के प्रति।

18वीं सदी के राजनीति की तीसरी प्रवृत्ति भारत में अंग्रेजी उपनिवेश की स्थापना से जुड़ी है। अंग्रेजी उपनिवेश की स्थापना में जितना योगदान अंग्रेजों की कुशलता का था उतना ही योगदान सभी क्षेत्रीय भारतीय राज्यों में परस्पर सहयोग की भावना के अभाव का भी था। अंग्रेजी उपनिवेश की स्थापना के पीछे पी.जे. मार्शल ने यह तर्काधार खोजने का प्रयास किया कि कंपनी केवल अपने व्यापार को सुरक्षित रखना चाहती थी और अपने स्थापित व्यापारिक क्षेत्रों में संतुष्ट थी, परंतु स्थानीय राजनीति में वह हस्तक्षेप करने को तब बाध्य हो गई जब उसका व्यापार सुरक्षित नहीं रहा। इस तरह मार्शल ने कंपनी की गतिविधियों को स्थानीय परिस्थितियों और स्थानीय शक्तियों के साथ उसके संबंधों के संदर्भ में देखने का प्रयास किया है। दूसरे अर्थों में, मार्शल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कंपनी साम्राज्यवादी उद्देश्यों से प्रेरित नहीं थी।

किंतु, तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण करने पर हम यह पाते हैं कि कंपनी व्यापारिक मुनाफे से प्रेरित थी साथ ही साथ बहुत जल्द ही कंपनी ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों को भी

स्पष्ट कर दिया। फ्रांसीसी व्यापारियों की गतिविधियाँ और उनके राजनीतिक उद्देश्य पेरिस की संधि (1763) के साथ ही समाप्त हो गए। बंगाल में अंग्रेजों ने प्लासी (1757) और बक्सर (1764) के युद्धों के बाद स्वयं को राजनीतिक शक्ति घोषित किया। क्लाइव ने 1765-1772 के बीच द्वैध शासन-व्यवस्था अपनाई। इसमें कंपनी ने दीवानी अपने अधीन कर ली और निजामत का भार नवाब पर ही छोड़ दिया। 1772 में बारेन हेस्टिंग्स ने इस व्यवस्था को समाप्त कर बंगाल पर अपना अधिकार घोषित कर दिया। 1773 में प्रशासन पर ध्यान केंद्रित करते हुये रेग्युलेटिंग एक्ट लाया गया। न्याय-व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया गया तथा नौकरशाही का विकास किया गया, वह भी पूरी तरह यूरोपीय नौकरशाली का।

प्रारंभ से ही अंग्रेजों ने भूमिकर व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया। शुरू में बारेन हेस्टिंग्स ने पंचवर्षीय और सालाना योजनाएं लागू कीं। लार्ड कार्नवालिस ने स्थायी बंदोबस्त 1793 लागू कर भूमिकर व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन किए। इसी प्रक्रिया में आगे चलकर रैयतवाड़ी एवं महालवाड़ी व्यवस्थाओं का प्रयोग किया गया।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना से ग्रामीण समाज में कोई सकारात्मक परिवर्तन नहीं हुआ। यही वजह है कि तत्कालीन ग्रामीण समाज भारत में हो रहे इस सत्ता हस्तांतरण के प्रति उदासीन ही रहा। मुगल काल तथा उसके बाद क्षेत्रीय राज्यों और यहां तक कि ब्रिटिश राज्य में भी कृषक शोषण जारी ही रहा, परिवर्तन हुआ तो लगान वसूली की व्यवस्थाओं में तथा शोषण करने की प्रक्रिया में तथा शोषण की तीव्रता में। अंग्रेजों के समय ग्रामीण समाज तथा कृषकों का अधः पतन अत्यधिक तीव्रता से हुआ क्योंकि अंग्रेजों की प्रकृति मुगलों से बहुत भिन्न थी। मुगल जहां भारतीय समाज का अंग हो चुके थे वहीं अंग्रेज हमेशा भारतीय समाज से प्रथकता रखे हुये थे। यद्यपि चाहे मुगल हों या अंग्रेज दोनों के समय शासक व शासित का द्वैत बना रहा किंतु अंग्रेजों के द्वैध शासन व भू-राजस्व व्यवस्था ने भारतीय ग्रामीण समाज को तेजी से निर्धन बना दिया।

3.4.2 अर्थव्यवस्था में परिवर्तन व निरंतरता

अंग्रेजों के आगमन के बाद अर्थव्यवस्था में जो परिवर्तन देखे गये उनका आधार अंग्रेजों द्वारा स्थापित उपनिवेशवाद था। यद्यपि साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अर्थव्यवस्था में कोई मूलभूत अंतर नहीं आया। किंतु अनेक शोध-कार्यों से यह ज्ञात होता है कि उस समय की अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं में मूलभूत अंतर आया। तत्कालीन अर्थव्यवस्था में निरंतरता व परिवर्तन के तत्व को जानने के लिये मुगलकालीन अर्थव्यवस्था की विशेषताओं को जानना आवश्यक है। इतिहासकार इरफान हबीब ने स्पष्ट किया है कि मुगल अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी तत्व विद्यमान थे। कृषि व गैर - कृषि दोनों ही क्षेत्रों में बाजार के लिये उत्पादन होता था। श्रम का प्रयोग दोनों ही क्षेत्रों में वेतन देकर किया जाता था। इस प्रकार मुद्रा अर्थव्यवस्था विकसित हो चुकी थी। आय का प्रमुख साधन भूमिकर था। विदेशी व्यापार भी विकसित था और मुगलकालीन अर्थव्यवस्था में वाणिज्यिक पूँजी भी उपलब्ध थी। अद्यपि इस अर्थव्यवस्था में औद्योगिक पूँजीवाद को जन्म देने की क्षमता न थी। बहुत से साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने अंग्रेजी उपनिवेशवाद में अंतर्निहित शोषण को नकारने का प्रयास भी किया।

किंतु इरप्रफान हबीब सहित अनेक इतिहासकारों ने इस अवधारणा को सिरे से ख़ाजिर कर दिया। वास्तव में मुगलकालीन अर्ध सामंती अर्थव्यवस्था में पूँजीवाद का विकास ही इसलिये नहीं हो पाया क्योंकि भारत को उपनिवेश में तब्दील कर दिया गया। 'वाणिज्यिक पूँजीवाद' के दौर में भारत का अंग्रेजों ने जो शोषण किया, उससे यहाँ की अर्थव्यवस्था का स्वरूप ही बदल गया। भारत से 'धन के निष्कासन' की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी।

'वाणिज्यिक पूँजीवादी' चरण में भारत एक निर्यातक देश बन गया। भारत से प्राप्त होने वाली भू-राजस्व की रकम से भारत से वस्तुएँ खरीदकर उसे निर्यात किया जाता था और मुनाफा कमाया जाता था। भारत 'पेट्रोपोलियन अर्थव्यवस्था' का एक सहायक हिस्सा बन गया। आयात की तुलना में निर्यात में वृद्धि कर अतिरिक्त धन उपनिवेश से बाहर भेजा जाने लगा। उपनिवेशवाद के अगले चरणों में भी धन के निष्कासन की प्रक्रिया अनवरत चलती रही। 'औद्योगिक पूँजीवादी चरण' में भारत कच्चे माल का निर्यातक तथा औद्योगिक क्रांति से उत्पादित होने वाली वस्तुओं को आयातक देश बन गया। इससे जहाँ एक तरफ भारतीय कृषि का स्वरूप बदला तथा बागवानी फसलों को प्रोत्साहन दिया गया ताकि उद्योगों को सस्ते कच्चे माल की आपूर्ति की जा सके तो दूसरी ओर तैयार माल की खपत के लिये विऔद्योगीकरण की प्रक्रिया को बढ़ाया गया तथा इन सबके साथ मुक्त व्यापार की नीति ने आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बदल दिया। आगे चलकर 'वित्तीय पूँजीवादी' चरण में ब्रिटिश पूँजीपतियों ने अपने धन का सुरक्षित निवेश भारत में किया जिससे एक तरफ तो उन्हें मुनाफा कमाने की गारंटी प्राप्त हुयी तो दूसरी ओर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को रेलवे आदि के विकास से मजबूती भी प्राप्त हुयी। उपनिवेशवाद के प्रत्येक चरण में अंग्रेजों की नीतियाँ अवश्य परिवर्तित होती रहीं हैं किन्तु इन नीतियों से 'धन के निष्कासन' में निरंतरता भी बनी रही।

अंग्रेजों की नीतियों के परिणामस्वरूप दिल्ली, आगरा, लाहौर जैसे शहरों का पतन हुआ तो अंग्रेजों के अधीन बंगाल, मद्रास व बंबई प्रमुख प्रशासनिक और व्यापारिक केन्द्र बने। अंग्रेजों की आमदनी का भी प्रमुख साधन कृषि था किंतु इसके विकास पर इन्होंने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। इनका उद्देश्य अधिक से अधिक भूमिकर प्राप्त करके उसे अपने व्यापार में ही लगाना था। कार्नवालिस के स्थायी बंदोबस्त ने किसानों को किराएदारों की स्थिति में ला दिया। जमीन एक ऐसी वस्तु बन गई जिसे खरीदा या बेचा जा सकता था।

18वीं सदी में ऐसा भारतीय वर्ग भी था जिसका जातीय पेशा व्यापार था। जैसे मद्रास के चेट्टी, गुजरात के जैन, बोहरा व्यापारी, राजस्थान के मारवाड़ी, पंजाब के खत्री, केरल के सीपला आदि प्रमुख व्यापारी वर्ग थे। आरंभ में ईस्ट-इंडिया कंपनी ने अपनी व्यापारिक गतिविधियों के विस्तार में इस वर्ग का भी सहयोग प्राप्त किया था। ये साधारण व्यापारी नहीं थे इनके पास अपनी पूँजी थी अर्थव्यवस्था में इनका महत्वपूर्ण योगदान था। ये फसलों को किसानों से खरीदकर उन्हें धन उपलब्ध करवाते थे जिससे राज्य का नकद राजस्व प्राप्त होता था। सर्राफ भी मुद्रा विनिमय का महत्वपूर्ण कार्य करते थे। जब ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में आई तो प्रारंभ में उसने भी मुद्रा विनिमय और कर्ज के लिये इन व्यापारियों की सहायता ली।

किंतु जैसे ही कंपनी को राजनीतिक शक्ति प्राप्त हुयी अंग्रेजों ने पूरे तंत्र को ही नष्ट कर दिया। अंग्रेजों को टकसाल का अधिकार मिल गया, भारतीय व्यापारियों के बैंकिंग संबंधी कार्य समाप्त हो गये। वे व्यापारी जो कभी कंपनी को सूती वस्त्र खरीदकर देते थे और दयनी व्यापारियों के रूप में प्रसिद्ध थे, उनका स्वतंत्र अस्तित्व अब समाप्त हो गया। अंग्रेज 'प्रत्यक्ष एजेंसी' व्यवस्था के माध्यम से स्वयं सामान खरीदने लगे। इस प्रकार भारतीय व्यापारियों की स्थिति कमीशन प्राप्त करने वाले दलालों की रह गई, व्यापारिक गतिविधियाँ अंग्रेजों के अधीन हो गई और भारतीय व्यापारियों को 'अधीनस्थ' स्थिति में रहकर कार्य करना पड़ा।

अंग्रेजों के आगमन तथा उनके स्थापित होने तक भारत का विदेशी व्यापार भी विकसित था। अंग्रेजों ने भी अपने मुनाफे के लिये इस व्यापार का विकास किया परंतु इससे प्राप्त लाभ केवल अंग्रेजों को मिला। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी वहां सूती वस्त्रों के आयात पर इंग्लैंड में रोक लगा दी गई साथ ही अंग्रेजी सत्ता की स्थापना से पहले विदेश व्यापार से जो मुद्रा भारत को प्राप्त होती थी, वह बंद हो गई। अंग्रेजों ने सूती वस्त्र के निर्यातक देश को सूती वस्त्रों के आयातक देश में तब्दील कर दिया। व्यापार को इससे विपरीत दशा क्या हो सकती थी जो अंग्रेजों ने भारत को प्रदान की। अंग्रेजों ने 'कारीगरों' की उत्पादन प्रक्रिया पर भी दबाव डाला। अंग्रेजों ने सूती हथकरघा उद्योग में लगे कारीगरों को अपने द्वारा निर्धारित कीमतों पर सामान बेचने के लिये बाध्य किया। इससे उद्योग-धंधों के नष्ट होने की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। हस्तशिल्प उद्योगों के पतन से श्रमिक कृषि कार्यों की ओर मुड़ने लगे जिससे कृषि पर भी बोझ बढ़ा तथा ग्रामीण समाज गरीबी के दुष्चक्र में फँसता चला गया। हस्तशिल्प उद्योग का पतन होता रहा किंतु कुछ उद्योग जैसे बड़ईगीरी, लोहारगीरी, कुम्हारगीरी अपना निरंतरता को ग्रामीण परिवेश में कायम किये हुये थे।

3.4.3 समाज व संस्कृति में परिवर्तन व निरंतरता

18वीं शताब्दी में भारतीय समाज विभिन्न परंपराओं एवं मान्यताओं से आबद्ध था। भारतीय समाज में अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद कुछ नए वर्गों का जन्म हुआ। इन नये वर्गों का उल्लेख सी.ए. बेली ने निम्नलिखित रूपों में किया है-

- (1) प्राचीन कुलीन वर्गों ने अपनी स्थिति को और अधिक मजबूत बनाने के लिये जमीन पर अथवा अधिपत्य स्थापित किया और वे जमींदार बन गए।
- (2) मुसलमानों और हिंदुओं में अनेक व्यापारी ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ व्यापार और वित्तीय गतिविधियों में भागीदार बन गए। इससे उन्होंने जो मुनाफा कमाया, उसका उपयोग जमीन खरीदने के लिये। इस प्रकार उन्होंने अपनी सामाजिक स्थिति सुधारी।
- (3) ग्रामीण स्तर पर स्थानीय कुलीन वर्गों ने जमीन पर अपने अधिकार को और भी मजबूत कर लिया। जब अंग्रेजों ने स्थायी बंदोबस्त लागू किया तो यह व्यवस्था परंपरागत जमींदारों के साथ ही लागू की गई, परंतु अनेक जमींदार भूमिकर देने में असमर्थ रहे। इस

कारण उनकी जमीनें नीलाम कर दी गईं। इनको खरीदने वाले नए जमींदार शहरों में रहते थे।

इस प्रकार के नए जमींदारों ने उपजमींदारी प्रक्रिया को जन्म दिया जिससे किसानों का शोषण और अधिक हुआ। 18वीं शताब्दी के समाज में 'वर्ग-संरचना' की प्रक्रिया भी देखी जा सकती है तथा साथ ही साथ परिवार और समुदाय अपना सामाजिक स्तर सुधारने में भी सफल रहे। एम.एन. श्रीनिवासन ने इस प्रक्रिया को 'संस्कृतिकरण' कहा। संस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया के साथ भारतीय समाज को जड़ नहीं कहा जा सकता था।

हिंदू समाज वर्णव्यवस्था तथा अनेक जातियों पर आधारित थी। मुसलमानों में भी सामाजिक स्तर पर विभेद था। हिंदू धर्म में मूर्ति पूजा, जादू-टोना और अनेक कुरीतियों जैसे सती प्रथा, बाल विवाह, विधवाओं की खराब स्थिति, शिशु बध, स्त्री शिक्षा का अभाव आदि का बोलबाला था। इसी तरह इस्लाम धर्म में भी अनेक अंधविश्वास घर कर चुके थे। इसके बावजूद यह देखा गया कि जनसंस्कृति सशक्त थी और धर्म के आधार पर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच झगड़ा नहीं होता था। बंगाल में काली पूजा का प्रचलन इस बात का घातेक था कि स्थानीय स्तर पर इस देवी को सभी पूजनीय मानते थे। ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ समाज सुधार की भी प्रक्रिया प्रारंभ हुयी क्योंकि अभिजात्य भारतीय समाज पाश्चात्यतर्कवाद के संपर्क में मानवतावादी दृष्टिकोण के संपर्क में आया जिसके अंतर्गत सती प्रथा, दास प्रथा, बाल विवाह, शिशु बध आदि का विरोध किया। 19वीं शताब्दी के इन प्रमुख सुधार आंदोलनों के प्रति प्रारंभ में ब्रिटिश दृष्टिकोण तटस्थ का रहा किंतु जैसे-जैसे ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति हुये तथा एक बड़े बाजार का आवश्यकता हुयी तो उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। इन सुधारों के प्रति अंग्रेजों का उपयोगितावादी दृष्टिकोण उभरा जिस पर ब्रेंथम व मिल का प्रभाव साफ नशर आता है। इसीलिये समाज सुधार के प्रति अंग्रेजों का सक्रिय समर्थन 1813 के बाद ही नशर आता है। इसी प्रकार भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को भी अंग्रेजों ने सीमित रूप में ही स्वीकार किया। 1857 के विद्रोह के बाद उन्हें यह विश्वास और भी गहरा हो गया की इन सुधारों के प्रति भारत का रुढ़िवादी समाज विद्रोहात्मक रवैया अपना आ रहा तो वे इन सुधारों के प्रति और भी उदासीन हो गये। जो भारतीय समाज के प्रति अंग्रेजों के उपयोगितावादी व औपनिवेशिक दृष्टिकोण को उद्घाटित करता है।

3.5 ग्रामीण समाज के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन व निरंतरता का मूल्यांकन

18वीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन और औपनिवेशिक शासन को स्थापना ने ग्रामीण समाज की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दशा में व्यापक परिवर्तन किये किंतु ये बात भी उतनी ही सही है कि ये परिवर्तन पूर्णतः नहीं हुये इनमें कहीं-कहीं निरंतरता भी विद्यमान रहीं। जैसे सती प्रथा, पर्दा प्रथा, तथा बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियां एवं महिलाओं के प्रति भारतीय समाज का दृष्टिकोण अकस्मात् परिवर्तित नहीं हुआ इसमें धीरे-धीरे परिवर्तन हुये किंतु फिर भी ये परिवर्तन पूर्ण रूप में नहीं हुये। इसी प्रकार ग्रामीण समाज की आर्थिक दशा में कृषि का हमेशा प्रमुख योगदान रहा है यद्यपि इसके स्वरूप में परिवर्तन हुआ जिसका परिणाम

अकालों की बारंबारता व दृणग्रस्तता के रूप में सामने आया। इसी तरह भारतीय ग्रामीण समाज राजनीतिक परिवर्तनों के प्रति उदासीन ही रहा क्योंकि भारत में हमेशा शासक के रूप में विदेशी मूल का बोलबाला रहा तथा किसानों का न्यूनाधिक शोषण हर युग में होता रहा।

कुल मिलाकर 18वीं सदी में अंग्रेजों ने भारत को उपनिवेश में बदलने की प्रक्रिया युद्ध की विजित प्रदेश की संस्कृति, सामाजिक और आर्थिक मूल्यों और संबंधों को वे पूर्णतः परिवर्तित नहीं कर पाये। उसमें परिवर्तन के साथ-साथ निरंतरता के तत्व भी विद्यमान रहे। किंतु, अपने आधिपत्य को मजबूत बनाने के लिये उन्होंने जो भी प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन किये उसके दूरगामी परिणाम निकले।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. ब्रिटिश कालीन भारतीय ग्रामीण समाज में परिवर्तन एवं निरंतरता
2. भारतीय ग्रामीण समाज में राजनीतिक स्थिति
3. भारतीय ग्रामीण समाज में आर्थिक स्थिति
4. भारतीय ग्रामीण समाज में सांस्कृतिक स्थिति

3.6 सारांश

किसी भी समाज में परिवर्तन एवं निरंतरता के तत्वों के गहराई से समझने के लिए उस समाज के संक्रमणकालीन दौर को समझना अत्यंत आवश्यक होता है। आधुनिक भारत के संदर्भ में यह दौर 18वीं सदी के मध्य से 19वीं सदी के मध्य तक का है। इस दौरान भारतीय समाज और ब्रिटिश समाज के बीच का संघर्ष महज सैम्य संघर्ष नहीं था, बल्कि यह दो व्यवस्थाओं का भी संघर्ष था। पहला समाज जहां सामंतवादी उत्पादन प्रणाली पर आधारित था, वहीं दूसरा समाज पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर।

परंपरागत भारतीय ग्रामीण समाज की जड़ता तब टूटी, जब भारत पर सतत् विदेशी आक्रमण हुए। ग्रामीण समाज की राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति में रैडिकल (मूलभूत) परिवर्तन हुए। मुगल साम्राज्य के विघटन के दौर में अनेक क्षेत्रीय राज्यों का उदय हुआ। इसके कारण पश्चिमी व्यापारिक कंपनियों की अप्रत्यक्ष रूप से सत्ता स्थापित हुई। भूराजस्व बंदोबस्त, धन का निष्कासन विऔद्योगीकरण और कृषि के वाणिज्यिकरण जैसी ब्रिटिश कंपनी की आर्थिक नीतियों ने पूरी सामाजिक संरचना परिवर्तित हो गयी। इसी प्रकार ग्रामीण समाज की सांस्कृतिक संरचना में भी मूलभूत परिवर्तन हुए। उदाहरण के लिए मूल्य पद्धति में परिवर्तन और निरंतरता के चिन्ह देखे जा सकते हैं। जहां एक ओर संस्कृतिकरा की प्रक्रिया चलती रही वहीं दूसरी ओर विभिन्न विद्वानों द्वारा समाज का आधुनिकीकरण भी होता रहा।

3.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. 3.4
2. 3.4.1
3. 3.4.1

4. 3.4.1

3.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिशकालीन भारतीय ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्तन और निरंतरता का मूल्यांकन कीजिए।
-

3.9 संदर्भ ग्रंथ

- * A.R. Desai, 'Rural Sociology in India', Popular Prakashan, Mumbai, 1978.
- * Navaneeta Rath, 'Women in Rural Society : A Quest for Development', M.D. Publication, New Delhi, 1996.
- * Rao, K.G., 'Changing Rural Society in India', Saujanya Books, Delhi, 2010.
- * Ramkrishan Mukherjee, 'The Dynamics of Rural Society : A Study of the Economic Structure in Bengal Village', Akademic-Verlag Berlin, Germany, 1957.
- * Peter Robb. (Ed.), 'In Rural India : Land, Power and Society under British Rule', Curzon Press, Delhi, 1983, Oxford University Press, 1992 (Reprint).
- * Manali S. Deshpande, 'History of the Indian Caste System and Its Impact on India today', California Polytechnic State University, San Luis Obispo, Fall, 2010.
- * Puja Mandal, 'Origin of Development of Rural Sociology in India'

व्यापार एवं राजकोषीय नीति, विऔद्योगीकरण और महिला स्थिति

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 व्यापार एवं राजकोषीय नीति
 - 4.3.1 ब्रिटिश उपनिवेशवाद के चरण
 - 4.3.1.1 वाणिज्यिक चरण (1757-1813)
 - 4.3.1.2 औद्योगिक पूंजीवादी चरण (1813-1858)
 - 4.3.1.3 वित्तीय पूंजीवादी चरण (1860 के बाद)
 - 4.3.2 धन का निष्कासन
 - 4.3.1.2 धन के निष्कासन से संबंधित वाद-विवाद
 - 4.3.3 ब्रिटिश व्यापार व राजकोषीय नीति का मूल्यांकन
- 4.4 विऔद्योगीकरण
 - 4.4.1 विऔद्योगीकरण का प्रभाव
- 4.5 महिला स्थिति
 - 4.5.1 महिलाओं के प्रति व्याप्त सामाजिक कुरीतियां
 - 4.5.1.1 सती प्रथा
 - 4.5.1.2 विधवाओं की स्थिति
 - 4.5.1.3 शिशु वध
 - 4.5.1.4 स्त्री शिक्षा
 - 4.5.2 महिला सुधार आंदोलन
 - 4.5.2.1 महिला सुधार आंदोलन की सीमाएं
 - 4.5.3 प्रमुख स्त्री-समाज सुधारक एवं प्रमुख महिला संगठन
 - 4.5.4 राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं की भूमिका
 - 4.5.5 महिला स्थिति का मूल्यांकन
- 4.6 स्वमूल्यांकित प्रश्न
- 4.7 सारांश
- 4.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
- 4.9 निबंधात्मक प्रश्न

4.10 संदर्भ ग्रंथ

4.1 प्रस्तावना

ब्रिटिश काल में भारतीय अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का एक ज्वलंत उदाहरण है। भारतीय अर्थव्यवस्था की इस तब्दील में अंग्रेजों को नीतियों का बहुत बड़ा योगदान था। ये नीतियां क्रमबद्ध रूप में आगे बढ़ती गयी हैं तथा एक का समापन नई नीति का प्रथम सोनान था। चूंकि अंग्रेजों का प्रवेश ही भारत में सर्वप्रथम व्यापार के लिये हुआ था अतः इनकी नीतियों के केन्द्र में मुनाफा व व्यापार ही थी। व्यापार की नीतियों में एक क्रमबद्धता देखी जाती है जो उपनिवेशवाद के तीन चरणों के रूप में व्यवस्थित की गयी है। इन्हीं व्यापार नीतियों के स्वाभाविक परिणाम के रूप में विऔद्योगिकरण की प्रक्रिया सामने आती है। ब्रिटिश व्यापार नीति की खास विशेषता यह थी कि यह ब्रिटिश राजकोषीय नीति की पूरक भी रही पूरे औपनिवेशिक काल में। ब्रिटिश व्यापारिक व राजकोषीय नीतियों में कल्याण की भावना का नितांत अभाव नशर आते हैं। इन नकारात्मकता के बीच ये नीतियां सीमित रूप में लाभकारी भी सिद्ध हुयी क्योंकि औपनिवेशिक नीतियों ने स्वनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को तोड़कर अखिल भारतीय अर्थव्यवस्था में बदल दिया और फिर इस भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ दिया। किंतु विऔद्योगिकरण के कारण भारतीय लोगों को इस वैश्विक जुड़ाव का कोई लाभ नहीं मिल सका। अंग्रेजों की व्यापार नीतियों के परिणामस्वरूप धन का जो निष्कासन हुआ इससे पूंजी विकास की प्रक्रिया अवरूद्ध हो गयी तथा भारत औद्योगिकरण में पीछे रह गया।

औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत महिला स्थिति एक बड़ा प्रश्न है क्योंकि यह किसी देश की आधी आबादी का प्रतिनिधित्व करती है जो व्यापारिक दृष्टि से किसी भी देश के लिये लाभ प्रदान कर सकती है क्योंकि यह आधे बाजार का भी प्रतिनिधित्व करती है। महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिये अंग्रेजों ने काफी प्रयास किये किंतु ये सारे प्रयास औपनिवेशिक मानसिकता से ऊपर नहीं उठ पाये। 1813 के बाद अंग्रेजों को बड़े बाजार का आवश्यकता थी तो महिला सुधार में तेजी लायी कई कुप्रथाओं जैसे सती प्रथा आदि पर 1013 के बाद बड़ा रूख अख्तियार किया तो दूसरी ओर परंपरावादी भारतीय समाज उनके इस सुधार कार्यक्रमों के प्रति विरोध जागृत हुआ विशेषतः 1857 के समय तो फिर महिला सुधारों पर अंग्रेजों ने तटस्थ रूख अपना लिया जो उनकी औपनिवेशिक मानसिकता को इंगित करता है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य ब्रिटिश व्यापार व राजकोषीय नीति तथा विऔद्योगिकरण के आंतरिक संबंधों को स्पष्ट करना है। तथा यह बताना है कि किस प्रकार ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों ने भारतीय समाज को एक निर्धन तथा दृणग्रस्त समाज में तब्दील कर दिया तथा किस प्रकार से भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह कृषि का क्षेत्र हो, उद्योग का क्षेत्र हो या व्यापार का क्षेत्र हो सब में अपने हितों के अनुकूल आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। अंग्रेजों की इन

नीतियों का उद्देश्य केवल अर्थव्यवस्था में परिवर्तन करना नहीं था बल्कि भारतीय समाज में भी जैसे स्त्रियों की स्थिति में भी अपने प्रफायदे के अनुसार परिवर्तन करना था। इन सभी जटिलताओं को इस इकाई में स्पष्ट किया गया।

4.3 व्यापार एवं राजकोषीय नीति

मुगल बादशाह औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत में अनेक ऐसे कारण सक्रिय हो गये, जिससे यहाँ के व्यापार-वाणिज्य में गिरावट का दौर प्रारंभ हो गया। प्लासी युद्ध के पश्चात बंगाल के अंतर्देशीय व्यापार में अंग्रेजों की भागीदारी बढ़ गई। कंपनी के कर्मचारियों ने उन वस्तुओं पर भी अधिकार कर लिया, जिनका व्यापार उनके लिये प्रतिबंधित था जैसे नमक, तंबाकू, सुपारी आदि। बक्सर युद्ध के पश्चात भारतीय अर्थव्यवस्था एक तरह से सक्षम औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में तब्दील हो गई, क्योंकि कंपनी को दीवानी अधिकार तो मिले ही साथ-साथ असने वैध शासन के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था पर भी नियंत्रण प्राप्त कर लिये। ब्रिटिश व्यापार नीति को समझने के लिये भारत में इसके अपनिवेशवादी चरण को समझना होगा क्योंकि अंग्रेजों की व्यापार एवं राजकोषीय नीति ब्रिटेन की शरूतों के अनुसार हर चरण में बदलती रही निश्चित थी तो केवल एक बात हर चरण में भारत का आर्थिक दोहन ब्रिटेन के प्रफायदे के अनुसार।

उपनिवेशवादी ढाँचे के तहत किसी देश का आर्थिक शोषण एवं उत्पीड़न होता है। इस ढाँचे के अंतर्गत कई प्रकार के विचारों, व्यक्तित्वों एवं नीतियों को समाहित किया जा सकता है। उपनिवेशवाद का मूल तत्व 'आर्थिक शोषण' में निहित है परंतु इसका अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं है कि एक उपनिवेश पर राजनीतिक कब्जा बनाए रखना महत्वपूर्ण नहीं। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद तीन चरणों से गुजरा और प्रत्येक चरण में अंग्रेजों ने अपनी आवश्यकतानुसार अपनी व्यापार व राजकोषीय नीति में बदलाव किये। प्रसिद्ध विद्वान सनीयाम दत्त ने अपनी कृति 'इंडिया टुडे' में भारतीय औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का उल्लेखनीय चित्रण किया, जिसमें उन्होंने मार्क्स के भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद और आर्थिक शोषण के तीन चरणों वाले सिद्धांतों को आधार बनाया। वे तीन चरण निम्न हैं-

- (1) वाणिज्यिक चरण (1757-1813)
- (2) औद्योगिक मुक्त व्यापार (1813-1860)
- (3) वित्तीय पूँजीवाद (1860 के बाद)

17वीं व 18वीं शताब्दी में ब्रिटिश व्यापार व राजकोषीय नीतियों का उद्देश्य भारत के साथ व्यापार तथा भारत की लूट थी। 19वीं शताब्दी में भारत का प्रयोग ब्रिटेन में बनी हुई औद्योगिक वस्तुओं के लिये मुख्य बाजार के रूप में किया गया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और 20वीं शताब्दी में भारत में स्थित ब्रिटिश उद्योगपतियों द्वारा भारत में पूँजीविनियोग की प्रक्रिया आरंभ हुई, जिससे भारतीय श्रमिकों का बड़े पैमाने पर शोषण आरंभ हुआ।

4.31 ब्रिटिश उपनिवेशवाद के चरण

4.3.1.1 वाणिज्यिक चरण (1757-1813)

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के इस चरण में संपत्ति का दोहन 1757 से आरंभ होता है। क्योंकि 1757 के बाद बंगाल पर अंग्रेजों की पकड़ बन गयी। 1757 से 1765 के बीच लगभग 60 लाख पौंड की धनराशि अंग्रेजों द्वारा ब्रिटेन भेजी गयी। इस दोहन में मुख्य बात यह है कि कंपनी के व्यापारिक मुनाफे शामिल नहीं थे। अंग्रेज पहले भारतीय वस्तुएँ 'बुलियन' से खरीदते थे किंतु इलाहाबाद की संधि (1765) के बाद वे बंगाल से प्राप्त राजस्व से ही भारतीय वस्तुएँ खरीदने लगे जिन्हें वे पूंजी निवेश कहते थे। फिर इन वस्तुओं को ब्रिटेन निर्यात कर भारी मुनाफा कमाते थे। इस तरह पूंजी निवेश के द्वारा बंगाल का धन इंग्लैंड भेजा जाता रहा और इसके बदले बंगाल को किसी प्रकार का आर्थिक या भौतिक प्रतिपादन नहीं मिला। 1765-70 के बीच कंपनी ने भारतीय वस्तुओं के रूप में 40 लाख पौंड का धन बाहर भेजा जो बंगाल राज्य के कुल राजस्व का 33 प्रतिशत था। 18वीं सदी के अंत तक भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग 9 प्रतिशत धन बाहर भेजा गया। इस निष्कासन से प्राप्त धन राशि कंपनी के शेयर धारकों में बांटी जा रही थी। जब धन और वस्तुएँ इंग्लैंड भेजी जाने लगी तो भारत मेट्रोपोलिटन अर्थव्यवस्था का एक सहायक हिस्सा बन गया और उसे अपने भेजे गए धन और वस्तुओं के बदले किसी प्रकार का आर्थिक, भौतिक का व्यवसायिक लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार प्रथम चरण में वाणिज्यवादी दर्शन के फलस्वरूप आयात की तुलना में निर्यात में वृद्धि कर अतिरिक्त धन उपनिवेश से बाहर भेजा जाने लगा।

4.31.2 औद्योगिक पूंजीवादी चरण (1813-1858)

उपनिवेशवाद के इस चरण में मुक्त व्यापार की नीति अपनायी गयी तथा भारत को तेजी से मैनचेस्टर और लंकाशायर के तैरार माल का खरीददार तथा कच्चे माल के विक्रेता के रूप में विकसित किया। इससे भारत के पारंपरिक हस्तशिल्प उद्योग विशेषकर सूती वस्त्र उद्योग नष्ट होते चले गये तथा नये उद्योगों की स्थापना नहीं कि गयी। इस तरह विऔद्योगीकरण की प्रक्रिया अस्तित्व में आयी जिससे बेराजगारों की संख्या में वृद्धि कृषि पर बोझ बढ़ा तथा आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में तबदील हो गयी। परिणामतः भारतीय आवश्यकताओं के लिये भारतीय ब्रिटिश वस्तुओं पर निर्भर होते चले गये। इसी के तहत मार्क्स ने टिप्पणी की, कि सूती वस्त्र का निर्यातक देश सूती वस्त्र का आयातक देश बना दिया गया। इससे भारत के सामने विदेशी भुगतान की समस्या उत्पन्न हो गयी। इसके समाधान के लिये भारत से नील व अफीम के उत्पादन व निर्यात को प्रोत्साहित किया गया। दूसरी और चीन के साथ भी ब्रिटेन का भुगतान संतुलन उसके पक्ष में नहीं था इस भुगतान संतुलन को संतुलित करने के लिये इंग्लैंड ने भारत और चीन के साथ जिस व्यापार संबंध की रचना की वह 'व्यापार-त्रिकोण' के नाम से जाना जाता है।

1850 के बाद नई फसलों के निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिये बड़े पैमाने पर बागवानी कृषि प्रारंभ की गयी किंतु इस पर वास्तविक नियंत्रण भारतीय उत्पादकों या कृषकों का न होकर ब्रिटिश निवेशकों का था। दूसरी ओर इस प्रकार के कृषि तंत्र तथा भारत से अनाज निर्यात की प्रक्रिया ने भारत में अकाल की समस्या को बढ़ाया। इस प्रकार की संपूर्ण प्रक्रिया से व्यापार-संतुलन के पक्ष में होने लगा, किंतु भारत की ब्रिटिश सरकार ने कृत्रिम रूप से व्यापार-संतुलन भारत के पक्ष में दिखाया जिससे भारतीय विनिमय में एक रकम दिखाई जा सके जिसका उपयोग गृह-व्यय के रूप में किया जा सके।

हम देखते हैं कि इस संपूर्ण चरण में ब्रिटिश व्यापार नीति किस प्रकार उनकी राजकोषीय नीति को उनके प्रफायदे के अनुसार समर्थन दे रही है तथा भुगतान संतुलन तथा गृह व्यय जैसी राजकोषीय समस्याओं का समाधान भी उनकी व्यापार नीति से निकलकर सामने आ रहा है।

4.3.1.3 वित्तीय पूंजीवादी चरण (1860 के बाद)

1857 के विद्रोह तथा महारानी के घोषणापत्र के पश्चात भारत में उपनिवेशवाद तीसरे चरण में प्रवेश करता है जो वित्तीय पूंजीवाद के नाम से जाना जाता है। इस समय तक ब्रिटेन में औद्योगिक विकास एवं औपनिवेशिक बाजारों के शोषण के फलस्वरूप विशाल पूंजी का संकेन्द्रण हो चुका था। इस धन को अब ब्रिटेन में ही निवेश करने से उसी अनुपात में मुनाफे की गुंजाईश कम थी। इसके अलावा उद्योगपतियों की बढ़ती हुई संपत्ति से मजदूर वर्ग को संगठित होने की प्रेरणा मिली तथा मजदूरों की बढ़ती हुई शक्ति से पूंजीपतियों का आशंकित होना स्वाभाविक था क्योंकि मजदूरों की यह शक्ति उनकी सौदेबाजी की क्षमता को बढ़ा सकती है और इसका प्रभाव मुनाफे पर पड़ता। यही वशह है कि ब्रिटिश पूंजीपतियों ने काफी बड़ी मात्रा में भारत में अपनी पूंजी का निवेश किया। इस निवेश के निम्नलिखित प्रमुख कारण थे-

- (1) कच्चे माल की प्रचुरता
- (2) बाजार की उपलब्धता
- (3) ब्रिटिश पूंजी की सुरक्षा

इस चरण की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि अब बहुत सारे ब्रिटिश नियंत्रित बैंक, वित्तीय एजेंसियाँ, बीमा कंपनियाँ तथा आयात-निर्यात फर्म भारत में स्थापित होने लगीं। भारत में जिस ब्रिटिश पूंजी का आयात हुआ उसमें से अधिकांश पूंजी रेलवे के क्षेत्र में निवेश की गई। यही कारण है कि इस चरण में रेलवे का अत्यधिक विकास हुआ। भारत सरकार ने रेलवे में ब्रिटिश पूंजी को आकर्षित करने के लिये प्रतिशत ब्याज की गारंटी प्रदान की गई। रेलवे में पूंजी निवेश के निम्नलिखित कारण थे-

- (1) भारतीय संसाधनों को बंदरगाहों तक पहुंचाना जहां से उसे ब्रिटेन भेजा जा सके।

- (2) तैयार ब्रिटिश माल को भारतीय बाजार के आंतरिक भागों तक पहुंचाना
- (3) सुरक्षा के दृष्टिकोण से सैनिकों को एक जगह से दूसरी जगह भेजना।

इस प्रकार उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों में उसकी नीतियाँ बदलती रही किंतु उसका मूल उद्देश्य यथावत बना रहा। नीतियों में परिवर्तन परिस्थितियों से सामंजस्य बनाने का प्रयास था, वहीं उद्देश्य की एकरूपता उसके आर्थिक औपनिवेशिक स्वरूप को दर्शाता है। उपनिवेशवाद के तीनों चरणों में जो सबसे सामान्य बात थी वह थी-धन का निष्कासन। प्रत्येक चरण का उद्देश्य मूलतः भारत से इंग्लैंड की ओर धन का निष्कासन था।

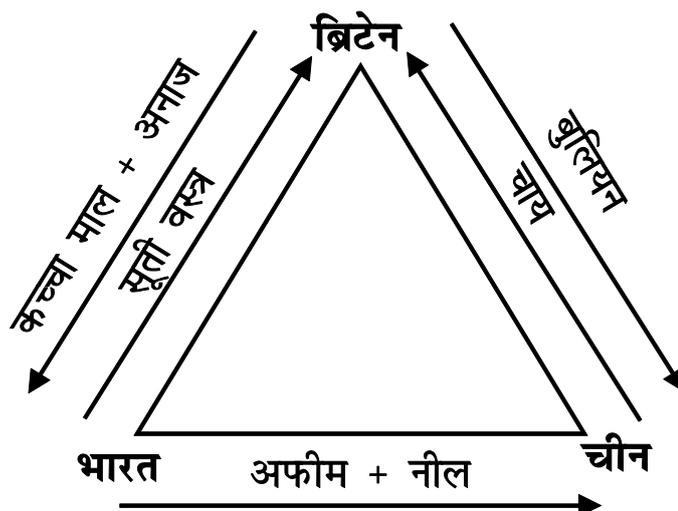
4.3.2 धन का निष्कासन

धन के निकासी से हमारा तात्पर्य है भारत की राष्ट्रीय संपदा अथवा कुल राष्ट्रीय उत्पादन का एक भाग इंग्लैंड निर्यातित किया जा रहा था जिसके बदले में भारत को कोई आर्थिक या भौतिक लाभ नहीं मिल रहा था। दूसरे शब्दों में भारत को धन के निष्कासन के माध्यम से परोक्ष रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिये 'खिराज' या 'नजराना' देने के लिये बाध्य किया जा रहा था। धन का निष्कासन या आर्थिक निष्कासन शब्द का उदय वाणिज्यिक सोच के अंतर्गत हुआ जो निर्यात अधिशेष के परिप्रेक्ष्य में विवेचित की गयी। यह शब्द 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आया था जिसका अभिप्राय था 'भारत से इंग्लैंड की ओर धन की निकासी। इस सिद्धांत का प्रतिपादन सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया में किया। नौरोजी ने अपने आरंभिक तीन लेखों में इस सिद्धांत पर प्रकाश डाला था।

नौरोजी के सिद्धांत का समर्थन रमेशचंद्र दत्त ने भी अपनी पुस्तक में किया है। रजनीपाम दत्त ने निकासी की इस पूरी प्रक्रिया को समझाने के लिये उसे तीन चरणों में विभाजित किया है। जिसे उपनिवेशवाद का तीन चरण कहा गया है जिसका विश्लेषण पहले ही किया जा चुका है। यद्यपि ये विभाजन अध्ययन की सुविधा के लिये किया गया था तथापि यह विभाजन उपनिवेशवादी भारतीय अर्थव्यवस्था की निरंतरता एवं परिवर्तन की जानकारी देने में भी सहायक रहा।

यहाँ होना यह चाहिए था कि जो पौंड-स्टर्लिंग बोर्ड ऑफ कंट्रोल / भारत सचिव के कार्यालय में जमा हुआ था, उसे भारत सरकार को स्थानांतरित कर दिया जाना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं हो सका और इसका समायोजन गृह-व्यय के रूप में कर लिया गया, अर्थात् भारत में ब्रिटेन से कोई धन नहीं आया और भारतीय धन से ही भारतीय वस्तुओं को खरीदकर ब्रिटेन निर्यात कर दिया गया। यही धन का निष्कासन है। चाँदी पर आधारित भारतीय मुद्रा और सोने पर आधारित ब्रिटिश पौंड के विनिमय दर का निर्धारण ब्रिटिश सरकार हमेशा अपने पक्ष में करती थी जिससे उन्हें भारतीय वस्तुएं और भी अधिक सस्ते दर पर प्राप्त हो जाती थी। यह विनियम दर भी निष्कासन का एक रूप था।

भारत से धन के निष्कासन का एक और रूप या जो भारत में ब्रिटिश अधिकारी तथा ब्रिटिश व्यापारी के माध्यम से होता था। वे निम्नलिखित रेखाचित्र से समझा जा सकता है।



यदि भारत सरकार के पास जमा धन ब्रिटिश सरकार के पास जाता तो यह निष्कासन का एक सरल रूप होता, लेकिन इस धन के एवज में ब्रिटिश सरकार भारत से कच्चा माल तथा अनाज आयातित करती थी जिससे निष्कासन की वास्तविक मात्रा बढ़ जाती थी। विडंबना यह भी थी कि इन वस्तुओं का मूल्य निर्धारण भी ब्रिटेन के हित में किया जाता था। यहाँ तक की इन वस्तुओं को जिस जहाज रानी कंपनियाँ, बैंकिंग कंपनियाँ, आयात-निर्यात फर्म, बीमा कंपनियों का प्रयोग किया जाता था उन सब पर ब्रिटिश पूंजीपतियों का नियंत्रण था और इस तरह ये मुनाफे भी उसी के खाते में जाते थे।

गृह व्यय की राशि वह राशि थी जो ब्रिटेन, भारत में अपने शासन के एवज में वसूलती थी। इसमें ब्रिटिश अधिकारियों का वेतन, पेंशन, सेना का खर्च, सैन्य सामग्रियों की खरीददारी रेलवे में लगी पूंजी पर दिया जाने वाला ब्याज और म्बू को दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की रकम भी शामिल थी। यदि इस गृह व्यय की राशि निर्यात अधिशेष से अधिक होती थी तो इस अंतर को भारत सरकार पर कर्ष मान लिया जाता था और इस कर्ष पर ब्याज लगता था तो भी चक्रवृद्धि ब्याज। आगे ले जाने की यह स्थिति भी धन के निष्कासन का रूप था।

4.3.2.1 धन के निष्कासन से संबंधित वाद-विवाद

धन का निष्कासन ब्रिटिश कालीन भारत की एक महत्वपूर्ण सच्चाई थी। और इस सच्चाई को सभी विचारधाराओं के विद्वानों ने स्वीकारा भी केवल साम्राज्यवादी इतिहासकार इस सिद्धांत को पूरी तरह खारिश करते हैं। धन के निकासी की जो सच्चाई थी इसकी स्वीकार्यता को लेकर राष्ट्रवादी व साम्राज्यवादी विद्वानों में बहस होती रही। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इसे भारत की गरीबी का एक प्रमुख कारण माना है। इसी धन के निष्कासन के कारण गरीबी पनपी और इसी ग्रामीण ने ग्रामीण दृणग्रस्तता का रास्ता प्रशस्त कर दिया। दूसरे शब्दों में भारतीय गरीबी ब्रिटिश शासन की देन है न कि मुगलों की। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने आगे कहा है कि राष्ट्रीय धन का

विदेशों में स्थानान्तरण का एक महत्वपूर्ण एवं नकारात्मक प्रभाव दे के अंदर भी अनाथ व रोजगार पर पड़ा परिणामस्वरूप भारत में औद्योगिकरण के लिये आवश्यक पूंजी का अभाव हो गया जिसके कारण औद्योगिकरण संभव नहीं हो सका। यही कारण है कि भारतीय अर्थव्यवस्था की निर्भरता ब्रिटिश पूंजी पर बढ़ती चली गयी।

राष्ट्रवादी चिंतक नौरोजी एवं आर.सी. दत्त एवं अन्य ने धन की निकासी की तीव्र आलोचना की और इसे उन्होंने भारत की दरिद्रीकरण का कारण माना। दूसरी तरफ मारिसन जैसे ब्रिटिश पक्षधर विद्वान धन के निकासी की स्थिति को अस्वीकार करते हैं। उनके द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है गृह व्यय की राशि बहुत अधिक नहीं थी और फिर यह रकम भारत के विकास के लिये आवश्यक थी। उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश ने भारत में अच्छी सरकार दी तथा यहाँ यातायात और संचार व्यवस्था तथा उद्योगों का विकास किया और फिर ब्रिटिश ने बहुत ही कम ब्याज पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार से एक बड़ी रकम भारत को उपलब्ध करवायी। दूसरी तरफ राष्ट्रवादी विद्वानों का कहना था कि भारत को वह पूंजी की शरूत नहीं थी जो ब्रिटिश ने उस समय उसे उपलब्ध कराई। दूसरे अगर भारत में स्वयं पूंजी संचय हुआ होता तो फिर उसे कर्ज लेने की शरूत नहीं होती। धन निकासी की व्याख्या में राष्ट्रवादियों ने इस बात पर भी जोर दिया कि निकासी के कारण भारत ने न केवल वर्तमान में रकम खो दी वरन् भारत उस लाभ से वंचित रह गया जो उस रकम को निवेशित करने से उसे प्राप्त होता।

धन की निकासी के संबंध में मार्क्सवादी इतिहासकारों का कहना है कि राष्ट्रवादियों की इस अवधारणा को सिद्ध करना कठिन है, क्योंकि, प्रथमतः राष्ट्रवादियों ने निकासी को विशुद्ध पूंजी मान लिया तथा द्वितीय उस समय के भारतीय कुलीन तथा नवाब जो मुख्यतः इन संसाधनों पर आधिपत्य जमाए हुए थे, वे कर अधिशेष का उचित प्रयोग नहीं किए। अतः यह कहना कठिन है कि निकासी की धन राशि भारतीय कुलीन वर्ग द्वारा भी निवेश में ही प्रयोग की जाती। कुल मिलाकर राष्ट्रवादियों के आलोचना को मार्क्सवादियों ने एक सीमा बता दी लेकिन फिर भी मार्क्सवादी इस बात को मानते हैं कि धन की निकासी न होती तो बहुत ज्यादा न सही लेकिन फिर भी भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसका सकारात्मक असर पड़ता है।

उपरोक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होती है कि भारतीय अर्थव्यवस्था पर इस निकासी का नकारात्मक प्रभाव पड़ा और एक ऐसे समय इस धन का निष्कासन हो गया जब भारत में पूंजीवादी संभव हो सकता था। इस सिद्धांत का महत्व इस बात में है कि इसने भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के स्वरूप को उशागर कर दिया जो संभवतः उदारवादी राष्ट्रवादियों का भारतीय आंदोलन में सबसे बड़ा योगदान था।

4.3.3 ब्रिटिश व्यापार व राजकोषीय नीति का मूल्यांकन

ब्रिटिश व्यापार व राजकोषीय नीति का भारतीय अर्थव्यवस्था पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव अत्यंत न्यूनरूप से सकारात्मक था तथा वृद्ध रूप से नकारात्मक था। सकारात्मकता यहीं थी कि इस नीति से भारतीय अर्थव्यवस्था एक बार चरण में प्रवेश की जबकि नकारात्मक बिंदुओं में प्रथमतः या धन का दोहन। यह दोहन भारत से किया गया तथा ब्रिटेन भेजा गया जिससे यहां पूंजी का अभाव तथा निर्धनीकरण हुआ दूसरी ओर ब्रिटेन में इसी से औद्योगिक क्रांति हुयी। इस दोहन से कृषि-उद्योग संबंध वाली परंपरागत आर्थिक संरचना का विघटन हुआ; शिल्पकार, दस्तकार बेरोजगार हुये; विऔद्योगिकरण बढ़ा, कृषि पर बोझ बढ़ा, बागवानी फसलों को प्रोत्साहन दिया गया तथा खाद्यान्न का अभाव हुआ जिससे अकालों की बारंबारता बढ़ी, ग्रामीण ऋणग्रस्तता और ग्रामीण गरीबी में वृद्धि हुयी तथा भारतीय अर्थव्यवस्था में ठहराव आया। ब्रिटिश व्यापार व राजकोषीय नीति का सत्य मद्रास के बोर्ड ऑफ रेवेन्यू के अध्यक्ष जोन सुलविन के इस कथन से प्रकट होता है जिसमें उन्होंने कहा है कि “हमारी प्रणाली बहुत हद तक स्पंज का काम करती है जो गंगा के तट से सभी अच्छी चीजों को सोखकर टेम्स के मुहाने पर निचोड़ देती है।”

4.4 विऔद्योगिकरण

विऔद्योगिकरण से तात्पर्य किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक क्षमता में गिरावट से है। किसी भी अर्थव्यवस्था में यह स्थिति तब आती है जब उद्योगों का अंशदान कम होता जाता है और गैर औद्योगिक क्षेत्र का अंशदान बढ़ता जाता है। दूसरे शब्दों में जब अर्थव्यवस्था में द्वितीयक क्षेत्र की भागीदारी कम होती जाती है और प्राथमिक क्षेत्र की भागीदारी बढ़ती जाती है तो स्थिति विऔद्योगिकरण की होती है। ब्रिटिश भारत के काल में भारतीय अर्थव्यवस्था को भी एक ऐसी ही स्थिति से गुजरना पड़ा जिसके लिये विऔद्योगिकरण शब्द का प्रयोग किया जाता है।

विऔद्योगिकरण का विचार प्रथमतः दादा भाई नौरोजी ने 19वीं सदी के अंत में दिया था, जिसका समर्थन बाद में रमेशचंद्र दत्त जैसे विद्वानों ने किया। नौरोजी और दत्त ने इस प्रक्रिया की तार्किक व्याख्या की है और आँकड़ों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारत में अंग्रेजों की उपस्थिति का सीधा परिणाम था-विऔद्योगिकरण। वहीं साम्राज्यवादी इतिहासकारों, जिसमें डी. थार्वट और माटिश-डी-मॉरिश प्रमुख हैं, इस विचार का खंडन करते हुये इसे एक मिथक बताया और कहा “भारत में उद्योगों का पतन अपरिहार्य था क्योंकि भारतीय उद्योग आधुनिकीकरण की कीमत चुका रहे थे।” इस प्रकार ब्रिटिश शासन के अधीन भारत की अर्थव्यवस्था के रूपांतरण को लेकर ब्रिटिश राज आलोचकों और उसके प्रवक्ताओं के बीच बहस होती रही है।

किंतु, भारतीय हस्तशिल्प उद्योग का विनाश ब्रिटिश आर्थिक नीतियों का स्वाभाविक परिणाम था क्योंकि जब प्राक् उत्पादन प्रणाली पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से जुड़ती है तो इस परिवर्तन के क्रम उसका टूटना अनिवार्य है। इसकी खना के उपाय कृत्रिम और अप्राकृतिक होंगे, ऐसी मार्क्सवादी अवधारणा है। उदाहरण के लिये इंग्लैंड एवं अन्य यूरोपीय देशों को भी इस प्रक्रिया से गुजरना पड़ा, लेकिन यहाँ उल्लेखनीय तथ्य है कि उन देशों की स्थिति भारत से भिन्न थी। वहाँ हस्तशिल्प के विनाश के साथ-साथ फैक्ट्री प्रणाली विकसित हुई। इस फैक्ट्री प्रणाली से अधिक उत्पादन हुए और अधिक उत्पादन से अधिक रोजगार उत्पन्न हुए। अधिक रोजगार से अधिक आय और अधिक आय अधिक बचत हुई और इस बचत का उपयोग निवेश में किया गया। इस प्रकार यूरोपीय देशों में इस प्रक्रिया से एक सुचक्र बना यही कारण है कि इंग्लैंड एवं अन्य यूरोपीय देशों में हस्तशिल्प के विनाश के साथ ही आधुनिक उद्योगों की स्थापना हुई अर्थात् पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की शुरुआत हुई, जिससे इन देशों में समृद्धि आई।

लेकिन भारत की स्थिति ब्रिटेन सहित अन्य यूरोपीय देशों से अलग थी। यहाँ हस्तशिल्प का विनाश तो हुआ किंतु उसकी क्षतिपूर्ति में फैक्ट्री प्रणाली का विकास नहीं हो पाया जो आधुनिक उद्योगों का आधार बनते। स्वभावतः भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ा। हस्तशिल्प उद्योगों के ह्रास से ग्रामीण मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुयी क्योंकि कारीगर एवं दस्तकार काम के अभाव में ग्रामीण क्षेत्रों की ओर पलायन कर गए। परिणामस्वरूप व्यक्ति और कृषि को संतुलन बिगड़ गया क्योंकि जिस अनुपात में कृषि में लोगों की निर्भरता बढ़ी उसी अनुपात में कृषि की उत्पादकता में वृद्धि नहीं हुई। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कृषि, जो भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ थी, टूट गई।

कार्ल मार्क्स से लेकर रमेशचंद्र दत्त तक सभी विद्वानों ने 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध और पूरी 19वीं शताब्दी के दौरान भारत में हुए विऔद्योगीकरण और उसके फलस्वरूप हुए विनगरीकरण के पक्ष में काफ़ी प्रमाण एकत्रित किए हैं। मार्क्स ने टिप्पणी की सूती वस्त्र के निर्यातक देश को सूती वस्त्र के आयातक देश में तब्दील कर दिया गया। वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश पक्षधर इतिहासकार इसका खंडन करते हैं और कहते हैं कि यदि भारतीय लोगों को सस्ता ब्रिटिश वस्त्र उपलब्ध होगा तो वे इसे और अधिक उपयोग में ला सकते हैं। यदि दस्तकार और शिल्पियों को रोजगार नहीं किलता है तो वे कृषि अर्थव्यवस्था से जुड़ सकते हैं और वैश्विक अर्थव्यवस्था में अपी महत्वपूर्ण भागीदारी निभा सकते हैं।

साम्राज्यवादी इतिहासकार मॉरीस यह नहीं मानते कि कुटीर उद्योग विशेष कर दस्तकारी उद्योग में जो गिरावट आई, वह ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की देन है। वे इसके पतन के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में देखते हैं जो निम्नलिखित हैं।

- (1) भारत में राजनीतिक एकता व स्थिरता का अभाव था जिससे प्रशासनिक व्यवस्था का विकास नहीं हो पाया।
- (2) भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था का तकनीकी ज्ञान व उत्पादन का स्तर अत्यंत निम्न था।
- (3) सिंचाई के साधन विकसित अवस्था में नहीं थे।
- (4) परिवहन व संचार व्यवस्था नहीं थी।
- (5) मुद्रा के रूप में धातुओं का प्रचलन सीमित था।

इन परिस्थितियों में भारत का उत्पादन स्तर मध्यकालीन सामंती यूरोप के समान था।

मॉरीस का यह भी मानना है कि जनसंख्या में वृद्धि और खपत की आदतों में परिवर्तन के कारण मांग में काफी वृद्धि हो रही और भारत का बाजार इतना बड़ा था कि वह एक ही साथ भारतीय हस्तशिल्प उत्पाद एवं मैनचेस्टर एवं लंकाशायर के उत्पाद की खपत कर सकता था। अतः भारतीय बुनकरों को मैनचेस्टर या लंकाशायर के आयातित वस्त्रों ने बाजार से नहीं हटाया बल्कि वह अपनी अंतर्निहित कमजोरियों के कारण स्वयं बाजार से बाहर हो गया। साथ ही मॉरीस ने यह भी कहा है कि ब्रिटेन से आयातित धागों से भारतीय बुनकरों को लाभ प्राप्त हुआ और अब वे ब्रिटिश वस्तुओं का बेहतर मुकाबला करने में सक्षम थे।

प्रसिद्ध इतिहासकार सुमित सरकार ने मॉरीस सहित सभी साम्राज्यवादी इतिहासकारों के विचारों को अस्वीकार करते हुए कहा है कि उनका दिया गया तर्क संदिग्ध है क्योंकि उन्होंने अपने तर्कों को प्रमाणित करने के लिये कोई सांख्यिकीय आँकड़े प्रस्तुत नहीं किए हैं। वे सस्ते धागे के संबंध में करते हैं कि मॉरीस ने इस बात की अपेक्षा की है कि-

- (1) सूत काटने वाले का धंधा बंद हो गया और वे बेरोजगार हो गये।
- (2) बुने हुए वस्त्रों की कीमत में गिरावट के कारण बुनकरों को कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि प्रौद्योगिकी के विकास में कमी के कारण भारतीय उत्पादन की लागत में इंग्लैंड की तुलना में अपेक्षाकृत कम कमियाँ हुईं।
- (3) सूत की तुलना में ब्रिटिश कपड़ों की कीमतें और ज्यादा कम हो गयी थी।

इन तर्कों के आधार पर सुमित सरकार का मानना है कि जहाँ लंकाशायर और मैनचेस्टरों के उत्पादकों को कताई और बुनाई दोनों की लागत कम होने का लाभ प्राप्त हुआ वहीं दूसरी ओर भारतीय बुनकरों को यद्यपि सस्ते आयातित धागे का लाभ तो प्राप्त हुआ लेकिन उन्नत

प्रौद्योगिकी का लाभ नहीं मिल पाया, जिससे भारतीय वस्त्रों की उत्पादन लागत ब्रिटिश वस्त्रों की उत्पादन लागत से अपेक्षाकृत अधिक थी यही कारण है कि वे आयातित ब्रिटिश वस्त्रों का मुकाबला नहीं कर सके।

प्रसिद्ध विद्वान विपिन चंद्रा का मानना है कि मॉरीस का यह तर्क गलत है कि भारत में औद्योगिककरण की परिस्थितियाँ अस्तित्व में थी। औद्योगिककरण का ब्रिटिश मॉडल ब्रिटेन के लिये उपयुक्त था न कि भारत के लिये। यहाँ तक की रेलवे में भी जो भारी पूंजी निवेश किया गया और इस पूंजी निवेश द्वारा जिस रेलवे का विकास किया गया वह भारतीय जरूरतों की बजाय ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों की जरूरतों के अनुरूप था। यद्यपि इस समय ब्रिटेन के पास विश्व की सबसे अधिक अत्याधुनिक तकनीक थी लेकिन इस तकनीक का भारतीय उत्पादन प्रणाली में कोई योगदान नहीं था। कृषि के वाणिज्यिकरण से कुछ लाभ अवश्य मिला लेकिन यह लाभ भी विदेश भेज दिया गया। परिणामतः कृषि उत्पादकों को इस वाणिज्यिकरण से कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि यह स्वतः स्फूर्त नहीं था और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के दबाव में लाया गया था। भारत की बेहतर प्रशासनिक व्यवस्था भी ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों के अनुरूप थी न कि भारतीय हितों के।

प्रसिद्ध विद्वान तपन राय चौधरी का विचार है कि भारत में वाणिज्य और व्यापार विकसित अवस्था में था। समुद्री तटों एवं उसके आस-पास के क्षेत्रों जैसे कोरोमंडल तट, मालाबार तट तथा कोंकण तट आदि क्षेत्रों में पूंजी विकास की पर्याप्त संभावनाएं थी। उन्होंने मॉरीस के उस तर्क की आलोचना की है जिसमें कहा गया है राजनीतिक अस्थिरता औद्योगिककरण के मार्ग में बाधक थी क्योंकि कई प्रमुख यूरोपीय देश जैसे-जर्मनी, इटली, नीदरलैंड आदि देशों में राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद औद्योगिककरण हुआ। 1860 एवं 1870 के दशक में भारतीय अर्थव्यवस्था की विशालता उस समय के जापान के कुल उत्पादन और बाजार क्षेत्रों से रहीं आगे थी। अब भारत में भी जापान एवं अन्य यूरोपीय देशों की तरह तत्कालीन परिस्थितियों में भी औद्योगिककरण संभव था। राय चौधरी का मानना है कि भारतीय औद्योगिककरण की वास्तविक कठिनाई यह थी कि भारत में इसके लिये पूंजी का जमाव नहीं हो पाया क्योंकि औद्योगिककरण के लिये जिस पूंजी की आवश्यकता थी उस पूंजी का निष्कासन अंग्रेजों द्वारा उस समय कर लिया गया जिस समय भारत में इसकी सबसे ज्यादा आवश्यकता थी।

भारत में औद्योगिककरण के पक्ष में तर्क देते हुए राष्ट्रवादी इतिहासकारों विशेषकर दादा भाई नौरोजी एवं रमेशचंद्र दत्त ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि ब्रिटिश काल में भारत में काफी तेजी से विऔद्योगिकरण हो रहा था। अपने विचारों की पुष्टि के लिये उन्होंने सांख्यिकीय आँकड़े प्रस्तुत किए हैं जो 1881 से 1931 तक के जनगणना पर आधारित हैं, जिसके अनुसार पुरुष कार्यशक्ति 65 प्रतिशत से बढ़कर 72 प्रतिशत हो गयी जबकि औद्योगिक क्षेत्र में यह 16

प्रतिशत से घटकर 9 प्रतिशत हो गयी। ऐसा ही आँकड़ा महिला-श्रमशक्ति के संबंध में भी प्रस्तुत किया गया।

डेनियल एवं एलिस थार्नर अपने लेख में कहा है कि उपरोक्त आँकड़े भ्रांतिपूर्ण है क्योंकि श्रेणीबद्ध अस्पष्टता पर आधारित है क्योंकि कृषि कार्य को दूसरी श्रेणियों, सामान्य श्रमिकों और इसी तरह के अन्य श्रमिकों के साथ मिला दिया गया है, वहीं दूसरी ओर व्यापार से जुड़े श्रमिकों को औद्योगिक वर्ग के श्रमिकों के साथ नहीं रखा गया है। अगर ऐसा किया जाए तो पूरा परिदृश्य ही बदल जाएगा और औद्योगिक क्षेत्र में गिरावट मात्र 3 प्रतिशत हो जाएगी। आगे थार्नर ने महिला श्रम शक्ति से संबंधित आँकड़े को भी इसी आधार पर गलत बताया है और कहा है कि जनगणना अधिकारियों ने सही आँकड़े एकत्रित नहीं किए हैं। इस विश्लेषण के आधार पर थार्नर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जनगणना संबंधी विऔद्योगिकरण का कोई समुचित आधार प्रस्तुत नहीं करते।

कृष्णामूर्ति और आमिया बागची ने थार्नर के विचारों का खंडन किया है लेकिन इन दोनों विद्वानों के खंडन का आधार अलग-अलग है। जहाँ कृष्णामूर्ति ने तात्कालीन वितरणों को अपने अध्ययन का आधार बताया है वहीं बागची ने अपन बात कहने के लिये सांख्यिकीय आँकड़े का प्रयोग किया है। कृष्णामूर्ति ने एक ब्रिटिश अधिकारी हेमिटटन के विवरणों को उद्धृत किया है जिसके अनुसार बिहार के गंगा के मैदान में सूती वस्त्र काफी विकसित अवस्था में थे। उच्च कोटि के रेशमी और सूती वस्त्र ढाका और मुर्शिदाबाद में निर्मित होते थे, लेकिन देशी रजवाड़ों के पतन और भारतीयों की क्रमशक्ति में कमी के कारण इन उद्योगों का पतन हो गया। कृष्णामूर्ति ने एक-दूसरे सर्वे को लिया है जो 1864 में पटना के तात्कालीन कमिशनर द्वारा प्रस्तुत किया गया था, जिसमें कहा गया है कि सूती-वस्त्र उद्योग जो 20 वर्ष पहले अधिक विकसित अवस्था में था अब मैनचेस्टर एवं लंकाशायर के आयातित वस्त्रों के कारण पतन की ओर है। कृष्णामूर्ति ने तीसरा सर्वे लिया है जो 1874 की रिपोर्ट पर आधारित है जिसमें कहा गया है कि घरेलू उपयोग के लिये निर्मित वस्तुएँ बाजार से बाहर हो गयी है और उसका स्थान ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं ने लिया है। कृष्णामूर्ति ने चौथा सर्वे लिया है 1892 का, जो छणछण् ठंदमतरमम का आकलन है जिसके अनुसार इंग्लैंड में निर्मित वस्तुओं के कारण भारतीय वस्तुएँ हासिए पर चली गयी। उपरोक्त सर्वेक्षणों के आधार पर कृष्णामूर्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत न सिर्फ सूती व रेशमी वस्त्र उद्योग वरन् अन्य कूटीर उद्योगों में भी गिरावट आई और इस उद्योग में लगे लोग दूसरे व्यवसायों की ओर स्थानांतरित होते चले गया। इस पतन के लिये ब्रिटिश आर्थिक नीति सीधे तौर पर जिम्मेदार थी।

आमिया बागची ने अपने लेख 'कमपदकनेजतपंसप्रंजपवद पद व्दरमजपब ठपीत (1809-1901) में 19वीं सदी के आरंभ में बिहार के अनेक जिलों के 'बुखान-हेमिल्टन र्सेक्षण' एवं

1901 के जनगणना के आँकड़ों को सावधानीपूर्वक तुलना करने का प्रयास किया है। उन्होंने इन आँकड़ों के आधार पर यह दर्शाया है कि उद्योगों पर आश्रित जनसंख्या 18 प्रतिशत से घटकर 8 प्रतिशत रह गयी थी तथा सूत काटने वाले और बुनने वालों की संख्या में भारी कमी हुई थी। इन आँकड़ों के आधार पर बागची का मानना है कि ब्रिटिश शासनकाल में भारत में विऔद्योगीकरण का दौर आया था।

विऔद्योगीकरण के संबंध में एक रोचक तथ्य यह है कि इसका प्रभाव सभी परंपरागत उद्योगों पर एक समान नहीं पड़ा। कुछ ऐसे देशी उत्पाद व व्यवसायी थे जिसका विकल्प विदेशी आयात नहीं दे सकते थे। कुम्हार, लोहार एवं बढ़ई के शिल्प भी पूर्ववत् अस्तित्व में बने रहे। दूसरी ओर ग्रामीण इलाकों में बहुत से स्थानों पर एकीकृत बाजार उपलब्ध नहीं थे। इस वशह से बहुत से विदेशी उत्पाद गाँव तक नहीं पहुँच सके। इसके अतिरिक्त रोजगार का कोई अन्य साधन उपलब्ध नहीं होने के कारण अनार्थिक होने के बावजूद कुछ शिल्प उद्योग जबरन अस्तित्व में बने रहे। दूसरे शब्दों में, विऔद्योगीकरण के दौर में भी कुछ शिल्पों का अस्तित्व बना रहा।

4.4.1 विऔद्योगीकरण का प्रभाव

विऔद्योगिकरण का भारतीय अर्थव्यवस्था पर बहुत ही घातक प्रभाव पड़ा विशेषकर इसलिये भी कि इसके समानान्तर भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास नहीं हो सका जैसा कि ब्रिटेन सहित यूरोप के दूसरे देशों में हुआ था। विऔद्योगिकरण के प्रभाव से भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित परिवर्तन के चित्र दृष्टिगोचर होते हैं-

- (1) हस्तशिल्प उद्योगों के पतन के कारण इस उद्योग से जुड़े तमाम शिल्पी और दस्तकार बेरोजगार हो गए। इस बेरोजगारी ने भारतीय अर्थव्यवस्था के लिये अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी।
- (2) कारीगर और दस्तकार कोई अन्य विकल्प न देखकर कृषि अर्थव्यवस्था की ओर मुड़ गए, लेकिन कृषि बहुत बड़ी जनसंख्या को आत्मसात करने में असफल रही। जिस अनुपात में कृषि से जुड़े लोगों में वृद्धि हुयी उसी अनुपात में उत्पादन में वृद्धि नहीं हुई। इससे कृषि और जनसंख्या के बीच का संतुलन बिगड़ गया।
- (3) कृषि पर जनसंख्या के अत्यधिक दबाव ने ग्रामीण गरीबी को जन्म दिया। इस ग्रामीण गरीबी ने ग्रामीण दृणग्रस्तता का मार्ग प्रशस्त किया।
- (4) ग्रामीण दृणग्रस्तता ने ग्रामीण बचत को सीमित कर दिया। बचत में कमी के कारण ये विकास कृषि में निवेश करने में सक्षम नहीं रहे और निवेश के अभाव में नवीन-प्रौद्योगिकी का ये प्रयोग नहीं कर पाए।

- (5) विऔद्योगीकरण के कारण कृषि अर्थव्यवस्था ने भविष्य में होने वाले औद्योगीकरण के लिये वह आधार प्रदान नहीं किया जो आधार यूरोपीय देशों को मिला था।
- (6) विऔद्योगीकरण के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में मंदी या ठहराव का दौर आया। यही वशह है कि भारतीय उद्योगों में निवेश करने से बचते रहे।
- (7) इन सबका सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि भारतीय अर्थव्यवस्था गरीबी के दुष्चक्र में फँस गयी जिसके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था का समुचित विकास नहीं हो पाया।

विऔद्योगीकरण की इस प्रक्रिया के विश्लेषण से इसकी वृहद नकारात्मकता निकल कर सामने आती है। बहुत ही सीमित मात्रा में इसका एक ही सकारात्मक लक्षण था जो यह था कि हस्तशिल्प उद्योग पूंजीवादी उद्योगों का पूर्व रूप होते हैं अतः इनका पतन आधुनिक उद्योगों के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। इस तरह सैद्धांतिक दृष्टि से भारत में यह मार्ग प्रशस्त हुआ जो व्यवहार में ब्रिटिश काल तक तो नहीं आया। विऔद्योगीकरण की इस प्रक्रिया में परंपरागत उद्योगों के पतन के साथ आधुनिक उद्योगों का विकास नहीं हुआ। फलतः बेरोजगारी में वृद्धि हुई, जिससे कृषि पर बोझ बढ़ा, उत्पादन में कमी आयी, अकाल की संख्या में वृद्धि हुयी, भारत एक पिछड़े निर्धन कर्षदार देश के रूप में सामने आया जो भारतीय औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का प्रमुख अभिलक्षण बन गया।

4.5 महिला स्थिति

भारतीय समाज प्राचीन काल से एक परंपरावादी प्रवृत्ति को धारण किये हुये था। यहां की पारिवारिक व्यवस्था पितृसत्तात्मक थी। संपत्ति में दाय भाग पर सिर्फ पुरुषों का ही हिस्सा था। 18वीं सदी का भारत भी इसी प्रवृत्ति के साथ आगे बढ़ रहा था परिवार में वरिष्ठ पुरुष सदस्य को विशेष स्थिति प्राप्त थी। केरल में नायर समाज ही एकमात्र मातृप्रधान समाज था इसके अलावा हर जगह औरतों पर पुरुषों का लगभग पूरा नियंत्रण था। उनसे आशा की जाती थी कि वे माताओं और पत्नियों की ही भूमिका निभाएं। इन रूपों में उनको काफी आदर-सम्मान दिया जाता था। यद्यपि 18वीं सदी की राजनीति में कुछ महिलाओं ने महत्वपूर्ण भूमिकाएं भी निभाई हैं। अहिल्या बाइ ने इंदौर पर 1766 से 1796 तक बड़ी सफलता के साथ शासन किया। इनके अलावा कई मुसलमान महिलाओं ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उच्च वर्ग की महिलाओं को घर से बाहर काम नहीं करना होता था मगर कृषक औरतें आम तौर से खेतों में काम करती थी और गरीब वर्गों की औरतें परिवार की आमदनी में अपनी प्रमुख भूमिका का निर्वहन करती थी। पर्दा प्रथा का प्रचलन मुख्यतः उत्तर भारत में था इसके पीछे मूलतः यहां की तात्कालिक स्थिति जिम्मेदार थी जिसने निरंतर वाहय आक्रमणों का सामना किया था: दक्षिण भारत में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था। बाल विवाह प्रथा सारे देश में प्रचलित थी। दुलहन को

दहेज देने की प्रथा भी व्यापकता के साथ प्रचलित थी जिसमें बंगाल व राजपुताना प्रमुख थे किंतु महाराष्ट्र में पेशवा ने इसे प्रभावशाली ढंग से दबा दिया गया था।

1.5.1 महिलाओं के प्रति व्याप्त सामाजिक कुरीतियाँ

18वीं सदी के भारत में दो बड़ी सामाजिक कुरीतियों में सती प्रथा व विधवाओं की खराब स्थिति थी। इसके अलावा शिशु वध व स्त्री शिक्षा भी भारतीय समाज के लिये चुनौती थी।

4.5.1.1 सती प्रथा

इस प्रथा के अंतर्गत एक विधवा अपने मृत पति के शव के साथ जल भरती थी। यह प्रथा मुख्यतः राजपुताना, बंगाल, उत्तरी भारत के अन्य हिस्सों में प्रचलित थी। यह प्रथा दक्षिण भारत में प्रचलित नहीं थी व मराठों ने इसे बढ़ावा नहीं दिया।

4.5.1.2 विधवाओं की स्थिति

भारतीय समाज में विधवाओं से यह आशा की जाती थी कि वह सांसारिक सुखों का त्याग कर दें और पति के परिवार के सदस्यों की निःस्वार्थ सेवा करें। इनका जीवन अत्यधिक कठोर था। हिंदु विधवा की अवस्था आमतौर पर बहुत दयनय होती थी। उसके कपड़े, भोजन, आने-जाने आदि पर सब प्रकार के प्रतिबंध थे।

4.5.1.3 शिशु वध

मध्यकालीन भारत से ही यह प्रथा विशेष रूप से बंगालियों एवं राजपूतों में प्रचलित थी। बचपन में ही बालिकाओं को आर्थिक व सामाजिक प्रतिष्ठा के विरुद्ध मानकर उनकी हत्या कर दी जाती थी। हत्या का जो सामान्य प्रचलित तरीका था - वह शिशुओं को मादक पदार्थ देकर अथवा भूखा रखकर हत्या करना था। महाराजा रणजीत सिंह के पुत्र दिलीप सिंह ने उल्लेख किया है कि 'उसने स्वयं अपने नेत्रों के सामने अपनी बहनों को बोरी में बंद कर नदी में फेंकते हुए देखा है।

4.5.1.4 स्त्री शिक्षा

वैदिक काल के उपरांत ही स्त्रियों के शिक्षा स्तर में निरंतर हास होता गया। 19वीं सदी आते-आते स्त्री शिक्षा की स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गयी। इस काल में मनगढ़ंत जनश्रुति प्रचलित थी कि हिन्दू शास्त्रों में स्त्री शिक्षा की अनुमति नहीं है और शिक्षित स्त्री को देवता लोग वैधव्य का दंड देते हैं।

4.5.2 महिला सुधार आंदोलन

19वीं सदी में नवीन विचारधारा तथा दृष्टिकोण से समाज सुधारकों का ध्यान सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों की ओर गया। इसी प्रक्रिया में महिलाओं की दशा में सुधार का प्रश्न प्रमुख चुनौती के रूप में उभरा। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस विचारधारा को बल प्रदान किया। चेम्स मिल जैसे ब्रिटिश चिंतकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि किसी भी समाज में महिलाओं की दशा उस समाज के विकास के स्तर को दर्शाती है। इसके अलावा ईसाई मिशनरियों ने भी महिलाओं की दयनीय दशा को सुधारने का प्रयास किया। किंतु इस दिशा में प्रथम सशक्त प्रयास राजा राममोहन राय ने किया।

राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध आरंभिक प्रभावशाली आंदोलन चलाया। यद्यपि मध्यकाल में अकबर व मराठा पेशवाओं ने भी इस क्रूर प्रथा पर रोक लगायी। ब्रिटिश राज्य में अंग्रेजों की नीति इसके प्रति तटस्थता की रही फिर भी लार्ड कार्नवालिस, लार्ड मिंटो, तथा लार्ड हेस्टिंग्स जैसे गवर्नर जनरलों ने सती प्रथा को सीमित करने का प्रयत्न किया। इन प्रयत्नों में सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस क्रूर बलि के समय पुलिस अधिकारियों की उपस्थिति आवश्यक बना दी गयी थी ताकि लोग सती होने के लिये विवश न कर सकें। किंतु, ये सारे प्रयत्न पर्याप्त थे। 1833 के चार्टर के नवीनीकरण पर संसद में होने वाली बहस पर कंपनी के डायरेक्टरों ने विलियम बैटिक को यह सुझाव दिया कि वे इस प्रथा की समाप्ति के लिये प्रभावशाली कदम उठायें। बैटिक ने 1829 में अधिक नियम-17 के अनुसार विधवाओं को जीवित जलाने की प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया और ऐसे मामलों में सती होने के लिये प्रेरित करने वाले व्यक्तियों को सदोष मानव हत्या का दोषी माना गया। यह नियम पहले बंगाल फिर 1870 में बंबई व मद्रास में लागू हुआ।

विधवा पुनर्विवाह के बारे में सबसे क्रांतिकारी एवं प्रभावशाली पहल ईश्वरचंद विद्यासागर ने की। उन्होंने विधवा विवाह को भारतीय संस्कृति के सम्मत सिद्ध करने का प्रयास किया। इन्हीं के प्रयासों से हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856 बना जिसके नियम 15 के तहत विधवा विवाह को वैध माना गया और इस विवाह से उत्पन्न बालक वैध घोषित किए गए। विधवाओं की स्थिति में सुधार लाने का प्रयास करने वालों में अन्य प्रमुख व्यक्तित्व डी.के. कर्वे, बीरेशलिंगम पुंतलु एवं पारसी समाजसुधारक वी.एम. मालाबारी था। मालावारी के प्रयास से 1891 में सम्मति आयु, अधिनियम पारित किया गया जिसके द्वारा 12 वर्ष से कम आयु की कन्याओं के विवाह पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 1930 के शारदा एक्ट में विवाह के लिये कन्या की न्यूनतम आयु 14 वर्ष तथा लड़के की न्यूनतम आयु 18 वर्ष निश्चित की गयी। इन कानूनों ने बाल विवाह को हतोत्साहित किया।

इसी प्रकार 1795 के बंगाल नियम गप् तथा 1804 के नियम, पप् से से शिशु हत्या को साधारण हत्या के बराबर मानते हुये इसे रोकने का प्रयास किया गया।

स्त्री शिक्षा पर प्रथम सशक्त प्रयास ईसाई धर्म प्रचारकों ने किया। इन्होंने 1819 में 'कलकत्ता तरूपा स्त्री सभा' स्थापित की। 1849 में सरकारी शिक्षा परिषद के जे.ई.डी. बेटन ने कलकत्ता में बालिका विद्यालय स्थापित किया। स्त्री शिक्षा पर ईश्वरचंद विद्यासागर का योगदान अविस्मरणीय है इन्होंने कम से कम 35 बालिका विद्यालयों की स्थापना की। कालांतर में 1854 में तुड्स डिस्पैच में आधिकारिक तौर पर पहली बार स्त्री शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया।

अंग्रेजी सरकार ने 1856 में 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' पारित किया और लड़के और लड़कियों को समान बताते हुये संपत्ति में बराबर का हकदार बताया। 1855 में हिन्दू विवाह अधिनियम में तलाक को स्वीकृति दी गयी तथा बहुविवाह को अवैध किया गया। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने महिलाओं के लिये कई कानून बनाये।

4.5.9.1 महिला सुधार आंदोलन की सीमाएं

19वीं शताब्दी में प्रारंभ होने वाली सुधारवादी आंदोलनों ने महिलाओं के प्रति रूढ़िवादिता को कम करने का प्रयास किया। इसी संबंध में अंग्रेजी शासन ने भी प्रयास किये किंतु इस संबंध अंग्रेजों की बाशावादी सोच भी उत्प्रेरक का कार्य कर रही थी क्योंकि भारत को एक बड़े बाशा में भी तब्दील करने का प्रयास कर रहे थे जो 1813 ई. के बाद स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इस आंदोलन की कुछ सीमाएँ निम्न थी-

- यह प्रयास अभिजात्यवादी पुरुषों के द्वारा प्रारंभ किया गया जिससे वे पारिवारिक मर्यादा में रहते हुये कुछ ही कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठा रहे थे।
- 19वीं सदी का प्रयास सुधारवादी था यह स्त्री स्वाधीनता के लिये मुक्क नशर नहीं आता।
- सुधार की संपूर्ण प्रक्रिया औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत चल रही थी। कानूनों का पालन कराने वाली नौकरशाही का प्रमुख कार्य शासन को सुदृढ़ता प्रदान करना था न की समाज सुधार।
- महिला दशा पर विभिन्न धर्म अलग-अलग विचार करते थी जिससे सुधार की प्रक्रिया में एकात्मकता का अभाव दृष्टिगत होता है।
- सती प्रथा के विरुद्ध कानून तो बने लेकिन सती प्रथा के प्रति लोगों में आदर का भाव बना रहा। इस प्रथा के प्रति आदर्शीकरण की प्रकृति विद्यमान रही यही कारण है कि 1887 में देवराला नामक स्थान पर रूपकंवर नामक स्त्री सती हो गयी।

4.5.3 प्रमुख स्त्री - समाज सुधारक एवं प्रमुख महिला संगठन

महिलाओं की दशा में सुधार के लिये 19वीं सदी में व्यक्तिगत व संगठनात्मक दोनों स्तरों पर प्रयास किया गया। इस कार्य में पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं ने भी योगदान दिया। पंडित रमा बाई ने स्त्री शिक्षा व महिला अधिकारों के प्रति जागरूकता हाने का प्रयास किया। बहिन सुब्बालक्ष्मी मद्रास प्रेसीडेंसी की प्रथम हिन्दू विधवा थी। इन्होंने स्नातक स्तर की शिक्षा ग्रहण की। इन्होंने बाल विधवाओं के लिये आई.सी.आई.सी. हाउस तथा वमस्क विधवाओं के लिये शारदा विद्यालय हाईस्कूल की स्थापना की। इसी क्रम में गंगा जी (महर्षि तपस्विनी) ने 1893 में कलकत्ता में महाकाली पाठशाला की स्थापना की, जिसे अपनी अनेक शाखाओं के साथ महिला शिक्षा को विकसित करने का विशुद्ध भारतीय प्रयास कहा गया।

महिलाओं के लिये महिलाओं के अलावा पुरुषों ने भी प्रयास किये। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा विवाह हेतु लंबा आंदोलन चलाया। इनके अलावा पूना के फर्ग्युसन कालेज के प्राध्यापक डी.के. कर्ते का योगदान अप्रतिम है। इन्होंने 1893 में एक विधवा ब्राह्मणी से विवाह किया तथा 1899 में पूना में विधवा आश्रम स्थापित किया। कर्ते का मानना था कि - 'विधवाओं को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे की वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो सके और अपने बारे में सोचने के लिये सक्षम हो सके।' 1916 में इन्होंने प्रथम महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की। दक्षिण भारत में वीरेश लिंगम् ने महिला उद्धार का प्रयास किया। इन्होंने 'विवेक वर्द्धनी' नामक सामाजिक जागरूकता के लिये पत्रिका निकाली तथा 1878 वैश्याओं के कार्यक्रम के विरुद्ध 'सामाजिक सुधार समिति' की स्थापना की। महाराष्ट्र के विष्णु शास्त्री पंडित ने 'विधवा विवाह' नामक पुस्तक का मराठी में अनुवाद किया साथ ही 1850 में 'विधवा पुनर्विवाह सभा' की स्थापना की।

19वीं शताब्दी में कई महिला संगठन भी महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिये आगे आये। रमाबाई ने स्त्री शिक्षा के लिये 'आर्य महिला समाज' की स्थापना की। इसी प्रकार 'स्त्री जरथोस्ट्री मंडल' पारसी महिलाओं के लिये प्रशिक्षण मंच का कार्य करता था। 1910 में इलाहाबाद में सरला देवी चौधरानी ने 'भारत स्त्री मंडल' की स्थापना की, जो भारतीय महिलाओं के समान हितों को बढ़ावा देने का कार्य किया। 1915 में आयरिश थियोफिस्ट एवं प्रसिद्ध नारीवादी चिंतक डार्थी जिन्दासराय ने 'भारतीय महिला मंडल' की स्थापना की। यह यूरोपीय व भारतीय दोनों के लिये खुला था। ऐनी बेसेंट इसकी प्रथम अध्यक्ष थी।

इस संगठन ने महिला शिक्षा, व्यावसायिक कार्यक्रम महिलाओं के लिये, विधवा गृहों की स्थापना का कार्य किया। इस संगठन ने 'स्त्री धर्म' नामक पत्रिका निकाली जिसने स्त्रियों के विकास के लिये वैचारिक आंदोलन चलाया। इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुये भारतीय

महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद का गठन 1925 में किया गया। दोराव टाटा की पत्नी मेहरबाई टाटा इसमें प्रमुख भूमिका रही किंतु अभिजात्यवादी महिलाओं का प्रतिनिधित्व करने के कारण इसकी जड़े शमीन से नहीं जुड़ पायीं। भारत में सबसे महत्वपूर्ण और धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण वाला विशुद्ध भारतीय महिला संगठन 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' था। इसका प्रथम सम्मेलन 1927 में पुणे में हुआ। इस संगठन का विचार था कि बिना सामाजिक कुप्रथाएँ दूर किये महिलाओं की शैक्षिक प्रगति नहीं की जा सकती। 1941 में इस सम्मेलन ने 'रोशनी पत्रिका' पाक्षिक रूप से प्रकाशित की। इस सम्मेलन से जुड़ी दो प्रमुख घटनाएँ थी - प्रथम 1927 में मुथुलक्ष्मी देवी को मद्रास विधान परिषद का सदस्य मनोनीत किया गया। द्वितीय महिलाओं के लिये मतदान के अधिकार की मांग की यद्यपि इसमें सीमित सफलता मिली तथा 1935 के भारत सरकार अधिनियम में महिलाओं को मतदान का सीमित अधिकार मिला।

4.5.4 राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं की भूमिका

राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी ने स्त्रियों को घर की चारदीवारी से मुक्त कर सार्वजनिक जीवन में प्रवेश दिलाया। यद्यपि महिलाओं की यह भूमिका भी पूरी तरह से सीमाओं से परे नहीं थी किंतु सक्रिय राजनीति में महिलाओं की उपस्थिति को सकारात्मक संदेश के रूप में समझा जाना चाहिये। गांधी जी के आगमन से निःसंदेह महिलाओं की सार्वजनिक भागीदारी में वृद्धि हुयी मगर पुरुषों के साथ समानता की नारीवादी मांग राष्ट्रवादी मांग के साथ कभी भी एकीकृत नहीं हो पाई, उस समय भी नहीं जबकि राष्ट्रवादी आंदोलन का महिलाकरण हुआ।

राष्ट्रीय आंदोलन में स्त्री भागीदारी को दो चरणों में बांटा जा सकता है-पहला कांग्रेस की स्थापना से पूर्व तथा दूसरा कांग्रेस की स्थापना के बाद। कांग्रेस की स्थापना के पूर्व भी महिलाओं की भागीदारी को स्पष्टतः देखा जा सकता है। किन्तु विद्रोह का नेतृत्व चेन्नमा ने किया तो 1857 के सैनिक विद्रोह को रानी लक्ष्मीबाई व बेगम हशरत महल ने नेतृत्व प्रदान किया। कांग्रेस की स्थापना के बाद 1889 में कांग्रेस के अधिवेशन में स्वर्णकुमारी घोषाल तथा कादंबनी गांगुली ने बतौर प्रतिनिधि माग लिया। 1905 के पश्चात राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी की दो प्रवृत्तियां विकसित हुईं जिनमें एक तो मुख्य धारा से जुड़ी हुई थी तथा दूसरी क्रांतिकारी आतंकवाद व वामपंथी विचारधारा के निकट थी। 1905 में बंगाल विभाजन के विरोध में हुए स्वदेशी आंदोलन बंगाल के भीतर महिलाओं की भागीदारी की दृष्टि से प्रमुख रही। मैडक कामा ने विदेशी धरती पर राष्ट्रीय ध्वज को फहराकर भारतीय राष्ट्र की अवधारणा को मूर्त रूप दिया तो ऐनी बेसेंट होमरूल लीग आंदोलन प्रारंभ कर राष्ट्रीय आंदोलन को नयी दिशा दी।

गांधी जी द्वारा अपनाई गई अहिंसा व सत्याग्रह की रणनीति ने भी महिलाओं की व्यापक भागीदारी को संभव बनाया व राष्ट्रीय आंदोलन को जन आंदोलन में तब्दील कर दिया। कांग्रेस

ने 1921 में 6-13 वाले सप्ताह को सत्याग्रह सप्ताह घोषित किया तथा अपील की राजनीति में रुचि रखने वाली महिलाएं सभा आयोजित कर कांग्रेस के प्रति अपने समर्थन का इशहार करें। इस तरह के एक सम्मेलन में सरोजनी नायडू के नेतृत्व में स्वतंत्र महिला संगठन 'राष्ट्रीय स्त्री संघ' की स्थापना हुयी। सविनय अवज्ञा आंदोलन के आते-आते महिला भागीदारी का स्तर काफी बढ़ गया। गांधी जी की सभाओं में सर्वाधिक चंदा महिलाओं के आभूषण के रूप में ही होता था।

1930-32 के दौरान महिलाओं द्वारा किये गये पिकेटिंग और विरोध प्रदर्शनों ने देशी व विदेशी प्रेस का ध्यान अपनी ओर खींचा। धरासना नामक नमक भंडार पर सरोजनी नायडू के नेतृत्व में महिलाओं ने अदभ्य वीरता दिखलाई उसकी प्रशंसा वेब मिलर नामक अमेरिकी पत्रकार ने भी की। बंगाल में महिलाओं का रूझान गांधीवादी आंदोलन की ओर न होकर क्रांतिकारी गतिविधियों की ओर था। इनमें प्रीतिलता वाडेकर व कल्पना दत्त प्रमुख थीं। दिसंबर 1931 में शांति तथा सुनीति चौधरी नामक बहनों ने स्टीवेंस नामक मजिस्ट्रेट की हत्या उस समय कर दी जब वह उनके प्रतिवेदन पढ़ रहा था। दूसरी तरफ मद्रास की महिलाओं ने क्रांतिकारी गतिविधियों में रुचि नहीं दिखायी किंतु राजनीतिक गिरफ्तारियां दी जिनमें रुक्मिणी लक्ष्मीपति का नाम प्रमुख है। भारत छोड़ो आंदोलन में अग्रिम पंक्ति के नेताओं की गिरफ्तारी के बाद अरूणा आसफ अली ने नेतृत्व प्रदान किया तो ऊषा मेहता ने गुप्त रेडियो प्रसारण के द्वारा आंदोलन को गति दी। वहीं दूसरी ओर आजाद हिंद फौज में रानी झांसी नामक ब्रिगेड का नेतृत्व कैप्टन लक्ष्मी सहगल ने किया।

कुल मिलाकर स्वतंत्रता आंदोलन ने नारी अधिकारों के लिये चल रहे आंदोलन का स्वरूप भी निर्धारित किया। इससे महिलाओं ने अपनी सामाजिक परिस्थिति को सुधारने का काम भी किया। किंतु पतित नारियों की गतिविधियों को राष्ट्रीय आंदोलन के अंदर हतोत्साहित किया जो महिलावादी आंदोलन की दृष्टि से नकारात्मक संकेत था।

4.5.5 महिला स्थिति का मूल्यांकन

आधुनिक भारत में 18वीं सदी में महिलाओं की जो स्थिति द्रष्टव्य होती है उसकी पृष्ठभूमि भारतीय सामाजिक संरचना में उत्तरवैदिक काल से मध्यकाल तक दिखाई पड़ती है जिस दौरान सती प्रथा, बाल विवाह, कन्या वध, स्त्री शिक्षा का अभाव जैसी अनेक कुप्रथाएं दिखाई पड़ती हैं। महिलाओं की यह दुर्दशा भारतीय समाज की दुर्बलता को इंगित करती है। अंग्रेजों के आगमन तथा पाश्चात्य विचारधारा व शिक्षा के संपर्क ने भारतीय समाज में प्रगतिशील तत्वों को बढ़ाया तथा वैज्ञानिक व आधुनिक चिंतन ने महिला सुधार की दिशा में अग्रगामी कदम उठाये। किंतु ये सभी सुधार प्रक्रियाएं अपनी अभिगत्यवादी व औपनिवेशिक परिस्थितियों से पूर्वतः

मुक्त नहीं हो पायी। अपनी सीमाओं के बावजूद महिला सुधार आंदोलनों ने महिलाओं की सार्वजनिक भागीदारी का मार्ग प्रशस्त किया जिसकी परिणति राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी के रूप में सामने आती है। जो उनके सशक्त स्वरूप को परिभाषित करता है तथा जिसका परिणाम भारतीय संविधान में महिलाओं को समान अधिकार देकर स्पष्ट किया गया है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्नलिखित पर प्रकाश डाले-

1. व्यापार एवं राजकोशनीय नीति
2. ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विभिन्न चरण
3. धन का निष्कासन
4. विऔद्योगिकरण
5. विऔद्योगिकरण का प्रभाव
6. महिलाओं से संबंधित सामाजिक कुरीतियां
7. महिला सुधार आंदोलन
8. प्रमुख महिला संगठन
9. राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं की भूमिका

4.6 सारांश

ब्रिटिश कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का एक रूप था जिसमें भारतीय संसाधनों का दोहन ब्रिटेन के हित में हो रहा था। इस दौरान ब्रिटिश उपनिवेशवाद पूंजीवाद और वित्तीय पूंजीवाद। उपनिवेशवाद के इस दौर में धन के निष्कासन की प्रक्रिया चलती रही। धन के निष्कासन से हमारा तात्पर्य भारत से ब्रिटेन जाने वाली वैसे धन से है जिसके बदले भारत को कोई भौतिक या आर्थिक प्रतिदान नहीं मिल पा रहा था। दूसरे शब्दों में ब्रिटेन अपने शासन के बदले भारत को खिराज/नजराना देने के लिए बाध्य कर रहा था। इसका भारतीय अर्थव्यवस्था पर बहुत ही नकारात्मक प्रभाव पड़ा

विऔद्योगीकरण से हमारा तात्पर्य ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन काल में भारतीय कुटीर उद्योगों और हस्तकरघा उद्योगों के पतन से है। इस दौर में उद्योगों का अंशदान अर्थव्यवस्था में कम होता गया जबकि कृषि जैसे गैर औद्योगिक क्षेत्र का अंशदान बढ़ता चला गया। इसके कारण परंपरागत कारीगर दस्तकार और शिल्पी बेरोजगार हो गये और वे कृषि व्यवस्था की ओर मुड़ गये। इससे व्यक्ति और भूमि का अनुपात टूट गया और उत्पादकता प्रभावित हुई। अंततः भारतीय गरीबी के दुःश्चक्र में फंस गये।

भारत में आरंभ में महिलाओं की स्थिति सामान्यतः अच्छी थी। लेकिन कालांतर में उसकी स्थिति में सापेक्षिक गिरावट आती चली गई। मध्यकाल में सती प्रथा, जौहर प्रथा, परदा प्रथा, कन्या शिशु हत्या, बाल विवाह, बहुविवाह, विधवा पुनः विवाह आरंभ हो गया। इसके विरुद्ध ब्रिटिश काल में अनेक समाज सुधारकों ने आंदोलन चलाया, जिसके कारण तत्कालीन सरकार ने अनेक कानून बनाकर इसे नियंत्रित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त महिलाओं ने सक्रिय भागादारी निभायी।

4.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. 4.3
2. 4.3.1
3. 4.3.2
4. 4.4
5. 4.4.1
6. 4.5.1
7. 4.5.1
8. 4.5.2
9. 4.5.3
10. 4.5.4

4.8 निबधात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों का विश्लेषण करें।
2. धन के निष्कासन की समीक्षा करें।

3. विऔद्योगीकरण क्या है? इसका भारतीय अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा।
4. ब्रिटिश काल में महिलाओं की स्थिति पर प्रकाश डालें।

4.9 संदर्भ ग्रंथ

* Dadabhai Naoroji: 'Povert and UnBritish Rule in India' London. 1901. Publication Division Ministry of Information and Broadcasting Government of India. Common Wealth Publishers 1988.

* R. C. Dutt: 'Economic History of India'. Under Early British Rule. Vol. I, London 1902.

* Mahadiv Govind Ranade: 'Ranadi's Economic Writings' ed. By Bipan Chandra Gyan Books Pvt. Ltd., New Delhi, 1990.

* David Clingensmith & Jeffrey G Williamson: India's De Industrialization Under British Rule:
NewIdea, NewEvidence, NBER Working Paper No. 10586, Issued in June 2004. Harvard Economic History

* Indrani Sen: 'Women and Empire : Representations in the Writings of British India, 1858

Orient Blackswan, Delhi, Jan 2002.

ब्लाक छह- आधुनिक भारत का इतिहास: नवीन भारत का उद्भव

इकाई एक- शिक्षा: घरेलू एवं आधुनिक

इकाई दो- दलित आन्दोलन और डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ,द्रविड़ आंदोलन

इकाई तीन- आधुनिक उद्योगों की संवृद्धि

इकाई चार- प्रेस एवं समाचार पत्र

शिक्षा: घरेलू एवं आधुनिक

- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 प्रस्तावना
- 1.3 शिक्षा और उपनिवेशवाद
- 1.4 घरेलू शिक्षा पद्धति
- 1.5 घरेलू शिक्षा का विकास क्रम
- 1.6 आधुनिक शिक्षा का विकास
 - 1.6.1 प्रशंसनीय शिक्षा का प्रारम्भ
 - 1.6.2 लोक शिक्षा पर विवाद
 - 1.6.3 शिक्षा का अधोगामी विप्रवेशन सिद्धांत
 - 1.6.4 जेम्स थामसन का प्रयास
 - 1.6.5 चार्ल्स वुड का डिस्पैच 1854
 - 1.6.6 हण्टर शिक्षा आयोग 1882
 - 1.6.7 भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम 1904
 - 1.6.8 1913 ई. का सरकारी प्रस्ताव
 - 1.6.9 सैडलर विश्वविद्यालय आयोग 1917
 - 1.6.10 हार्टोग समिति
 - 1.6.11 वर्धा योजना 1937
 - 1.6.12 शिक्षा की सार्जेण्ट योजना 1944
- 1.7 स्वतन्त्र भारत में शिक्षा
 - 1.7.1 राधाकृष्णन् आयोग 1948-49
 - 1.7.2 कोठारी आयोग 1964-66
 - 1.7.3 नवीन शिक्षा नीति 1986
- 1.8 मूल्यांकन
- 1.9 शब्दावली
- 1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
- 1.11 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य शिक्षा के घरेलू एवं आधुनिक तत्त्वों का अध्ययन करना है कि नवीन भारत के उद्भव कैसे और किन परिस्थितियों में हुआ। जिसने भारत में शिक्षा को परम्परागत रूप से निकाल कर आधुनिक एवं संरचनात्मक विकास किया। इस इकाई के अध्ययन से शिक्षा के विकास क्रम एवं आधुनिक शिक्षा के स्तर का पता लगा सकेंगे।

- उपनिवेशवाद से पूर्व शिक्षा
- औपनिवेशक शासन के दौरान शिक्षा का स्तर
- स्वदेशी शिक्षा की विशेषताएँ
- भारतीय शिक्षा नीति पर विवाद
- पाश्चात्य ;आधुनिक शिक्षा का विकास क्रम
- नवीन भारत के लिए नई शिक्षा व्यवस्था का महत्त्व

1.2. प्रस्तावना

भारत पर ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना के साथ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन हुए। जिनमें शिक्षा एक मुख्य तत्व थी। क्योंकि शैक्षिक विचारधराएँ एक नये समाज एवं संस्कृति का निर्माण करती है। व्यक्ति और राज्य के विकास में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जब से सभ्यता एवं संस्कृति का विकास हुआ। वहीं से शिक्षा एक आवश्यकता के रूप में बन गयी। क्योंकि इतिहास के विस्तृत अध्ययन करने पर देखा कि शासन एवं प्रशासन चलाने तथा एक प्रगतिशील समाज के विकास तभी सम्भव हुआ। औपनिवेशक शक्तियों का भी यही मानना था कि एक स्थाई एवं लम्बे सुदृढ़ शासन के लिए भारतीय जनसमुदाय के मानसिक और सांस्कृतिक रूप को परिवर्तन का ना होना। तभी हम एक स्थाई साम्राज्य की स्थापना की कामना कर सकते हैं। ब्रिटिश नीति अपने उद्देश्य में कापफी कुछ सफल रही लेकिन भारतीय जन समुदाय भी परम्परागत के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा को ग्रहण कर एक नवीन भारत का निर्माण किया। और अपने सांस्कृतिक मूल्यों के साथ-साथ आधुनिकता की ओर अग्रसर हुए। जो आधुनिक शिक्षा नीति का परिणाम है।

1.3. शिक्षा और उपनिवेशवाद

भारत में आधुनिक शिक्षा के विकास के लिए शिक्षा और उपनिवेशवाद के बीच गत्यात्मक सम्बन्धों को समझना आवश्यक है। मार्टिन कार्तय का तर्क है कि “औपनिवेशिक शासनाधीन देशों में शिक्षा का ढाँचा औपनिवेशिक शासकों द्वारा अपने प्रभुत्व की वैधता तथा अपने आर्थिक हितों की सिद्धि के लिए रचा गया होता है। उपनिवेश देशों पर आर्थिक एवं राजनीतिक नियम औपनिवेशिक शासन की निरंतरता के लिए आवश्यक होता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शिक्षा तन्त्र का प्रयोग किया जाता है। शिक्षा के माध्यम से नये मूल्यों के विकास और औपनिवेशिक शासन का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार शिक्षा प्रक्रिया औपनिवेशिक शिक्षा निसंदेह उपनिवेशिक देशों में परिवर्तन तथा सांस्कृतिक रूपांतरण का सूत्रापात करती है।” इस तर्क से स्पष्ट होता है कि शिक्षा का विकास औपनिवेशिक शक्तियों ने साम्राज्य की स्थापना के उद्देश्य पूर्ति के लिये किया। क्योंकि शिक्षा के माध्यम से ही वे अपनी विचारधारा तथा सांस्कृतिक मूल्यों के भारतीय जनसमुदाय पर स्थापित कर सकते थे। और उन्होंने ऐसा किया भी। आधुनिक शिक्षा और उपनिवेशवाद दोनों के बीच गत्यात्मक सम्बन्ध स्पष्ट दिखाई देता था।

1.4. घरेलू शिक्षा पद्धति

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दौर में घरेलू या स्वदेशी शिक्षा के बारे में बहुत कम ही जानकारी प्राप्त हो पाती है। प्राचीन काल में शिक्षा की पद्धति गुरुकुल के रूप में होती थी या बड़े मन्दिर शिक्षा के अध्ययन केन्द्र थे। लेकिन भारतीय शासकों में शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय तथा पाठशालाएँ श्रुतवादी थी। उनको आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी। मध्यकालीन समय में हिन्दु-मुस्लिम संस्कृति के मिश्रण से शिक्षा के परिवर्तन आया। उस समय मुस्लिम शिक्षा के लिए मदरसे व मकतवा और हिन्दुओं के लिए मंदिर व पाठशालाएँ थी। इस क्रम में अरबी व संस्कृत के अध्ययन केन्द्रों से लेकर फारसी तथा स्थानीय भाषाओं में बुनियादी शिक्षा के संस्थान आते थे। वैज्ञानिक एवं धर्मनिरपेक्ष शिक्षण का अभाव उन दिनों अध्ययन केन्द्रों की प्रमुख सीमा थी। घरेलू शिक्षा की कुछ सामान्य विशेषताएँ थी-

- पाठशालाओं का संचालन सामान्यतः जमींदारों या धनी व्यक्तियों के सहयोग से होता था।

- संस्कृत, अरबी, पफारसी भाषाओं तथा क्लासिकीय हिन्दु ईस्लामी परम्परा के विषयों, जैसे व्याकरण, तर्कशास्त्रा, ज्योतिष, विधि, अध्यात्म एवं आयुर्विज्ञान पर बल दिया जाता था।
- पाठशालाओं में निचली एवं पिछड़ी जाति के व्यक्तियों को भी स्थान प्राप्त था, ऐसा 18वीं 19वीं शताब्दी के साहित्यिक स्रोतों से पता चलता
- महिलाओं की शिक्षा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था उन्हें सामान्यतः औपचारिक शिक्षा से अलग रखा जाता था।
- प्रेस के विकास होने तक अध्ययन एवं अध्यापन स्मरण भक्ति पर आधारित था। जिनकी सम्पूरक हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ होती थी।
- शासक वर्ग विद्वान व्यक्तियों को राजकीय संरक्षण प्रदान करते थे।
- शिक्षा के क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप शून्य मात्रा होता था।

उच्च शिक्षा के अध्ययन के लिए उच्च शिक्षण संस्थानों की स्थापना की गई थी। तथा साथ ही प्राथमिक विद्यालयों की ज्यादातर संख्या भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में थी। इनका संचालन प्रायः गाँव का मुखिया या जमींदार या स्थानीय धनी व्यक्तियों आर्थिक अनुदानों से होता था। ये विद्यालय विद्यार्थियों को बुनियादी गणित तथा दैनिक आवश्यकताओं का ज्ञान कराते थे।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दौर तक भारत में विद्यमान शिक्षा प्रणाली की अपनी विशेषताएँ थी। प्राथमिक पाठशालाएँ ग्रामीण परिवेश के लोगों को बुनियादी शिक्षा का अवसर प्रदान करते थे। इनका स्वरूप धर्म निरपेक्ष तथा व्यवहारिक आवश्यकताओं के अनुरूप होता था। उच्च शिक्षा केन्द्रों में व्याकरण, दर्शन एवं धर्म की सूक्ष्मताओं पर विशेष जोर देने से धर्मनिरपेक्ष एवं वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार की संभावना नष्ट होती गयी। उपनिवेशवादी एवं साम्राज्यवादी शासकों ने घरेलू शिक्षा के स्थान पर पाश्चात्य आधुनिक व्यवस्था आरोपित की।

1.5. घरेलू शिक्षा का विकास क्रम

भारत में उनीसवीं शताब्दी से पूर्व घरेलू शिक्षा का दायित्व जमींदारों, राजाओं और मन्दिरों, मदरसों तथा धन सम्प व्यक्तियों के हाथ में था। जो कि इनकी दया पर निर्भर था। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ ही शिक्षा में भी विकास हुआ। घरेलू शिक्षा का विकास आधुनिक भारत में निम्न रूप से हुआ-

- 1835, 1836, 1838: बंगाल एवं बिहार में घरेलू शिक्षा से सम्बन्धित विलियम एडमस की रिपोर्ट में अनेक दोषों पर प्रकाश डाला गया।
 - 1843-53: आधुनिक उत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स जोनाथन के प्रयोग पर प्राप्त की प्रत्येक तहसील में एक सरकारी आदर्श स्कूल खोले जाने की संस्तुति की। तथा देशी-भाषाई विद्यालयों के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के लिए योजना बनाई।
 - 1853 में लार्ड डलहौजी ने देशी भाषाई घरेलू शिक्षा की सशक्त वकालत की।
 - 1854 में चार्ल्स वुड के डिस्पैच में देशी भाषाई घरेलू शिक्षा के सम्बन्ध में प्रावधान किया-
1. शिक्षा के स्तर में सुधर होना चाहिए।
 2. सरकारी संस्थाओं द्वारा निरीक्षण होना चाहिए।
 3. शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए एक सामान्य स्कूल की स्थापना है।
- 1854-71: ब्रिटिश भारतीय सरकार ने माध्यमिक एवं देशी भाषाई घरेलू शिक्षा के लिए कदम उठाए। इस दौरान देशी-भाषाई स्कूलों की संख्या में 5 गुना वृद्धि हुई।
 - 1882: में हण्टर आयोग ने सुझाव दिया कि सरकार को घरेलू देशी-भाषाई शिक्षा के विकास एवं प्रसार के सम्बन्ध में कदम उठाने चाहिए। जन सामान्य की शिक्षा को घरेलू शिक्षा के माध्यम से ही प्रसारित किया जाना चाहिए।
 - 1904: शिक्षा नीति ने स्थानीय शिक्षा के विकास एवं इसके लिए और अधिक आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता पर बल दिया।
 - 1929 में हार्टोग समिति ने प्राथमिक शिक्षा की उजड़ती हुई तस्वीर प्रस्तुत की। क्योंकि हंटर आयोग के बाद प्राथमिक एवं घरेलू शिक्षा पर कोई बल नहीं दिया गया था। जिससे कि घरेलू शिक्षा का पतन होता जा रहा था। हार्टोग समिति ने प्राथमिक एवं घरेलू शिक्षा पर विशेष जोर दिया।
 - 1937 में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने देशी भाषाई विद्यालयों को प्रोत्साहन एवं पूर्ण समर्थन दिया।

1.6. आधुनिक शिक्षा का विकास

आधुनिक शिक्षा के प्रश्न पर भारतीय और ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच मतभेद हो गये। तत्पश्चात् कम्पनी के अधिकारियों ने अपनी सुविधनुसार शिक्षा का पश्चिमीकरण शुरू कर दिया। लेकिन इससे पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि कम्पनी और अधिकारी भारतीय शिक्षा पर कोई दिलचस्पी नहीं ले रहे थे। क्योंकि उन्हें कुछ संस्कृत, अरबी एवं फारसी में पढ़े शिक्षित व्यक्ति आसानी से मिल जाते थे। जो इन अधिकारियों की मदद करते थे। जिसमें खास कर न्याय विभाग में न्यायाधीशों के लिए हिन्दु एवं मुस्लिम कानूनों की व्याख्या कर सके।

इसी समय भारतीय पुनर्जागरण की शुरुआत हो चुकी थी। जिसमें समाज सुधार आन्दोलन, शिक्षा एवं धर्म सुधार आन्दोलन भी गति पकड़ने लगा। इसमें राजा राम मोहन राय का नाम प्रमुख है जो पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन करते थे। उन्होंने सरकार की प्राच्य विद्या की नीति पर आलोचना की थी। स्वयं 1823 में लार्ड एमहार्ट को लिखा - 'संस्कृत विद्या से विद्यार्थियों को व्याकरण की सुन्दरताओं या अध्यात्मवाद का ज्ञान तो हो जायेगा जो कि जानने वाले के जीवन में व्यवहारिक रूप में अधिक उपयोगी नहीं होगा।' वैज्ञानिक शिक्षा के महत्त्व का समर्थन करते हुए कहा - 'यदि सरकार की यही नीति है कि देश को अधिकार में रखा जाय तो संस्कृत विद्या पद्धति से अति उत्तम लाभ होगा। परन्तु स्थानीय जनता को उन्नत करना उनका उद्देश्य है तो इसलिए उत्तम यही है कि उदारवादी और ज्ञानयुक्त विद्या की पद्धति अपनाई जाय, जिसमें गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन शास्त्रा और शरीर रचना इत्यादि सम्भावित हो। इन विरोधों का बहुत प्रभाव सरकार पर पड़ा। और प्रबुद्ध भारतीय एवं ईसाई मिशनरियों ने सरकार पर आधुनिक धर्मनिरपेक्ष एवं पाश्चात्य शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया। क्योंकि-

- ❖ प्रबुद्ध भारतीयों ने निष्कर्ष निकाला कि पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से ही देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दुर्बलता को दूर किया जा सकता है।
- ❖ मिशनरियों का यह सोचना था कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार से भारतीयों की उनके परम्परागत धर्म में आस्था समाप्त हो जायेगी तथा वे ईसाई धर्म ग्रहण कर लेंगे।
- ❖ एक तीसरा ऐसा गुट जो ब्रिटिश बुद्धिजीवियों का था जिसका मानना था कि यदि भारतीयों को पाश्चात्य शिक्षा प्रदान की जाये तो वे मानसिक रूप से हमारे

शासन एवं प्रशासन के समर्थक बन जायेंगे। और हमारे कार्यों में सदैव साहायता करेंगे।

इन सभी के अथक प्रयास से आधुनिक शिक्षा में घरेलू शिक्षा को हतोत्साहित किया। लेकिन समाज सुधरकों ने इस ओर ध्यान भारतीयों का आकर्षित कराया कि हमारी प्राचीन सम्भ्यता एवं संस्कृति को संरक्षित किया जा सके। और इस प्रकार आधुनिक शिक्षा के विकास के साथ-साथ घरेलू शिक्षा का भी विकास शुरु हुआ।

1.6.1. प्रशंसनीय शिक्षा का प्रारम्भ

भारत में स्थानीय घरेलू विद्वानों को प्रोत्साहित करने तथा देश में आधुनिक विज्ञान के ज्ञान को प्रारम्भ और उन्नत करने के उद्देश्य से ईस्ट इण्डिया के 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा एक लाख रुपये की राशि स्वीकृति की गयी। किन्तु इस राशि के व्यय करने के प्रश्न पर विवाद हो गया। जिसकी वजह से 1823 तक यह राशि उपलब्ध नहीं करायी गयी।

कुछ प्रबुद्ध भारतीयों ने व्यक्तिगत स्तर पर अपने प्रयास जारी रखे तथा शिक्षा के विकास एवं शिक्षण संस्थानों की स्थापना के लिए भारी अनुदान दिया। इनमें राजा राम मोहन राय का नाम सर्वप्रथम आता है। इन्होंने 1817 ई. में कलकत्ता के हिन्दु कालेज की स्थापना के लिए दान दिया। बुद्धिजीवी एवं शिक्षित बंगालियों के प्रयास से स्थापित इस कालेज में अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाती थी तथा पश्चिमी विज्ञान एवं मानविकी का अध्यापन कराया जाता था। ऐसा देखकर सरकार ने कलकत्ता, आगरा एवं बनारस में तीन संस्कृत कालेज स्थापित किये तथा यूरोपीय वैज्ञानिक पुस्तकों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने के लिए अनुदान प्रदान किया गया ताकि भारतीय यूरोपीय वैज्ञानिक खोजों को अपने देश की अपेक्षा उनको सर्वोपरि माने।

1.6.2. शिक्षा पर विवाद

लोक शिक्षा की सामान्य समिति में दस सदस्य थे। जो दो दलों में विभक्त थे। जिनमें -

- प्राच्य विद्या का समर्थक - जिसका नेता एच. टी. प्रिंसेप व एच. एच. विल्सन थे। ये लोग प्राच्य विद्या को प्रोत्साहन देने की नीति का समर्थन करते थे।

- आंग्ल विद्या का समर्थक हाल्ट मैकेन्जी, चार्ल्स ट्रेवेलियन जो अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में समर्थन देता था।

दोनों दलों के बराबर होने के कारण यह समिति ठीक ढंग से कार्य नहीं कर पा रही थी। प्रायः दोनों दलों में मतभेद उत्पन्न हो जाता था। अन्त में दोनों दलों ने अपना विवाद निर्णय के लिए गवर्नर जनरल के सम्मुख रखा। कार्यकारिणी परिषद् में लार्ड मैकाले एक सदस्य था। उसने 2 फरवरी 1835 को उसने अपना महत्वपूर्ण स्मरण पत्र लिखा और उसे परिषद के सामने रखा। लार्ड मैकाले ने आंग्ल दल का समर्थन किया। उसने भारतीय रीति-रिवाजों पर अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त की-“यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की एक अलमारी का एक कक्ष, भारत और अरब के समस्त साहित्य से अधिक मूल्यवान है।” मैकाले ने यूरोपीय पुनर्जागरण का भी उल्लेख किया और सम्भवतः वह मानव प्रजाति की एक ऐसी श्रेणी विकसित करना चाहता था जो “रक्त और रंग से भारतीय हो परन्तु अपनी प्रवृत्ति, विचार, नैतिक मानदण्ड और प्रज्ञा से अंग्रेज हो” अर्थात् वह ब्राउन रंग के अंग्रेज बनाना चाहता था जो कम्पनी के निम्न स्तरीय कार्यभार को संभाल सके। लार्ड विलियम बैटिक की सरकार ने 7 मार्च 1835 के प्रस्ताव द्वारा मैकाले के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया कि भविष्य में कम्पनी की सरकार यूरोपीय साहित्य को अंग्रेजी माध्यम द्वारा विकसित करने का प्रयत्न करें। और सभी धन-राशियों इसी निमित्त दी जानी चाहिए।

1.6.3. शिक्षा का अधोगामी विप्रवेशन सिद्धांत

आंग्ल प्राच्य विवाद में आंग्ल शिक्षा के समर्थक एवं नेता चार्ल्स ट्रेवेलियन के सुझाव को स्वीकार कर लिया और लार्ड मैकाले ने 1835 में विलियम बैटिक की काउंसिल में यह प्रस्ताव पास करा लिया कि शिक्षा का माध्यम अब अंग्रेजी ही होगा। और यहीं से अंग्रेजों एक सिद्धांत ‘अधोगामी विप्रवेशन’ शुरू किया। यह सिद्धांत के तहत शिक्षा के निचले स्तर पर यही बल्कि उपरी स्तर को बढ़ावा देना था। अंग्रेजों का मानना था कि सर्वप्रथम उच्चवर्ग को शिक्षित किया जाय, इस वर्ग के शिक्षित होने पर ज्ञान छन-छन कर जन साधारण तक पहुँचेगा। इस सिद्धांत का प्रतिपादन लार्ड आकलैण्ड ने किया था लेकिन लार्ड मैकाले ने इस पर विस्तृत कार्य किया था।

1.6.4. जेम्स थामसन का प्रयास

उत्तरी पश्चिमी प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स ने ;1843.53द्ध एक विस्तृत योजना बनायी कि देशी भाषाओं द्वारा ग्राम शिक्षा प्रदान की जाय ताकि कृषिविज्ञान एवं क्षेत्रामिति जैसे उपयोगी विषयों को बढ़ाया जा सके। क्योंकि इस ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ऐसे शिक्षित प्रशिक्षित व्यक्तियों से अपने उद्देश्य लाभ की प्राप्ति की जा सके। इसी के परिणाम स्वरूप छोटे-छोटे ग्रामीण स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देना बन्द कर दिया गया सिर्फ कालेजों में ही अंग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम रह गयी। इससे अंग्रेजों को राजस्व एवं लोकनिर्माण विभाग के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त एक शिक्षा विभाग का गठन किया गया।

1.6.5. चार्ल्स वुड का डिस्पैच

शिक्षा का दूसरा चरण लार्ड डलहौजी के समय शुरू हुआ। 1853 ई. के चार्टर एक्ट में भारत में शिक्षा के विकास की जाँच के लिए एक समिति गठित की गयी। यह समिति सर चार्ल्स वुड की अध्यक्षता में जो कि अर्ल आफ एवरडीन (1852-55) की मिली जुली सरकार में 'बोर्ड आफ कंट्रोल' के भी अध्यक्ष थे। इन्होंने 1854 में भारत की भावी शिक्षा के लिए एक विस्तृत योजना बनायी। जिसे आधुनिक भारत के शैक्षिक विकास का 'भारतीय शिक्षा का मैग्नाकार्ता' कहा जाता है। क्योंकि यह शिक्षा के विकास का प्रथम विस्तृत प्रस्ताव था। इसकी मुख्य सिफारिशें निम्न थी-

- सरकार पाश्चात्य शिक्षा, कला, दर्शन, विज्ञान और साहित्य का प्रसार करें।
- उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो किन्तु देशी भाषाओं को भी प्रोत्साहित किया जाय।
- भारतीय भाषाओं की प्राथमिक पाठशालायें स्थापित की जाय और उनके उपर ऐंग्लो वर्नेकुलर हाईस्कूल और सम्बन्धित कालेज खोले जाय।
- अध्यापकों के प्रशिक्षण हेतु अध्यापक प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना की जाय।
- इसने महिला शिक्षा तथा व्यवसायिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया जाय तथा तकनीकी विद्यालयों की स्थापना की जाय।
- आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में निजी प्रयासों को प्रोत्साहन देने हेतु अनुदान सहायता की पद्धति योजना बनाई जाय।

- पाँचों प्रान्तों - बंगाल, मद्रास, बम्बई, उत्तरी पश्चिमी एवं पंजाब सीमा प्रान्त में एक-एक शिक्षा विभाग की स्थापना की बात की तथा यह विभाग एक-एक लोकशिक्षा निदेशके के अधीन कार्य करेगा।
- लंदन विश्वविद्यालय की तर्ज पर भारत में तीन विश्वविद्यालय क्रमशः कलकत्ता, बम्बई एवं मद्रास में स्थापित किये। जिनका प्रमुख कार्य परीक्षाएँ संचालित करना हो।

1840-1850 के मध्य स्त्री शिक्षा के क्षेत्रा में किये गये प्रयासों को सार्थक परिणति तब मिली जब बेथुन द्वारा 1849 ई. में कलकत्ता में बैथुन स्कूल की स्थापना की गयी। बेथुन 'शिक्षा परिषद' के अध्यक्ष थे तो इनका प्रयास महिला शिक्षा के क्षेत्रा में विकास तेजी से हुआ। और महिला पाठशालाओं को सरकार के अनुदान एवं निरीक्षण के अधीन लाया गया। इनके इस प्रयास से प्रभावित होकर भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग ने घरेलू शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अपने प्रयास शुरु कर दिया। चार्ल्स वुड द्वारा अनुमोदित विधियाँ एवं आदर्श लगभग पचास वर्षों तक प्रभावी रहा। इसी दौरान पूसा ;बिहाररुद्ध में कृषि संस्थान एवं रुड़की में अभियांत्रिकी संस्थान की स्थापना की गयी। इससे यह पता चलता है कि भारतीय शिक्षा का पाश्चात्यीकरण तीव्रगति से हुआ। तथा अनेक शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गयी। आधुनिक शिक्षा ने सीधे तौर भारतीयों को शिक्षा के क्षेत्रा में विकास करने के लिए घरेलू समर्थन प्राप्त करना शुरु किया। जिसकी वजह से युवा बुद्धिजीवी वर्ग घरेलू शिक्षा के विकास की धरा में सम्मिलित होता गया।

1.6.6. हण्टर शिक्षा आयोग

इस आयोग की स्थापना 1882 ई. में ब्रिटिश सरकार ने 1854 के वुड डिस्पैच के कार्यों की समीक्षा करनी थी। इसके लिए सरकार ने **W.W. Hunter** के नेतृत्व में एक आयोग का गठन किया गया क्योंकि प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्रा में स्थिति दिनों-दिन खराब होती जा रही थी। प्रान्तों के सीमित संसाधनों के कारण प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा पर अपेक्षित व्यय नहीं हो पा रहा था आयोग की समीक्षा का कार्य केवल प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा तक ही सीमित था तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा के कार्यों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। इस आयोग ने अपनी समीक्षा के उपरान्त सरकार को निम्न सुझाव प्रदान किये। जो इस प्रकार है-

1. सरकार को प्रारम्भिक शिक्षा के सुधार और विकास की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। तथा शिक्षा आयोगों के विषयों तथा स्थानीय भाषाओं के माध्यम से दी जाय।

2. आयोग ने सिफारिश की कि प्राथमिक पाठशालाओं का नियंत्रण नव स्थापित नगर और जिला बोर्डों को दे दिया जाय।
3. शिक्षा के दो भाग होने चाहिए -
 1. साहित्यिक: विश्वविद्यालय शिक्षा के लिए
 2. व्यावहारिक: विद्यार्थियों के व्यावसायिक-व्यापारिक भविष्य निर्माण के लिए आवश्यक।
4. प्रेसीडेन्सी नगरों के अतिरिक्त अन्य सभी शहरों, कस्बों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का पर्याप्त प्रबंधन होने पर दुःख प्रकट किया तथा इसको प्रोत्साहित करने का सुझाव दिया।
5. निजी क्षेत्रों के प्रयत्नों को शिक्षा के क्षेत्रों में पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। सहायता अनुदान में उदारता तथा सहायता प्राप्त विद्यालयों को सरकारी विद्यालयों के बराबर मान्यता प्रदान किया जाना चाहिए तथा शीघ्र ही सरकार को माध्यमिक और कालेज शिक्षा से हट जाना चाहिए।

हण्टर आयोग के सुझावों के उपरांत आने वाले अगले 20 वर्षों में माध्यमिक और कालिजों की संख्या में बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ। जिसका विवरण तालिका में स्पष्ट रूप से दर्शाया जा रहा है। Dayal B. : The Development of Modern Indian Education (1953)

Table: 1- शिक्षा का विकास 1881-82 और 1901-02

क्र.सं.	विद्यालयों की संख्या	1881-82	1901-02
1-	प्राथमिक विद्यालय	3916	5124
2-	माध्यमिक विद्यालय	214	590
3-	कालेज	72	191

इस विवरण तालिका से स्पष्ट होता है कि इस आयोग के

4-

dkfytksa esa Nk=ksa
dh la[;k

&

23]009

सुझाव पर भारत की शिक्षा प(ति में बड़े पैमाने पर शिक्षण संस्थाओं तथा पद्धति में विकास हुआ। क्योंकि भारतीय जनसमुदाय ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। पश्चिमी ज्ञान के अलावा भारतीय तथा प्राच्य भाषाओं के पठन-पाठन में भी विशेष रुचि देखने को मिली। इसके अलावा अध्यापन एवं परीक्षा के लिए विश्वविद्यालयों की भी स्थापना होने लगी। जिसमें 1882 ई. में पंजाब विश्वविद्यालय एवं 1887 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय स्थापित हुए।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में बढ़ती हुई राजनीतिक उथल-पुथल और शिक्षा क्षेत्र में वाद-प्रतिवाद के रूप में देखे जा सकते हैं। क्योंकि तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन की सरकारीकरण की नीति ने उन संख्याओं पर अपना अंकुश लगाना शुरु किया जिनमें राष्ट्रीयता एवं स्वदेशी जनभावनाओं से विकसित हुई थी। उसका मानना था कि निजी क्षेत्र के प्रवेश से शिक्षा का स्तर गिरा है। साथ ही वह मैकाले के उस नीति का भी विरोधी था जिसमें शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था। लार्ड कर्जन ने स्वयं कहा था कि उसमें देशी भाषाओं के साथ पक्षपात किया था। जब कि राष्ट्रवादियों का ऐसा सोचना था कि कर्जन सम्राज्यवाद को दृढ़ करने और राष्ट्रीयता की भावनाओं को कमजोर करने का प्रयत्न कर रहे।

1.6.7. भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904

यह अधिनियम उस समय पारित हुआ जब भारत में राष्ट्रवादी विचारधरा और ब्रिटिश साम्राज्यवादी विचारधरा के बीच एक वैचारिक प्रतिद्वन्द्वता अपने चरम पर थी। इसी समय लार्ड कर्जन ने 1901 ई. में शिमला में सम्पूर्ण भारत के उच्च शिक्षा और विश्वविद्यालय के अधिकारियों का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में कर्जन ने अपने अध्यक्षीय भाषण शुरुआत की। जिसमें उसने भारत शिक्षा के सभी क्षेत्रों की समीक्षा की और कहा - 'हमलोग यहाँ शिक्षा की एक पूर्णतया नई योजना बनाने और जनसाधारण पर इच्छा से अथवा अनिच्छा से उन पर लादने के लिए एकत्रित नहीं हुए हैं।' इससे स्पष्ट है कि लार्ड कर्जन जो चाह रहा था वही उसने किया। एक लम्बी परिचर्चा के बाद लगभग 150 प्रस्ताव पास किये गये जो विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित थे। और इसके उपरान्त एक आयोग का गठन 1902 में सर टामस रैले की अध्यक्षता में नियुक्त हुआ। जिसका मुख्य उद्देश्य एवं कार्यक्षमता के विषय में सुझाव लगाना था। तथा उनके संविधान एवं कार्यक्षमता के विषय में सुझाव देना था। जबकि प्राथमिक परिणामस्वरूप 1904

ई. में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के प्रमुख प्रावधान इस प्रकार हैं-

- विश्वविद्यालय के उप सदस्यों की संख्या 50 से न्यून तथा 100 से अधिक नहीं होना चाहिए। जिसका कार्यकाल 6 वर्ष का होगा। उपसदस्यों को सरकार द्वारा चुना जाता था।
- विश्वविद्यालयों को अध्ययन तथा शोध के लिए प्रोफेसर और लेक्चरर की नियुक्त करनी चाहिए।
- सरकार को विश्वविद्यालय की सीनेट द्वारा पारित प्रस्ताव पर 'वीटो' ;निषेधाधिकारद्ध का अधिकार दिया गया। इससे सरका नियंत्रण बढ़ा दिया गया।
- अशासकीय कालेजों पर सरकारी नियंत्रण कठोर हो गया, सिंडीकेट को समय-समय पर कालेजों के निरीक्षण का अधिकार मिल गया।
- विश्वविद्यालयों की क्षेत्रीय सीमा निर्धारित करने का अधिकार गवर्नर जनरल को मिल गया।
- कालेजों को विश्वविद्यालय से सम्बन्धित करने का अधिकार सरकार ने अपने जिम्मे ले लिया।

विधान परिषद के अन्दर और बाहर राष्ट्रवादियों ने इसकी कड़ी आलोचना की तथा इसे साम्राज्यवाद को सुदृढ़ करने के एक प्रयास के रूप में देखा। उन्होंने आरोप लगाया कि यह अधिनियम राष्ट्रवादी भावनाओं की हत्या का प्रयास है। यहाँ तक कि 1917 में सैडलर आयोग ने स्वीकार किया कि 1904 के अधिनियम से 'भारतीय विश्वविद्यालय संसार में सबसे अधिक पूर्णतया सरकारी विश्वविद्यालय बन गये थे।' लार्ड कर्जन के जीवनी लेखक रानाल्डशे ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था कि इस कार्य से जिस पर वायसराय ने इतना अधिक समय और विचार लगाया जिसका इतना विरोध हुआ, शिक्षा प्रणाली में कोई भी परिवर्तन नहीं आया और वह पहले की भाँति ही रही (Ronaldshay : 194)

1.6.8. 1913 ई. का सरकारी प्रस्ताव

सर्वप्रथम भारत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रारम्भ 1906 ई. में प्रगतिशील रियासत बड़ौदा ने किया था। राष्ट्रवादी तत्त्वों ने सरकार से प्रश्न किया कि सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा क्यों नहीं की जा सकती। सरकार ने अपना नकारात्मक उत्तर दिया। 1910-13 तक विधान परिषद में राष्ट्रवादी नेता गोपाल कृष्ण गोखले ने इस उद्देश्य की प्राप्ति के

लिए बहुत से प्रश्न किये। परिणामस्वरूप सरकार ने फरवरी 1913 ई. में एक प्रस्ताव से अनिवार्य शिक्षा के सिद्धांत को नकार दिया परन्तु निरपेक्षता समाप्त करने की नीति को अवश्य स्वीकार कर लिया। जिसमें निम्न प्रावधान किये गये। जिसमें-

1. प्रत्येक प्रान्त में एक विश्वविद्यालय की स्थापना पर जोर दिया गया।
2. शिक्षण विश्वविद्यालयों, प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों के प्रशिक्षण और माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिए निजी प्रयासों के महत्त्व पर बल दिया गया।

इस प्रस्ताव के पारित होने के उपरान्त भी इसको लागू नहीं किया जा सका। क्योंकि 1914 ई. में प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत हो गयी और ब्रिटिश नीति भी परिवर्तित हो गयी।

1.6.9. सैडलर विश्वविद्यालय आयोग

सन् 1917 में सरकार ने लीड्स विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर डा. माइकल ई. सैडलर की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया जिसमें दो भारतीय सदस्य भी थे डा. सर आशुतोष मुखर्जी और डा. जियाउद्दीन अहमद। जिसका कार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं का अध्ययन कर इसकी रिपोर्ट सरकार को देना था। यद्यपि यह आयोग विश्वविद्यालय तक ही सम्बन्ध था लेकिन इसकी सिफारिशों भारत के अन्य विश्वविद्यालयों में भी लागू की गयी। आयोग ने प्राथमिक से लेकर उच्चतर तक की शिक्षा व्यवस्था का अध्ययन किया। आयोग ने कहा कि यदि विश्वविद्यालयीय शिक्षा में सुधार करना है तो इसके लिए पहले माध्यमिक शिक्षा में सुधार लाना होगा। इस आयोग की सिफारिशों निम्नानुसार थी-

- इण्टरमीडिएट कक्षाएँ विश्वविद्यालय से पृथक् हो।
- इण्टरमीडिएट परीक्षाओं का संचालन के लिए माध्यमिक बोर्ड का गठन हो।
- कलकत्ता विश्वविद्यालय को भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त हो तथा इसे बंगाल सरकार के अधीन किया जाय।
- स्नातक स्तर पर त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम हो।
- प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक कुलपति नियुक्त किया जाय साथ ही अन्तर विश्वविद्यालय स्थापित हो।

- महिला शिक्षा पर जोर दिया जाय साथ ही औद्योगिक व प्रशिक्षण से जुड़ी समस्याएँ विश्वविद्यालय द्वारा निपटाया जाय।
- अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए प्रचुर सुविधएँ होनी चाहिए और इसके लिए ढाका और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में शिक्षा विभाग स्थापित किये जाय।

आयोग के सुझावों पर उत्तर प्रदेश में एक 'बोर्ड आफ सेकेंडरी एजुकेशन' की स्थापना हुई। तथा इसी की रिपोर्ट पर सात नये विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई जिनमें मैसूर, पटना, बनारस, अलीगढ़, ढाका, लखनउ और हैदराबाद में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। शिक्षा अब प्रान्तीय विषय बन गया। विश्वविद्यालयों के संचालन का जिम्मा प्रान्तों का हो गया।

1.6.10. हार्टोग समिति 1929

शिक्षण संस्थाओं की संख्या में अन्धाधुंध वृद्धि के कारण शिक्षा के स्तर में गिरावट आने लगी और शैक्षणिक पद्धति के प्रति असंतोष बढ़ा। इस असंतोष एवं शिक्षा में हुए विकास के सन्दर्भ में जाँच करने के लिए वर्ष 1929 में सर हार्टोग की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी। इस समिति ने अपनी निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत की -

- समिति ने प्राथमिक शिक्षा की महत्ता पर बल दिया लेकिन अनिवार्यता या शीघ्रता से प्रसार को अनुचित ठहराया।
- केवल शिक्षा में समर्पित विद्यार्थियों को ही उत्तर माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेना चाहिए। जबकि सामान्य स्तर के विद्यार्थियों को 8वीं कक्षा के पश्चात् व्यवसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेना चाहिए।
- विश्वविद्यालयी शिक्षा में सुधर के लिए, विश्वविद्यालयों में प्रवेश सम्बन्धी नियम अत्यंत कड़े होने चाहिए।

हार्टोग समिति की सिफारिश के आधार पर ही 1935 में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' का पुनर्गठन किया गया।

1.6.11. वर्धा योजना 1937

1937 ई. में गाँधी जी ने अपने पत्र 'हरिजन' में लेखों की व्याख्या का प्रकाशन किया और शिक्षा योजना का प्रस्ताव किया। अक्तूबर 1937 में कांग्रेस ने शिक्षा पर एक राष्ट्रीय

सम्मेलन वर्धा में आयोजित किया, कई प्रस्ताव पास किये गये इनमें बेसिक एजुकेशन पर राष्ट्रीय नीति बनाने के लिए जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। इस समिति के गठन का मूल उद्देश्य - 'गतिविधियों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करना'। इस योजना को 'मूल शिक्षा की वर्धा योजना' (Wardha Scheme of Basic Education) के नाम से जाना जाता है। इस योजना में निम्न प्रावधान थे-

- पाठ्यक्रम में बेसिक हस्तकारी को सम्मिलित किया जाय।
- राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के प्रथम सात वर्ष निःशुल्क एवं अनिवार्य होने चाहिए तथा शिक्षा मातृभाषा में दी जाय।
- शिक्षा का माध्यम कक्षा 2 से 7 तक हिन्दी माध्यम होना चाहिए। इसके बाद ही अंग्रेजी को माध्यम बनाना चाहिए।
- शिक्षा हस्त एवं लघु उद्योगों पर आधारित होना चाहिए। इसके लिए विद्यार्थियों को हस्तकारी तकनीकी के माध्यम से शिक्षित किया जाना चाहिए।

शिक्षा की यह योजना आधुनिक भारत के इतिहास में नये समाज की नई जिंदगी के लिए नये विचारों पर आधारित थी। इस योजना का उद्देश्य स्पष्ट था कि देश धीरे-धीरे आत्मनिर्भरता एवं स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होना। तथा हिंसा रहित नवीन भारत का निर्माण होना। किन्तु 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत हो चुका था तथा प्रान्तों की कांग्रेस मण्डलों ने त्याग पत्र दे दिया था। जिसकी वजह से यह योजना अंधकार के गर्त में समा गई।

1.6.12. शिक्षा की सार्जेण्ट योजना 1944

केन्द्रीय शिक्षा मंत्रणा मण्डल ने वर्ष 1944 में शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना तैयार की जिसे सार्जेण्ट योजना के नाम से जाना जाता। सर जान सार्जेण्ट तत्कालीन भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार थे। इस योजना के अनुसार -

- 3-6 वर्ष के आयु समूह के बच्चों के लिए पूर्व-प्राथमिक या प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था,
- 6-11 वर्ष के आयु समूह के बच्चों के लिए निःशुल्क, व्यापक और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था,

- 11-17 वर्ष के आयु समूह के चुनिंदा बच्चों के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् त्रिवर्षीय स्नातक शिक्षा की व्यवसायी होनी चाहिए।
- उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के दो भाग होने चाहिए - विधि विषयक शिक्षा ;तकनीकी एवं व्यवसायिक शिक्षा।
- तकनीकी, वाणिज्यिक एवं कला विषयक शिक्षा का व्यवस्था होनी चाहिए।
- उत्तर माध्यमिक पाठ्यक्रमों को समाप्त कर देना चाहिए।
- 20 वर्षों में वयस्कों को साक्षर बना दिया जाय।
- मानसिक एवं शारीरिक तौर पर विकलांगों को शिक्षा पर जोर तथा शिक्षकों को प्रशिक्षण तथा शारीरिक शिक्षा का व्यवस्था की जाय।

इस योजना से 40 वर्ष में देश में शिक्षा के पुनर्निर्माण का कार्य पूरा होना था तथा शिक्षा के स्तर को इंग्लैण्ड की शिक्षा के समान प्राप्त करना था। यद्यपि यह एक सशक्त व प्रभावशाली योजना थी किन्तु इसमें इन उपायों के क्रियान्वयन के लिए कोई ठोस कार्य योजना नहीं बनायी। साथ ही इंग्लैण्ड जैसे शिक्षा के स्तर को प्राप्त करना भी भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल न था।

1.7. स्वतंत्र भारत में शिक्षा

जिस समय देश स्वतंत्रा हुआ उस समय देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था अस्तव्यस्त थी। क्योंकि देश के विभाजन से एक बड़े पैमाने पर जनसंख्या का विस्थापन हुआ। और शरणार्थी समस्या के रूप में सरकार के सामने चुनौती बन गया। तथा अर्थव्यवस्था का ढाँचा भी बिखरा हुआ था क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय संसाधनों का बहुत दुरुपयोग किया था। ऐसे हालात में भारतीय नेताओं के सामने शिक्षा भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न के रूप में सामने आया। और स्वतंत्र भारत की शिक्षा नीति में सुधार करने के लिए विभिन्न प्रयास सरकार ने शुरू किये।

1.7.1. राधाकृष्णन् आयोग 1948-49

स्वतंत्रा भारत की अन्तरिम सरकार ने नवम्बर 1948 में राधाकृष्णन् के नेतृत्व में एक आयोग का गठन किया। इसीलिए इसे राधकृष्णन् आयोग कहा जाता है। इस आयोग ने देश में विश्वविद्यालय शिक्षा के सम्बन्ध में रिपोर्ट तैयार की। स्वतंत्र भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा के

क्षेत्रा में इस आयोग की रिपोर्ट का अत्यंत महत्त्व है। आयोग ने निम्न सिपफारिशों की थी। जो इस प्रकार है-

- विश्वविद्यालय पूर्व 12 वर्ष का शिक्षा अध्ययन होना चाहिए
- विश्वविद्यालयों में परीक्षा दिनों के अतिरिक्त कम से कम 180 दिन पढ़ाई होनी चाहिए जो 11-11 सप्ताहों के तीन सत्रों में विभक्त होनी चाहिए।
- उच्च शिक्षा के मुख्य तीन उद्देश्य होने चाहिए -
 1. सामान्य शिक्षा
 2. सरकारी शिक्षा एवं
 3. व्यवसायिक शिक्षा
- प्रशासनिक सेवाओं के लिए विश्वविद्यालय की स्नातक उपाधि आवश्यक नहीं होनी चाहिए।
- शांति निकेतन एवं जामिया मिलिया की तर्ज पर ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए।
- एक महाविद्यालय में एक हजार से ज्यादा छात्रों को प्रवेश न दिया जाय।
- विश्वविद्यालय शिक्षा को 'समवर्ती सूची' में सम्मिलित किया जाय।
- देश में विश्वविद्यालय शिक्षा की देख-रेख के लिए एक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना की जाय।
- उच्च शिक्षा में अंग्रेजी माध्यम को जल्दवाजी में न हटाया जाय।

राधाकृष्णन् आयोग की सिपफारिश पर भारत सरकार ने 1953 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया। जो संसद के अधिनियम के अनुसार एक 'स्वायत्त्व पूर्ण परिनिगत पद' (Autonomous Statutory Status) निकाय बताया गया। शिक्षा के सतरों का निश्चित करना एवं समन्वय करना भी इसी का उत्तरदायित्व था। इसे भारत सरकार पर्याप्त धन मुहैया कराती है जो विश्वविद्यालयों को वितरित करता है।

1.7.2. कोठारी शिक्षा आयोग 1964-66

भारत सरकार ने देश की शिक्षा के सभी पक्षों के विकास के लिए एक आयोग जुलाई 1964 डा. डी. एस. कोठारी की अध्यक्षता में गठित किया। इंग्लैण्ड, यू. एस. ए., रुस एवं यूनेस्को इत्यादि से प्रमुख शिक्षा शास्त्रियों एवं वैज्ञानिकों को सम्बद्ध किया गया। यूनेस्को सचिवालय ने श्री जे. एफ. मैकडूगल की सेवाएँ भी प्रदान करायीं। इन्होंने आयोग में एक सहकार सचिव (Associate Secretary) के रूप में कार्य किया।

आयोग ने यह स्वीकार किया कि शिक्षा तथा अनुसंधान दोनों ही किसी भी देश की समस्त आर्थिक, सांस्कृतिक तथा आत्मिक विकास के लिए तथा देश की प्रगति में निर्णायक होते हैं। आयोग ने शिक्षा की कठोर पद्धति की आलोचना की तथा शिक्षा नीति में लचीलेपन की आवश्यकता पर बल दिया। क्योंकि बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल हो। आयोग की सिफारिशों के आधर पर 1968 ई. में 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति' की घोषणा की गई। जिसमें निम्नलिखित तथ्यों पर बल दिया गया-

- 14 वर्ष की आयु तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान की।
- शिक्षा के लिए तीन भाषाई पफार्मूला - मातृभाषा, हिन्दी एवं अंग्रेजी तथा क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हुआ।
- राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना।
- अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा उनके लिए मानक तय करना।
- कृषि तथा औद्योगिक शिक्षा का विकास करना।
- विज्ञान तथा अनुसंधान शिक्षा का समानीकरण होना।
- सस्ती पुस्तकें उपलब्ध कराना तथा पाठ्य-पुस्तकों को उत्तम बनाना।
- माध्यमिक शिक्षा को व्यावसायिक बनाना।
- उन्नत अध्ययन केन्द्रों को अधिक सुदृढ़ बनाया जाय।
- प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक ऐसी संस्था हो जो अन्तर्राष्ट्रीय मानकों को प्राप्त करने का उद्देश्य रखती हो।

1.7.3. नवीन शिक्षा नीति 1986

नवीन शिक्षा नीति का उद्देश्य एक ऐसे गतिहीन समाज को क्रियाशील समाज में परिवर्तित करना जिससे कि एक नवीन भारत का उद्भव हो। जिसने विकास तथा परिवर्तन के प्रति वचनबद्धता हो। शिक्षा के उन सभी पहलुओं पर ध्यान देकर एक सुदृढ़ शिक्षा विकसित हो। इस नीति के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं-

- प्रारम्भिक शिक्षा को सर्वव्यापी बनाना।
 - उच्च माध्यमिक शिक्षा को व्यवसायिक बनाना। उद्देश्य प्राप्त 1990 तक 10 प्रतिशत और 1995 तक 25 प्रतिशत इसकी परिधि में आ जाय।
 - अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण तथा सार्वभौमिकता के लिए उच्च शिक्षा में सुधार लाना।
 - शिक्षा का सामाजिक महत्त्व हो तथा पाठ्यक्रम ऐसा हो जिससे विद्यार्थियों के मन में संविधान के मूल्यों के प्रति सद्भावना विकसित हो।
1. वे धर्मनिरपेक्ष तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों के प्रति वचनबद्ध हो
 2. वे देश की एकता तथा अखण्डता के बनाए रखने में विश्वास करें।
 3. वे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिपत्ति के नियम में पूर्ण विश्वास जताए।

1.8. मूल्यांकन

उपर्युक्त विस्तृत अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा का विकास किसी एक दिन या साल की प्रक्रिया का परिणाम नहीं होती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें समय और परिस्थितियों के अनुसार नये-नये परिवर्तनों की माँग करता है। ऐसी ही परिस्थितियाँ भारतीय शिक्षा के विकास के सामने आयी। जिसने धीरे-धीरे पारम्परिक शिक्षा पद्धति से आधुनिक शिक्षा पद्धति की ओर अग्रसर होते हुए एक नवीन भारत के निर्माण की मंजिल तैयार की।

यदि हम एक नजर आधुनिक भारत के इतिहास पर डाले तो सीमित रूप से ही सही लेकिन ब्रिटिश सरकार ने आधुनिक शिक्षा के विकास एवं प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसमें उन प्रबुद्ध भारतीयों के प्रयास भी बहुत सराहनीय हैं जिन्होंने सरकार और समाज के सामने शिक्षा के सुधार तथा प्रसार की माँग की। सरकार निम्न कारणों से प्रभावित थी-

1. बुद्धिजीवी भारतीयों द्वारा आधुनिक शिक्षा के सम्बन्ध में किये गये प्रयास, ईसाई मिशनरी एवं मानवतावादी नौकरशाही।
2. ब्रिटिश सरकार का मानना था कि प्रशासन के निम्न स्तरीय पदों पर भारतीयों की नियुक्त उनके हितों की पूर्ति करेगी। इसलिए सरकार ने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया।
3. अंग्रेजों को यह उम्मीद थी कि शिक्षित भारतीय इंग्लैण्ड की निर्मित वस्तुओं की माँग बढ़ाने में सहायक होगी।
4. उनका विश्वास था कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से भारतीय अंग्रेजी रंग में रंग जायेंगे। इससे ब्रिटिश साम्राज्यवाद को स्थायित्व मिलेगा और साथ ही अपनी सत्ता को भारत में सुदृढ़ और स्थायी बना देंगे।

जन सामान्य की शिक्षा की उपेक्षा करने से देश में निरक्षरता प्रतिशत में वृद्धि हुई। इस वृद्धि से मुट्टी भर शिक्षित भारतीयों एवं जन सामान्य के बीच भाषायी एवं सांस्कृतिक दूरियाँ बढ़ती ही गयीं। अब शिक्षा उच्च एवं धनी वर्ग तथा शहरों में निवास करने वाले लोगों के एकाधिकार में हो गयी। स्त्री शिक्षा की ब्रिटिश सरकार ने उपेक्षा की। क्योंकि सरकार समाज की रूढ़िवादी तबके को नाराज नहीं करना चाहती थी। तथा तत्कालीन उपनिवेशी शासन के लिए किसी भी प्रकार से लाभदायक नहीं थी। 1857 तक देश में केवल तीन चिकित्सा महाविद्यालय थे। जो कलकत्ता, बम्बई एवं मद्रास में स्थित थे। अभियांत्रिकी महाविद्यालय सिर्फ एक रूड़की में स्थापित किया गया था। वह भी सिर्फ यूरोपियन और यूरेशियाई लोगों को इंजीनियरिंग की शिक्षा देने के लिए।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय शिक्षा में उतना विकास नहीं हो सकता जितना कि होना चाहिए था। देश को स्वतंत्रता हुए लगभग 66 वर्ष हो चुके थे। लेकिन आज भी शिक्षा पद्धति में कोई बड़ा सुधार नहीं हुआ है। चाहे वह प्राथमिक शिक्षा हो चाहे माध्यमिक एवं उच्च। साक्षरता का प्रतिशत बढ़ जाने से ज्ञान का प्रतिशत नहीं बढ़ता है। आवश्यकता इस बात की है कि वास्तविक रूप से एक नवीन भारत का विकास तभी सम्भव है जब शिक्षा के सभी स्तरों पर सुधार किये जाय। जिसमें प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा मुख्य रूप से, क्योंकि ये नवीन भारत के निर्माण की बुनियाद है।

1.9. शब्दावली

1. प्राच्य शिक्षा - ऐसी शिक्षा व्यवस्था जिसमें देशी भाषा, विज्ञान, दर्शन, साहित्य का अध्ययन किया जाता है। इसमें परम्परागत भारतीय भाषाओं एवं साहित्य को प्रोत्साहन
2. पाश्चात्य शिक्षा - ऐसी शिक्षा व्यवस्था जिसमें विदेशी ;पश्चिमी जगतद्ध भाषा साहित्य विज्ञान दर्शन एवं तकनीकी का ज्ञान कराया जाता है। इसमें भाषा का माध्यम अंग्रेजी या यूरोपीय होती है।
3. उपनिवेशवाद - वह देश जो महानगरीय पूँजीवादी देश के अधीन हो उपनिवेश कहलाता है और उपनिवेश में जो घटित होता है वह उपनिवेशवाद कहलाता है।
4. विप्रवेशन सिद्धांत - कुछ गिने-चुने उच्च वर्ग को शिक्षित कर निचले स्तर तक छन-छन कर ज्ञान का प्रसार हो।
5. प्रबुद्ध- बुद्धिजीवी वर्ग जो शिक्षा एवं ज्ञान से पूर्ण हो।

1.10. बोध प्रश्न

1. मिलान कीजिए -

- | | |
|------------------------------|---|
| A. शिक्षा की सार्जेण्ट योजना | 1. केन्द्रीय शिक्षा मंत्रणा मण्डल |
| B. चार्ल्स वुड का डिस्पैच | 2. कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं से |
| C. हण्टर शिक्षा आयोग | 3. भारतीय शिक्षा का मैग्ना कार्टा |
| D. सैडलर आयोग | 4. प्राथमिक शिक्षा का समर्थन |

2. आयोग और स्थापना वर्ष

- | | |
|--------------------------------|------|
| A. लार्ड मैकाले का स्मरण पत्रा | 1904 |
| B. सर टामस रैले आयोग | 1835 |
| C. सैडलर आयोग | 1929 |
| D. हार्टोग समिति | 1917 |

3. आयोग/समिति व	उनके अध्यक्ष
A. वर्धा योजना	1. सर जान सार्जेण्ट
B. सार्जेण्ट योजना	2. डा. जाकिर हुसैन
C. कोठारी आयोग	3. सर टामस रैले
D. भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम यम	4. डा. एस. एस. कोठारी

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. उपनिवेशवाद के दौरान शिक्षा किस प्रकार विकसित हुई।
2. स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षा में सुधार के लिए क्या प्रयास किये गये।
3. आंग्ल-प्राच्य विवाद क्या था ?
4. स्त्री शिक्षा के लिए किये गये प्रयासों का उल्लेख कीजिए।

दलित आन्दोलन और डा. बी. आर. अम्बेडकर, द्रविड आन्दोलन

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.3 उन्नीसवीं शताब्दी में गैर ब्राह्मण आन्दोलन
 - 2.3.1 महाराष्ट्र में दलित आन्दोलन
 - 2.3.1.1 ज्योतिबा फुले
 - 2.3.2 दक्षिण भारत में दलित आन्दोलन
 - 2.3.2.1 तमिलनाडु में दलित आन्दोलन
 - 2.3.2.2 कर्नाटक में दलित आन्दोलन
 - 2.3.2.3 केरल में दलित आन्दोलन
- 2.4 बीसवीं शताब्दी में दलित आन्दोलन
 - 2.4.1 द्रविड़ आन्दोलन
 - 2.4.1.1 गैर-ब्राह्मण आन्दोलन
 - 2.4.1.2 आत्म सम्मान आन्दोलन
 - 2.4.1.3 आन्ध्र में द्रविड़ या गैर ब्राह्मण आन्दोलन
 - 2.4.1.4 मैसूर में गैर ब्राह्मण आन्दोलन
 - 2.4.2 डा. बी. आर. अम्बेडकर
 - 2.4.2.1 अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष
 - 2.4.2.2 पूना समझौता (सितम्बर 1932)
 - 2.4.2.3 राजनीतिक सफर
- 2.5 सारांश
- 2.6 शब्दावली
- 2.7 बोधप्रश्न
- 2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित तथ्यों के बारे में जानकारी पा सकेंगे-

1. भारत में पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष
2. निम्न जातीय संघर्ष ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरुद्ध होने के क्या कारण
3. दक्षिण, पश्चिम भारत में गैर-ब्राह्मण आन्दोलन का स्वरूप
4. दलित आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान करने वाले लोग और औपनिवेशिक शासन का समर्थन
5. दलित आन्दोलन और अम्बेडकर की भूमिका
6. दक्षिण भारत में द्रविड़ आन्दोलन की प्रकृति एवं स्वरूप
7. इन आन्दोलनों की मूल सीमाएँ

2.1 प्रस्तावना

19वीं 20वीं शताब्दी में भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष ने न केवल ब्रिटिश उपनिवेशी शासन के सैद्धान्तिक प्रधान्य के विरुद्ध बल्कि रूढ़ सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था के विरुद्ध भी रुकावट पैदा की थी। क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर बुद्धिजीवियों के एक एमुदाय के बनने के कारण पारंपरिक व्यवस्था की कमजोरियों के प्रति एक चेतना जागी। उन्नीसवीं सदी में ऐसे कई सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन हुए जिनका उद्देश्य भारतीय सांस्कृतिक और पारंपरिक संस्थाओं में सुधार करना तथा उनको नव जीवन प्रदान करना था। भारत में जातिगत असमानता और उनके साथ जुड़े श्रेणीबद्ध समाज के विरुद्ध सामाजिक व सांस्कृतिक लड़ाईयाँ लड़ने के लिए अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त मध्यवर्ग एकजुट हो चुका था। बुद्धिवाद और धार्मिक सार्वभौमवाद निश्चय ही ऐसी दो महत्त्वपूर्ण विचारधाराएँ थी जिनका उन्नीसवीं सदी के बुद्धिजीवियों ने सहारा लिया और जिसने महाराष्ट्र में जोतिराव फुले जैसे अतिसुधारवादी सामाजिक समीक्षक को जन्म दिया। दलित आन्दोलन सिर्फ पश्चिम भारत में ही नहीं अपितु दक्षिण भारत में भी प्रारंभ हो गया। जिनमें रामास्वामी नायकर जैसे जाति समाज सुधारक सामने आये। रामास्वामी नायकर जिन्हें पेरियार के नाम से जाना जाता है। 20वीं सदी में गाँधीवादी नेता के रूप में प्रसिद्ध हुए। लेकिन इन्होंने धर्मशास्त्रों एवं वर्णव्यवस्था का खुलकर विरोध किया और 1920 ई. में 'आत्म सम्मान' आन्दोलन की शुरुआत की। 'वायोकोम' सत्याग्रह दक्षिण में केरल में दलितों के मन्दिर प्रवेश के लिए चलाया गया। इस आन्दोलन को नारायण गुरु, एन. कुमारन, टी. के. माधवने जैसे समाज सुधारक थे।

दलित या अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की सामाजिक-आर्थिक दशाओं पर बहुत सारे अध्ययन हुए हैं, किन्तु उनके आन्दोलनों पर बहुत कम व्यवस्थित एवं आनुभाविक

रूप में विश्वसनीय अध्ययन हुए हैं। अनुसूचित जातियाँ भारत की जनसंख्या का 16 प्रतिशत है। सन् 2001 ई. में उनकी संख्या लगभग 1,680 लाख थी। भारतीय समाज इतना बड़े जनसंख्या के बारे में मिथ्या अवधारणा बना रखी थी कि इनके स्पर्श और इनकी छाया और यहाँ तक कि इनकी आवाज से सवर्ण हिन्दुओं को अपवित्र कर देती। ऐसी धारणा हमारे समाज को पतन के गर्त में ले गयी। सामाजिक भेदभाव की वजह से देश का विकास अवरुद्ध रहा। जिसका परिणाम विदेशी ताकतों का गुलाम बना रहा था।

2.3 उन्नीसवीं शताब्दी में गैर ब्राह्मण आन्दोलन

19वीं शताब्दी भारतीय राजनीति, समाज एवं धार्मिक क्षेत्र में काफी उथल-पुथल का काल था। एक तरफ मुगल सत्ता की नींव लड़खड़ा रही थी तो वही समाज कुरीतियों की जंजीरों को तोड़ने लगा था। धर्म में जो अंधविश्वास फैला रखा था उसमें भी सुधार आन्दोलन शुरू हो गयी थी। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न तो भारतीय जातिव्यवस्था का था, जिसने भारतीयों को विभाजित कर रखा था और बिखराव के बहुत करीब था। मध्ययुग में सामाजिक धार्मिक सुधारकों में प्रायः निम्न जाति के थे। इसके विपरीत आधुनिक भारत में 19वीं शताब्दी में धार्मिक सामाजिक सुधारकों में प्रायः उच्च वर्णीय हिन्दु थे जिन्होंने अस्पृश्यता तथा जाति-पाँति को निन्दनीय ठहराया। लेकिन इन चुनौतियों को केवल आंशिक साहायता मिली। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप दक्षिण तथा पश्चिम भारत में भिन्न-भिन्न जातीय आन्दोलन प्रारम्भ हुए। राष्ट्रीय जागरण के विकसित होने से, समानता तथा सामाजिक समतावाद पर आधारित आधुनिक राजनैतिक विचारों के प्रसार, सभी ने एक ऐसा सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण बना दिया जिसमें जाति प्रथा को न्यायसंगत कहना असम्भव हो गया। इसीलिए निम्न जातियों में ऐसे नेता उभरे जिन्होंने स्वयं समानता के आन्दोलनों का नेतृत्व किया।

2.3.1 महाराष्ट्र में दलित आन्दोलन

महाराष्ट्र में सामाजिक स्तरीकरण वर्णाश्रम धर्म से नियंत्रित था, जिसके अन्तर्गत ब्राह्मणद्वय क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नामक वर्गों का असमान जातिक्रम व्यवस्था के आधार पर समाज का विभाजन किया गया था। इस स्तरीकरण से नियंत्रित विभिन्न जातियों के बीच आपसी सामाजिक सम्बन्धों को अपवित्रता और पवित्रता के कठोर नियमों के आधार पर बनाए रखा गया था। ब्राह्मण जाति के लोग धार्मिक विचारधाराओं के विकास के माध्यम से वे समाज और सामाजिक नियंत्रण बनाए रखते थे। इस विचारधारा ने बहुत से अंधविश्वासों और अमानवीय व्यवहारों को वैधता दी हुई थी। शूद्र वर्णव्यवस्था में सबसे निचले क्रम में होने की वजह से उन्हें शिक्षा और अधिकारों से वंचित रखा गया था।

1881 की जनगणना के अनुसार महाराष्ट्र में हिन्दु जनसंख्या लगभग 74.8 प्रतिशत थी। इनमें मराठा या कुन्वी समुदाय का कुल जनसंख्या का लगभग 55.25 प्रतिशत था। ग्रामीण परिक्षेत्र में मराठा या कुन्वी आर्थिक रूप से सम्पन्न थे। लेकिन विचारधारा और जातीयव्यवस्था के प्रभाव ने उन्हें ब्राह्मणों का गुलाम बनाए रखा। ब्राह्मणों ने दूसरी ओर कर्मकाण्डी भक्ति, शिक्षा

एवं ज्ञान पर एकाधिकार के माध्यम से अन्य जातियों पर भी प्रभाव बनाए रखा। औपनिवेशक काल के दौरान ब्राह्मणवर्ग ने अंग्रेजी शिक्षा को सफलतापूर्वक स्वीकार कर प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर अधिकार कर लिया। जिसकी वजह से पिछड़ी एवं दलित जातियों के अन्दर भय का वातावरण छा गया।

2.3.1.1 ज्योतिवा फुले

महाराष्ट्र इतना सब अस्तव्यस्त समाज व्यवस्था में कुछ समाज सुधारकों का जन्म हुआ। इनमें ज्योतिराव फुले का जन्म 1827 ई. में पुणे के एक माली परिवार में हुआ। फुले का जन्म दलित परिवार में होने की वजह से शूद्र की श्रेणी में निम्न था। जिसे 'महार' जैसी अछूत जातियों की समस्याओं को आसानी से जान कसते थे। इनकी शिक्षा एक मिशनरी स्कूल में हुई थी लेकिन अचानक 1833 में बीच में ही छोड़नी पड़ी। 1848 ई. की घटना ने ज्योतिराव को सामाजिक क्रान्तिकारी परिवर्तनवादी बना दिया। जब वे अपने एक ब्राह्मण मित्र की शादी में सम्मिलित होने गये तो कुछ कट्टर ब्राह्मणों ने उन्हें शूद्र कहकर तिरस्कार किया और शादी से चले जाने को कहा। तो इन्हें बहुत बड़ा अपमान महसूस हुआ। उन्होंने जाति भेद-भाव मूलक और छुआछूत जैसी अमानवीय व्यवहार की सच्चाई का पता करने पर मजबूर कर दिया।

समाज और अर्थव्यवस्था की सच्चाई जानने के लिए उन्होंने हिन्दु धर्म ग्रन्थों का अन्य धर्मों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया। इसके साथ-साथ पश्चिमी विचारधारा एवं ईसाई तथा इस्लाम धर्म ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। विभिन्न संस्कृतियों और परम्पराओं को ज्योतिवा फुले ने तर्कबुद्धि और समानता के दृष्टिकोण से देखा। जबकि समानता के सिद्धांत ने जातिप्रथा, सत्तावादी परिवार संरचना और स्त्रियों की आश्रितता को पूरी तरह अस्वीकार किया। और तर्कबुद्धि सिद्धांत ने अंधविश्वासों कर्मकाण्डों और सांस्कृतिक व्यवहार की पारम्परिक धारणा को समाप्त करने की आवाज उठाई। उन धर्मग्रन्थों को मानने से इंकार कर दिया जिसकी वजह से ऐसी अनुचित संस्थाएँ जीवित थीं और सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक एवं राजनैतिक मामलों में उनकी सोच सुधारवादी थी। जाति व्यवस्था को मानव सभ्यता के खिलाफ माना। क्योंकि यह व्यवस्था निम्न जातियों, दलितों के लिए कभी खत्म न होने वाली दासता को बनाए रखती थी। दलितों के प्रति ब्राह्मणों के इस अमानवीय व्यवहार और मानव अधिकारों से वंचित करने वाली व्यवस्था के प्रति विद्रोही बना दिया।

जाति व्यवस्था के प्रश्न पर इतिहास की व्याख्या करते हुए कहा कि विदेशी आर्य लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों अथवा द्रविड जनसमुदाय को हराकर एक असमान जाति व्यवस्था स्थापित की। ओर इन लोगों को हमेशार शोषण किया। शोषण के सिद्धांत को बनाए रखने और जाति विभाजन को दैवीय सिद्धांत से जोड़ दिया और एक वर्ग संघर्ष हमेशा से चला आया। क्योंकि ब्राह्मण वर्ग अपनी सर्वोच्चता को बनाए रखने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से निम्न जातियों को धर्म की जड़ों में सदैव हिन्दु बनाए रखा। लेकिन उनके मानव अधिकारों का शोषण किया और 19वीं शताब्दी में जातिव्यवस्था के विरोध में सामाजिक आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर पहुँची।

हिन्दु समाज में स्त्रियाँ एवं दलित वर्ग सबसे ज्यादा प्रभावित थे। उन्होंने स्त्रियों की मुक्ति समाज के दूसरे निम्न जातियों की मुक्ति के साथ जुड़ी हुई थी। उन्होंने स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षणिक स्थिति के लिए ब्राह्मणों को दोषी माना क्योंकि हिन्दु ग्रन्थों की व्याख्या इस प्रकार की ताकि स्त्रियों, पुरुषों की दासता में ही रहे। ज्योतिवाफुले ने प्राधिकारवादी परिवार, संरचना की जड़ों को उखाड़ने की ओर अग्रसर हुए। इन्होंने सभी जातियों की समानता के साथ स्त्रियों एवं पुरुषों के बीच भी समानता पर अपना विचार प्रकट किया। शादी के अवसर पर वे वर से वादा करवाते थे कि वह नववधू को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार देगा। और जगह-जगह स्त्रियों की स्वतंत्रता के लिए उन्होंने अपने विचार प्रकट किये ताकि समाज में एक नई ज्योति लाई जाय।

किसानों की आर्थिक समस्याओं को 1885 ई. में प्रकाशित पैम्पलेट 'इशारा' के माध्यम से विचार व्यक्त किये। खेतीविहीन मजदूरों और छोटे किसानों की परेशानियों के बारे में उन्हें बहुत जानकारी थी और उनका सदैव साथ दिया। उदाहरण के तौर पर कोंकणा के बटाईदार काश्तकारों का समर्थन किया। और उनका शोषण करने वाले 'जमींदार' वर्ग की आलोचना की। राजनीति में किसानों को एक वर्ग के रूप में प्रवेश कराने वाले पहले व्यक्ति थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध इसलिए किया क्योंकि किसानों की समस्याओं को सुलझाने के असमर्थ रही। ज्योतिवाफुले ने औपनिवेशिक शासन को दलितों की दासता से मुक्ति के लिए एक हथियार समझा। उन्होंने ब्रिटिश शासन से समाज में एक क्रान्तिकारी बदलाव की आशा प्रकट की। किसानों का एक ऐसा वर्ग जो दलित समाज से उनकी स्थिति बहुत ही खराब थी। न ही इनके पास संसाधन थे और न ही कोई आर्थिक साहायता। उसके बावजूद ये कर अदा करते थे। जिसकी वजह से दिन-प्रतिदिन आर्थिक समस्याएँ बढ़ती जा रही थी। और इन्हें मुक्ति का मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। इनका मानना था कि जब एक राष्ट्र में रहने वाले व्यक्ति एक समान है तो वह दासता की जंजीरों में क्यों जकड़े हुए हैं। राष्ट्र की संकल्पना जब स्वतंत्रता और समानता पर आधारित है तो जातिव्यवस्था का होना इन सिद्धांतों के खिलाफ था।

ज्योतिवाफुले ने पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन तथा भाषण एवं लेखन में मराठी भाषा का प्रयोग कर अपने विचारों का प्रसार किया। उन्होंने मराठी में 'दीनबंधु' पत्रिका का सम्पादन एवं प्रकाशन किया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था के अधीन दलितों की दासता के ऐतिहासिक कारणों की संकल्पना 1873 ई. में अपनी पुस्तक 'गुलामी' में वर्णन किया। और इसकी तुलना अमेरिका के काले चमड़ी वाले नीग्रो दासता से की। 1870 के दशक के आते-आते उदारवादियों द्वारा चर्चित समाज सुधारकों की नीतियाँ इनकी नीतियों से बिल्कुल विपरीत थी। इन्होंने उदारवादियों के विपरीत, तर्कबुद्धि, समानता और मानवतावाद के सिद्धांतों के आधार पर सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचना का पुनः निर्माण करने का लक्ष्य घोषित किया। और जनता के समक्ष असमानता के प्रति जागरूकता फैलाना उनका उद्देश्य बन गया।

अपने लक्ष्यों एवं उद्देश्य प्राप्ति के लिए 1851 ई. में उन्होंने लड़कियों के शिक्षा के लिए एक स्कूल की स्थापना की तथा दलितों की शिक्षा के लिए भी एक स्कूल की स्थापना की। उन्हें

इस बात का ज्ञान था कि शिक्षा ही एक माध्यम है जिसके द्वारा दासता की जंजीरों को तोड़ा जा सकता था। उन्होंने साथ ही विधवाओं को संरक्षण और आश्रय दिया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था और उनकी विचारधाराओं से लड़ने के लिए सन् 1875 ई. में सत्य शोधक समाज की स्थापना की। अपने पूरे जीवन काल में दलित वर्ग के संघर्ष में साथ दिया। उन्होंने असमानता के आधार पर स्थापित जाति व्यवस्था को खत्म करने और लोकतांत्रिक न्याय व्यवस्था स्थापित करने का कार्य किया। जातिगत असमानताओं और दलित जातियों की सामाजिक अधीनता और आर्थिक रूप से पिछड़ेपन के बीच सम्बन्धों के प्रति जागरूक थे।

2.3.2 दक्षिण भारत में दलित आन्दोलन

दक्षिण भारत में दलित आन्दोलन मुख्यतः मद्रास प्रान्त, केरल, कर्नाटक आदि में हुए। मद्रास प्रान्त में उस समय 3.3 प्रतिशत सिर्फ हिन्दु ब्राह्मण थे। परन्तु धार्मिक अनुष्ठानों के प्रमुखता वाले क्रम में उन्हें दूसरी जातियों से उच्च स्थान प्राप्त था। इनके पास शिक्षा के अवसर होने की वजह से इन्होंने जल्दी ही अंग्रेजी शिक्षा को अपना लिया। और व्यवसायों, नौकरशाही के अवसरों पर इनका अधिकार जल्दी हो गया। नौकरी के अवसरों ने ब्राह्मण एवं गैर-ब्राह्मण के बीच झगड़ों को बढ़ाया। लेकिन ये कारण ही आन्दोलन के लिए उत्तरदायी था बल्कि सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति तथा सांस्कृतिक पहलुओं ने ऐसे हालात पैदा कर दिये जिससे दक्षिण भारत में दलित आन्दोलन एक सामाजिक क्रान्ति के रूप में जन्म लिया। दलित आन्दोलन सिर्फ दक्षिण भारत में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत में फैला। दक्षिण भारत में दलित आन्दोलन का स्वरूप कुछ शोषण के सिद्धांत पर था। और निम्न जातियाँ इन दासता की जंजीरों को तोड़ कर अपने अधिकारों को प्राप्त करना चाहती थीं।

2.3.2.1 तमिलनाडु में दलित आन्दोलन

समकालीन ऐतिहासिक रचनाओं से जानकारी प्राप्त होती है कि तमिल के पुनर्जागरण की वजह से दलित अथवा द्रविड चेतना का विकास हुआ। यह आंदोलन गैर-ब्राह्मण आन्दोलन के रूप में उभरा। आन्दोलन कर्ता अपने राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक अधिकारों की माँग ब्राह्मणवादी समाज से प्राप्त करना चाहते थे। 19वीं शताब्दी में इन अधिकारों की माँग तेज हो गयी। 1887 ई. के बाद जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए वह तमिल क्लासिकल साहित्य जैसे पुत्तुप्पाट्टु, मणिमेखलाई, शिलघादिकारम पर आधारित थे। तमिल सामाजिक एवं सांस्कृतिक विद्वानों ने इन साहित्यों के आधार पर एक ऐसी क्लासिकल द्रविड साहित्य अथवा सभ्यता एवं संस्कृति का चित्र प्रस्तुत किया जो आर्य एवं उनकी संस्कृति से बिल्कुल भिन्न था। यह आश्चर्य की बात है कि सबसे पहले यूरोपीय विद्वान काल्डवैल ने तमिल संस्कृति के स्वतंत्र अस्तित्व की धारण का विकास किया था और बाद में तमिल विद्वानों ने इसका विस्तार किया। इन विद्वानों ने यह वर्णन करने का प्रयास किया कि आर्यों ने अपनी संस्कृति की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए तमिल शैव सिद्धांत दर्शन जैसी उच्च द्रविड धार्मिक पद्धति को तोड़-मरोड़कर नष्ट कर दिया। आर्यों ने ही वेदों की शिक्षा अध्ययन एवं जाति व्यवस्था को दक्षिण भारत के लोग पर आरोपित की थी। यही वह अवसर था जब इन तमिल साहित्य के लोग पर आरोपित की थी। यही वह अवसर था

जब इनत मिल साहित्य ने एक विशिष्ट संस्कृति का ज्ञान कराया। और यह वास्तविक रूप में 19वीं 20वीं शताब्दी में गैर-ब्राह्मण आन्दोलन के रूप में दलित जातियाँ एक हुई।

2.3.2.2 कर्नाटक में दलित आन्दोलन

कर्नाटक के इतिहास में दलित आन्दोलन की शुरुआत तो 12वीं शताब्दी में ही हो चुकी थी। उत्तरी भाग में बासवन्ना ने सबसे पहले जाति भेद भाव के खिलाफ प्रश्न उठाया। मध्ययुगीन दक्षिण भारत में बासवला एक दार्शनिक सामाजिक सुधारक थे। वह हिन्दु धर्म में जाति व्यवस्था और अनुष्ठान के खिलाफ खड़े थे। अपने आन्दोलन के पीछे आधारशिला ईश्वर के एक सार्वभौमिक अवधारणा में दृढ़ विश्वास था। उनका मानना था कि प्रत्येक जीवन को भगवान् का निवास स्थान है। वह निराकार है इसलिए उन्होंने मानवीय जीवन के अनुभव से लिंग, जाति और स्थिति की परवाह किये बिना प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर दिया जाना चाहिए। और जब तक जाति व्यवस्था को समाज की जड़ों से उखाड़ कर नहीं फेंक दिया जाता, तब तक एक समृद्ध समाज का विकास नहीं हो सकता उन्होंने दक्षिण भारत के कलचुरि राज्य में प्रधानमंत्री के रूप में रहते हुए अछूत जातियों के उत्थान के लिए संघर्ष किया और ब्राह्मणवादी व्यवस्था का विरोध किया। वह लिंगायत समुदाय से जुड़े थे। उन्होंने दक्षिण भारत में साहित्यिक क्रान्ति 'बचना साहित्य' की शुरुआत की। पेशे से राजनेता, समाज सुधारक और मानवतावादी थे। और दक्षिण में स्वयं एक ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया। उन्होंने ज्ञान के माध्यम से महसूस किया कि सभी मनुष्य समान हैं तो फिर यह जाति व्यवस्था क्यों इसको खत्म करना चाहिए। उन्होंने जनेऊ जैसे कर्मकाण्डों का विरोध किया और स्वयं भी धारण नहीं किया। हिन्दु धर्म में फैली कुरीतियों का विरोध किया। बासवन्ना ने मानव जाति के बीच समानता का प्रचार और जाति, धर्म और यौन सम्बन्ध सभी बाधाओं की निंदा की क्योंकि यह जाति व्यवस्था का ही परिणाम थी। उन्होंने महिलाओं के उत्थान की भी बात की। क्योंकि दलितों और महिलाओं की एक ही स्थिति थी।

2.3.2.3 केरल में दलित आन्दोलन

केरल में दलित आन्दोलन 19वीं शदी के उत्तरार्ध में समाज सुधार आन्दोलन शुरू हो चुके थे। दलित आन्दोलन की शुरुआत होने के पीछे कई कारण थे। जिनमें सर्वप्रथम उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। दूसरा, समाज ने उन्हें मुख्य धारा से अलग कर दिया था। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने उनके शोषण को चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। शैक्षणिक स्थिति बहुत ही खराब थी, जिसकी वजह से समाज में असमानता और गरीबी ने उन्हें सदियों से दासों जैसी स्थिति में पहुँचा दिया। दासों की स्थिति फिर भी अच्छी होती थी। लेकिन दलितों की स्थिति बहुत ही खराब थी। हिन्दु धर्म की जितनी भी संस्थाएँ थी, उनमें उनको प्रवेश करने का कोई अधिकार नहीं था। पेयजल के लिए उन्हें किसी बावड़ी पर जल भरने का अधिकार नहीं था साथ ही न ही किसी मन्दिर में प्रवेश करने का। यह कैसा समाज था जहाँ पर एक मानव दूसरे

मानव के साथ असमानता का व्यवहार कर रहा था। यह हिन्दु धर्म के पतन के लिए बहुत जिम्मेदार था। कोई भी धर्म तब तक विकास नहीं कर सकता जब तक व्यक्ति को समानता का अधिकार नहीं मिल जाता।

दलित आन्दोलन को नेतृत्व आयंकली ने 19वीं शताब्दी में दिया। निचले एवं पिछड़े वर्ग ने अन्ततः अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणवादी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करना शुरू कर दिया। जिसमें त्रावनकोर क्षेत्र में एझवा जाति के लोग इसमें गरीब किसान, बुनकर, कृषि मजदूर तथा ताड़ी बेचने वाले लोग थे। आयंकली के लगन से केरल में जाति व्यवस्था के विरुद्ध सफलतापूर्वक विद्रोह हुआ। और दलित विद्रोहियों ने आसानी से सामाजिक सार्वजनिक स्थानों पर प्रवेश किया। इनमें मन्दिर प्रवेश के साथ जल के लिए कुओं पर भी प्रवेश किया। 1898 ई. में आयंकली ने ऐतिहासिक पद यात्रा करते हुए दलित आन्दोलन का नेतृत्व किया और सार्वजनिक बाजारों, सड़कों, मन्दिरों, शिक्षण संस्थाओं तथा जलाशयों पर दलितों का प्रवेश सवर्ण हिन्दुओं के विरुद्ध कराया। और आन्दोलन केरल के विभिन्न भागों में फैल गया।

2.4 बीसवीं शताब्दी में दलित आन्दोलन

बीसवीं शताब्दी में दलित आन्दोलन ने एक नया मोड़ लिया। जब 19वीं शदी में जो शुरू हुआ अब दलित जागरूकता अभियान शुरू हुआ। साथ औपनिवेशिक शासन के दौरान शैक्षणिक संस्थाओं का विकास हो चुका था। यहाँ पर सभी को समानता के साथ व्यवहार किया जाता था। तो दलित एवं पिछड़े वर्ग से कुछ बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हो चुका था। इनमें टी. एन. नायर, पी. त्यागराज, चेट्टी, सी. नटेश मुदालियर, ई. वी. रामास्वामी नायकर, डा. बी. आर. अम्बेडकर जैसे समाज सुधारकों ने समाज जो अस्पृश्यता एवं असमानता जैसी बुराईयों के खिलाफ अपनी आवाज उठाई। और विभिन्न समाज सुधार संगठनों की स्थापना की। इनमें मुख्यता द्रविड़ आन्दोलन के अन्दर ही बहुत से समाज सुधार आन्दोलन शुरू हुए। तथा महाराष्ट्र में डा. बी. आर. अम्बेडकर ने आन्दोलन की शुरुआत की। तथा इनके मार्गदर्शन ने सम्पूर्ण भारत में दलितों को अपने अधिकारों की माँग ब्रिटिश सरकार से की। तथा सदियों से ब्राह्मणवादी व्यवस्था की शिकार अस्पृश्य पिछड़ी जातियों ने अपने हक के लिए आवाज उठाई।

2.4.1 द्रविड़ आन्दोलन

द्रविड़ आन्दोलन मुख्यतः दक्षिण भारत में तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, केरल वाले क्षेत्रों में अस्पृश्य जातियों के उत्थान के लिए 20वीं सदी में बुद्धिजीवी वर्ग ने चलाया। द्रविड़ मुख्यता दक्षिण भारत में मूल निवासी थे इस क्षेत्र में आर्यों के प्रवेश से इनकी संस्कृति एवं समानता को परिवर्तित कर दिया। तमिल क्षेत्र में क्लासिकल साहित्य से ऐसा आभास होता है कि उस समय समाज में जाति व्यवस्था जटिल नहीं थी। क्योंकि समाज व्यवसाय के आधार पर जीवन यापन

करता था। समाज में कोई भेद-भाव नहीं था। तमिल ग्रन्थ मणिमेखलाई, शिल्पादिकारम एवं पत्तुप्पाट्ट जैसे क्लासिकल साहित्य द्रविड़ संस्कृति की सर्वोच्चता का चित्रण स्पष्ट करता है। जो कि आर्य संस्कृति से बिल्कुल विपरीत था। सभ्यता और संस्कृति किसी प्रजाति के प्रवेश से नहीं बदलती बल्कि कुछ लोग दूसरे की सभ्यता और संस्कृति निकृष्ट बताकर अपनी सर्वोच्चता को स्थापित करते हैं और यह कार्य सिर्फ कुछ लो ही करते, जो धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति को महिमामण्डित करते। क्योंकि उनके लिए मानव सभ्यता महत्त्वपूर्ण नहीं होती बल्कि धर्म एवं संस्कृति महत्त्वपूर्ण होती। और वहीं पर एक समाज दूसरे समाज का शोषण करने लगता है। ऐसा भारतीय उपमहाद्वीप में भी हुआ। यह व्यवस्था शोषण के सिद्धांत पर स्थापित रही। लेकिन यह सिद्धांत सदैव स्थापित नहीं किया जा सकता था। कभी न कभी इसके खिलाफ आवाज उठनी निश्चित थी। और यह 19वीं 20वीं सदी में हुआ भी।

2.4.1.1 गैर-ब्राह्मण आन्दोलन

मद्रास प्रान्त में 1916 ई. में गैर ब्राह्मणों ने इस शोषण के खिलाफ एक राजनैतिक स्वरूप ले लिया। और परिणाम स्वरूप 'भारतीय उदारतावादी संघ' का गठन हुआ। जिसे जस्टिस पार्टी के नाम से जाना जाता था। इस पार्टी में मुसलमानों, ईसाईयों और अस्पृश्य जातियों सहित सभी गैर-ब्राह्मणों के हितों का प्रतिनिधित्व था। इस पार्टी की स्थापना टी. एन. नायर, पी. त्यागराज चेट्टी और सी. नटेश मुदालियर ने की थी। इस पार्टी का मुख्य उद्देश्य शिक्षा लोकनियुक्तियों और स्थानीय बोर्डों में नामजदगी में रियायत देने की माँग को प्रान्तीय विधान परिषद में आरक्षित सीटों की मूल माँग इन लोगों के लिए की।

1930 ई. के अन्तिम काल में व्यवसायिक मध्यवर्गीय गैर-ब्राह्मण वर्ग का उदय हुआ और अपने दृष्टिकेण को व्यक्त करने के लिए जस्टिस पार्टी जैसी राजनैतिक मंच से अपनी गतिविधियों को बढ़ाया। जस्टिस पार्टी का सामाजिक आधार भले ही गैर-ब्राह्मणवादी हो, लेकिन जमींदार एवं शहरी व्यापारी वर्ग का प्रभुत्व था। इसलिए पार्टी ने सामंती एवं व्यापारिक वर्गों के हितों के लिए कार्य किया।

ऐसी परिस्थितियों में जस्टिस पार्टी के भीतर विरोध पैदा होना स्वाभाविक ही था। कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं ने महसूस किया कि पार्टी को गैर ब्राह्मणों समाज और संस्कृति के सुधार और पुनर्जागरण के लिए कार्य करना चाहिए और अपने आप को सरकारी पदों तक सीमित नहीं रखना चाहिए। सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार के माध्यम से सामाजिक उत्थान की लालसा सामंती एवं व्यापारिक नेतृत्व के संकीर्ण सामाजिक एवं राजनैतिक परिप्रेक्ष्य से पूरी नहीं हो सकती। दूसरी ओर 1920-22 ई. के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन के बढ़ते हुए स्वरूप ने अधिकांश गैर ब्राह्मण कृषकों को अपनी ओर खींचना शुरू किया। ऐसे समय में पार्टी से मोहभंग

हो जाने की वजह से ई. वी. आर नायकर जैसे गैर ब्राह्मण वादी बुद्धिजीवियों ने भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को छोड़ दिया और आत्म सम्मान नाम से एक लोकप्रिय आन्दोलन चलाया।

2.4.1.2 आत्म सम्मान आन्दोलन

ई. वी. रामास्वामी नायकर इन्हें पेरियार के नाम से भी जाना जाता है, इनका जन्म 1879 ई. में ईरोड में हुआ था। इन्होंने बहुत छोटी सी उम्र में जाति व्यवस्था का विरोध किया। वे अन्तरजातीय भोजों में भाग लेते थे। उन्होंने केरल के 'वापकोम सत्याग्रह' का नेतृत्व किया और दलितों का खुलकर समर्थन किया। क्योंकि यह चाहते थे कि समाज से छुआछूत जैसी कुरीतियाँ समाप्त कर दी जाय। 1922 ई. तक जब वे कांग्रेस के सदस्य थे, पेरियार ने हिन्दु पुराण विद्या का त्याग कर दिया। उन्होंने घोषणा की, कि मनु धर्मशास्त्र और रामायण को जला दिया जाय। और कुडी अरासू नाम दैनिक समाचार 1925 ई. में प्रकाशित किया। वे जल्दी ही अति सुधारवादी समाज सुधारक बन गये।

पेरियार ने मद्रास प्रान्तीय समिति के सचिव पद से इस्तीफा दे दिया। इसके पीछे मुख्य कारण कांग्रेस द्वारा एक गुरुकुल स्कूल चलाया जा रहा था और उस संस्थान में ब्राह्मणों एवं गैर ब्राह्मणों के खाने की अलग अलग व्यवस्था की गयी थी। 1925 ई. में उन्होंने कांग्रेस छोड़ दी और घोषणा की कि अब से मेरा काम कांग्रेस को भंग करना है। जबकि यह गाँधीवादी नेता थे। इन्होंने 1927 ई. में वर्णाश्रम धर्म के प्रश्न पर गाँधी जी से भी नाता तोड़ लिया। सोवियत संघ की अपनी यात्रा के उपरान्त द्रविड़ आन्दोलन की विचारधारा में मार्क्सवादी विचारधारा के कुछ अंश जोड़े थे। मई 1933 ई. में कुडी अरसू नामक अपने वैचारिक लेख में लिखा कि - 'आत्म सम्मान आन्दोलन का सही मार्ग, पूजापतियों और धर्म की क्रूरताओं को खत्म करना ही अपनी सभी समस्याओं को सुलझाने का एक मात्र रास्ता है'।

वे ऐसे समाज सुधारक थे जिन्होंने मानव की गरिमा और समानता की संकल्पना को समाज के सबसे कमजोर वर्ग एवं स्त्रियों तक पहुँचाया। उनका मानना था कि हिन्दु समाज दलितों और स्त्रियों को एक ही रूप में देखता और उनके अधिकारों से वंचित कर देता। इसीलिए उन्होंने धर्म एवं ब्राह्मणवाद की सर्वश्रेष्ठता पर प्रहार किया। जिस प्रकार ज्योतिबाफूले ने महाराष्ट्र में जाति व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। उसी प्रकार पेरियार ने द्रविड़ आन्दोलन चलाया। इनका 'आत्म सम्मान आन्दोलन' की विचार दलितों एवं स्त्रियों के आत्म सम्मान से था। ताकि उन्हें परिवार एवं समाज में किसी के ऊपर आश्रित न होना पड़े। खासकर स्त्रियों की स्वतंत्रता एवं स्यावयत्तता को प्रत्येक क्षेत्र में मिल सके।

रामास्वामी नायकर का मानना था कि धर्म एवं शास्त्र दोनों बुद्धिवाद के विरोधी थे। उन्होंने धर्म को गैर ब्राह्मणों एवं स्त्रियों की निम्न सामाजिक स्थिति के लिए जिम्मेदार ठहराया।

व्यक्ति के जीवन में जो कर्मकाण्ड होते थे उनको आयोजित कराने के लिए ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया जाता था। ये कर्मकाण्ड बिना पुरोहितों के सम्पन्न किये जाया। जो विवाह बिना पुरोहितों के 'आत्म सम्मान विवाह' सम्पन्न हुए वे बहुत ही लोकप्रिय हुए। क्योंकि वर-वधु को एक सीधा-साधा वचन उन बुजुर्गों के सामने लेना पड़ता था और साथ ही उनसे आशीर्वाद लेते थे। स्वयं ही उस दौरान बहुत से अन्तर्जातीय विवाह सम्पन्न हुए। क्योंकि पेरियार जाति धर्म के आधार पर मानव में कोई भेद नहीं मानते थे।

सामाजिक संगठन को समानता और न्याय के आधार पर समाज की रचना करने की बात कही थी और धर्म एवं धार्मिक संस्थाओं का बहिष्कार किया। उनका मानना था कि धन पर आधारित असमानता की अपेक्षा जाति पर आधारित सामाजिक असमानता अधिक हानिकारक थी। उन्होंने स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता के लिए उनके व्यावसायिक प्रशिक्षण और शिक्षा पर अधिक बल दिया। पेरियार ने विधवा पुनर्विवाह और जन्म नियंत्रण जैसे मामलों उनके सामाजिक सुधार अति उच्च कोटि के थे। उन्होंने तलाक के अधिकार को स्त्रियों का विशेषाधिकार माना। उनका कहना था कि 'हमारे सभी विवाह कानून स्त्रियों को दासी बनाने के लिए निर्मित हुए। अनुष्ठान इस वास्तविकता को छिपाने के लिए किये जाते हैं।'

इनके आन्दोलन का भौतिक स्वरूप छोटे शहरों एवं ग्रामीणों तक तथा उच्च गैर-ब्राह्मण जातियों तक सीमित था। क्योंकि उनके सामाजिक अतिसुधारवाद तथा धर्म, जाति एवं स्त्रियों के उत्थान के प्रति उसकी कार्यों में बाधा बने। संस्कृति एवं समाज में संरचनात्मक परिवर्तन तथा द्रविड़ों की मानसिक दासता की स्वतंत्रता के लिए आत्म सम्मान आन्दोलन का व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सामाजिक संघर्ष को बढ़ाकर राजनैतिक क्षेत्र में ले गये और 1944 ई. में 'द्रविड़ कृषक दल' बनाया। आत्म सम्मान आन्दोलन को जस्टिस पार्टी के साथ मिला दिया। आगे चलकर यह आन्दोलन कमजोर पड़ गया।

2.4.1.3 आन्ध्र में द्रविड़ या गैर ब्राह्मण आन्दोलन

आन्ध्र प्रदेश क्षेत्र में गैर ब्राह्मणों ने 'ब्राह्मणेतर उद्यम' शुरू किया जिसका अर्थ आन्दोलन था। यह आन्दोलन मूल रूप में कम्मा रेड्डी, बलीजा और बेलमा जैसे गैर ब्राह्मण समूहों के सांस्कृतिक और सामाजिक उत्थान के लिए किया था। आर्थिक रूप से सम्पन्न कृषक वर्गों में आधुनिक शिक्षा एवं पारम्परिक आनुष्ठानिक स्थिति बहुत कमजोर थी, जिसके कारण ये समाज में ऊँची सामाजिक स्थिति का दावा नहीं कर सकते थे। सरकारी पदों एवं पारम्परिक आनुष्ठानिक स्थिति पर ब्राह्मणों का एकाधिकार था। और कृषक वर्ग ने इनके एकाधिकार पर प्रहार करना शुरू कर दिया। क्योंकि इनको भी वे शूद्र वर्ग की श्रेणी से स्थापित कर दिया था।

आन्दोलन की शुरुआत कुछ विशिष्ट घटनाओं के साथ शुरू हुई। ये घटनाएँ इस प्रकार थी - ब्राह्मण शिक्षकों ने कम्मा जाति के विद्यार्थियों को वेदों का अध्ययन करने से मना कर दिया। दूसरी घटना - कृष्णा जिले के कोटवरम गाँव के कम्मा जाति के कृषकों ने अपने नाम के बाद 'दास' शब्द को हटाकर चौधरी शब्द का प्रयोग किया तो ब्राह्मणों ने यह स्वीकार नहीं किया और विरोध किया। तीसरी घटना - कृष्णा जिले के ब्राह्मणों ने एक पंजीकृत नोटिस जारी किया कि कम्मा जाति को संस्कृत पढ़ने की अनुमति न दी जाये। चौथी घटना - अमृतालूर में ब्राह्मणों ने कम्मा जाति के विद्यार्थियों को भगा दिया। ताकि शूद्र वेदों को न सुन सके। तथा उन्हें वेदों को सुनने का अधिकार नहीं है। पाँचवी घटना - एक गैर ब्राह्मण नेता त्रिपुरानेवी रामास्वामी की साहित्य में रुचि थी लेकिन ब्राह्मण शिक्षक ने 'शूद्र' कहकर भगा दिया, श्लोक लिखना तुम्हारे लिए पाप है। संस्कृत सिर्फ ईश्वर की भाषा है। इसको पढ़ना शूद्रों के लिए महापाप है। ऐसी सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण ने आन्ध्र में गैर ब्राह्मण आन्दोलन को मजबूत बनाया।

'शूद्र' शब्द का अर्थ निश्चित करने के शिक्षित गैर ब्राह्मण हिन्दुओं ने एक अधिवेशन 1916 ई. में गुण्टुर जिले के कुल्लुर गाँव में बुलाया। तर्क-वितर्क द्वारा वे उस सीमा तक पहुँचे जहाँ पर हिन्दु धर्म ग्रन्थों और राम एवं कृष्ण की प्रमाणिकता पर संदेह करने लगे। उन्होंने सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मणों से उच्च स्थान पर रखा और महाकाव्यों की फिर से व्याख्या की। यह माना कि आर्यों की तुलना में द्रविडों ने सामाजिक और आनुष्ठानिक अन्याय को अधिक सहन किया था। त्रिपुरानेनी ने तर्क दिया कि विदेशियों की तरह आर्यों ने इस देश की द्रविड जाति पर अपनी सामाजिक सांस्कृतिक और धार्मिक व्यवस्था थोप दी। जाति व्यवस्था आर्यों की देन थी जिसे आर्य धर्म ने बनाए रखा।

प्रसिद्ध विद्वान् त्रिपुरानेनी ने अपना सारा जीवन तटीय आन्ध्र में आत्म सम्मान आन्दोलन प्रचार में लगाया। उनका प्रहार 'ब्राह्मणवादी सिद्धांत' पर था न कि ब्राह्मणों पर। ब्राह्मणों के सामाजिक और आनुष्ठानिक प्रभुत्व को तोड़ने के प्रयास में जातीय राजनीति और गैर ब्राह्मण राजनैतिक जागरूकता पैदा कर दी। सामान्यतः गैर ब्राह्मण बुद्धिजीवियों तथा कृषकों के एक बड़े भाग में राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन किया।

संक्षेप में ब्राह्मणों के सामाजिक एवं आनुष्ठानिक प्रभुत्व के विरुद्ध गैर ब्राह्मण बुद्धिजीवियों की सांस्कृतिक प्रतिक्रिया स्वरूप ही आन्ध्र में आत्म सम्मान आन्दोलन हुआ। फिर भी आन्दोलन में एक दोष था कि इस उच्च जाति के गैर ब्राह्मणों का प्रभुत्व था लेकिन निचली जातियों को नजरअंदाज कर रखा गया था।

2.4.1.4 मैसूर में गैर ब्राह्मण आन्दोलन

20वीं सदी की प्रथम जनगणना में एकीकृत जाति के रूप में कर्नाटक की प्रधान जाति वोक्कालिंगा का उपविभाजन हो गया था। विभिन्न जाति समूहों द्वारा अंदर ही अंदर एकता के गम्भीर प्रयास किये गये। लिंगायत जाति ने 1905 ई. में मैसूर में 'लिंगायत शिक्षा निधि' की स्थापना की, जबकि वोक्कालिंगा ने 1906 ई. में 'कोक्कालिंगार संघ' बनाया। ये गैर ब्राह्मण आन्दोलन थे जिन्होंने इन जाति संघों को एक मंच दिया।

1918 ई. में गैर ब्राह्मण आन्दोलन की शुरुआत कर्नाटक में हुई। वोक्कालिंग और लिंगायत जाति के लोगों ने इसे आगे बढ़ाया। एक शिष्ट मण्डल 1918 ई. में मैसूर के महाराजा से गैर ब्राह्मण नेताओं के रूप में मुलाकात की। और माँग की कि गैर ब्राह्मणों के प्रति भेद-भाव का व्यवहार किया जाता है इसको समाप्त किया जाय। सरकार ने लोसली मिलर की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। और 1919 ई. में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। मिलर की सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार कर लिया और लोक सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व के लिए आदेश निकाला।

मैसूर राज्य में कांग्रेस की ताकत बढ़ने लगी और गैर ब्राह्मण आन्दोलन, राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की ओर बढ़ने लगा। अंततः 1938 ई. के अंत तक कांग्रेस के साथ मिल गया। और धीरे-धीरे यह आन्दोलन चन्द लोगों के स्वार्थ की पूर्ति करने लगा। आन्दोलन ने अपना स्वरूप खो दिया। और यह जातियाँ आपस में लड़ने-झगड़ने लगी।

2.4.2 डा. बी. आर. अम्बेडकर

डा. भीमराव रामजी अम्बेडकर एक भारतीय विधिवेत्ता, पिछड़े दलित जाति के राजनेता एवं एक बौद्ध पुनरुत्थानवादी होने के साथ-साथ भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता थे। उनका जन्म 14 अप्रैल 1891 ई. को महार कुल के एक गरीब अस्पृश्य परिवार में हुआ था। उन्होंने अपना सारा जीवन 'हिन्दु धर्म की चतुर्वर्णी व्यवस्था' और भारतीय समाज में सर्वव्याप्त जातिव्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में बीता दिया। उन्हें बौद्ध महाशक्तियों के दलित आन्दोलन को प्रारम्भ करने का श्रेय दिया जाता। 1905 ई. में उनका विवाह अपनी जाति की कन्या रमाबाई से हो गया था। लेकिन 1935 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी। और उन्होंने अपनी दूसरी शादी 1948 ई. में एक डाक्टर शारदा कबीर से किया। जो बम्बई के एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार से थी। बाबा साहब अम्बेडकर 1948 ई. से मधुमेह से पीड़ित थे। राजनीतिक मुद्दों से परेशान अम्बेडकर का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता चला गया। और 1955 ई. के दौरान किये गये लगातार कार्यों ने उन्हें तोड़ दिया। अपनी अन्तिम पाण्डुलिपि 'बुद्ध एवं धम्म' को पूरा करने के तीन दिन बाद 6 दिसंबर 1956 ई. को 65 वर्ष की उम्र में दिल्ली निवास पर नींद में ही मृत्यु हो गयी। अगले दिन 7

दिसम्बर 1956 को बम्बई चौपाटी समुद्र तट पर बौद्ध शैली में अन्तिम संस्कार किया गया। अपने प्रिय ब्राह्मण शिक्षक 'महादेव अम्बेडकर' जो उनसे विशेष स्नेह रखते थे के कहने पर बाबा साहब ने अपने नाम से उपनाम 'सकपाल' हटाकर अम्बेडकर जोड़ लिया, जो उनके गाँव के नाम 'अंवावड़े' पर आधारित था।

डा. भीमराव अम्बेडकर की प्रारम्भिक शिक्षा एक सरकारी स्कूल में हुई थी, उसके बाद स्नातक के लिए एतिफन्स्ट कालेज बाम्बे विश्वविद्यालय से ही। गायकवाड़ शासक ने संयुक्त राज्य अमेरिका के कोलम्बिया विद्यालय में उच्च शिक्षा एम. ए. तथा पीएच. डी. के लिए चयन किया। उन्हें 11.5 डालर प्रतिमास की छात्रवृत्ति प्रदान की। 1916 ई. में उन्हें उनके एक शोध के लिए पीएच. डी. से सम्मानित किया गया। इस शोध को अंततः उन्होंने पुस्तक *Evolution of Provincial Finance in British India* के रूप में प्रकाशित किया। अपनी डॉक्टरेट की डिग्री लेकर लंदन चले गये जहाँ उन्होंने 'Gress Inn' और 'London School of Economics' में कानून का अध्ययन किया। और अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट के लिए प्रवेश किया। लेकिन छात्रवृत्ति समाप्त होने की वजह से अपनी शिक्षा को वहीं छोड़कर भारत आना पड़ा।

बड़ौदा राज्य के सेना सचिव के रूप में काम करते हुए अपने जीवन में अचानक फिर से आये भेद-भाव से अम्बेडकर उदास हो गये, अपनी नौकरी त्याग कर एक निजी ट्यूटर और लेखाकार के रूप में कार्य करने लगे। यहाँ तक कि परामर्श व्यवसाय भी प्रारम्भ किया लेकिन सामाजिक स्थिति के कारण असफल रहा। उनके अंग्रेज मित्र बम्बई के पूर्व गवर्नर लर्ड सिडनेम के सहयोग से बम्बई के सिडनेम कॉलेज आफ कामर्स एण्ड ईकानामिक्स में राजनीतिक अर्थव्यवस्था के प्रोफेसर के रूप में नौकरी मिल गयी। सन् 1920 ई. में कोलहापुर के महाराजा अपने पारसी मित्र के सहयोग और अपनी बचत के कारण वो एक बार फिर इंग्लैण्ड जाने में सक्षम हो गये। और 1923 ई. में अपना शोध *Problems of the Rupees* को पूरा किया। उन्हें लंदन विश्वविद्यालय द्वारा डाक्टर आफ साइंस की उपाधि प्रदान की गयी। साथ ही साथ उन्हें ब्रिटिश बार में बैरिस्टर के रूप में प्रवेश मिल गया। उन्हें औपचारिक रूप से 8 जून 1927 ई. को कोलम्बिया विश्वविद्यालय द्वारा पीएच. डी. की उपाधि प्रदान की गयी।

2.4.2.1 अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष

भारत सरकार अधिनियम 1919, तैयार किया जा रहा था तो उन्हें South Boroho Committee के समक्ष भारत के प्रमुख विद्वान के रूप में अम्बेडकर को गवाही देने के लिए आमन्त्रित किया गया। तो अम्बेडकर ने दलितों एवं अन्य धार्मिक समुदायों के लिए पृथक् निर्वाचक मंडल और आरक्षण देने की सिफारिश की। सन् 1920 ई. में बम्बई में उन्होंने सप्ताहिक पत्रिका 'मूकनायक' के प्रकाशन की शुरुआत की। पत्रिका बहुत लोकप्रिय हो गयी और उन्होंने इसका इस्तेमाल

रूढ़िवादी हिन्दु राजनेताओं व जातीय भेद-भाव से लड़ने के प्रति भारतीय राजनैतिक समुदाय की अनिच्छा की आलाचना करने के लिए किया। एक दलित वर्ग के सम्मेलन के दौरान उनके भाषणों से प्रभावित होकर केलहापुर राज्य के शासक 'शाहू चतुर्थ' बहुत प्रभावित हुए। क्योंकि वह भी ब्राह्मणवाद के विरुद्ध थे। राजा ने बाबा साहब को एक भोज पर आमन्त्रित किया और उनके साथ भोजन किया तो रूढ़िवादी समाज में उथल-पुथल मचा दिया। उन्होंने अपनी वकालत अच्छी स्थापित की और साथ ही 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की। इसका उद्देश्य दलित वर्गों में शिक्षा का प्रसार और उनके सामाजिक एवं आर्थिक उत्थान के लिए कार्य करना था। सन् 1926 ई. में विधान परिषद् के सदस्य मनोनीत हुए। सन् 1927 ई. में उन्होंने अस्पृश्यता के खिलाफ एक व्यापक आन्दोलन की शुरुआत की। उन्होंने सार्वजनिक आन्दोलनों और जुलूसों के द्वारा पेयजल के सार्वजनिक संसाधन समाज के सभी लोगों के लिए खुलवाने के साथ ही उन्होंने अस्पृश्यों को हिन्दु मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार दिलाने के लिए भी संघर्ष किया। उन्होंने 'माहड़शहर' में दलितों को भी पानी की मुख्य टंकी से पानी लेने का अधिकार दिलाने के लिए सत्याग्रह चलाया। सभी यूरोपियन सदस्यों वाले साईमन आयोग 1928 ई. में भारत आया तो बम्बई प्रेसिडेन्सी समिति की तरफ से आयोग में कार्य करने के लिए नियुक्त किया गया। इस आयोग के विरोध में सम्पूर्ण भारत में विरोध प्रदर्शन हुए। जबकि इसकी रिपोर्ट को ज्यादातर भारतीयों द्वारा नजरअंदाज कर दिया गया, डा. अम्बेडकर ने अलग से भविष्य के संवैधानिक सुधारों के लिए अपनी सिफारिशों को लिखा।

2.4.2.2 पूना समझौता (सितम्बर 1932)

डा. बी. आर. अम्बेडकर उस समय की सबसे बड़ी दलित राजनीतिक पहचान बन चुके थे। उन्होंने महत्वपूर्ण राजनीतिक दलों की जातिव्यवस्था के उन्मूलन के प्रति उनकी उदासीनता की आलोचना की। वे कांग्रेस और गाँधी जी के भी आलोचक थे। क्योंकि इन्होंने दलित समुदाय को एक करुणा या दया की वस्तु के रूप में प्रस्तुत करते थे। उन्होंने सरकार से दलित समुदाय के लिए एक ऐसी राजनीतिक पहचान की वकालत की जिसमें कांग्रेस और ब्रिटिश दोनों का दखल न हो।

8 अगस्त 1930 को एक शोषित वर्ग के सम्मेलन के दौरान अम्बेडकर ने अपनी राजनीतिक दृष्टि को दुनिया के सामने रखा। जिसके अनुसार शोषित वर्ग की सुरक्षा उसके सरकार और कांग्रेस दोनों से स्वतंत्र होने में है। उनके राजनीतिक कार्यों ने उन्हें रूढ़िवादी हिन्दुओं के साथ ही कांग्रेस के कई नेताओं का विरोधी बना दिया। यह वही नेता थे जो पहले छुआछूत की निंदा करते थे और इसके उन्मूलन के लिए जिन्होंने देश भर में कार्य किये थे। इसका कारण था कि ये उदार नेता आमतौर पर दलितों को पूर्ण समानता देने के मुद्दे पूरी तरह नहीं उठाते थे। अम्बेडकर की अस्पृश्य जातियों में बढ़ती लोकप्रियता और जन समर्थन के चलते उनको 1931

ई. दूसरे गोलमेज सम्मेलन लंदन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया। लम्बी बहस के बाद धर्म एवं जाति के आधार पर ब्रिटिश सरकार पृथक् निर्वाचन देने के लिए 1932 में इसे तैयार हो गयी। तब गाँधी ने पुणे की मरवदा खेल में आमरण अनशन शुरू कर दिया। गाँधी जी ने इस मुद्दे पर रूढ़िवादी हिन्दुओं से सामाजिक भेद-भाव और अस्पृश्यता को खत्म करने तथा हिन्दुओं की राजनीतिक और सामाजिक एकता की बात की। गाँधी के अनशन का पूर्ण समर्थन पूरे देश की जनता से मिल रहा था। रूढ़िवादी नेताओं, कांग्रेस नेताओं एवं कार्यकर्ताओं जैसे जमकर एवं मदनमोहन मालवीय ने अम्बेडकर और उनके साथ यरवदा जेल में संयुक्त बैड़क की। गाँधी जी का अनशन बढ़ता जा रहा था और उनकी मृत्यु होने का डर था। ऐसी स्थिति में सामाजिक प्रतिमोघ से निर्दोष दलितों का रूढ़िवादी हिन्दुओं द्वारा जनसंख्या किया जा सकता था। अम्बेडकर इस स्थिति को भाँप चुके थे। इस दबाव में अम्बेडकर ने अपना 'पृथक् निर्वाचन' की माँग को वापस ले लिया। नहीं तो देश में गृहयुद्ध होने का डर था। जिसमें सबसे ज्यादा नुकसान दलितों को ही उठाना पड़ता। उन्होंने अपनी दूरदर्शिता को भी दिखाते हुए इसके बदले सीटों के आरक्षण को स्वीकार कर लिया। साथ ही मन्दिरों में प्रवेश / पूजा के अधिकार एवं छूआछूत को भी खत्म करने की बात स्वीकार कर ली।

आरक्षण के आधार पर सिर्फ एक बार चुनाव सन् 1937 ई. में हुए। अम्बेडकर आरक्षण 20-25 वर्ष के लिए चाहते थे। लेकिन गाँधी जी सिर्फ 5 वर्ष के लिए क्या वास्तव में न्याय था। सदियों से चला आ रहा भेद-भाव 5 वर्षों में समाप्त किया जा सकता था। यह तो सिर्फ एक भुलावा था। क्योंकि गांधी जी के पीछे भी रूढ़िवादी हिन्दु दबाव दे रहे थे। इस दबाव की राजनीति में दलितों को फिर दबाकर रख दिया। आज आजादी के 66 वर्ष मना चुके। लेकिन संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद समाज आज भी रूढ़िवादी जंजीरों में जकड़ा हुआ है। जापान ने हिरोशिमा और नागाशकी के जनसंहार से उभर कर अपना विकास बनाए रखा। लेकिन हमारे समाज ने इन वर्षों में सामाजिक समानता का विकास में कोई ज्यादा परिवर्तन नहीं किया। कानून के द्वारा अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया। क्या वह असमानता मन से हटा सके? नहीं ना असमानता हटाने का प्रयत्न संविधान और संवैधानिक संस्थाओं के प्रयत्नों की अपेक्षा समाज की रूढ़िवादी सामाजिक संस्थाओं से हटाना चाहिए। तभी हम कह सकते हैं कि आज भारतीय समाज स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के सिद्धांत पर समान है।

2.4.2.3 राजनीतिक सफर

डा. बी. आर. अम्बेडकर ने अपना राजनीतिक सफर एक तरह लंदन से लौटने के बाद ही शुरू कर दिया। क्योंकि दलितों की सामाजिक स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। और यही अवसर था जब औपनिवेशिक शासन द्वारा भारत में इनको सामाजिक-आर्थिक अधिकार दिला सकते थे। वह जल्दी ही दलित जातियों के लिए मसीहा के रूप में सामने आये। 1928 ई. के

साईमन आयोग के साथ कार्य करते हुए उन्होंने दलितों के अधिकारों की बात की थी। उनका राजनीति में आने के पीछे एक ही मकसद था कि भारतीय हिन्दु समाज में शोषित वर्ग एवं स्त्रियों की स्वतंत्रता।

1936 ई. में डा. बी. आर. अम्बेडकर ने स्वतंत्र लेबर पार्टी की स्थापना की जो 1937 ई. में केन्द्रीय विधान सभा चुनावों में 15 सीटें जीती। उन्होंने अपनी पुस्तक 'जाति के विनाश' भी इसी वर्ष प्रकाशित की जो उनके न्यूयार्क में लिखे एक शोध पत्र पर आधारित थी। इस सफल और लोकप्रिय पुस्तक में अम्बेडकर ने हिन्दु धार्मिक नेताओं और जाति व्यवस्था की जोरदार आलोचना की। उन्होंने अस्पृश्य जातियों के लोगों को गाँधी द्वारा रचित शब्द 'हरिजन' पुकारने के कांग्रेस के फैसले की कड़ी निंदा की। अम्बेडकर ने रक्षा सलाहकार समिति और वायसराय की कार्यकारी परिषद् के लिए श्रम मंत्री के रूप में कार्य किया।

सन् 1941 ई. से 1945 के बीच में उन्होंने बड़ी संख्या में विवादास्पद पुस्तकें एवं पर्चे प्रकाशित किये, जिसमें Thoughts on Pakistan भी शामिल हैं, जिसमें उन्होंने मुस्लिम लीग एवं मुसलमानों के लिए अलग देश पाकिस्तान की माँग की आलोचना की। अगला प्रहार गाँधी एवं कांग्रेस पर किया जिसको What Congress & Gandhi Have Into the Untouchables में विस्तार से वर्णन किया। उन्होंने अपनी पुस्तक Who were the Sudras के माध्यम से हिन्दु जाति व्यवस्था के पदानुक्रम में सबसे निम्न जाति यानी शूद्रों के अस्तित्व में आने की व्याख्या की। उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि किस तरह से अछूत, शूद्रों से अलग हुए। अम्बेडकर ने अपनी राजनीतिक पार्टी को अखिल भारतीय अनुसूचित जाति फेडरेशन में बदलते देखा। हालांकि 1946 में आयोजित भारत के संविधान सभा के लिए हुए चुनाव में इसने खराब प्रदर्शन किया। 1948 ई. में Who were the Sudras में अम्बेडकर ने हिन्दु धर्म की आलोचना की। उन्होंने इस प्रकार विचार व्यक्त किये-

“हिन्दु सभ्यता जो मानवता को दास बनाने और उनका दमन करने की एक क्रूर युक्ति है और उसका उचित नाम बदनामी होगा। एक सभ्यता के बारे में और क्या कहा जा सकता है जिसने लोगों के एक बहुत बड़े वर्ग को विकसित किया जिसे एक मानव से हीन समझा गया और जिसका स्पर्श मात्र प्रदूष फैलाने का पर्याप्त कारण है।”

उन्होंने भारत विभाजन का तो पक्ष लिया पर मुस्लिम समाज में व्याप्त बाल-विवाह की प्रथा और मुस्लिम महिलाओं के साथ होने वाले दुर्व्यवहार की निंदा की। उन्होंने कहा - “बहु विवाह और रखैल के दुष्परिणाम शब्दों में व्यक्त नहीं किये जा सकते जो विशेष रूप से एक मुस्लिम महिला के दुःख के स्रोत है। जाति व्यवस्था को ही ले, हर कोई कहता है कि इस्लाम गुलामी और जाति से मुक्त होना चाहिए जबकि गुलामी अस्तित्व में है और इसे इस्लाम और

ईस्लामी देशों से समर्थन मिला है। हालांकि कुरान में वर्णित गुलामों के साथ उचित और मानवीय व्यवहार के बारे में पैगम्बर के उन्मूलन का समर्थन करता हो। अगर गुलामी खत्म भी हो जाय पर फिर भी मुसलमानों के बीच जाति व्यवस्था रह जायेगी।”

गाँधी और कांग्रेस की कटु आलोचना के बावजूद अम्बेडकर की प्रतिष्ठा एक अद्वितीय विद्वान और विधिवेत्ता की थी। जिसके कारण जब 15 अगस्त 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ तो कांग्रेस के नेतृत्व वाली नई सरकार ने उन्हें देश का प्रथम विधि मंत्री बनाया। 29 अगस्त 1947 ई. में अम्बेडकर को स्वतंत्र भारत के नये संविधान की रचना के लिए बनी मसौदा समिति का अध्यक्ष पद प्रदान किया गया। डा. बी. आर. अम्बेडकर ने संविधान मसौदा तैयार करने के इस कार्य में अपने सहयोगियों और समकालीन प्रेक्षकों की प्रशंसा प्राप्त की। इस कार्य को सफल बनाने में उन्हें बौद्ध रीतियों और अन्य बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन बहुत काम आया। संघ रीतियाँ मतदान, बहस के नियम, कार्यसूची के प्रयोग, एवं समितियाँ प्राचीन गणराज्यों जैसे शाक्य एवं लिच्छवी की शासन प्रणाली का मॉडल पर आधारित है। संविधान का आकार भले ही पश्चिमी माडल पर है लेकिन उसकी भावना भारतीय है।

संविधान पाठ में संवैधानिक गारण्टी के साथ व्यक्तिगत नागरिकों को एक व्यापक श्रेणी की नागरिक स्वतंत्रताओं की सुरक्षा प्रदान की जिसमें धार्मिक स्वतंत्रता, अस्पृश्यता का अंत और सभी प्रकार के भेदभावों को गैर कानूनी करार दिया। महिलाओं के लिए व्यापक आर्थिक एवं सामाजिक अधिकारों की वकालत की और अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लोगों के लिए सिविल सेवाओं, स्कूलों, कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों की नौकरियों में आरक्षण प्रणाली शुरू के लिए सभा का समर्थन भी प्राप्त किया। भारत के विध निर्माताओं द्वारा आरक्षण दलित वर्गों के लिए प्रदान कराने की बात कही। लेकिन यह व्यवस्था सामाजिक न्याय एवं आवश्यकता के आधार पर दी जाय। 26 नवम्बर 1949 ई. को संविधान सभा ने संविधान, साध्य है, यह लचीला है पर साथ ही इतना मजबूत भी है कि देश को शांति और युद्ध दोनों के समय जोड़कर रख सके। वास्तव में मैं कह सकता हूँ कि अगर कभी कुछ गलत हुआ तो इसका कारण यह नहीं होगा कि हमारा संविधान खराब था बल्कि इसका उपयोग करने वाला मनुष्य अक्षम था।

1951 ई. में संसद में अपने ‘हिन्दु कोड बिल’ के प्रारूप को रोके जाने के बाद उन्होंने मन्त्रिमण्डल से इस्तीफा दे दिया। इस बिल में उत्तराधिकार, विवाह और अर्थव्यवस्था के कानूनों में लैंगिक समानता की बात की गयी थी। अम्बेडकर ने 1952 ई. में लोकसभा चुनाव हार गये एक निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में। लेकिन मार्च 1952 ई. संसद के ऊपरी सदन यानी राज्य सभा के लिए नियुक्त हुए। ओर मृत्युपर्यन्त इस सदन के सदस्य रहे। 1950 ई. के दशक में बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षण बढ़ा। और एक बौद्ध सम्मेलन में भाग लेने के लिए श्रीलंका गये। वहाँ से

लौटने के बाद पुणे के निकट एण्क नया बौद्ध विहार को अपने को समर्पित करते हुए कहा कि वे बौद्ध धर्म पर एक पुस्तक लिख रहे हैं जैसे ही यह समाप्त होगी, वह औपचारिक रूप से बौद्ध धर्म अपना लेंगे। 1955 ई. में उन्होंने 'भारतीय बुद्ध महासभा' की स्थापना की। उन्होंने अपने अन्तिम लेख *The Buddha and his Dharma* को 1956 ई. में पूर्ण किया। अक्टूबर 1956 ई. में नागपुर में बी. आर. अम्बेडकर ने अपने 5 लाख समर्थकों के साथ बौद्ध धर्म को ग्रहण किया।

2.5 मूल्यांकन

भारत में दलित आन्दोलन किसी एक दिन की प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं था बल्कि सदियों से चली आ रही 'हिन्दु वर्ण व्यवस्था' शोषण के सिद्धांत पर बनाया गया एक महल था और यह इतना जर्जर हो चुका था कि मानव सभ्यता अपने विकास क्रम में आगे बढ़ती जा रही थी। नये विचारधारा ने समाज रूपी महल को ढहाने का कार्य शुरू कर दिया। ताकि सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से दलितों को समानता का अवसर मिले और ब्राह्मणवाद को नष्ट कर सके। न की ब्राह्मण को। औपनिवेशिक शासन पश्चिमी विचारधारा को नये बुद्धिजीवी वर्ग ने भर दिया। जैसा कि अम्बेडकर ने कहा - **“प्रत्येक व्यक्ति जो मिल के सिद्धांत कि एक देश दूसरे देश पर शासन नहीं कर सकता, तो उसे यह भी स्वीकार करना होगा, कि एक वर्ग दूसरे वर्ग पर शासन नहीं कर सकता।”**

दलित आन्दोलन के स्वरूप को निष्कर्ष रूप में देखा तो स्पष्ट हो गया कि 19वीं, 20वीं शताब्दी भारतीय समाज, धर्म एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण की चरम पर पहुँच गयी थी। व्यक्ति अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने को तैयार था। और इस संघर्ष में नेतृत्व पश्चिमी वैचारिक बुद्धिजीवी ने किया। यह बात अलग है कि 19वीं सदी का दलित आन्दोलन बुद्धिजीवी वर्ग की अपेक्षा, उच्च गैर ब्राह्मणवादी व्यक्तियों के हाथों तक सीमित रहा। जिसकी वजह से निम्न जाति गैर ब्राह्मणों का नेतृत्व सूक्ष्म मात्र था। लेकिन यह प्रयास बेकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसने इतने बड़े जनमानस के कल्याण की बात की। जैसे कि महाराष्ट्र में ज्योतिबाफुले दलित जातियों के उत्थान के लिए और उनकी सामाजिक पहचान के लिए ब्राह्मणवाद का विरोध खुलकर किया। साथ ही इस आन्दोलन की विशेषता यह थी कि इसमें सिर्फ दलितों का ही उत्थान नहीं होना था बल्कि उपेक्षित समाज के अधिकारों की भी बात थी। यह उपेक्षित वर्ग महिलाओं, अल्पसंख्यक वर्गों का भी था। आन्दोलन का स्वरूप जैसे-जैसे बढ़ता गया। यह महाराष्ट्र से तमिलनाडु केवल कर्नाटक एवं आन्ध्रप्रदेश वाले क्षेत्रों में फैल गया। और धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में। दलित आन्दोलन ने जाति व्यवस्था की जड़ों पर प्रहार करना शुरू कर दिया। जिसका परिणाम, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा तथा दलितों की शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित किया।

20वीं शताब्दी में आन्दोलन का स्वरूप भारत के स्वतंत्रता संग्राम के साथ जुड़ गया। जैसे कि पेरियार ने जस्टिस पार्टी को राजनीतिक दल के रूप में परिवर्तित कर दिया। पेरियार का योगदान कम नहीं हुआ। जिस प्रकार कर्नाटक, आन्ध्र में तथा केरल में गैर ब्राह्मण आन्दोलनों ने अंग्रेजी शिक्षा, प्रान्तीय विधानसभाओं और स्थानीय बोर्डों में प्रतिनिधित्व तथा सरकारी सेवाओं में आरक्षण पर बल दिया। और इन क्षेत्रों में आत्म सम्मान जैसे द्रविड आन्दोलनों ने शूद्रों एवं स्त्रियों के उद्धार को संगठित करने का प्रयास किया। गैर ब्राह्मण आन्दोलन कभी स्वतंत्र राष्ट्रवादी रणनीति के रूप में विकसित नहीं हुआ। इन आन्दोलनों की भक्ति विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न थी। इसके बावजूद भी दलित जातियों की एक नई सामूहिक पहचान निकल कर आयी। स्वतंत्रता आन्दोलन ने जहाँ दलित आन्दोलन को प्रभावित किया वहीं अम्बेडकर जैसे महान् विधिवेत्ता ने औपनिवेशिक शासन पर दबाव बनाकर दलितों के अधिकारों की माँग की। जैसा कि पूना पैक्ट में देखा जा सकता है। जहाँ गाँधी जी और कांग्रेस के उच्च वर्ण के नेताओं को महसूस कराया उनके अधिकारों के लिए। जो आगे चलकर संविधान में संवैधानिक प्रावधानों के रूप में देखा जा सकता है।

2.6 शब्दावली

सामाजिक स्तरीकरण - वह प्रक्रिया जिसमें व्यक्तियों के समूहों को उनकी प्रतिष्ठा, सम्पत्ति और भक्ति की मात्रा के सापेक्ष पदानुक्रम में विभिन्न श्रेणियों में उच्च से निम्न रूप में स्तरीकृत किया जाता है।

वर्णव्यवस्था - भारतीय हिन्दु समाज को वैदिक साहित्य में चार वर्णों में बाटा गया। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र है। कर्म पर आधारित था न कि जन्म पर।

अस्पृश्यता - हिन्दु धर्म में नीची जातियों को उच्च जातियों को स्पर्श न करना अस्पृश्यता कहते हैं। जाति प्रथा की सबसे भयानक उपज अस्पृश्यता की रूढ़ि है।

प्राधिकारवाद - वह अधिकार जिससे अनेक प्रकार की ऐसी सुविधाएँ प्राप्त होती है जिससे परेशानियों को हल किया जा सके। विशेषाधिकार परम्परा पर आधारित, प्राधिकार वाद है।

मानवतावाद - मानव वाद दर्शन शास्त्र में उस विचारधारा को कहते हैं जो मनुष्यों के मूल्यों और उनसे सम्बन्धित मामलों पर ध्यान देता है। मानववाद कहलाता है।

ब्राह्मणवाद - वैदिक साहित्य में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सर्वोच्चता स्थापित उच्च वर्ण के विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग ब्राह्मणवाद कहलाता है। वर्ण को जाति में परिवर्तन किया।

पुनर्जागरण - यूरोप के इतिहास में 14वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी की वह स्थिति जिसमें कला, विज्ञान, साहित्य का नये सिरे से अनुसंधान और प्रचार होने लगा था। जिसके कारण मध्ययुग का अंत और आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ। पुनर्जागरण का अर्थ पुनर्जन्म होता है।

2.7 बोधप्रश्न

1. ज्योतिबा सामाजिक क्रान्तिकारी क्यों बनें?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. 19वीं शताब्दी में दलित आन्दोलन के विकास पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....
.....
.....
.....

4. द्रविड आन्दोलन को विस्तार से लिखिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

5. 20वीं शताब्दी में गैर ब्राह्मण आन्दोलन का स्वरूप क्या है?

.....
.....
.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

6. डा. बी. आर. अम्बेडकर के सामाजिक-राजनैतिक उपलब्धियों से दलित आन्दोलनों की सफलता का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1- Keer, Dhananjay : *Dr. Ambedkar : Life & Mission*
- 2- Bekar, C; J. : *The Politics of South India*
- 3- Smith, D. E. : *South Asian Politics & Religion*
- 4- Subhash Chandra : *Dalit Ambedkar : Sahaye Aur Sambhavaraye*
- 5- Michael, S.M. (1999). *Untouchable, Dalits in Modern India*. Lynne Rienner Publishers.
- 6- Beltz, Johannes; Jondhale, S. (eds.). *Reconstructing the World: B.R. Ambedkar and Buddhism in India*, New Delhi: Oxford University Press.
- 7- [Jaffrelot, Christophe](#), (2004), *Ambedkar and Untouchability. Analysing and Fighting Caste*. New York: Columbia University Press.
- 8- Dorothy Matilda Figueira, (2002), *Aryans, Jews, Brahmins: Theorizing Authority Through Myths of Identity*, Published by SUNY Press.
- 9- Christophe Jaffrelot, (1998), *Positive discrimination and the transformation of caste in India"*
- 10- Ganesh, Kamala, Usha Thakkar, (2001), *Culture and the Making of Identity in Contemporary India*, New Delhi, India.
- 11- Palanithurai, G., (ed.) (1994), *Caste Politics and Society in Tamil Nadu*, Kanishka Publishers, Delhi.
- 12- Rajadurai, S.V. and V Geetha, (1996), *Periyar: Suya Mariyadai Sama Dharmam*, Vidiyal Pathipagam. Kovai.
- 13- Ramamurti, P. (1987), *The Freedom Struggle and the Dravidian Movement*, Orient Longman, Madras.
- 14- Veeramani, K, (ed.) (1992), *Periyar on Women's rights*, Translation: Raju.R.Sundaram, Emerald Publishers, Madras.

आधुनिक उद्योगों की संवृद्धि

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 औपनिवेशिक काल में भारतीय अर्थव्यवस्था
- 3.3 साम्राज्यवाद का काल
 - 3.3.1 वणिकवाद का चरण
 - 3.3.2 औपनिवेशिक लूट का काल
 - 3.3.3 वित्तीय पूँजीवाद का काल
- 3.4 औद्योगिक पूँजीवाद का उदय
- 3.5 औपनिवेशिक काल में भारतीय उद्योग
- 3.6 औपनिवेशिक काल में प्रमुख उद्योग
 - 3.6.1 जूट उद्योग
 - 3.6.2 सूती कपड़ा उद्योग
 - 3.6.3 लोहा और इस्पात उद्योग
- 3.7 औद्योगिक नीति एवं औद्योगिक संवृद्धि
- 3.8 भारत में नियोजन का प्रारम्भ
- 3.9 नियोजित विकास का उद्देश्य
- 3.10 औद्योगिक विकास में बाजार की भूमिका
- 3.11 औद्योगिक नीति
 - 3.11.1 प्रथम औद्योगिक नीति -1948
 - 3.11.2 द्वितीय औद्योगिक नीति 1950
- 3.12 औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन
- 3.13 निष्कर्ष
- 3.14 शब्दावली
- 3.15 निबंधात्मक प्रश्न
- 3.16 सन्दर्भग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन भारत में औद्योगिक विकास की संवृद्धि के रूप में करना है। अध्ययन के उद्देश्य निम्न हैं जो इस प्रकार हैं-

1. भारत में आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के इतिहास का संक्षिप्त अध्ययन करना।
2. उन आधारभूत अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान प्राप्त करना।
3. आधुनिक उद्योगों की संवृद्धि स्वतंत्रता के पूर्व विकास का अवलोकन करना।
4. स्वतन्त्रोत्तर भारत में संवृद्धि का संरचनात्मक एवं नीतिगत परिवर्तन को जान सकेंगे।
5. 1947 के पश्चात् औद्योगिक नीति में किये गये परिवर्तनों का अध्ययन करेंगे।
6. आधुनिक उद्योगों के विकास में किये गये नियोजनों में बाधाओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आधुनिक उद्योगों का संवृद्धि का अध्ययन करने से पूर्व भारत में ब्रिटिश शासन की नीतियों को जानना आवश्यक है। क्योंकि औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत की अर्थव्यवस्था को किस तरह अल्प विकास की अवस्था में रहना पड़ा था। इस काल में जो भी औद्योगिक विकास हुआ वह ब्रिटिश शासन की बाधाओं के बावजूद भी हुआ था। ब्रिटिश शासन की जो भी बाधाएँ थी वे 1947 में भारतीय स्वतंत्रता के साथ समाप्त हो गयी थी। अब सभी के सामने प्रश्न यह था कि एक अल्प विकसित अर्थव्यवस्था की समस्याओं से कैसे सामना किया जाया। इस प्रश्न पर प्रगतिशील राष्ट्रवादियों एवं भारतीय उद्योगपतियों के बीच विचारों पर एक समान सहमति बनी। जिसमें दोनों ने यह स्वीकार किया कि योजनाबद्ध (आर्थिक विकास का तरीका ब्रिटिश कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की क्षति को पूरा करेगा। और विकास का एक नया पथ निर्माण करेगा। साथ ही हम भारतीय राजनीति में परिवर्तन के साथ ही औद्योगिक नीति में परिवर्तन के कारणों का अध्ययन करना जरूरी है। क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तन नीतिगत परिवर्तन निश्चित कर देता है। हम ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए विकास के इस नये आयामों का मूल्यांकन करेंगे।

3.2 औपनिवेशिक काल में भारतीय अर्थव्यवस्था

भारत में ब्रिटिश उपनिवेश की स्थापना 1757 ई. से मानी जाती है जब पलासी के युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बंगाल पर आधिपत्य जमा लिया था। 17वीं और 18वीं शताब्दी में जब यूरोपीय देशों के व्यापारी भारत के व्यापार पर एकाधिकार जमाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। उस समय भारत एक एकीकृत राष्ट्र न होकर केवल भौगोलिक इकाई था। जिसमें

विभिन्न प्रकार की जातियाँ और कबीलों के लोग थे जो धर्म, जाति, भाषा एवं संस्कृति से आपस में विभाजित थे।

18वीं शताब्दी के प्रारंभ में जब मुगल साम्राज्य का पतन हो रहा था उसी दौरान भारत में स्थानीय राज्यों का विकास हो रहा था। 17वीं शताब्दी में भारत विश्व के सबसे धनी देशों में एक था। ऐसा एडम स्मिथ जैसे आर्थिक इतिहासकारों ने भी लिखा है यदि राजनी परम दत्त के अनुसार विश्लेषण करें तो उन्होंने भी 18वीं शताब्दी में भारत को एक विशाल कृषिप्रधान एवं औद्योगिक देश माना और कहा कि भारत में बनें कपड़े एशिया एवं यूरोप के बाजारों को निर्यात किये जाते थे। यदि भारतीय समाज का इसी प्रकार विकास होता तो भारत सामंती राज्य के स्थान पर पूँजीवादी राज्य की स्थापना करता। लेकिन ऐसा होने से पहले ही यूरोपियन यहाँ आ गये तथा राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने लगे। अंततः ब्रिटिश पूँजीपतियों की विजय हुई। इस बारे में कार्ल मार्क्स ने स्वयं लिखा कि भारत में जितने भी विदेशी आक्रमणकारी आये और अपने राज्य स्थापित किये वे यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति में घुल मिल गये। लेकिन यूरोपियन प्रथम जिन्होंने अपनी सभ्यता को श्रेष्ठ मानते हुए भारतीय सभ्यता और संस्कृति को स्वीकार न कर सके। और उन्होंने स्थानीय समुदायों को तोड़कर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को नष्ट कर दिया। साथ ही स्थानीय कुटीर उद्योगों को जड़ उखाड़ फेंका तथा स्थानीय समाज में जो कुछ उन्नत एवं श्रेष्ठ बचा था उसको पूर्ण रूप से बर्बाद कर दिया। क्यों ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति होने से उत्पादन में कई गुना वृद्धि हुई। उत्पादित वस्तुओं के खपत के लिए एशिया का बाजार ही सबसे बड़ा था। इस बाजार में ब्रिटिश वस्तुओं की आपूर्ति तभी सम्भव थी जब यहाँ के उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया जाया और वह अपनी इस नीति में सफल हो गये और ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था का वाणिज्यिक पूँजीवाद से मुक्त व्यापार पूँजीवाद में परिवर्तित हो गयी। ब्रिटिश नीति उपनिवेशवाद के साथ-साथ साम्राज्यवाद की तरफ बढ़ी।

3.3 साम्राज्यवाद का काल

भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के काल को तीन भागों में बाँटा जा सकता है-

1. वणिकवाद का काल (Mercantilism) 1757 से 18वीं शदी के अंत तक
2. स्वतंत्र व्यापारिक पूँजीवाद का काल (free trade capitalism) यह 19वीं शताब्दी में विकसित हुआ।
3. वित्तीय पूँजीवाद का काल (Financial capital) 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों से भारतीय स्वतंत्रता तक।

आर्थिक इतिहासकार श्री आर. पी. दत्त तर्क दिया कि प्रत्येक चरण अपने से पूर्व की परिस्थितियों के कारण विकसित हुआ और साम्राज्यवादी शोषण की विभिन्न पद्धतियाँ प्रायः एक दूसरे में समा जाती थी जिसमें कि शोषण की प्रथम प्रणाली समाप्त होने से पूर्व शोषण के नये

ढाँचे में ढल जाती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने अन्तिम काल में केवल 'एक बात्ती' की अर्थव्यवस्था बन कर रह गयी।

3.3.1 वणिकवाद का चरण

अंग्रेजों की प्लासी के युद्ध के विजय के फलस्वरूप कम्पनी का बंगाल के साथ व्यापार तथा लूट के एक विशेष युग का आरम्भ हुआ वह वणिकवाद का युग था। यह 16वीं से 18वीं शताब्दी तक बहुत लोकप्रिय था। वास्तव में यह राष्ट्रवाद का आर्थिक प्रतिफल था। आधार यह था कि सम्पूर्ण आर्थिक गतिविधियों को राष्ट्र के हित में तथा उसको शक्तिशाली बनाने के लिए नियमित किया जाना था। इन सभी का उद्देश्य आयात की अपेक्षा निर्यात को बढ़ावा देना ताकि व्यापार संतुलन ब्रिटिश उद्योगों के हित में हो। और अधिक से अधिक सोना चाँदी यूरोप में तथा ब्रिटेन में आये। व्यापारिक कम्पनियाँ इस उद्देश्य की प्राप्ति तीन तरीकों से करती थी।

1. व्यापार पर एकाधिकार एवं विरोधी कम्पनियों की समाप्ति
2. वस्तुओं को कम से कम मूल्य में खरीद एवं अधिक मूल्य में बिक्री
3. इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के उस देश पर राजनीतिक नियंत्रण प्राप्त करना।

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अन्य यूरोपियन कम्पनी के साथ प्रतिस्पर्धा जल्दी ही प्रतिद्वन्द्विता में तब्दील हो गयी। इसी के परिणाम स्वरूप कम्पनी ने भारतीय राजाओं के साथ युद्ध किये और राजनीतिक नियंत्रण प्राप्त करके आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार पर एकाधिकार किया। तथा भारतीय धन के स्रोतों पर नियंत्रण किया। साथ ही भारतीय उद्योगों की हास का काल शुरु हुआ और भारत ब्रिटिश उद्योगों के उत्पाद का बाजार बन गया।

3.3.2 औपनिवेशिक लूट का काल 1757-72

1757 ई. के पश्चात् कम्पनी की बंगाल में विजय ने यह निश्चित कर दिया कि कम्पनी का उद्देश्य सिर्फ व्यापार करना ही नहीं रह गया। बल्कि अब यह व्यापारिक, सैनिक तथा राजनीतिक निकाय की भूमिका निभा रही थी। अधिक से अधिक धन लूटने की लालसा में बंगाल के नवावों को बदलने लगे। और लगातार तीन बार सत्ता परिवर्तन (1757, 1760 तथा 1764) हुए। इससे कम्पनी के सैनिक एवं असैनिक अधिकारियों को नवावों ने बड़े-बड़े उपहार दिये। जिससे कम्पनी के अधिकारियों को लाभ ही लाभ हुए और अधिकारियों को अधिक लाभ कमाने की होड़ लग गयी। एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा कि 'अब बंगाल में खुला तथा बेशर्मा लूट का काल प्रारम्भ हुआ।' आर. सी. दत्ता का अनुमान कि 1757 और 1765 ई. के बीच कम्पनी के पदाधिकारियों ने लगभग 60 लाख पौण्ड जो कि बंगाल की वार्षिक आय का चार गुना था। इसको सिर्फ बंगाल से पुरुस्कार स्वरूप प्राप्त किया। इसके अलावा कम्पनी के अधिकारी बंगाल से कर संग्रह करने के लिए जमींदारों को अनुमति के बदले उनसे धन लेने थे। इसी प्रकार कुटीर उद्योगों एवं हस्तशिल्पियों का शोषण बड़े पैमाने पर होने लगा। भारतीयों को व्यापार करने के

लिए 'दस्तक' जैसे अनुमति पत्र कम्पनी से खरीदने पड़ते थे। भारतीय उद्योगों की स्थिति दिनोंदिन खराब होने लगी। क्योंकि कम्पनी ने भारतीय कच्चे मान पर अपना अधिकार कर रखा था। और ये कच्चा माल दुबारा यदि भारतीयों को बेचा जाता था तो इसकी कीमत बहुत होती थी। जिसकी वजह से कुटीर उद्योगों के उद्योगपतियों को खरीदना महंगा पड़ता था। और धीरे-धीरे भारतीय उद्योग धन्धे बंद होने लगे। एक समकालीन लेखक विलियम बोल्टस ने लिखा - 'कम्पनी के पदाधिकारी बुनकरों से जो धूर्तता बरतते हैं वह सोच से भी परे हैं।'

3.3.3 वित्तीय पूँजीवाद

1857 के विद्रोह के परिणाम स्वरूप भारतीय शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से लेकर सीधे ब्रिटिश क्राउन के अधीन कर दिया गया। और जो भी अधिकारी नियुक्त हुए वह ब्रिटिश पार्लियामेंट एवं क्राउन ने दिये। भारतीयों के लिए जो भी नीति बनाई वह ब्रिटिश पार्लियामेंट में निर्धारित हुई। ब्रिटिश क्राउन अधिकृत भारतीय साम्राज्य की भूमिका में बदलाव आया। और साम्राज्यवाद अपने नये स्वरूप में दिखाई दिया और भारत में वित्तीय पूँजीवाद की शुरुआत होती है। यह प्रक्रिया तब तक चली जब तक भारत स्वतंत्र नहीं गया। इस नव साम्राज्यवाद ने भारतीय उद्योगों को पूरी तरह से नष्ट कर दिया। और नई नीति की शुरुआत होती है वह औद्योगिक पूँजीवाद को जन्म दिया। इसने 'ब्रिटिश निवेशकों' को भारत में उद्योगों की स्थापना में 'गारण्टी पद्धति' के तहत चारों तरफ से ब्रिटिश उद्योगपतियों को फायदा पहुँचाने के प्रयास किये गये। ब्रिटिश सरकार ने जिन क्षेत्रों में ब्रिटिश पूँजी निवेशकों को जितना धन निवेश किया। उतनी राशि निश्चित मिलती थी। चाहे वह फायदे में हो चाहे नुकसान में। इसके अलावा जो भी लाभ होगा वह उन निवेशकों के बीच वितरण कर दिया। ब्रिटिश भारतीय सरकार ने अपने लाभ के लिए जो आर. सी. दत्ता एवं दादा भाई नौरोजी ने 'धन का निकास सिद्धांत' प्रतिपादन अपनी पुस्तक *Poverty and Un-British Rule in India* तथा दत्ता जी ने *Economic History of India* में लिखा है।

3.4 औद्योगिक पूँजीवाद का उदय

प्लासी के युद्ध के पूर्व की स्थिति तक इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय आमदनी लगभग 50 प्रतिशत तक थी और 1851 तक ब्रिटिश अर्थव्यवस्था कृषि में 25 प्रतिशत तक रह गया। यह प्रतिशत बहुत तेजी के साथ 1881 तक लगभग 10 प्रतिशत तक योगदान रह गया। और यदि ब्रिटिश विदेशी व्यापार पर ध्यान आकर्षित करे तो 1790 में 14 प्रतिशत था 1880 यह 36 प्रतिशत तक बढ़ गया। जो इंग्लैण्ड में बढ़ती हुई औद्योगीकरण का सूचक है। एक क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटे से देश के सामने समस्या यह थी कि उत्पादन अधिक होने की वजह से एक उपभोक्ता व्यापार की आवश्यकता और यह भारतीय उपमहाद्वीप में ही सम्भव था। यहाँ से सस्ते कच्चे माल को ब्रिटेन में तैयार कर भारतीय बाजारों में भर दिया जिससे भारतीय उद्योगों का शुरु हो गया। जहाँ कपड़ा व्यापार में भारतीय उद्योग आत्मनिर्भर था वही आज आयात करने लगा। इसी तरह अन्य उद्योगों की स्थिति थी। संक्षेप में इंग्लैण्ड के प्रथम औद्योगिक पूँजीवादी देश में रूपान्तरण हो जाने से व्यापारी कम्पनी द्वारा अधिकृत भारतीय साम्राज्य की भूमिका में भी बदलाव आया। व्यापारियों

की कम्पनी तथा उनका साम्राज्य इन नयी परिस्थितियों में एक नवीन भूमिका की ओर अग्रसर हो रहा था।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में खरीददारी को स्वाभाविक रूप में बंद कर दिया गया। कम्पनी ने 1820 के दशक में इसके द्वारा इंग्लैण्ड को कपास से निर्यात किसी भी उत्पाद का निर्यात नहीं किया। जिन वस्तुओं का निर्यात किया, उनमें केवल कच्ची रेशम, शोरा या बारुद के लिए कच्चा माल, कृषि उत्पाद के रूप में नील और रेशम के वस्त्रों की बहुत कम मात्रा निर्यात की जाती थी। जहाँ तक इंग्लैण्ड का आयात का प्रश्न है, कम्पनी ने 1824 ई. से इसको पूर्णतः बन्द कर दिया वह केवल सैनिक सामान का आयात करती थी और इसको वह स्वयं उपयोग करती थी। भारत एवं यूरोप के मध्य व्यापार कम्पनी के हाथों से निकल कर व्यक्तिगत व्यापारियों के हाथों में चला गया। 1813 के चार्टर अधिनियम से स्पष्ट है कि भारत में कम्पनी की नीतियाँ एवं वित्त में एक दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन 19वीं शताब्दी के प्रथम दशकों में हुआ। और 1820 ई. तक कम्पनी क्षेत्रीय राजस्व पर निर्भर करने लगी जबकि 1765 ई. तक उसकी आमदनी केवल व्यापारिक लाभ से आती थी। अंततः यह कहा जा सकता है कि कम्पनी के धारा एकत्रित किये गये राजस्व को व्यापारिक उद्देश्यों की ओर मोड़ना उसकी एक सोची समझी नीति थी। इसका परिणाम यह निकला कि 1765 ई. के बाद बंगाल कम्पनी का हिस्सा बन गया। और बंगाल के राजस्व के एक पर्याप्त भाग का उपयोग इंग्लैण्ड को निर्यात करने वाले सामान के खरीदने पर किया जाता और इसको भी 'निवेशीकरण' का नाम दिया जाता।

3.5 औपनिवेशिक काल में भारतीय उद्योग

भारतीय उद्योग धन्धे 1800 ई. तक संसार में सबसे अधिक विकसित थे क्योंकि अभी तक भारतीय उद्योग केवल 'कुटीर उद्योग' थे। इसके उपरान्त भारत में आश्चर्यजनक परिवर्तन देखा गया। क्योंकि यूरोप में औद्योगीकरण तेजी से होने की वजह से बड़ी-बड़ी मशीनों से उत्पादन होने लगा और भारत में कुटीर उद्योगों का पतन प्रारम्भ हो गया। और भारत एक यूरोपियन उत्पाद का एक बाजार बनता गया। इस युग 1800 ई. से 1850 ई. तक के काल को औद्योगीकरण का काल कहते हैं। एक तरफ भारत के कुटीर उद्योगों का पतन हुआ वही दूसरी ओर इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति दृढ़ता के साथ अपने पैर जमा रही थी। और भारतीय अर्थ व्यवस्था पर इंग्लैण्ड का नियंत्रण सुदृढ़ होता जा रहा था। आर्थिक इतिहासकार मारिस डी. मारिस जैसे विद्वान् इस पक्ष पर बल देते कभी नहीं थकते कि हस्तशिल्प उद्योगों का हास औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप निश्चित था और यह पूरे बिम्ब में देखने को मिलता है।

19वीं शताब्दी औद्योगिक पूँजी का युग था अर्थात् इस काल में उभरते हुए अंग्रेज उद्योगपतियों एवं व्यापारियों ने आक्रामक रूख अपनाया जिसका आधार 'स्वतंत्र व्यापार' था। 1813 ई. के चार्टर ऐक्ट के द्वारा भारतीय व्यापार पर एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। अब भारतीय व्यापार का स्वरूप बदल गया। अब तक भारत मुख्य रूप से निर्यात करने वाला देश था परन्तु अब से आगे वह आयात करने वाला मुख्य देश बन गया। मार्क्स इस बारे में लिखता है- 'यह अंग्रेज घुसपैठिया था जिसने भारतीय खण्डी और चरखे को तोड़ दिया। पहले इंग्लैण्ड ने

भारतीय सूती माल को यूरोपीय मण्डियों से बाहर निकाला और फिर भारत में जो सूती माल था यहाँ पर अंग्रेजों ने और सूती कपड़ा भर दिया।

डा. आर. गाडगिल ने अपनी पुस्तक *The Industrial Evolution of India in Recout Time esa* में भारतीय हस्तशिल्प के हास होने के तीन प्रमुख कारण बताए-

1. भारतीय रजबाड़े उत्तम किस्म के हस्तशिल्प को संरक्षण देते थे तथा शिल्पियों को अच्छा वेतन ताकि वे इस उद्योग से उनके लिए अधिक उत्पादन कर सकें।
2. ब्रिटिश प्रशासन की स्थापना के फलस्वरूप भारतीय समाज में परिवर्तन आया। वे विदेशी रहन-सहन अपनाने लगे और विदेशी उद्योगों को संरक्षण देने लगे। शिक्षित नया वर्ग भारतीय वस्त्रों, पहनावों, खान-पान एवं रहन-सहन को हेय दृष्टि से देखने लगे।
3. अत्यधिक विकसित मशीनों माल का मुकाबला भारतीय उद्योग नहीं कर सकते थे। उसे तो संरक्षण की आवश्यकता थी न कि खुले व्यापार से भरे जाने की थी।

एक अन्य आर्थिक इतिहासकार बी. डी. वासु ने अपनी पुस्तक *Ruin of Indian Trade and Industries* में इंग्लैण्ड द्वारा भारतीय शिल्प के हनन के लिए राजनीतिक शक्ति के प्रयोग की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। जो निम्न हैं-

1. भारत पर मुक्त व्यापार प्रणाली को थोपना
2. भारतीय निर्माताओं के उत्पादनों पर इंग्लैण्ड में आयात करने पर अत्यधिक शुल्क
3. भारत से कच्चे माल का निर्यात
4. भारतीय उत्पादनों पर आयात-निर्यात पर अधिक कर
5. विदेशी निर्माताओं का उद्योग लगाने पर विशेष सुविधाएँ देना
6. भारतीय शिल्पियों को अपने रहस्य बताने के लिए बाध्य करना
7. व्यापार मेलों तथा प्रदर्शनियों का लगाना
8. रेल मार्गों का विकास ब्रिटिश हित के लिए

भारतीय कुटीर उद्योग का हास 19वीं शताब्दी में चलता रहा और 20वीं शताब्दी के मध्य तक। परन्तु भारतीय कुटीर उद्योगों की अपनी महत्ता है कि इन अनेक विषमताओं के होते हुए भी इसने अपने आपको जीवित रखा। ग्रामीण जनता, जो कि प्रायः बहुत निर्धन होती थी, ने अधिक सस्ते खादी कपड़े को अपनाये रखा। और गाँवों में बने लोहे तथा लकड़ी के कृषक उपकरणों का प्रयोग जारी रखा। 20वीं शताब्दी के उद्योगों को थोड़ा बहुत संरक्षण मिलना प्रारंभ

हुआ और खादी तथा ग्राम उद्योगों के लिए नगरों में दुकानें खुली। गाँधी युग में ग्राम उद्योगों को और प्रोत्साहन मिला तथा भारतीय कुटीर उद्योग को जीवित रखने में साहायता मिली।

3.6 औपनिवेशिक काल में प्रमुख उद्योग

औपनिवेशिक काल से पूर्व भारत के उद्योग धन्धों की स्थिति बहुत अच्छी थी। कृषि अर्थव्यवस्था अच्छी होने की वजह से देश खाद्यान्न के संबंध में आत्मनिर्भर था। और कृषि आधारित उद्योगों के साथ कुटीर उद्योग बड़े पैमाने पर कार्य कर रहे थे। उनसे उत्पादित पदार्थों का विदेशों में निर्यात किया जाता था। लेकिन ब्रिटिश उपनिवेश स्थापित होने की वजह से भारतीय उद्योगों का ह्रास होने लगा। यदि हम भारतीय उद्योगों का विस्तृत विकास का अध्ययन करे तो स्पष्ट हो जाता है कि औपनिवेशिक काल में जिन उद्योगों का ह्रास हुआ उनका उल्लेख इस प्रकार है-

3.6.1 जूट उद्योग

भारत के पूर्वी क्षेत्रों में जूट प्राचीन काल से बड़े मात्रा में उत्पादन किया जाता था। जिससे रस्सियों, बोरियों और मोटे वस्त्रों का निर्माण होता था। अठारहवीं शताब्दी से भारत इन वस्तुओं का निर्यात करता रहा था। यदि आधुनिक जूट उद्योग के आविर्भाव के देखे तो यह ब्रिटिश पूंजीपतियों के प्रयासों का ही परिणाम था। हालांकि प्रारम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय कच्चे जूट के निर्यात को बहुत महत्त्व नहीं दिया क्योंकि उनके यहाँ स्थापित तकनीकी के आधार पर इसका कोई उपभोग नहीं था। 1839 के बाद ब्रिटिश उद्योगपतियों ने तकनीकी कठिनाइयों पर पा ली और उन्होंने लिनेन और हेंप के बदले कच्चे जूट का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। जो कि उनसे कापफी सस्ता था। 1850 ई. के बाद जूट उद्योग के लिए विश्व का दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया। मुक्त व्यापार का सिद्धान्त, विश्व में नये बाजारों का उदय आदि से विश्व व्यापार बढ़ने के साथ ही बैंकिंग सामग्रियों की माँग में कई गुना वृद्धि हुई। भारत में जूट उद्योग के लाभप्रद विकास ने जार्ज आकलैण्ड को आकर्षित किया और उनके साहसिक प्रयासों ने वोर्निया कम्पनी को प्रोत्साहित किया। उसने 1859 ई. में प्रथम बड़े पैमाने की जूट कताई और बुनाई मिल कारखानों को लगाया। इतनी सफलता प्राप्त हुई कि उसने 5 वर्षों में ही अपनी संस्थापित क्षमता दुगुनी कर ली। व्यापार सिर्फ भारत तक सीमित न रहकर पूरे विश्व - आस्ट्रेलिया, अमेरिका, ब्रिटेन और मिस्र तक फैल गया। जूट उद्योग की सफलता का अनुमान इस बात से लगता है कि उस समय प्लेन और अकालों के बावजूद हथरधों की संख्या 5000 से बढ़कर 15000 तक हो गई। इस उद्योग में लगे लोगों की संख्या 1880 के दशक तक 50000 तक हो गई।

1875-76 ई. और 1913-14 ई. के मध्य भारत से निर्यातित कच्चे जूट का वजन 195 प्रतिशत बढ़ा परन्तु विनिर्मित उत्पादों का निर्यात काफी मात्रा में बढ़ा। जूट बोरियों का निर्यात 19 गुना और जूट वस्त्रों का निर्यात 272 गुना वृद्धि हुई। सस्ते श्रम की वजह से जूट मिलें विश्व की प्रधान निर्यातक बन गई। 1897-1913 ई. के बीच अमेरिका द्वारा ब्रिटेन से आयातित जूट की निर्मित वस्तुओं का मूल्य 7प्रतिशत घटा। जबकि भारत से आयातित जूट की निर्मित

वस्तुओं का मूल्य नौ गुना बढ़ा। 1913 ई. में अमेरिका को भारतीय मिलों ने 72 लाख पौण्ड के प्रथम विश्व युद्ध तक जूट उद्योग पर ब्रिटिश पूँजी, मैनेजिंग एजेण्टों और तकनीकी लोगों का अधिकार रहा। जूट उद्योग पर निवेश करने वाले पूँजीपतियों में अधिक लाभ की आशा बनी रही। इसी वजह से उन्होंने यूरोप में निवेश करने की अपेक्षा भारतीय उपनिवेश पर निवेश करना अच्छा समझा। और 1884 ई. में इण्डियन जूट मिल्स एसोशियेशन बनी जो 1902 तक इण्डियन जूट मैनुफैक्चरर्स के नाम से जानी जाती थी।

प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत होने के बाद भारत को निर्यात व्यापार के एक बड़े भाग से हाथ धोना पड़ा किन्तु इससे उद्योग की संवृद्धि पर असर नहीं पड़ा। युद्ध सम्बन्धी माँग 1918 ई. तक समाप्त हो गई। परन्तु युद्ध पीड़ित देशों में बड़े पैमाने पर बाह्य पदार्थ ले जाने के लिए जूट उत्पादों की माँग में वृद्धि हुई। जिसकी वजह से कच्चे जूट ओर जूट से निर्मित वस्तुओं की माँग हुई। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, अमेरिका और क्यूबा में भारी मात्रा में जूट उत्पादों की माँग हुई। इस दौरान भारतीयों ने अनेक मिलों की स्थापना की। यह दशक (1920) जूट उत्पादन के लिए संवृद्धि का रहा। 1921-22 में कुल 81 मिलें थी जो 1929-30 में इनकी संख्या 98 पहुँच गयी और जूट निर्यात का मूल्य 30 करोड़ से बढ़कर 52 करोड़ रु. हो गया। और श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई। 1930 की विश्व काफी मंदी के कारण कच्चे जूट की कीमतों में गिरावट आई जिससे मिल मालिकों को लाभ प्राप्त हुआ। सरकार द्वारा किसानों को जूट की उत्पादन में कटौती करने के लिए प्रयास किया। लेकिन यह निष्फल रहे। किसानों को जूट की जो कीमतें मिली उसका एक बड़ा भाग दलालों ने पाया।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जूट उत्पादों की माँग में वृद्धि हुई लेकिन महत्वपूर्ण बाजारों के हाथ से निकल जाने और समुद्री जहाज को सुविधाओं के अभाव के कारण अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। इंग्लैण्ड विरोधी देशों ने अपने बाजारों पर प्रतिबंध लगा दिया। जिससे लगभग 31 वस्तुओं के निर्यात समाप्त हो गया। परन्तु विभिन्न प्रतिबंधों के उपरांत भी लाभ का सूचकांक बढ़कर 234 हो गया। यदि 1939 को आधार वर्ष माने तो 1945 तक सभी उद्योगों को बहुत लाभ हुआ। और जूट के लिए वह सूचकांक 328 पर पहुँच गया। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के विभाजन से जूट उद्योग का विनाश हो गया। क्योंकि जूट उत्पादित क्षेत्र पाकिस्तान (अब बंगलादेश) में चले गये जबकि मिलें भारत में ही रह गयीं।

3.6.2 सूती वस्त्र उद्योग

यूरोपीय उद्योगपतियों ने 1850 ई. से पूर्व सूती वस्त्र के उत्पादन के लिए मिलों की स्थापना का प्रयास किया। अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में सफलता प्राप्त करना मुश्किल हुआ। वास्तविक शुरुआत 1850 के दशक में बम्बई में भारतीय उद्योगपतियों ने पूर्णतया भारतीय पूँजी, प्रबंधन और तकनीकी ज्ञान की सहायता से की और 1870 के दशक के पश्चात् इसमें काफी तीव्रगति से विस्तार हुआ। आगे आने वाले दशकों में यह दुनिया का सबसे बड़ा उद्योग के

रूप में सामने आया। जूट उद्योग विदेशी व्यापार पर निर्भर ज्यादा था लेकिन सूती वस्त्र उद्योग घरेलू माँग पर निर्भर हुआ। जबकि विदेशी बाजारों में भी भारतीय वस्त्र की माँग थी। ब्रिटिश निर्माताओं ने भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के प्रति अनुकूल व्यवहार नहीं किया। ब्रिटिश उद्योगपतियों को जल्दी ही भारतीय वस्त्र उद्योग के प्रति ईर्ष्या की भावना पैदा हो गयी। जिसकी वजह से भारतीय उद्योगपतियों को अनेक सूती वस्त्र उद्योग आगे बढ़ता रहा। 1895 ई. तक कुल मिलों की संख्या 138 हो गई, जल्दी ही वृद्धि करके 1900-01 में 190 मिलों की स्थापना हो चुकी थी।

सूती वस्त्र उद्योग 1892-1901 के बीच में बड़ी कठिनाईयों के साथ गुजरा। जिसके पीछे अनेक कारण थे। जैसे-

1. 1895 और 1899 में बम्बई और अहमदाबाद में प्लेग फैला जिसकी वजह से मजदूर पलायन कर गये।
2. 1886 ई. में भारत से निर्मित कपड़ों पर विदेशों में आयात का अधिक लगाया गया। तथा साथ ही भारत में उत्पाद शुल्क लगाया गया जिससे कीमतों में वृद्धि हुई।
3. भारत में कई क्षेत्रों में अकाल पड़े। साथ ही साम्प्रदायिक दंगे भी हुए। इसके पश्चात् 1904-08 के बीच सूती वस्त्र उद्योग की परिस्थितियाँ अनुकूल रही। इसका एक कारण यह था कि अमेरिका में कपास की अच्छी फसल पैदा हो गयी थी। साथ ही एक अन्य कारण 1905 में रूस और जापान के बीच युद्ध ने जापान के चीन के बाजार से बाहर कर दिया। जिससे कि भारतीय निर्माताओं को चीनी बाजार में प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ा। और 1904-10 के बीच में 31 मिलों की स्थापना की गयी।

प्रथम विश्व युद्ध में सूती वस्त्र उद्योग थोड़ा प्रभावित हुआ लेकिन 1920 ई. में मानसून की विफलता और इनफ्लुएंज महामारी के कारण सूती वस्त्र उद्योग पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। और 1921 के बाद कपास की कीमतों में तेजी से वृद्धि हुई। क्योंकि सूती वस्त्र उद्योग के लिए जापानी प्रतिस्पर्धा में ठहर पाना बहुत मुश्किल हो गया और इन समस्याओं पर अध्ययन के लिए 'भारतीय टैरिफ बोर्ड' ने 1927 में एक जाँच आयोग बैठाया और पाया कि जापानी प्रतिस्पर्धा की वजह से समस्याएँ आ रही। क्योंकि भारतीय उद्योगों की तुलना में उनकी लागत कम थी। समस्या के निदान के लिए सरकार ने 1930 ई. में टैक्सटाइल प्रोटेक्सन एक्ट पास किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि जापान ने भारतीय कपास का बहिष्कार किया। लेकिन 1934 में दोनों देशों के बीच एक व्यापार समझौता हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप दोनों देशों के बीच वस्त्र उत्पादों के व्यापार पर सामान्य सम्बन्ध बने।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय वस्त्र उद्योग ने कपड़ा बाजार पर एकाधिकार कर लिया। 1947 में सरकार ने सूती वस्त्र उद्योग में स्थापित संरक्षण समाप्त कर दिया। क्योंकि अब वह हर समस्या का स्वयं सामना कर सकता था। विभाजन के पश्चात् भारत में 378 मिलें थीं और विश्व में तीसरा स्थान था।

3.6.3 लोहा और इस्पात उद्योग

प्राचीन काल से ही भारत में लौह ब्रजलन उद्योग प्रचलन में था। वह देश की सैनिक और गैर सैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम था। ब्रिटिश लोहा उद्योग के साथ प्रतिस्पर्धा ने भारत में जो भी लोहा उद्योग था उसकी उत्पादन क्षमता को नष्ट कर दिया। अतः भारत में लोहा और इस्पात उद्योग के न विकसित होने के पीछे ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ थीं। क्योंकि ब्रिटिश सरकार अपने औद्योगिक एवं वाणिज्यिक संस्थानों को पूरा संरक्षण प्रदान कर रही थी। यद्यपि भारत में रेलमार्गों और सिंचाई के साधनों का विकास हुआ फिर भी लोहा और इस्पात उद्योग विकसित नहीं हो सका क्योंकि लोह निर्मित वस्तुओं का ब्रिटेन से आघात होने लगा था। जिसे कि भारतीय लौह एवं इस्पात उद्योग विकसित नहीं हो सका। महत्त्वपूर्ण बदलाव सर्वप्रथम तब व्यापार जब टाटा ने (TISCO) टाटा आयरन एण्ड स्टील' की 1907 में स्थापना की।

टाटा आयरन एण्ड स्टील ऐसी पहली भारतीय कम्पनी थी जिसका देशी पूँजी निवेश के साथ 1907 में लोहा एवं इस्पात के निर्माण के लिए पंजीकरण किया गया। टाटा को अपेक्षित मात्रा में पूँजी मिल जाने के पश्चात् बहुत सी समस्याओं का सामना करना पड़ा। ब्रिटिश सरकार एवं तकनीकी विशेषज्ञों की उदासीनता की वजह से टाटा अपने उत्पादों को नहीं बढ़ा सका। और उसे अन्त में जर्मनी एवं अमेरिका से साहायता प्राप्त हुई। और इनकी मदद से 1912 में कच्चे लोहे का उत्पादन आरंभ किया। प्रारम्भ में TISCO को सरकार की तरफ से टैरिफ संरक्षण नहीं मिला। इसके बावजूद ज़ेबव निर्माताओं ने अपने आत्मविश्वास के साथ परेशानियों का सामने करते हुए आगे बढ़े। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान प्राप्त टैरिफ संरक्षण की मदद से 1923-24 के संकट से कम्पनी ने अपने आपको सम्भाला। कम्पनी जब अपने आत्म सहयोग से खड़ी हो गयी तो संरक्षण को त्याग दिया।

आधुनिक भारत में आयरन एण्ड स्टील उद्योग के लगने से अनेक उद्योगों को जन्म दिया। TISCO के अलावा अन्य लौह एवं इस्पात उद्योगों के विकास हुआ। जैसे TISCO बंगाल आयरन कम्पनी, मैसूर आयरन एण्ड स्टील कम्पनी आदि। 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत में अन्य उद्योगों का जन्म हुआ जिससे कागज और लुगही सीमेंट, चीनी, उनी उत्पाद आदि शामिल है। इसके साथ ही कृषि वाणिज्यिक उद्योगों का विकास हुआ जिसमें चाय एवं काफी के बागानों का भी काफी तेजी से विकास हुआ। क्योंकि यह कृषि आधारित वाणिज्यिक उद्योग थे। जिससे कि विदेशी मुद्रा का भण्डार किया जा सकता था।

3.7 औद्योगिक नीति एवं औद्योगिक संवृद्धि

ब्रिटिश सरकार की औद्योगिक नीति का उद्देश्य भारत को इंग्लैण्ड की अधीनस्थ अर्थव्यवस्था में दलना था। ब्रिटेन चाहता था कि भारत प्राथमिक वस्तुओं एवं कच्चे मालों की पूर्ति करे तथा इसके बदले में इंग्लैण्ड भारत के बाजारों में अपनी उद्योगों से उत्पादित वस्तुओं को बेचे। और ब्रिटिश सरकार ने भेद मूलक औद्योगिक नीति अपनाई और हस्तशिल्प उद्योग को पूरी तरह से

नष्ट कर दिया। दूसरी ओर कच्चे माल की ढुलाई और बाजार में ब्रिटिश वस्तुओं की पूर्ति एवं प्रशासनिक नियंत्रण (सैन्य) की तीव्रता को बढ़ाने के लिए रेल व्यवस्था का विकास किया गया।

19वीं शताब्दी के अंत तक भारत में मूलतः सूती वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग, चाय एवं काफी उद्योग तथा सीमेंट उद्योग का ही विकास हुआ। जूट, चाय एवं काफी, सीमेंट आदि उद्योगों पर अंग्रेजों और यूरोपीय निवेशकों का नियंत्रण रहा जबकि सूती वस्त्र उद्योग पर भारतीयों का वर्चस्व बढ़ता गया। जब भारत में रेल यातायात का विकास हो रहा था तो अंग्रेजों ने भारत में लोहा और इस्पात उद्योग के विकास में बाधाएँ डालीं। इसके बावजूद भी भारत में अच्छी किस्म का लौह अयस्क का भण्डार था, फिर भी जमशेद एन. टाटा को 1880 के दशक में लोहा एवं इस्पात उद्योग की अनुमति नहीं दी गई।

20वीं शताब्दी का पूर्वार्ध भारत में औद्योगिक विकास एवं औद्योगिक विविधता का काल माना जाता है। इस दौरान भारत में जे. एन. टाटा, जी. डी. बिड़ला, कस्तूरभाई लाल भाई सरीखे औद्योगिक घरानों का उदय हुआ। अब भारत में एक नये पूँजीपति वर्ग का उदय हो रहा था। दोनों विश्व युद्धों के मध्य काल में भारतीय उद्योगपतियों को औद्योगिक विकास का अवसर मिला। साथ ही स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय उद्योगों के अभ्युदय को भी प्रोत्साहित किया। परिणाम स्वरूप स्वतंत्रता के समय भारत को एक विविध लेकिन कमजोर अल्पविकसित औद्योगिक संरचना विरासत में प्राप्त हुई।

3.8 भारत में नियोजन का प्रारम्भ

भारत में नियोजन को सामाजिक न्याय के साथ आधुनिक उद्योगों की संवृद्धि एवं विकसित अर्थव्यवस्था के रूप में देखा गया। इस दिशा के सर्वप्रथम प्रयास स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1937 में फैजपुर अधिवेशन में निर्णय लिया कि भारत की अर्थव्यवस्था योजनाबद्ध हो ताकि विकास का लक्ष्य पता चल सके और इसके लिए जवाहरलाल नेहरू को 1938 ई. में राष्ट्रीय योजना समिति का अध्यक्ष बनाकर कार्य की शुरुआत की। नेहरू गुट कांग्रेस के भीतर वामपक्ष के रूप में उभर कर सामने आया। यह गुट सोवियत संघ में योजनाबद्ध औद्योगीकरण के अनुभव से काफी प्रेरित था। इस गुट का मानना था कि भारत यदि स्वतंत्र होता है तो उसे नियमबद्ध तथा राज्याश्रित औद्योगीकरण को किसी ऐसी ही नीति को अपनाना पड़ेगा। उसकी इस मान्यता से सभी लोग सहमत थे और आगे चलकर 'राष्ट्रीय योजना समिति' ने सुझाव व्यक्त किये-

“गरीबी और बेरोजगारी राष्ट्रीय और आमतौर पर आर्थिक विकास की समस्याओं को विना औद्योगीकरण के नहीं सुलझाया जा सकता। औद्योगीकरण की दिशा में एक कदम के रूप में राष्ट्रीय नियोजन की व्यापक रूपरेखा तैयार की जानी चाहिए। जो योजना बने उसमें भारत प्रमुख उद्योगों मध्यम उद्योगों और कुटीर उद्योगों के समुचित विकास का प्रावधान होना चाहिए।”

लगभग चार वर्ष के उपरांत इसी प्रकार के विचार उस दस्तावेज में प्रकट किये गये थे जिसे आमतौर पर 'बम्बई योजना' के नाम से जाना जाता था। यह दस्तावेज 1944 ई. में जे. आर. डी. टाटा, जी. डी. बिड़ला और लाला श्रीराम सहित अनेक प्रमुख व्यापारियों ने तैयार किया था। बम्बई योजना में कहा गया था कि -

“हमने जिस प्रकार के प्रस्ताव आर्थिक विकास के लिए दिये वह तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक इस विकास को एक केन्द्रीय निदेशक सत्ता (Central Directing Authority) के आधार पर नहीं किया जाय। इसके अलावा इस विकास में वित्तीय जिम्मेदारियों के असमान वितरण को रोकने के लिए राज्य के नियंत्रणकारी उपायों की भी जरूरत होगी।”

जब देश स्वतंत्र हुआ तो तत्कालीन राजनेताओं ने सलाह दी कि एक योजना आयोग की स्थापना की जाय और योजना आयोग को जबावदेही होगी कि वह देश के संसाधनों एवं जरूरतों के अनुरूप नियोजित विकास का पंचवर्षीय प्रारूप तैयार करे। इसको पूर्ण करने के लिए 1950 ई. में प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में योजना आयोग की स्थापना हुई। इस दिशा में योजना आयोग ने 1951 से 2013 तक कुल ग्यारह पंचवर्षीय योजनाएँ तथा तीन एकवर्षीय योजनाएँ - अप्रैल 1996 से 31 मार्च 1969- को सूत्रबद्ध किया। चूँकि भारत एक संघीय राजनैतिक व्यवस्था है, इसलिए विकास की संघात्मकता (संतुलित विकास) को ध्यान में रखते हुए 1952 ई. में राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना की। इसमें सभी प्रान्तों के मुख्यमंत्रियों को सदस्य बनाया गया तथा प्रधानमंत्री अध्यक्ष एवं योजना आयोग का उपाध्यक्ष भी सम्मिलित होता है। और योजना आयोग द्वारा बनाया गया नियोजित विकास प्रारूप राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा स्वीकृत होने के पश्चात् संसदीय स्वीकृत के उपरांत लागू हो जाता।

3.9 नियोजित विकास का उद्देश्य

नियोजित विकास के उद्देश्य का तात्पर्य नियोजन के परिभाषित प्रस्तावित एवं घोषित लक्ष्य से है। वे उद्देश्य सामान्य व विस्तृत हो सकते हैं तथा इसका लक्ष्य दीर्घकालिक हो सकता है। दीर्घकालीन नियोजित विकास के उद्देश्यों का सम्बन्ध मूलतः समाजिक एवं आर्थिक सरोकारों से है। ये दीर्घकालिक प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं-

1. आर्थिक संवृद्धि - प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य को सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि के रूप में व्यक्त करते हैं। इसलिए सकल घरेलू उत्पाद में उच्चतर दर से वृद्धि ही आर्थिक संवृद्धि कहलाती है।
2. आत्मनिर्भरता - आत्मनिर्भरता का तात्पर्य है कि देश की मूल आवश्यकताओं जैसे खाद्यान्नों, मशीनों तथा अन्य उपकरणों की दृष्टि से घरेलू उत्पादित वस्तुओं पर निर्भर होना। इसका तात्पर्य यह भी है कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यापार की शर्तों को सुनिश्चित करने की स्वायत्तता बनाए रखें।

3. पूर्ण रोजगार - पूर्ण रोजगार का तात्पर्य शून्य बेरोजगारी कदापि नहीं होता। किसी भी अर्थव्यवस्था में सदैव बेरोजगारी की स्वाभाविक दर पाई जाती है। जिसका कारण सम्बन्धित अर्थव्यवस्था में अनवरत संरचनात्मक परिवर्तनों का पाया जाना है।
4. सामाजिक न्याय तथा आर्थिक असमानताओं में कमी - आर्थिक संवृद्धि का न्यायोचित वितरण सामाजिक न्याय की दिशा में एक पूर्ण शर्त है। साथ ही, जब आर्थिक संवृद्धि सामाजिक न्याय को स्थापित करती है तब वह विकास का रूप धारण करती है। इसीलिए भारत में नियोजित विकास के मूल में सामाजिक न्याय की अवधारणा है जिसकी प्राप्ति लोगों के बीच की आर्थिक असमानताओं को कम करके ही की जा सकती है।
5. गरीबी उन्मूलन - गरीबी उन्मूलन भारत में नियोजित विकास कार्यक्रम का मुख्य हिस्सा है। पाँचवीं और छठी योजनाओं में गरीबी उन्मूलन को प्राथमिकता दी गयी है।
6. आधुनिकीकरण - उत्पादन में वृद्धि हमेशा संसाधनों (मौलिक व मानवीय) एवं प्रौद्योगिकी की नवीन तकनीक का प्रयोग करके की जा सकती है। इसीलिए भारत में नियोजित विकास के उद्देश्यों में आधुनिकीकरण को आर्थिक संवृद्धि के दूत के रूप में देखा जा सकता है।

3.10 औद्योगिक विकास में घरेलू बाजार

बाजार के स्वतंत्र होने के पश्चात् भारतीय उद्योगों के तीव्र विकास में प्रमुख बाधा यह थी कि घरेलू बाजार का पूर्ण विकास नहीं हो सका। इसका कारण था कि घरेलू बाजार एवं औद्योगिक विकास के बीच सम्बन्ध पर्याप्त रूप से विकसित नहीं थे। क्योंकि जब तक बाजार में किसी वस्तु की निश्चित माँग न हो तब तक कोई भी उद्यमी उसके उत्पादन में निवेश करने के लिए प्रेरित नहीं होना। ऐसा हुआ है कि उत्पादन कर्ताओं ने किसी वस्तु का निर्माण केवल बाहरी बाजारों के लिए अथवा निर्यात के लिए ही किया है। लेकिन इस प्रकार का निर्यात-आधारित उत्पादन भारत जैसे विशाल और पिछड़ी अर्थव्यवस्था वाले देश में तीव्र औद्योगिकीकरण का आधार नहीं हो सकता था। इसलिए औद्योगिकीकरण की प्रथम शर्त यही थी कि घरेलू बाजार का विस्तार किया जाय।

3.11 औद्योगिक नीति

उपनिवेश काल में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय उद्योगों की संवृद्धि के लिए कोई प्रयास नहीं किया। उसके पीछे एक कारण ये था कि यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी। और ब्रिटिश सरकार सिर्फ अपने उद्योगों की संवृद्धि के लिए नीतियाँ बना रहा था। जबकि भारतीय उद्योगों को ब्रिटिश उद्योगों के साहायक के रूप में प्रयोग कर रहा था। जो भी औद्योगिक नीति बनाई गई, वह ब्रिटिश हित में ही लेकिन स्वतंत्रता के परिणाम स्वरूप भारतीय उद्योगों की संवृद्धि के लिए जल्दी ही भारतीय राजनेताओं द्वारा भारतीय उद्योगपतियों के साथ मिलकर अर्थव्यवस्था को

सुदृढ़ करना था। और 1948 में भारत की संसद द्वारा प्रथम औद्योगिक नीति प्रस्ताव ;प्लाननेजतपंस च्वसपबल त्मेवसनंजपवदद्ध पारित किया। कई अर्थों में IPR 1948, भारत में साम्राज्यवादी सरकार द्वारा अप्रैल 1945 ई. में जारी किये गये एक औद्योगिक नीति वक्तव्य (Industrial Policy Resoluation) का ही संशोधित रूप में देखा गया। साथ ही इसमें बम्बई योजना के विचार भी शामिल किये गये।

3.11.1 प्रथम औद्योगिक नीति -1948

भारत सरकार एक्ट 1935 के अन्तर्गत औद्योगिक विकास एक प्रान्तीय विषय था। लेकिन 1945 ई. के नीति वक्तव्य के अनुसार भारत सरकार इसके विचार क्षेत्रा के अन्तर्गत लगभग बीस उद्योगों को ले आयी। इनमें निम्नलिखित उद्योग शामिल थे-

1. लोहा और इस्पात
2. मोटर वाहन और परिवहन वाहन
3. हवाई जहाज, विद्युत मशीनरी, भारी मशीनरी, मशीनों के औजार
4. भारी रसायन, उर्वरक, दवाएँ और औषध
5. सीमेंट, चीनी रबर उत्पाद, कोयला और विद्युत इत्यादि।

औद्योगिक नीति 1948 ई. में कुछ निश्चित लक्ष्य निर्धारित किये गये जिनमें आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रीकरण को रोकना शामिल था। इस प्रस्ताव में उद्योगों के विकास में सरकार की एक प्रगतिशील सक्रिय भूमिका तय की गई। कुछ उद्योग पूरी तरह सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित थे (परमाणु ऊर्जा और शस्त्र निर्माण) और कुछ को उन उद्योगों में सम्मिलित किया गया था जिनमें निजी क्षेत्र को, अगर यह राष्ट्रीय हित में हो तो, निवेश की अनुमति प्रदान की जा सकती थी। लेकिन उनके भविष्य के विकास की जिम्मेदारी सरकार की थी (इस्पात, कोयला एवं उड्डयन आदि) बाकी सारे उद्योग निजी क्षेत्र के लिए खुले थे। इस प्रस्ताव में अधिक समतापूर्ण औद्योगिक वृद्धि सुनिश्चित करने के लिए कुटीर एवं लघु उद्योगों को महत्त्व दिया गया।

3.11.2 द्वितीय औद्योगिक नीति 1950

इस प्रस्ताव का प्रारूप, संसद द्वारा समाज के समाजवादी ढाँचे की स्थापना को सरकार की सामाजिक और आर्थिक नीतियों के उद्देश्यों के रूप में स्वीकार किये जाने के पश्चात् किया गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना भी इसके साथ ही शुरू की गयी 'जिसमें वृद्धि के लिए अपनाई जाने वाली नीति में उद्योग, विशेष रूप में भारी उद्योगों की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया। उद्योग एक्ट 1951, में उद्योगों का विकास और नियमन शामिल था। उद्योग एक्ट 1951, वह औजार था जिसके माध्यम से सरकार ने औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1948 ई. द्वारा निर्देशित अपने लक्ष्यों को पूरा करने का प्रयास किया। सरकार को जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त किया

था, वह था मध्यम और बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना के लिए लाइसेंस जारी करने का अधिकार। इस एक्ट के द्वारा सरकार को उत्पादन की मात्रा, आयात और विक्रय कोटा, मूल्य और मजदूरी और वेतन तय करने का अधिकार भी प्रदान किया गया और द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने औद्योगीकरण की नीति को स्वीकार कर लिया।

3.12 औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन

आधुनिक उद्योगों की संवृद्धि भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए अति आवश्यक है। भारत जैसे कृषि प्रधान समाज में इस प्रकार का बाजार मुख्य रूप से ग्रामीण आय में वृद्धि और कृषि सम्बन्धी बचतों के माध्यम से विकसित किया जा सकता है। अगर देश को किसी वस्तु की आयात रोकना हो तो वह उसके घरेलू उत्पादन को प्रोत्साहित करना और इसी के अनुसार औद्योगिक गतिविधि को बढ़ावा देगा। पहले से स्थापित उद्योगों के मुकाबले में नये उद्योगों को हानि से बचाने के लिए सरकार उन्हें संरक्षण प्रदान कर सकती है, यह संकल्पना नवजात शिशु उद्योग सिद्धान्त पर आधारित है। जो यह सुझाव देता है कि उद्योगों के उनके शैशव अर्थात् प्रारम्भ में संरक्षण की जरूरत होती है ताकि वे अधिक विकसित अर्थतंत्रों में स्थापित प्रतियोगियों का मुकाबला कर सकें। ओर भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देकर उनकी संवृद्धि का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

3.13 निष्कर्ष

आधुनिक उद्योगों की संवृद्धि विकास की एक प्रक्रिया का परिणाम है। आधुनिक उद्योगों के विकास औपनिवेशिक काल से शुरू होती है। क्योंकि इससे पूर्व भारत में कुटीर उद्योग जो कि कृषि अर्थ व्यवस्था पर आधारित थे। जैसे ही यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई। उसका सीधा प्रभाव हमारे उद्योगों पर पड़ा। औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत औद्योगीकरण, राष्ट्रीय वृद्धि पर केवल सीमान्त प्रभाव ही डाल सका। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में हुए असमान विकास के कारण तथा विकास के क्षेत्रीय असंतुलन के कारण देश के अधिकांश क्षेत्र पिछड़े रह गये। इससे भारतीय उद्योगपतियों और राष्ट्रवादियों ने नियोजित आर्थिक विकास के बारे में सोचना शुरू किया। विदेशी वस्तुओं की भारत के बाजारों में बाढ़ को रोकने के लिए और नव भारतीय उद्योग जैसे सूती वस्त्र, लोहा इस्पात, जूट तथा अन्य को संरक्षण देने के लिए योजनाकारों ने भारतीय विनिर्माण को संरक्षण देने, घरेलू उत्पादन को प्रोत्साहन देने ताकि यह उत्पादन विदेशी वस्तुओं का स्थान ले सकें और भारतीय उद्योगों से उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार तैयार करने की रणनीति अपनायी।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय नियोजन ने उद्योगों के नियंत्रण और विनियमन पर अधिक जोर दिया ताकि बड़े और मूल उद्योगों को बढ़ावा मिल सके और जिससे निजी क्षेत्र के विनिर्माण को आधारभूत ढाँचा प्रदान किया जा सकें। साथ ही योजना में स्वामित्व पर प्रतिबंध और नियंत्रण और लघु उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया। स्वतंत्र भारत की सरकार ने आधुनिक उद्योगों की संवृद्धि से भारी उद्योगों के लिए नीतियाँ बनाई। ताकि भारतीय उद्योगों का विकास

समाजवादी पद्धति पर किया जा सके। इसके लिए 1948 एवं 1950 में औद्योगिक नीति को संसद द्वारा पारित कराकर संरक्षण प्रदान किया। यह भी तभी सम्भव था जब हमारे घरेलू एवं विदेशी बाजार में माँग के आधार पर आपूर्ति कर सकें। सबसे पहले तो यही आवश्यकता थी कि हमारे घरेलू बाजार का विकास किया जाय और सरकारी नियंत्रण एक सीमा तक रखा। ताकि निजी क्षेत्र के उद्यमियों का भी सहयोग मिल सकें और उद्योगों की संवृद्धि निश्चित की जा सकें। आज भारत की अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था के रूप में उभरी। जिसमें सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र दोनों का योगदान बराबर चल रहा।

3.14 शब्दावली

घरेलू बाजार - देश में उत्पादित सामग्री के लिए देश के अन्दर ही उपलब्ध बाजार।

उत्पादन - औद्योगिक और कृषि उद्यमों में तैयार किया गया अंतिम उत्पादन।

एकाधिकार - अनेक उद्योगों पर एक ही व्यक्ति या उद्योग सूह का अधिकार।

निवेश - किसी भी उद्यम में इसकी उत्पादकता बढ़ाने के लिए मुद्रा, पूँजी या श्रम लगाने का काम निवेश कहलाता है।

आपूर्ति - बाजार में उपलब्ध सामग्री और सेवाएँ।

औद्योगिक पूँजीवाद - ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था, जिसमें पूँजी पर उद्योगपतियों का अधिकार हो।

व्यापार संतुलन - पार समुद्रीय व्यापार में आयात और निर्यात का अंतर।

उपनिवेश - एक देश का दूसरे देश के भूभाग पर राजनीतिक एवं व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त करना उपनिवेश कहलाता है।

वाणिज्यिक पूँजीवाद - ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था, जिसमें पूँजी पर व्यापारियों का नियंत्रण हो।

पंचवर्षीय योजना - प्रत्येक योजना के लिए पाँच वर्षों का समय निर्धारित हुआ और उसी के अनुसार लक्ष्यों का निर्धारण। योजनाबद्ध विकास की यह पद्धति सोवियत संघ के प्रयोगों पर।

3.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतीय उद्योग नीति के सन्दर्भ में नियोजन के लक्ष्य किस सीमा तक पूरे हुए हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. भारत की उद्योग नीति के प्रमुख उद्देश्यों को विस्तृत रूप में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. उन कारणों का उल्लेख कीजिए जिसकी वजह से औपनिवेशक शासन के दौरान भारतीय उद्योग क्षेत्र विस्तार नहीं कर पाता।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4. औपनिवेशिक काल में प्रमुख भारतीय उद्योगों का वर्णन कीजिए।

5. औपनिवेशक काल में भारतीय अर्थव्यवस्था का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.16 सन्दर्भग्रन्थ

Basu, B. D. (1998), *Ruin of Indian Trade and Industries*, New Delhi.

Blyn, George (1966), *Aggricultural Trends in India, 1891-1947: Output, Availability and Productivity*, University Pennynsylvania Press, USA.

Gadgil, D.R. (1973), *The Industrial Evolution of India in Recent Time*, New Delhi.

Kumar, Dharma (2008), *Cambridge Economic History of India*, Vol. II, Cambridge University Press, UK.

Naoriji, Dadabhai (1901), *Poverty and Un-British Rule in India*, London, UK.

Pavlov, V.I. (1963), *The Indian Capitalist Class: A Historical Study*, New Delhi.

Ray, P.C. (1995), *The Poverty Problem in India*, Calcutta.

Roy, Tirathankar (2000), *The Economic History of India 1857-1947*, Oxford University Press, New Delhi.

Singh, V.B. (1978), (ed), *Economic History of India, 1857-1926*, New Delhi.

प्रेस एवं समाचार पत्र

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 प्रेस एवं समाचार पत्रों पर कम्पनी की नीतियाँ
 - 4.3.1 समाचारपत्रों का पत्रोक्षण अधिनियम 1799
 - 4.3.2 अनुज्ञप्ति नियम (Licensing Regulations 1823)
 - 4.3.3 प्रेस अधिनियम 1823 (Press Act 1823)
 - 4.3.4 अनुज्ञप्ति नियम 1857 (Licensing Regulations 1857)
- 4.4 प्रेस पर ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ
 - 4.4.1 पंजीकरण अधिनियम 1867 (Registration Act)
 - 4.4.2 वर्नाकुलर प्रेस एक्ट 1878 (Vernacular Press Act)
 - 4.4.3 समाचार पत्र अधिनियम 1908 (News Paper Act)
 - 4.4.4 भारतीय समाचार पत्र अधिनियम 1910 (Indian Press Act)
 - 4.4.5 भारतीय समाचार पत्र अधिनियम 1931 (Emergency Powers)
- 4.5 स्वतंत्र भारत में प्रेस नीति
 - 4.5.1 समाचार पत्र जाँच समिति 1947 (Press Enquiry Committee)
 - 4.5.2 समाचार पत्र अधिनियम (आपत्तिजनक विषय) 1951
- 4.6 प्रथम प्रेस आयोग 1954 (First Press Commission)
 - 4.6.1 प्रेस काउन्सिल ऑफ इण्डिया 1968
 - 4.6.2 प्रेस काउन्सिल 1979 (Press Council)
- 4.7 स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रेस एवं समाचार पत्रों की भूमिका
- 4.8 प्रारम्भिक पत्रों की भूमिका
 - 4.8.1 मराठी प्रेस
 - 4.8.2 कांग्रेस और प्रेस
- 4.9 क्रान्तिकारी आन्दोलन एवं प्रेस
- 4.10 राष्ट्रवादियों का योगदान
- 4.11 सारांश

- 4.12 शब्दावली
- 4.13 बोध प्रश्न
- 4.14 निबन्धात्मक प्रश्न
- 4.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.1 प्रस्तावना

भारत में प्रेस एवं समाचार का विकास एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। समाचार पत्रों का इतिहास यूरोपीय लोगों के आने के साथ-साथ प्रारम्भ हुआ। यूरोपीयन लोगों में पुर्तगाली पहले थे जो प्रिंटिंग प्रेस भारत में लाए। 1857 में गोवा के कुछ पादरियों ने ईसा मसीह के उपदेशों को छापना तथा धर्म प्रचार करना था। लेकिन 1684 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बम्बई में पहला प्रिंटिंग प्रेस लगाया। कई वर्षों तक कम्पनी ने कोई समाचार पत्र नहीं छापा क्योंकि कम्पनी के लोग यह बिल्कुल नहीं चाहते थे कि उनकी काली करतूतों को तथा उनके द्वारा किया जा रहा निजी व्यापार का लंदन तक समाचार बने। समाचार पत्रों का कार्य सरकार की नीतियों को जनता तक पहुँचाना और सरकार को जनता की जरूरतों तथा सरकारी नीतियों की प्रतिक्रिया से अवगत होना लक्ष्य होता है। प्रेस एवं समाचार पत्रों ने आधुनिक भारत के निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विचारों का आदान प्रदान विकास की प्रक्रिया को तेजी से सक्रिय बनाता है।

प्रथम समाचार पत्र भारत में निकालने का प्रयास कुछ कम्पनी के लोगों ने किया। जिनका उद्देश्य उन भ्रष्ट और दुष्कर्म लोगों की करतूतों को उजागर करना था। विलियम बोल्टस ने 1776 ई. में कम्पनी के भ्रष्ट 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' से त्यागपत्र देकर यह कहा कि - "उसके पास बहुत से प्रमाण हैं जो उन सभी व्यक्तियों से गहरा सम्बन्ध रखते हैं।" सरकार ने तुरंत ही कार्यवाही करके बिलियम बोटल्स की आवाज को दवा दिया। लेकिन यह सिलसिला रुकने वाला नहीं था। और यह प्रथम प्रयास जेम्स आमस्टस हिक्की को जाता है उसने 1780 ई. में 'दि बंगाल गजट' था 'दि कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर्स' के नाम से प्रकाशित किया। उसने उन सरकारी अधिकारियों, गवर्नर जनरल तथा मुख्य न्यायाधीश की आलोचना की। इसके परिणाम स्वरूप इसकी प्रेस को जप्त कर लिया गया। तथा समाचार पत्र को बन्द कर दिया गया। परिणाम स्वरूप भारत में समाचार पत्रों की निकलने की प्रक्रिया में तेजी हो गयी। और 1784 में 'कलकत्ता गजट, 1785 में 'बंगाल जनरल', 1786 में 'कलकत्ता क्रॉनिकल' और 1788 में 'मद्रास कोरियर' इत्यादि अनेक समाचार पत्र निकाले गये। इन सभी समाचार पत्रों में हिक्की के कटु अनुभवों से लाभ उठाया और अधिकारियों एवं कम्पनी के विरोध में कुछ भी नहीं छापा।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई में भारत में प्रेस एवं समाचार पत्रों के विकास प्रक्रिया को जानना है। तथा इस विकास क्रम को अवरोध एवं गति क्या उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद ने दी। एवं राष्ट्रवादी तत्त्वों का भारतीय पत्रों ने देश की स्वतंत्रता, सम्प्रभुता तथा भ्रातृत्व को कैसे बढ़ाया। इस इकाई के निम्न उद्देश्य हैं-

- भारत में प्रेस एवं समाचार पत्रों का इतिहास
- ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा प्रेस के विकास में अवरोध नीति
- प्रेस की स्वतंत्रता बचाने के लिए किये गये राष्ट्रवादियों के प्रयास
- स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान प्रेस एवं समाचार पत्रों का योगदान तथा
- नवीन भारत के निर्माण में प्रेस की भूमिका।

4.3 प्रेस एवं समाचार पत्रों पर कम्पनी की नीतियाँ

प्रारम्भ में समाचार पत्रों का प्रचलन का उद्देश्य यूरोपीयन तथा एंग्लो इंडियन लोगों का केवल मनोरंजन करना था। और इनकी संख्या लगभग सौ-दो सौ से अधिक नहीं होती। उस समय इन पत्र-पत्रिकाओं से कम्पनी को कोई खतरा भी नहीं था और न ही इससे जनमत खराब होने का डर था। भय उस समय पैदा हुआ जब भ्रष्ट अधिकारी लूट-खसोट एवं शोषण की नीति अपनाने लगे थे। तो इन्हें डर लगने लगा कि कहीं ये पत्र-पत्रिकाएँ लन्दन न पहुँच जाय जिससे कि इन कारनामों का चिट्ठा खुल जाय। क्योंकि उस समय इन पत्र-पत्रिकाओं के लिए कानून तो बने नहीं थे। सिर्फ कम्पनी के अधिकारियों की दया पर निर्भर थे। कम्पनी की सरकार प्री सेंसरशिप लागू कर देती थी और अपराध सम्पादक को दण्ड देते थे तथा प्रेस एवं पत्र दोनों को बन्द कर देते थे। लेकिन कम्पनी के अधिकारियों ने अपने बचाव के लिए जो अधिनियम बनाए वो इस प्रकार है।

4.3.1 समाचारपत्रों का पत्रोक्षण अधिनियम 1799

प्रफांसीसी आक्रमण के भय से लार्ड वेलेजली समाचार पत्रों पर सेंसरशिप लगा दी ताकि कोई समाचार पत्र ऐसे तथ्यों को प्रकाशित न कर दे जिससे कि प्रफांस एवं भारतीय रियासतों के विरुद्ध किसी कमजोरी को उजागर करें। और समाचार पत्रों पर युद्धकालीन सेंसरशिप लागू की। इसके अनुसार -

- समाचार पत्र को संपादक, मुद्रण और स्वामी का नाम स्पष्ट रूप से छापना।
- समाचार पत्रों को प्रकाशन से पूर्व सरकार के सचिव के पास पूर्व सेंसरशिप के लिए भेजना अनिवार्य बना दिया गया।

इन नियमों को भंग करने पर तुरंत उद्दासन का दण्ड मिलता था। और यह अधिनियम 1807 में सभी पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों पर लागू कर दिया गया। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्स जो उदारवादी और प्रगतिशील विचारधरा को मानने वाला था उसने 1818 में समाचार पत्रों प्री-सेंसरशिप बन्द कर दिया। परन्तु पिफर भी सरकार ने सम्पादकों के लिए कुछ नियम बनाए ताकि उन विषयों पर चर्चा न हो जिससे कि सरकार के अधिकार या जनहित को क्षति पहुँचे।

4.3.2 अनुज्ञप्ति नियम (Licensing Regulations 1823)

समाचार पत्रों पर प्रतिक्रियावउदी नीतियाँ अपनाने वाला गवर्नर जनरल जॉन एडमस ने 1823 में इन नियमों को लागू किया। जिसके अनुसार - बिना अनुज्ञप्ति लिए प्रेस की स्थापना या उसका उपयोग दण्डनीय अपराध माना गया। ये नियम मुख्यतः उन समाचार पत्रों के विरुद्ध आरोपित किये गये थे, जो या तो भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होते थे अथवा जिनके संरक्षक कर्ता भारतीय थे। इस नियम के लागू होने के परिणाम स्वरूप राजा राममोहन राय की पत्रिका मिरात उल-अखबार का प्रकाशन बंद करना पड़ा। गवर्नर जनरल को यह अधिकार था कि वह किसी अनुज्ञप्ति को रद्द कर दे या नया प्रार्थना पत्र माँग ले।

4.3.3 प्रेस अधिनियम 1823 (Press Act 1823)

गवर्नर जनरल विलियम वैटिंग सुधरवादी तथा उदारवादी विचार रखने वाला तथा भारतीय जनमत से सहानुभूति रखने वाला था इसलिए उसने समाचार पत्रों के प्रति उदार रुख कर रखा था। इसका उत्तराधिकारी कार्यवाहक गवर्नर जनरल चार्ल्स मेटकॉपफ ने भारतीय प्रेस के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया तथा 1823 के कठोर अनुज्ञप्ति नियमों को रद्द कर दिया। इस कार्य की वजह से मेटकॉफ को “भारतीय समाचार पत्रों के मुक्तिदाता” की संज्ञा दी। लार्ड मैकाले जो सच्चे उदारवादी थे उन्होंने भी समाचार पत्रों की स्वतंत्रता का पूर्ण समर्थन किया।

प्रेस अधिनियम 1835 के इन नये कानून के अनुसार - प्रकाशक या मुद्रक को केवल प्रकाशन के स्थान की निश्चित सूचना सरकार को देनी थी। और वह आसानी से अपना कार्य कर सकता था। वह कानून 1856 तक चलता रहा तथा इस अवधि में देश में समाचार-पत्रों की संख्या में वृद्धि बड़ी तेजी से हुई।

4.3.4 अनुज्ञप्ति नियम 1857 (Licensing Regulations 1857)

अद्वारह सौ सत्तावन के जन विद्रोह से उत्पन्न हुई आपातकालीन स्थिति से निपटने के लिए अनुज्ञप्ति अधिनियम संख्या 15 के अनुसार व्यवस्था पुनः लागू कर दी गयी। इस अधिनियम के तहत विना लाइसेंस के मुद्रणालय रखना और उसका प्रयोग करना कानूनी रूप से अवैध घोषित कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय उपनिवेशी सरकार जो अब ब्रिटिश पार्लियामेंट से सीधे सम्पर्क में आ गयी। यह अधिकार दिया कि वह किसी भी समाचार पत्र को किसी समय लाइसेंस दे सकती थी या उसके लाइसेंस को रद्द कर सकती थी। इस अधिनियम द्वारा सरकार को

यह अधिकार भी दिया गया कि वह समाचार पत्र के साथ ही किसी भी पुस्तक, पत्रिका जर्नल या अन्य प्रकाशित सामग्री पर प्रतिबंध लगा सकती थी। यद्यपि यह एक संकटकालीन अधिनियम था इसको जल्दी ही समाप्त कर दिया गया। इसके समाप्त होते ही मैटकाफ द्वारा बनाए गये अधिनियम चलते रहें।

4.4 प्रेस पर ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ

1857 के विद्रोह से यह स्पष्ट हो गया था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारतीय जन एवं संसाधनों का शोषण का परिणाम था। इस भारतीय उपनिवेश ब्रिटिश संसद ने सीधे अपने प्रशासन में ले लिया तथा क्राउन के अधीन उसका एक प्रतिनिधि वायसराय के रूप में नियुक्त किया गया जो क्राउन के प्रति उत्तरदायी था और कार्यों का संचालन ब्रिटिश संसद के द्वारा होने लगा। इस बात पर ब्रिटिश राजनेताओं ने पूरा ध्यान रखा कि कहीं दुबारा राजद्रोह न हो जाय। इसके लिए पूरा कानून व्यवस्था का ध्यान रखा। तथा समय-समय पर नये नियम अधिनियम पारित किये गये। और साथ ही प्रेस की स्वतंत्रता को भी प्रतिनिधित्व करते रहे और जो अधिनियम पास किये वह इस प्रकार हैं-

4.4.1 पंजीकरण अधिनियम 1867 (Registration Act)

समाचार पत्र तथा पुस्तकों के पंजीकरण अधिनियम संख्या 25 ने 1835 के अधिनियम को परिवर्तित कर दिया। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य समाचार पत्रों या मुद्रणालयों पर रोक लगाना नहीं था अपितु केवल उनको नियमित करना था। प्रत्येक मुद्रित पुस्तक तथा समाचार पत्र पर मुद्रक-प्रकाशक और मुद्रण स्थान का नाम होना आवश्यक था। इसके अलावा प्रकाशन के एक मास के भीतर पुस्तक की एक प्रति बिना मूल्य के स्थानीय प्रशासनिक अधिकारी या सरकार के कार्यालय में जमा करनी पड़ती थी। यह अधिनियम 1890, 1914, 1952 और 1953 ई. में संशोधन किये गये।

वहावी आन्दोलन 1869-70 ई. के कारण सरकार ने राजद्रोही लेखों का सामने करने के लिये प्रतिबन्ध अधिनियम द्वारा भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124 में एक और धारा 124-1 जोड़ दिया गया। और दण्डस्वरूप किसी ऐसे व्यक्ति को जिसने इस धारा का उल्लंघन किया कम से कम जुर्माने के साथ तथा आजीवन निर्वासन का दण्ड भी दिया जाने का प्रावधान था।

4.4.2 वर्नाकुलर प्रेस एक्ट 1878 (Vernacular Press Act)

जब शासक और शासितों के बीच कटुतापूर्ण सम्बन्ध होने के परिणाम स्वरूप विवाद को नया जन्म मिलता। क्योंकि 1857 के विद्रोह में ऐसा देखा एवं अनुभव किया गया था। और इसी के परिणाम स्वरूप यूरोपीय प्रेस ने सरकार की नीतियों का पूर्ण समर्थन किया तथा विवादास्पद प्रश्नों पर सरकारी पक्ष लिया। किन्तु देशी भाषाओं के प्रेस सरकारी नीतियों के तीव्र आलोचक थे। वायसराय लार्ड लिटिन की प्रतिक्रियावादी नीतियों के कारण भारतीयों में सरकार के विरुद्ध तीव्र असंतोष था। 1876-77 ई. में भयंकर अकाल से जहाँ लाखों लोगों की मृत्यु हो गयी वहीं दूसरी

ओर जनवरी 1877 में दिल्ली में भव्य दरबार का आयोजन किया गया। इन सभी कारणों से भारतीयों में पनिवेशी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध घृणा पैदा हो गयी। जब लार्ड लिटिन का मानना था कि भारतीयों में इस असंतोष का कारण मैकाले एवं मैटकॉफ की गलत नीतियाँ थीं। परिणाम स्वरूप उसने भारतीय जन भावनाओं को दबाने का निर्णय लिया। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्न थे-

- जिला मजिस्ट्रेट के यह अधिकार दिया गया कि वे स्थानीय सरकार की आज्ञा से किसी भी भारतीय भाषा के पत्रों के प्रकाशक या मुद्रक को बुलाकर बंधन पत्र हस्ताक्षर कराने का प्रावधान किया।
- दण्डनायक का निर्णय अन्तिम होना तथा उसके विरुद्ध किसी प्रकार की अपील की अनुमति नहीं होगी।
- देशी भाषा का समाचार पत्र इस अधिनियम की कार्यवाही से बचना चाहे तो उसे पहले से अपने पत्र की एक प्रमाण प्रति सरकार पत्रोक्षण कार्यालय में देनी होगी।

इस अधिनियम को 'मुँह बन्द करने वाले अधिनियम' की संज्ञा दी गयी। इस अधिनियम का सबसे घृणित पक्ष यह था कि -

1. इसके द्वारा अंग्रेजी व देशी भाषाओं के समाचार पत्रों के मध्य भेदभाव किया गया, एवं
2. इसमें अपील करने का कोई अधिकार नहीं था।

अधिनियम का शिकार निम्न समाचार पत्र हुए इनमें भारत निहित, सोमप्रकाश, सहचर तथा अन्य के विरुद्ध कार्यवाही की गयी। इस कार्यवाही से बचने से अमृत बाजार पत्रिका रातोंरात अंग्रेजी समाचार पत्र में परिवर्तित हो गया। कुछ समय उपरांत (Sep. 1878) प्री-सेंसरशिप की धरा हटा दी गयी तथा उसके स्थान पर प्रेस आयुक्त की नियुक्त की गयी, जिसका कार्य समाचार-पत्रों को विश्वसनीय एवं सही जानकारी उपलब्ध कराना था। अधिनियम के विरुद्ध सारे देश में तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की गयी तथा अंततः 1882 में उदारवादी वायसराय लार्ड रिपन ने इसे रद्द कर दिया।

4.4.3 समाचार पत्र अधिनियम 1908 (News Paper Act)

ब्रिटिश वायसराय लार्ड कर्जन ने ऐसी नीतियाँ बनाई जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय राजनीति में राष्ट्रवाद एवं उग्रवाद की शुरुआत हुई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एक उग्रवादी दल उभरा जिसने सरकार की कड़ी आलोचना की। ब्रिटिश सरकार ने एक अधिनियम पास किया जिसे 1908 का समाचार पत्र अधिनियम कहते हैं। जिसके अनुसार-

- जो भी समाचार पत्र आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशित करेगा। जिससे लोगों को हिंसा या हत्या करने की प्रेरणा मिले, उसकी सम्पत्ति या प्रेस को जब्त कर लिया जा सकता था।
- स्थानीय सरकार को यह अधिकार दिया गया कि 1867 के समाचार पत्रों तथा पुस्तकों के पंजीकरण अधिनियम के अधीन किसी मुद्रक या प्रकाशक की दी गई घोषणा को रद्द कर सकती थी।
- सरकार ने यह अनुमति भी दी थी कि यदि किसी समाचार पत्रों के मुद्रक तथा प्रकाशकों के मुद्रणालय जब्त हुआ तो वह 15 दिन के भीतर उच्च न्यायालय में अपनी अपील कर सकते थे।

4.4.4 भारतीय समाचार पत्र अधिनियम 1910 (Indian Press Act)

ब्रिटिश भारतीय सरकार ने अपनी भक्ति को अधिक सुदृढ़ करने के लिए एक अधिनियम पास किया जिसे 1910 का भारतीय समाचार पत्र अधिनियम कहा जाता है। जिसने लार्ड लिटिन के 1878 के अधिनियम के सभी कठोर नियमों को पुनर्जीवित कर दिया। इस अधिनियम के अनुसार-

- स्थानीय सरकार किसी प्रिंटिंग प्रेस के स्वामी या पत्र के प्रकाशक से पंजीकरण जमानत माँग सकती थी जो कम से कम 500 रुपये तथा अधिकतम सीमा 2000 रुपये होगी। इन सरकारों को जमानतें जब्त करने की तथा पंजीकरण रद्द करने का अधिकार था।
- ब्रिटिश भारतीय सरकार को पुनः पंजीकरण के लिए न्यूनतम 1000 रुपये और अधिकतम 10,000 रुपये की जमानत माँगने का अधिकार था।
- यदि समाचार पुनः आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशित करें तो नये पंजीकरण को रद्द कर उसकी सारी सामग्री को जब्त कर ले।
- पीड़ित पक्ष को अधिकार था कि वह 2 मास के भीतर उच्च न्यायालय के विशेष न्यायाधिकरण में उस जब्ती के विरुद्ध अपील कर सकता था।
- प्रत्येक प्रकाशक तथा मुद्रणालय को दो प्रतियाँ बिना मूल्य के सरकार को देनी थी तथा आपत्ति जनक आयातित सामग्री को भी जब्त करने का अधिकार था।

इस अधिनियम के अधीन हजारों मुद्रणालयों को जब्त कर दिया गया। तथा पाँच वर्षों में लाखों रुपये की राशि सरकार ने जब्त कर ली। साथ ही सरकार ने सुरक्षा नियम पारित कर

दिया क्योंकि प्रथम विश्व युद्ध शुरू हो गया था। इसके अन्तर्गत राजनैतिक आन्दोलन तथा स्वतंत्रता जन आन्दोलन की आज्ञा नहीं थी। साथ ही प्रेस पर अन्य और प्रतिबंध लगा दिये गये।

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद 1921 में सर तेज बहादुर सप्रू जो उस समय विधि सदस्य थे की अध्यक्षता में एक समाचार पत्र समिति का गठन किया गया। जिसका उद्देश्य समाचार पत्रों के कानूनों की समीक्षा करना था। इस समिति ने विशेष अध्ययन करने के बाद यह सिफारिश की कि जो भी समाचार पत्रों के प्रकाशनों पर विशेष प्रतिबंध लगे इन्हें हटाया जाय तथा प्रेस की अपने विचार व्यक्त करने का सही अवसर दिया जाय। परिणाम स्वरूप 1908 और 1910 के अधिनियमों को रद्द कर दिया गया।

4.4.5 भारतीय समाचार पत्र अधिनियम 1931 (Emergency Powers)

महात्मा गाँधी का भारतीय राजनीति में प्रवेश और जन आन्दोलनों का सैलाव जिसमें असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन आदि से भयभीत ब्रिटिश भारतीय सरकार ने 20 शताब्दी के चौथे दशक में एक समाचार पत्र अधिनियम 1931 में पास किया। जिसे भारतीय समाचार पत्र अधिनियम (संकटकालीन शक्तियाँ) कहा जाता है। इस अधिनियम ने गाँधी जी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रसार को रोकने के लिए सभी समाचार पत्रों पर 1910 के अधिनियम को पुनर्जीवित कर दिया। प्रान्तीय सरकार को यह पूर्ण अधिकार दिया कि किसी भी समाचार पत्र में सविनय अवज्ञा आन्दोलन को प्रचारित किया जाय तो उसकी सम्पत्ति एवं मुद्रण को जब्त कर लिया जाय। अधिनियम की धारा 4 (1) के अनुसार सरकार को शब्द, संकेत अथवा आकृति द्वारा किसी हत्या के अपराध को करने की प्रेरणा देने पर या ऐसे अपराधों की प्रशंसा या अनुमोदन करने पर कठोर दण्ड देने की अनुमति थी। 1932 में इस अधिनियम का विस्तार करके इसे अपराधिक संशोधित अधिनियम (Criminal Amendment Act) बना दिया गया। इसमें सभी वे गतिविधियाँ सम्मिलित कर दी गयीं जिससे कि सरकार की सम्प्रभुता को क्षति पहुँचायी जा सकती थी।

1939 में द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत हो गयी थी। ब्रिटिश सरकार ने भारत सुरक्षा नियमों के अधीन प्री-सेंसरशिप लागू कर दिया। समाचार पत्र संकटकालीन अधिनियम और शासन गुह्य अधिनियम (Official Secrets Act) को संशोधित कर दिया। और एक समय में राष्ट्रीय कांग्रेस के विषय में समाचार प्रकाशित करना भी अवैध घोषित कर दिया गया। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ये भक्तियाँ 1945 में समाप्त कर दी थीं।

4.5 स्वतंत्र भारत में प्रेस नीति

स्वतंत्र भारत में प्रेस नीति जल्दी से लागू नहीं हो सकी क्योंकि उस समय की परिस्थितियाँ बहुत खराब थीं। भारत पाकिस्तान का विभाजन, साम्प्रदायिक दंगे, कमजोर अर्थव्यवस्था एक बड़े जन विस्थापन की समस्या इत्यादि ने सरकार का ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी। और अंग्रेजों द्वारा बनाई गई नीतियाँ चलती रहीं। लेकिन समस्याएँ तो कभी खत्म न होने वाली थीं। ऐसी स्थिति में

सरकार ने प्रेस की स्वतंत्रता पर ध्यान दिया। भारतीय संविधान निर्माताओं ने व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ प्रेस की स्वतंत्रता को भी लागू किया। स्वतंत्रा भारत में सरकार ने कुछ अधिनियम पास किये जो इस प्रकार हैं-

4.5.1 समाचार पत्र जाँच समिति 1947 (Press Enquiry Committee)

विश्व युद्धकी समाप्ति के परिणाम स्वरूप ब्रिटिश भारतीय सरकार को यह महसूस हो चुका था कि उनके शासन का अंत जल्द ही होने वाला है और वह दिन जल्दी आ गया। जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने घोषणा की भारतीय उपनिवेश की स्वतंत्रता। 1947 ई. के मार्च में भारत सरकार ने एक समाचार पत्र जाँच समिति का गठन किया और उसे आदेश दिया कि वह संविधान सभा में स्पष्ट किये मौलिक अधिकारों के प्रकाश में, समाचार पत्रों के कानून की समीक्षा करें। इसकी मुख्य सिफारिशों में 1931 के अधिनियम का रद्द करना, समाचार पत्रों और पुस्तकों के पंजीकरण के अधिनियम में संशोधन, भारतीय दण्ड संहिता की धरा 124.1 और 153.1 में परिवर्तन और 1931 के देशी राज्य अधिनियम तथा 1934 के देशी राज्य (रक्षा) अधिनियम को रद्द करना सम्मिलित था।

4.5.2 समाचार पत्र अधिनियम (आपत्तिजनक विषय) 1951

संविधान निर्माण के पफलस्वरूप उसको जनवरी 1950 को लागू कर दिया गया। जल्दी ही 1951 ई. में संविधान के कुछ अनुच्छेदों 19 (2) में संशोधन और समाचार पत्र अधिनियम पारित करने की आवश्यकता महसूस की। यह अधिनियम आज तक पारित हुए सभी अधिनियमों से व्यापक था। इसने केन्द्रीय और राजकीय समाचार पत्र अधिनियमों को समाप्त कर दिया जो लागू थे। नये निर्मित कानून से सरकार को समाचार पत्रों तथा मुद्रणालयों से आपत्तिजनक विषय प्रकाशित करने पर जमानत माँगने तथा जब्त करने और अधिक जमानत माँगने का अधिकार प्रदान किया। भारत सरकार उन प्रकाशनों की जब्त भी कर सकती थी, जिसने आपत्तिजनक सामग्री डाक द्वारा भेजी, उसको नष्ट भी कर सकती थी। साथ ही प्रिंटिंग प्रेस भी जब्त कर सकती थी। पीड़ित पक्ष को जूरी द्वारा परीक्षा (Trial by Jury) माँगने का अधिकार दे दिया। यह अधिनियम 1956 तक लागू रहा।

4.6 प्रथम प्रेस आयोग 1954 (First Press Commission)

भारतीय कार्यकर्ता पत्रकार संघ एवं अखिल भारतीय समाचार पत्र सम्पदाकों ने 1951 के अधिनियम का विरोध किया और साथ ही सरकार से अनुरोध किया कि समाचार पत्रों के कार्यों की व्यापक जाँच कराये। भारत सरकार ने इनके अनुरोध को ध्यान में रखते हुए न्यायाधीश जी. ए. राज्याध्यक्ष की अध्यक्षता में एक समाचार पत्र आयोग का गठन किया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट अगस्त 1954 में प्रस्तुत की। जो निम्न है-

➤ अखिल भारतीय समाचार पत्र परिषद गठित की जाय।

- वर्ग पहेलिया (Crossword Puzzles) बंद किये जाये तथा (Price page system) अपनाया जाय।
- विज्ञापनों पर एक कड़ी संहिता अपनाई जाय।
- सरकार यह प्रयास करे कि समाचार पत्रों के स्वामित्व का संकेन्द्रण न हो। अथवा किसी एक स्वामी के अधीन कई समाचार पत्र एवं मुद्रणालय न हो।

4.6.1 प्रेस काउन्सिल ऑफ इण्डिया 1968

प्रथम प्रेस आयोग ने भारत सरकार से एक 'प्रेस काउन्सिल' की स्थापना की सिफारिश की थी। प्रेस काउन्सिल आफ इण्डिया की स्थापना के पीछे मुख्य उद्देश्य -

- प्रेस की स्वतंत्रता को बचाए रखना
- यह निश्चित करना जिसमें व्यक्ति के अधिकार एवं जिम्मेदारी एवं स्वतंत्रता को एक तरीके से बनाए रखा जाय।
- पत्रकारिता अपने कर्तव्यों का निर्वाहन समाज सेवा एवं उत्थान के लिए कार्य करे।

प्रेस काउन्सिल आफ इण्डिया को संसद के कानून द्वारा निर्धारित नियमों के आधार पर स्थापित किया जाया और इस निकाय को वह सारी स्वतंत्रताएँ प्रदान की जाय ताकि वह अपने कार्यों को सही से निर्वहण कर सके। प्रेस एवं समाचार से सम्बन्धित विषयों पर कानूनी निर्णय काउन्सिल को लेने का अधिकार प्रदान किया गया। प्रेस काउन्सिल की स्थापना संवैधानिक तरीके से जुलाई 4, 1966 की गयी, इसमें 25 सदस्यों की व्यवस्था की गयी और इसका चेयरमैन कम से कम हाईकोर्ट के न्यायाधीश द्वारा मनोनीत किया जाना था। 'प्रेस काउंसिल एक्ट 1965' ने निम्नलिखित कार्यों को निर्धारित किया, जिसे काउन्सिल करेगी-

- ❖ समाचार पत्रों की स्वतंत्रता में सहायता करना
- ❖ समाचार पत्रों एवं पत्रकारिता की उच्च स्तर बनाए रखने के लिए एक 'कोड आफ कन्डक्ट' बनाना।
- ❖ यह निश्चित करना कि समाचार पत्र एवं पत्रकारिता सार्वजनिक तौर पर व्यक्ति के अधिकार एवं कर्तव्यों को बनाये रखे।
- ❖ सार्वजनिक महत्त्व के विषयों पर कोई भी समाचार पत्र का रिव्यू किया जा सकता है। जिसमें आपत्तिजनक लेख हो।

- ❖ कोई भी समाचार पत्र या संस्था किसी विदेशी सहायता लेता या देता है तो बिना भारत सरकार की अनुमति के सम्भव नहीं।
- ❖ प्रेस काउन्सिल आफ इण्डिया की स्थापना करके प्रेस एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता को बनाए रखा जाया और जो भी विवाद होंगे वह प्रेस काउन्सिल आफ इण्डिया समाचार पत्र एवं समाचार एजेंसियों का निर्णय करने वाला साथ में भारत की संसद समय-समय पर संशोधन करके इसका विस्तार में सुधार करेगी।

4.6.2 प्रेस काउन्सिल 1979

प्रेस काउन्सिल आफ इण्डिया ने 1965 से दिसं. 1975 तक कार्य किया। उसके बाद इन्दिरा गाँधी की सरकार ने आपातकाल लागू कर दिया और 1965 के एक्ट को रद्द कर दिया। उसके स्थान पर 'प्रेस काउन्सिल' 1979 लाया गया। जिसमें प्रेस की स्वतंत्रता को बनाए रखना साथ ही भारतीय प्रेस के स्तर को सुधारना था। इस काउन्सिल में चेरयमैन ओर 28 सदस्यों की व्यवस्था की गयी। इस नये अधिनियम द्वारा अध्यक्ष का चुनाव, लोक सभा, राज्य सभा के स्पीकर तथा काउन्सिल का चुनाव हुआ सदस्य की एक समिति द्वारा किया जाना था। इस अधिनियम 1978 के द्वारा दो नये कार्यों को प्रेस काउन्सिल को करना था-

- विदेशी समाचार पत्र को उस देश के दूतावास या पत्र की आपूर्ति करने वाली प्रतिनिधि के द्वारा ही वितरण किया जायेगा।
- इस बात का बीड़ी उठाना कि कोई भी काउन्सिल में इच्छुक है और अपना मत किसी भी मामले में व्यक्त करना चाहता है तो भारत सरकार को भेजा जायेगा।

4.7 स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रेस एवं समाचार पत्रों की भूमिका

प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन 1857 के समय देश में बहुत से समाचार पत्र प्रकाशित हो रहे थे। इन समाचार पत्रों ने स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक विचारों का आदान प्रदान सुगमता से किये। चाहे उन्हें ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी या ब्रिटिश भारतीय सरकार के कठोर दण्डों का सामना करना पड़ा। लेकिन अपने कर्तव्यों से विचलित नहीं हुए। इनमें राजा राम मोहन राय का 'बंगदूत' दादा भाई नौरोजी का 'रातगुफ्रतार' हो। इन्होंने स्वतंत्रता के साथ-साथ समाज की स्वतंत्रता की भी आवाज उठाई।

1857 के विद्रोह के समय 'पयाम-ए-आजादी' नामक पत्र ने हिन्दी व उर्दू में प्रकाशन किया और लोगों से आवाहन किया कि अंग्रेजों के खिलाफ लड़ो ताकि देश को

आजाद कराया जा सके। इस पर ब्रिटिश सरकार ने पेपर को बन्द करवा दिया और प्रेस को जब्त कर लिया। दूसरी बार प्रथम हिन्दी दैनिक 'समाचार सुदर्शन' और दो पत्र ओर उर्दू एवं फारसी के 'दुरवीन', 'सुल्तान-उल-अकबर' को ट्राइल का सामना करना पड़ा।

4.8 प्रारम्भिक पत्रों की भूमिका

प्रारम्भिक राष्ट्रवादी देशभक्तों ने पुनर्जागरण काल से ही समाज सुधार आन्दोलनों के दौरान कुछ पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू कर दिया था जिनमें राजाराम मोहन राय का नाम सर्वप्रथम आता है। उसके बाद 1857 की क्रांति में कुछ समाचार पत्रों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी जिसमें गिरीशचन्द्र घोष ने 1853 में 'हिन्दु पैट्रियाट' नाम से निकाला। इसके सम्पादक हरिश्चन्द्र मुखर्जी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। 1861 में 'नील दर्पण' नामक नाटक छापा जो ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के खिलाफ था। यह आन्दोलन मुख्यतः बंगाल बिहार क्षेत्र में बड़े पैमाने पर चला। क्योंकि ये आन्दोलनकारी किसान थे जो नील की फसल पैदा करते थे। ब्रिटिश अधिकारी एवं व्यापारी दोनों इनका शोषण करते थे। इसकी जाँच के लिए एक आयोग की स्थापना की। जिसे 'नील आयोग' के नाम से जाना जाता है। बाद में इस पत्र को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने नेतृत्व में लिया। यह पहला पेपर था जिससे भारतीयों को सरकार के उच्च पदों पर नियुक्त की जाया। इसी के समकालीन इण्डियन मिरर एक अन्य समाचार पत्र था जो कि बड़े पैमाने पर जनसमुदाय में प्रसिद्ध था।

साप्ताहिक पत्र 'अमृत बाजार पत्रिका' जेसोर से सम्पादित होती थी ब्रिटिश सरकार ने इसकी सम्पत्ति जब्त कर ली और उस पर मुकदमा चलाया। 1871 में यह पत्रिका जेसोर के स्थान पर कलकत्ता से सम्पादित होने लगी। लेकिन वहाँ ज्यादा दिन तक नहीं चल सकी। लार्ड लिटिन के वायसराय बनते ही उसने 1878 में वर्नाकुलर प्रेस एक्ट पास किया। जिसने देशी भाषायी समाचारों पर प्रतिबन्ध लगा दिये। इसी वजह से इस पत्रिका ने अंग्रेजी में सम्पादन शुरू किया।

4.8.1 मराठी प्रेस

मराठी भाषी समाचार पत्रों में महादेव गोविन्द रानाडे का नाम उल्लेखनीय है। जिन्होंने दो पत्रों 'ज्ञान प्रकाश' एवं 'इन्दु प्रकाश' का सम्पादन किया। इन दोनों पत्रिकाओं ने महाराष्ट्र में एक बड़े पैमाने पर जनता को जागरूक किया। अंग्रेजों की शोषणवादी नीति के विरुद्ध। राष्ट्रवादियों में बाल गंगाधर तिलक, आगरकर एवं चिंपलुंकर का नाम भी मराठी जन जागरण के लिए प्रसिद्ध हैं। मराठी साप्ताहिक 'केसरी' बाल गंगाधर तिलक ने जनवरी 1881 में शुरुआत की। साथ ही आगरकर एवं चिंपलुंकर ने अंग्रेजी पत्रिका 'मराठा' की नींव डाली। 'दक्कन स्टार' के सम्पादक नाम जोशी ने मराठा ग्रुप के साथ जुड़ गये। साथ ही अपने पेपर को भी जोड़ लिया। तिलक और आगरकर के उपर ब्रिटिश एवं कोल्हापुर के दीवान के खिलाफ लिखने पर मुकदमा चलाया गया। तिलक की पत्रिका 'केसरी'ने स्वतंत्रता आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस पत्र ने बंगाल विभाजन का खुलकर विरोध किया। 1908 में तिलक को राजद्रोह के आरोप

में 6 साल के कारावास की सजा हुई। केसरी का हिन्दी सम्पादन नागपुर एवं बनारस से प्रारम्भ हुआ।

4.8.2 कांग्रेस और प्रेस

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय समाचार पत्रों के सम्पादकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। क्योंकि उस समाचार पत्रों के सम्पादकों एवं वकीलों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। जब कांग्रेस का प्रथम सेशन बम्बई में 1885 में हुआ उस समय भारतीय समाचार पत्रों के सम्पादकों को प्रथम पंक्ति में स्थान दिया गया था। कांग्रेस के प्रथम सेशन का प्रथम संकल्प प्रस्ताव 'दि हिन्दु' के सम्पादक जी. सुब्रह्मण्यम आयर ने लिखा था तथा सरकार से माँग की कि एक समिति की नियुक्त की जाय जो भारतीय प्रशासनिक कार्यों की जाँच करे। दूसरा संकल्प प्रस्ताव पूना के पत्रकार चिपलुकर ने लिखा जिसमें माँग की कि 'इण्डिया काउन्सिल' को समाप्त किया जाय जो कि ब्रिटेन से शासित होता है। तीसरा संकल्प प्रस्ताव दादा भाई नौरोजी ने लिखा जो कि अपने समय के बहुत बड़े पत्रकार थे। चौथा संकल्प प्रस्ताव भी दादा भाई नौरोजी ने प्रस्तुत किया।

कांग्रेस के बहुत से अध्यक्ष पत्रकारिता से जुड़े थे। कई एक तो सम्पादक भी थे। इनमें फिरोज शाह मेहता का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'बाम्बे क्रॉनिकल' का सम्पादन किया। तथा पण्डित मदन मोहन मालवीय जी दैनिक समाचार 'हिन्दुस्तान' के सम्पादक थे। इन्होंने इलाहाबाद से प्रकाशित 'लीडर' के प्रकाशन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मोतीलाल नेहरू प्रथम अध्यक्ष थे बोर्ड आफ डायरेक्टर्स के। लाला लाजपत राय का भी नाम महत्वपूर्ण है। इन्होंने तीन पत्रिकाओं का सम्पादन किया। इनमें 'पंजाबी', 'वन्देमातरम्' और पीपुल लाहौर से प्रकाशित होते थे। गाँधी जी ने अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान 'इण्डियन ओपिनियन' का प्रकाशन शुरू किया। बाद में भारत आकर 'यंग इण्डिया', 'नवजीवन', 'हरिजन सेवक' और 'हरिजन बंधु' का सम्पादन किया। सुभाष चन्द्र बोस, सी. आर. दास भले ही पत्रकारिता से सम्बन्धित नहीं थे लेकिन इन्होंने दो पत्रों का सम्पादन किया 'फारवर्ड' और 'एडवांस' जिन्हें बाद में राष्ट्रीय पहचान मिली। जवाहर लाल नेहरू ने 'नेशनल हेराल्ड' का प्रकाशन किया।

4.9 क्रान्तिकारी आन्दोलन एवं प्रेस

स्वतंत्रता आन्दोलन एवं समाचार पत्रों एवं प्रेस का महत्वपूर्ण स्थान रहा। ऐसा नहीं कि इसमें कुछ गिने चुने लोगों ने सहभागिता प्रदर्शित की हो। क्योंकि देशभक्ति एवं राष्ट्रवाद ने प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने के लिए उत्साहित किया। इनमें क्रान्तिकारियों ने बंदूक एवं बारुद का ही सहारा नहीं लिया। बल्कि उनकी कलम से निकली आवाज ने प्रत्येक भारतीय के अन्दर कहीं न कहीं राष्ट्रवाद के बीज बोये। और स्वतंत्रता के लिए आगे आने का आवाहन किया। इनमें 'युगांतर' पत्रिका के सम्पादक वरीन्द्र कुमार घोष का नाम बहुत उल्लेखनीय है।

जब गदर पार्टी की स्थापना अमेरिका में हुई थी तो लाला हरदयाल ने 'गदर' नामक पत्रिका का सम्पादन किया। एक साल के अन्दर ही लाखों प्रतियाँ प्रकाशित की गयीं। यह पत्रिका विभिन्न भाषाओं - हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी, गुजराती एवं मराठी में प्रकाशित करके भारत भेजी गयी तथा विश्व के अन्य भागों में जहाँ भारतीय अप्रवासी रहते थे। लाला हरदयाल को कैद करके अमेरिका से भारत भेज दिया गया। इनके समर्थक पं. रामचन्द्र ने हिन्दुस्तान गदर का सम्पादन अंग्रेजी में किया। प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत होने से गदर पार्टी की योजनाएँ सफल नहीं हो सकीं। जब अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों के साथ प्रथम विश्वयुद्ध सम्मिलित हो गया तो समाचार पत्र एवं क्रान्तिकारियों को कैद कर लिया गया। पण्डित रामचन्द्र ने जेल के अन्दर ही अपने आपको गोली मारकर आत्महत्या कर ली। जो कि इस समाचार पत्र से नजदीक से जुड़े थे।

1905 में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 'इण्डियन सोसियोलाजिस्ट' नामक पत्रिका का सम्पादन किया। जो लंदन से प्रकाशित होती थी। यह राजनीतिक गतिविधियों को 'इण्डिया हाउस' लंदन से संचालित करते थे। बाद में श्यामजी कृष्ण वर्मा पेरिस गये वहाँ से जिनेवा से प्रकाशित किया। पेरिस में लाला हरदयाल ने मैडम कामा एवं सरदार सिंहाराव जी के साथ सहयोग करके वन्देमातरम् एवं तलवार नामक पत्रों का सम्पादन शुरू किया।

'युगान्तर' के बाद 'वन्देमातरम्' ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में। इस पत्रिका की स्थापना 1906 में सुबोध चन्द्र मलिक, सी. आर. दास व विपिन चन्द्र पाल ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके सम्पादक अरविन्द घोष थे, साथ ही 'सांध्य' के सम्पादक वी. उपाध्याय और 'युगान्तर' के सम्पादक वी. एन. दत्त को मुकदमों का सामना करना पड़ा। क्योंकि इन्होंने स्वतंत्रता के लिए लोगों तक आवाज इन्हीं के माध्यम से पहुँचाई।

4.10 राष्ट्रवादियों का योगदान

हिन्दी समाचार पत्रों की संख्या भले ही कम हो लेकिन जनता को स्वकर्तव्यता आन्दोलन के लिए जागरूक करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 1868 में हिन्दी में प्रथम पत्रिका 'कवि वचन सुधा' का प्रकाशन किया। इस पत्र की नीति थी कि उन दुःखी भारतीय लोगों के बारे में सरकार तक आवाज पहुँचाए। जब प्रिंस आफ वेल्स ने भारत की यात्रा की तो इस पत्रिका ने प्रिंस आफ वेल्स के सम्मान में एक कविता प्रकाशित की। सरकार ने इस कविता का अर्थ गलत समझा। ओर कवि वचन सुधा के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा दिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सम्मानित मजिस्ट्रेट पद से त्यागपत्र दे दिया। इनके दो मित्रों प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने दो प्रकाशन शुरू कर दो राजनैतिक पत्रिकाओं की शुरुआत की। जिसमें एक पत्रिका 'प्रदीप' इलाहाबाद से प्रकाशित होती थी और 'ब्राह्मण' कानपुर से प्रकाशित होती थी। 'प्रदीप' पत्रिका को बंद करने का आदेश 1910 में दे दिया गया। क्योंकि इसने स्वतंत्रता के लिए आवाज उठाई थी।

‘भारत मित्रा पत्रिका’ मई 17, 1878 में कलकत्ता से हिन्दी में प्रकाशित होना शुरु हुआ। इसने स्वतंत्रता आन्दोलन के लिए बहुत से कार्य किये। लोगों को जागरूकता प्रदान की। इस पत्रिका ने उस रूप कश्मीर को हथियाने में ब्रिटिश षडयंत्र का उजागर किया था। इस तरह से विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित समाचार पत्रों एवं प्रेस ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4.11 सारांश

आधुनिक भारत के इतिहास में समाचार पत्रों एवं प्रेस ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। एक सुदृढ़ भारत की नींव तभी सम्भव है जब लोगों के विचार एक दूसरे तक पहुँचें। समाचार पत्रों एवं प्रेस ने वही कार्य किया जिसमें राष्ट्रवाद, मानवतावाद, एकता, बन्धुत्व एवं सुदृढ़ सम्प्रभुता का निर्माण हुआ। और एक नवीन भारत का निर्माण हुआ। जहाँ पर लोकतंत्रा का विकास हुआ। लोकतंत्रा में तीन स्तम्भों कार्यकारिणी, विधायिका एवं न्यायपालिका के साथ प्रेस को चौथा स्तम्भ माना जाया। इस इकाई में पूर्व अवलोकन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि भारत में प्रेस के विकास से देश में समाज, राजनीति, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा कानून में बड़ी तेजी से सुधर हुआ। क्योंकि शिक्षित वर्गों के विचार उन जनसमुदाय तक पहुँचने लगे।

ब्रिटिश भारत में प्रेस की स्वतंत्रता पर अंग्रेजी सरकार ने समय-समय पर विभिन्न प्रतिबंध लगाये। और ऐसे अधिनियम पास किये। जिसमें व्यक्ति की अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाया जा सके। लेकिन भारतीय राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीतियों की परवाह किये बिना अपने विचार उन जनसमुदाय तक समाचार पत्रों के माध्यम से ही किया। भारतीय प्रेस ;विशेषतया भारतीय भाषाओं के प्रेस ने शुरु से ही सरकार के प्रति आलोचनात्मक रुख अपना रखा था। शुरुआत के अन दिनों में जब राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रसर करने के लिए एक अखिल भारतीय मंत्रा की आवश्यकता थी, उस कमी की भारतीय प्रेस ने ही किया। शिक्षित भारतीयों में राष्ट्रीयता पैदा करने का कार्य प्रेस ने ही किया। भारत के सामाजिक राजनीतिक जीवन पर प्रेस की गहरी छाप पड़ी। इनमें इण्डियन मिरर बाम्बे समाचार, हिन्दु पैट्रियाट, अमृत बाजार पत्रिका, दि हिन्दु, दि बंगाली, दि पंजाबी का बहुत-बहुत बड़ा योगदान है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बंकेम चन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे रचयिताओं ने राष्ट्रीयता के उदय में अपनी रचनाओं से लोगों को प्रेरित किया।

नवीन भारत के निर्माण में प्रेस एवं समाचार पत्रों ने देश की एक तस्वीर उस जनसमुदाय के सामने रख दी ताकि वह भविष्य का निर्माण स्वयं कर सके। स्वतंत्रता के बाद जब हमारा देश लोकतांत्रिक गणराज्य स्वयं कर सके। स्वतंत्रता के बाद जब हमारा देश लोकतांत्रिक गणराज्य बना तो प्रेस व समाचारपत्रों ने अपनी भूमिका बनाए रखी है। चाहे वह इन्दिरा जी को आपातकालीन शासन हो चाहे अटलबिहारी वाजपेयी का परमाणु परीक्षण हो। प्रेस एवं समाचार पत्रों में राष्ट्रहित को सर्वोपरि रखा। वर्तमान समय में शासन एवं प्रशासन में

भ्रष्टाचार के प्रश्नों पर खुलकर बोलती है ताकि देश की जनता जागरूक हो सके। प्रेस एवं सिविल सोसाइटी के प्रयास से बहुत सी सरकार की कमजोरियों का उजागर हो रहा। तथा भारत के वास्तविक विकास में प्रेस एवं समाचार पत्रों का योगदान दिखाई देता।

4.12 शब्दावली

वर्नाकुलर - स्थान विशेष पर सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा

विद्रोह - स्थापित सत्ताधिकार के विरुद्ध विप्लवात्मक कार्य

राष्ट्रीय चेतना - किसी राष्ट्र के इतिहास में परिवर्तन का वह काल जब राष्ट्रीय नेताओं तथा शिक्षा के द्वारा लोगों में राष्ट्र की उन्नति की बात फैली हो

राष्ट्र हित - किसी राष्ट्र के वे हित जिनमें स्वतंत्रता, सम्प्रभुता, बन्धुता तथा राष्ट्रीय एकता को सर्वोच्च मानकर कार्य किये जाय। राष्ट्रहित कहलाते हैं।

4.13 बोध प्रश्न

मिलान कीजिए -

1.	अ.	दि बंगाल गजट	-	1785
	ब.	बंगाल जनरल	-	1780
	स.	कलकत्ता क्रानिकल	-	1786
	द.	मद्रास कोरियर	-	1788
2.	अ.	समाचार पत्रों का पत्रोक्षण अधिनियम	-	1835
	ब.	प्रेस अधिनियम	-	1867
	स.	पंजीकरण अधिनियम	-	1878
	द.	वर्नाकुलर प्रेस एक्ट	-	1799
3.	अ.	बंगदूत	-	तिलक, बालगंगाध्र
	ब.	रास्तगोफ्रतार	-	हरिश्चन्द्र, मुखर्जी
	स.	हिन्दु पैट्रियाट	-	दादा भाई नौरोजी
	द.	केसरी	-	राजाराम मोहन राय

4.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्रिटिश भारतीय सरकार ने प्रेस एवं समाचार पत्रों पर क्या प्रतिबंध लगाया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2. राष्ट्रवादियों ने प्रेस के विकास में क्या योगदान दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3. स्वतंत्रता आन्दोलन में उन समाचार पत्रों का उल्लेख कीजिए जिनहोंने राष्ट्रवाद और मानववाद को बढ़ावा दिया?

4.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Ghose, (1952); *The News Papers in India*
2. Gates Reed, *The Indian Press fear Book* (Annual)

3. S. Natrajan (1962) *A History of the Press in India*, Asia Publishing House, Kolkatta
4. Report of the Register of the News Papers for India (1957)
5. The Press Commission Report (1954)
6. S.C. Sanial, *History of Indian Press*
7. History of India Journalism (1954)
8. H.H.Beveridge, *Compahensive History of India*.

ब्लॉक सात- संकल्पनाएं , विचार तथा शब्दावली

- इकाई एक- चौथ, सरदेशमुखी, महाराष्ट्र धर्म, अष्ट-प्रधान, सेना कर्ते, पेशवा, क्षत्रपति, हिन्दू-पाद-पादशाही, मराठा-संघ, देशमुख
- इकाई दो- उपनिवेशवाद, मुक्त व्यापार, कारखाना, द्वैध शासन, साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद, वाणिज्यवाद
- इकाई तीन- महाजनी, ब्लैकहोल, दस्तक, भूस्वामी, रैयत, निलहे, ठगी प्रथा, गोद प्रथा, निस्त्युन्दन सिद्धान्त
- इकाई चार- पुनर्जागरण, अन्धविश्वास, थियोसोफिस्ट, शुद्धि आन्दोलन, देवदासी, वुड्स डिस्पैच, सिविल सेवा, गवर्नर जनरल।

चौथ, सरदेशमुखी, महाराष्ट्र धर्म, अष्ट प्रधान, सेनाकर्ते, पेशवा, छत्रपति, हिन्दू-पद-पादशाही, मराठा संघ, देशमुख

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 मराठा इतिहास के महत्वपूर्ण धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक पहलू
 - 1.3.1 चौथ
 - 1.3.2 सरदेशमुखी
 - 1.3.3 महाराष्ट्र धर्म
 - 1.3.4 अष्ट प्रधान
 - 1.3.5 सेनाकर्ते
 - 1.3.6 पेशवा
 - 1.3.7 छत्रपति
 - 1.3.8 हिन्दू-पद-पादशाही
 - 1.3.9 मराठा राज्य संघ
 - 1.3.10 'देशमुख'
- 1.4 सारांश
- 1.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.7 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 1.9 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

मराठों के सैनिक व राजनीतिक उत्थान एवं पतन का अध्ययन करने के लिए महाराष्ट्र के धार्मिक सामाजिक व सांस्कृतिक आन्दोलन का ज्ञान आवश्यक है। मराठा शक्ति के सैनिक व राजनीतिक विस्तार हेतु शिवाजी तथा परवर्ती मराठों द्वारा अपने आर्थिक संसाधनों में वृद्धि करने के लिए विजित क्षेत्रों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने की नीति अपनाई। मराठा शक्ति के उत्थान एवं पतन में चौथ और सरदेशमुखी वसूलने की नीति का अध्ययन करना आवश्यक है।

छत्रपति, एक पूर्ण सम्प्रभुता प्राप्त शासक होता था। छत्रपति शिवाजी ने स्वराज्य की स्थापना कर हिन्दू-पद-पादशाही की राजनीतिक महत्वाकांक्षा का बीजारोपण कर दिया था। शिवाजी द्वारा प्राचीन महान शासकों की शासन प्रणाली को पुनर्जीवित करने का प्रयास उनके द्वारा अष्ट प्रधान मण्डल के गठन में दृष्टिगोचर होता है। पेशवा अष्ट प्रधान मण्डल का प्रमुख होता था किन्तु बाद में मराठा राज्य संघ का प्रमुख होने तथा शिवाजी के हिन्दू-पद-पादशाही के अधूरे सपने को पूरा करने के अभियान का नेतृत्व करने के कारण उसका महत्व छत्रपति से भी अधिक हो गया था। सेनाकर्ते सेना का संगठनकर्ता होता था और उसका पद सेनापति के समकक्ष था।

मराठों को दक्षिण भारत की एक क्षेत्रीय शक्ति से भारत की सर्वप्रमुख शक्ति बनाने का श्रेय मराठा राज्य संघ को दिया जा सकता है। मराठा राज्य संघ ने हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना का प्रयास किया किन्तु आपसी फूट के कारण यह लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सका और यही आपसी फूट मराठा राज्य संघ के पतन का प्रमुख कारण भी बनी। मराठों के भू-राजस्व प्रशासन तथा नागरिक एवं न्याय प्रशासन का एक साथ दायित्व निभाने वाले वंशानुगत अधिकारियों में देशमुख का महत्वपूर्ण स्थान था।

इस इकाई में आपको चौथ, सरदेशमुखी, महाराष्ट्र धर्म, अष्ट प्रधान, सेनाकर्ते, पेशवा, छत्रपति, हिन्दू-पद-पादशाही, मराठा संघ तथा देशमुख के विषय में जानकारी दी जाएगी।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको मराठों के सैनिक व राजनीतिक उत्थान की धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से परिचित कराने के अतिरिक्त मराठों की राजनीतिक परिकल्पनाओं, उनके लक्ष्यों, उनके प्रशासनिक एवं सैनिक संगठन, उनके महत्वपूर्ण प्रशासनिक एवं सैनिक पदा, उनकी आर्थिक नीतियों तथा उनके पतन के विषय में विस्तृत जानकारी उपलब्ध कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

- 1- चौथ एवं सरदेशमुखी के विषय में।
- 2- महाराष्ट्र धर्म तथा हिन्दू-पद-पादशाही के विषय में।
- 3- छत्रपति, अष्ट प्रधान, पेशवा, सेनाकर्ते तथा देशमुख के विषय में।
4. मराठा राज्य संघ के विषय में।

1.3 मराठा इतिहास के महत्वपूर्ण धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक पहलू

1.3.1 चौथ

चौथ मराठों द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र से इतर क्षेत्र में वसूला जाने वाला कर था जो कि कुल राजस्व का चौथाई भाग होता था। इसे मराठे अपने अधिकृत क्षेत्र से बाहर के लोगों से वसूलते थे। एम0 जी0 रानाडे के अनुसार चौथ सैन्य कर था जो किसी वाह्य शक्ति के आक्रमण के समय सुरक्षा प्रदान करने के बदले में वसूल किया जाता था। वह इसकी तुलना वेलेज़ली द्वारा अपनाई गई सहायक सन्धि की व्यवस्था से करते हैं। परन्तु जदुनाथ सरकार इसको एक प्रकार की लूट मानते हैं और उनके अनुसार मराठे जिस क्षेत्र में चौथ वसूलते थे वहां वे उसके बदले में उस क्षेत्र को वाह्य आक्रमण से किसी प्रकार की सुरक्षा प्रदान नहीं करते थे। 1665 से शिवाजी ने विजित क्षेत्रों व शत्रु क्षेत्रों में चौथ वसूलना प्रारम्भ किया था। बीजापुर व गोलकुण्डा के राज्यों से उन्हें कुल मिलाकर 8 लाख रुपये वार्षिक चौथ के रूप में प्राप्त होते थे। स्वराज्य की स्थापना के बाद भी शिवाजी और परवर्ती मराठों के पास धन एकत्र करने का सबसे सहज और सुलभ उपाय विजित व शत्रु क्षेत्रों से चौथ वसूलना था। मराठों का राज्य क्रीग स्टैट अर्थात् युद्ध पर आधारित राज्य था अर्थात् इसकी आय का मुख्य स्रोत युद्ध तथा सैनिक अभियानों से प्राप्त धन था। मराठा सैनिकों को वेतन के बदले में लूटे गए धन का एक भाग प्राप्त होता था। चौथ का एक भाग छत्रपति को, एक भाग शाही सचिवालय को और इसका सबसे बड़ा भाग मराठा सरदारों को अपने सैन्य-व्यय के लिए दिया जाता था। चौथ से प्राप्त धन के सहारे मराठों के प्रभाव क्षेत्र का अप्रत्याशित विस्तार हुआ।

चूंकि शिवाजी के सैनिक अभियान मुख्यतः बीजापुर राज्य और मुगल साम्राज्य के विरुद्ध थे इसलिए इनके क्षेत्रों के निवासियों से चौथ वसूल कर भी वो हिन्दू धर्म के रक्षक कहलाए। किन्तु पेशवा बाजीराव प्रथम के काल से जब मराठा शक्ति व उसके प्रभाव क्षेत्र का विस्तार हुआ तो फिर चौथ वसूलते समय मराठों ने हिन्दू या मुसलमान में अन्तर नहीं किया और सभी धर्मावलम्बियों को बिना किसी भेदभाव किए लूटा और सभी को अपना शत्रु बना लिया। इस प्रकार केवल युद्ध और लूटमार पर आधारित मराठा साम्राज्य दीर्घजीवी नहीं हो सकता था।

1.3.2 सरदेशमुखी

दक्षिण के मुगल सूबों में मराठों द्वारा मांगा जाने वाला अतिरिक्त कर (कुल भू-राजस्व का दस प्रतिशत) सरदेशमुखी कहलाता था। सरदेशमुख आनुवंशिक भू-राजस्व एकत्र करने वाले अधिकारी होते थे। इन्हें इनकी सेवा के बदले में अतिरिक्त कर के रूप में निर्धारित भू-राजस्व का दस प्रतिशत भाग प्राप्त होता था। शिवाजी की यह दलील थी कि वह महाराष्ट्र के वंशानुगत सरदेशमुख हैं इसलिए उन्हें यह कर वसूलने का अधिकार है।

सरदेशमुखी एकत्र करने के बदले में मराठे किसी भी प्रकार का प्रशासनिक दायित्व नहीं निभाते थे और केवल अपने सैनिक बल का उपयोग कर इस अतिरिक्त कर को वसूलते थे। 1719 में पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने शाहू की ओर से सैयद बन्धुओं के साथ सन्धि की जिसके अन्तर्गत मराठों को दक्षिण के छह मुगल सूबों में चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार दिया गया परन्तु इस सन्धि की शर्तें सैयद बन्धुओं के पतन और तत्पश्चात् निजामुल-मुल्क के विरोध के कारण लागू नहीं हो सकीं। बाजीराव ने 1724 में पालखेद के युद्ध में निजामुल-मुल्क को पराजित कर मराठों के लिए दक्षिण के मुगल सूबों में चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार प्राप्त कर लिया। गुजरात में मराठों ने मुगल सूबेदार सरबुलन्द खां को पराजित कर वहां भी अपने लिए चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार प्राप्त कर लिया। सरदेशमुखी मराठों के राजस्व का एक महत्वपूर्ण भाग होता था।

जैसे-जैसे मराठों की शक्ति का विस्तार हुआ वैसे-वैसे सरदेशमुखी से प्राप्त आय में वृद्धि होती चली गई किन्तु मराठा शक्ति का पराभव होते ही इसमें कमी आती गई।

मराठों को अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का कोई परम्परागत अथवा नैतिक अधिकार नहीं था किन्तु अपनी तलवार के बल पर वह इसे वसूलते रहे। इस प्रकार की कर वसूली से वह पूरे भारत में लुटेरे के रूप में बदनाम हुए और इसके कारण उन्हें किसी भी भारतीय शक्ति का स्थायी रूप से कभी भी साथ नहीं मिल सका।

1.3.3 महाराष्ट्र धर्म

सरस्वती गंगाधर ने 15 वीं शताब्दी के अन्त में अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **गुरु चरित्र** में पहली बार 'महाराष्ट्र धर्म' शब्द का प्रयोग किया था। परन्तु 'महाराष्ट्र धर्म' की पृष्ठभूमि तैयार करने का श्रेय पण्डरपुर के सन्तों को जाता है। इस धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन में पश्चिमी यूरोप के रिफॉर्मेशन मूवमेन्ट की भांति धर्म-पुरोहितों के महत्व को चुनौती दी गई थी, जातीय असमानता को इसमें नकारा गया था और कर्मकाण्ड का विरोध किया गया था। सन्त ज्ञानेश्वर द्वारा भगवद् गीता की मराठी में लिखी गई टिप्पणी ज्ञानेश्वरी ने मराठी भाषियों को भावनात्मक स्तर पर एकसूत्र में बांधने में अभूतपूर्व योगदान दिया। सन्त नामदेव, सन्त चोखामेला तथा सन्त तुकाराम ने मराठों को जात-पात के बन्धनों को तोड़कर एकसूत्र होने का सन्देश दिया।

समर्थ गुरु रामदास के ग्रंथ दशबोध में महाराष्ट्र के निवासियों को एकसूत्र में बांधने का उपदेश दिया गया है। गुरु रामदास भगवान राम के साथ हनुमान के भी भक्त थे। उन्होंने महाराष्ट्र में अखाड़ों की स्थापना की जहां पर कि शिष्यों को चारित्रिक निर्माण के साथ शरीर सौष्टव की भी शिक्षा दी जाती थी। उन्होंने मराठों को भगवान के जयिश्चु रूप की भक्ति करने का उपदेश दिया। उन्होंने शिवाजी को राजधर्म और क्षत्रिय धर्म का उपदेश दिया और उन्हें इसके लिए प्रेरित किया कि वह मुस्लिम आततायियों का विनाश कर स्वराज की स्थापना करने के साथ-साथ धर्म की भी स्थापना करें।

शिवाजी ने महाराष्ट्र धर्म को विकसित करने वाले सन्तों की सामाजिक समता की भावना को ग्रहण कर अपना सैनिक व राजनीतिक उत्थान करने के लिए समाज में हीन स्थिति रखने वाले किन्तु वीरोचित गुणों से भरपूर कुनबी, रमोशी, महार, कोली और मांगों को अपनी सेना में भर्ती किया। शिवाजी ने धर्म स्थापना और हिन्दू धर्म की स्थापना को एक ही माना और उसे स्वराज्य की स्थापना से घनिष्ठ रूप से जोड़ दिया।

स्वराज्य की स्थापना कर शिवाजी ने 'महाराष्ट्र धर्म' के संरक्षण हेतु समुचित उपाय किए। एम० जी० रानाडे यह मानते हैं कि शिवाजी के नेतृत्व में मराठों का राजनीतिक व सैनिक उत्थान महाराष्ट्र में हो रहे धार्मिक आन्दोलन का प्रतिबिम्बन था। पेशवाओं के प्रभुत्व-काल में 'महाराष्ट्र धर्म' की महत्ता बनी रही। छत्रपति शाहू ने अपने चचेरे भाई शम्भाजी के निज़ाम के साथ गठबन्धन को 'महाराष्ट्र धर्म' की भावना के विरुद्ध बताया था। 1740 में बेसीन में पुर्तगालियों द्वारा मन्दिरों के विध्वंस को 'महाराष्ट्र धर्म' को विनष्ट करने का प्रयास बताया गया था।

ब्रिटिश कालीन भारत में एम० जी० रानाडे, लोकमान्य तिलक तथा वीर सावरकर ने 'महाराष्ट्र धर्म' की शिक्षाओं के अनुरूप मराठों में सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक जागृति विकसित करने का प्रयास किया था।

1.3.4 अष्ट प्रधान

रामायण तथा महाभारत में शासकों के अष्ट सदस्यीय मन्त्रिमण्डल का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा बादशाह अकबर ने अपने नव-सदस्यीय मन्त्रिमण्डल को नवरत्न का नाम दिया था और विजयनगर के महान शासक कृष्ण देव राय ने अपने अष्ट-सदस्यीय मन्त्रिमण्डल को अष्ट दिग्गज का। शिवाजी ने इन्हीं शासकों से प्रेरणा लेकर अपने अष्ट-सदस्यीय मन्त्रिमण्डल को अष्ट प्रधान का नाम दिया। शिवाजी ने रघुनाथ पण्डित हनुमन्ते के निरीक्षण में प्रशासनिक विशेषज्ञों की सहायता से राज-व्यवहार कोश का निर्माण कराया था और अपने प्रशासन को प्राचीन हिन्दू राज्य-व्यवस्था के अनुरूप विकसित किया। उन्होंने अष्ट प्रधान का गठन किया। अष्ट प्रधान के अन्तर्गत मन्त्रियों का विवरण निम्नवत है -

1. **पन्त प्रधान अथवा पेशवा** - यह छत्रपति का प्रधानमन्त्री होता था। प्रशासन के सभी कार्यों का निष्पादन इसी की देखरेख में होता था। इसकी स्थिति अन्य मन्त्रियों से ऊपर होती थी। राजकीय पत्राचार एवं दस्तावेजों पर इसकी मुहर लगती थी। विजित क्षेत्रों की सुरक्षा का प्रबन्ध इसकी देखरेख में किया जाता था। अष्ट प्रधान के प्रथम पन्त प्रधान अथवा पेशवा थे - मोरो त्रिम्बक पिंगले।
2. **अमात्य अथवा मजूमदार** - यह वित्त एवं राजस्व मन्त्री होता था। राज्य की आय-व्यय का लेखा-जोखा इसी की देखरेख में रखा जाता था। अष्ट प्रधान के पहले अमात्य अथवा मजूमदार थे - रामचन्द्र नीलकण्ठ।

3. **मन्त्री अथवा वाकियानवीस** - इसका दायित्व मुख्यतः वर्तमान गृह मन्त्री के दायित्व के समान होता था। राज्य की गुप्तचर व्यवस्था इसी के आधीन होती थी। छत्रपति से मिलने-जुलने वालों का लेखा-जोखा रखना तथा छत्रपति की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करना इसी का दायित्व होता था। अष्ट प्रधान के पहले मन्त्री अथवा वाकियानवीस थे - दत्ताजी त्रिम्बक।
4. **सुमन्त अथवा दबीर** - यह विदेश विभाग का मन्त्री होता था। अन्य राज्यों से सम्बन्ध, उनके राजदूतों से मिलकर उनकी छत्रपति से भेंट कराने तथा अन्य राज्यों में छत्रपति के राजदूत भेजने की व्यवस्था का दायित्व इसी का होता था। अन्य राज्यों के साथ युद्ध करने अथवा शान्ति स्थापित कराने में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। राज्य की विदेश नीति को निर्धारित करना इसी का दायित्व था। अष्ट प्रधान के पहले सुमन्त थे - रामचन्द्र त्रिम्बक।
5. **सचिव अथवा सुरनिस** - राजाज्ञाओं को तैयार करने का दायित्व सचिव का होता था। यह शाही सचिवालय का प्रमुख होता था। अष्ट प्रधान के पहले सचिव थे - अन्नाजी दत्तो।
6. **सेनापति अथवा सरेनौबत** - यह राज्य का प्रमुख सेनापति होता था। सैनिक अभियानों के संचालन में इसकी मुख्य भूमिका होती थी। सैनिक संगठन, सैनिकों की नियुक्ति, अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण, उनका अन्य क्षेत्रों से क्रय और उनका निरीक्षण, किलों व दुर्गों की देखरेख, नए किलों व दुर्गों के निर्माण, मुल्कगीरी अर्थात् पड़ौसी राज्यों को लूटने के लिए किए जाने वाले सैनिक अभियानों का संचालन आदि उसके दायित्व थे। अष्ट प्रधान के पहले सेनापति अथवा सरेनौबत थे - हम्बीर राव मोहिते।
7. **न्यायाधीश** - न्याय वितरण का दायित्व न्यायाधीश का होता था। इसके अधिकार में राज्य के समस्त दीवानी व फ़ौजदारी के मामले आते थे। अष्ट प्रधान के पहले न्यायाधीश थे - नीराजी राव।
8. **पण्डित राव अथवा दानाध्यक्ष** - यह धार्मिक मामलों का मन्त्री होता था। छत्रपति को धार्मिक विषयों में सलाह देने तथा धार्मिक उत्सवों के आयोजन का दायित्व इसी का होता था। राज्य की ओर से धार्मिक व शैक्षिक अनुदानों की व्यवस्था इसी के द्वारा होती थी। धार्मिक व जातीय विवादों का निबटारा भी पण्डित राव ही करता था। अष्ट प्रधान के पहले पण्डित राव थे - मोरेश्वर पण्डित राव।

अष्ट प्रधान के सदस्यों की नियुक्ति करने अथवा उनको अपदस्थ करने का एकाधिकार छत्रपति का होता था। किसी भी मन्त्री का पद वंशानुगत नहीं होता था और उसकी नियुक्ति की अवधि छत्रपति की अपनी इच्छा पर निर्भर करती थी। इन मन्त्रियों की भूमिका मुख्य रूप से छत्रपति को परामर्श देने की होती थी। अष्ट प्रधान के सदस्यों को छत्रपति की ओर से उनकी सेवाओं के बदले वेतन दिया जाता था न कि कोई जागीर। न्यायाधीश तथा पण्डित राव के

अतिरिक्त सभी मन्त्रियों को सैनिक अभियानों का दायित्व भी दिया जाता था। शिवाजी के अष्ट प्रधान की कार्य प्रणाली पर मुगल शासकों की राज्य व्यवस्था का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था।

शिवाजी की मृत्यु के बाद छत्रपति सम्भाजी की अयोग्यता और परवर्ती छत्रपतियों की डांवाडोल स्थिति के कारण अष्ट प्रधान की राज्य में भूमिका नाममात्र की रह गई।

1.3.5 सेनाकर्ते

मराठों की सेना में सेनापति के बाद सेनाकर्ते दूसरा उच्चस्थ अधिकारी होता था। इसका कार्य सैनिक संगठन से सम्बद्ध था। सभी सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति तथा उनके वेतन, उनकी जागीर आदि के विषयों को वही देखता था। सैनिकों की हाजिरी, उनके अस्त्र-शस्त्रों की जांच-पड़ताल तथा उनके पशुओं की निशानदेही के बाद ही वह उनके वेतन का निर्धारण तथा उनके वितरण की व्यवस्था करता था। सेनाकर्ते को छत्रपति के साथ सीधे सम्पर्क करने का अधिकार था और यह उसका दायित्व था कि वह सैन्य प्रशासन की समस्त आवश्यक जानकारी छत्रपति को दे। अपने इस दायित्व के सन्दर्भ में वह सेनापति के आधीन नहीं था। सेनाकर्ते का पद सेना में शक्ति के विभाजन की नीति के आधार पर किया गया था। 'सेनापति' तथा 'सेनाकर्ते' दो समानान्तर पद थे। सेनाकर्ते को हम मुगल काल के मीर बक्शी और सल्तनत काल के मीर-ए-अर्ज के समकक्ष रख सकते हैं।

जून, 1708 में धानाजी जाधव की मृत्यु के बाद राज्य के प्रति उसकी सेवाओं के बदले अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के उद्देश्य से उसके युवा पुत्र चन्द्रसेन जाधव को छत्रपति शाहू ने सेनापति नियुक्त किया था। चन्द्रसेन जाधव की अनुभवहीनता और उसकी सन्देहास्पद निष्ठा को देखते हुए उसकी गतिविधियों पर नज़र रखने के लिए शाहू ने योग्य एवं अपने विश्वासपात्र बालाजी विश्वनाथ को सेनाकर्ते नियुक्त किया था। सेनापति चन्द्रसेन जाधव और सेनाकर्ते बालाजी विश्वनाथ कभी भी मिलकर काम नहीं कर सके। बाद में चन्द्रसेन नाराज़ होकर शाहू को छोड़कर ताराबाई के गुट में शामिल हो गया। सेनाकर्ते के रूप में बालाजी विश्वनाथ ने छत्रपति शाहू को अपनी जिम्मेदारी पर महाजनों से कर्ज लेकर आर्थिक संकट से उबारा, उसकी सेना का पुनर्गठन किया और चन्द्रसेन जाधव सहित अन्य बागी सरदारों का दमन किया अथवा उन्हें फिर से शाहू के गुट में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। छत्रपति शाहू ने बालाजी विश्वनाथ को पेशवा के साथ सेनापति का पद भी प्रदान कर दिया जिसके बाद सेनाकर्ते के पद की महत्ता कम हो गई।

1.3.6 पेशवा

पेशवा अथवा पन्त प्रधान शिवाजी के शासनकाल में अष्ट प्रधान का प्रमुख होता था। एक सीमा तक अन्य मन्त्रियों के ऊपर नियन्त्रण रखने के भी अधिकार इसे प्राप्त थे। राजकीय पत्राचार एवं दस्तावेजों पर इसकी मुहर लगती थी। सैनिक अभियानों के संचालन का दायित्व भी इसे सौंपा जाता था। विजित क्षेत्रों की सुरक्षा का प्रबन्ध इसकी देखरेख में किया जाता था।

शिवाजी के पेशवा थे - मोरो त्रिम्बक पिंगलो। मराठा स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान शिवाजी के पुत्र राजाराम ने पेशवा रामचन्द्र नीलकण्ठ पन्त को हुकूमत पन्ह की उपाधि प्रदान की और उसे अपनी अनुपस्थिति में राज्य के संचालन का दायित्व सौंपा।

बालाजी विश्वनाथ को 1713 में छत्रपति शाहू ने अपना पेशवा बनाया। छत्रपति शाहू ने उसे पूना की जागीर प्रदान की जिसमें कि उसकी प्रतिष्ठा एक स्वतन्त्र शासक की हो गई। बालाजी विश्वनाथ ने शिवाजी के हिन्दू-पद-पादशाही के स्वप्न को साकार करने की योजना बनाई और इस उसने हेतु मराठा राज्य संघ का पुनर्गठन किया। बालाजी विश्वनाथ के बाद पेशवा का पद उसी के वंश में रहा आया अर्थात् वह वंशानुगत हो गया।

पेशवा बाजीराव प्रथम ने विघटित मुगल साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाने के लिए मराठा राज्य संघ को सशक्त बनाया। उसके काल में पेशवा की जागीर की राजधानी पूना मराठा शक्ति की ही नहीं अपितु समस्त भारत की राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गई। पूना में पेशवा के सचिवालय हुजूर दफ्तर ने छत्रपति के प्रशासनिक कार्यों को सम्भाल लिया।

पेशवा बालाजी बाजी राव के काल में मराठों का दबदबा अब उड़ीसा व पंजाब तक पहुंच गया। अब पेशवा के नेतृत्व में मराठों की महत्वाकांक्षा समस्त भारत में एक हिन्दू साम्राज्य (हिन्दू पद-पादशाही) स्थापित करने की हो गई। किन्तु मराठों की आपसी फूट के कारण और पूरे भारत में उनकी लूटमार करने की प्रवृत्ति के कारण उनके अलग-थलग पड़ जाने से उनका यह स्वप्न साकार नहीं हो सका।

माधवराव प्रथम के बाद कोई भी पेशवा योग्य सिद्ध नहीं हुआ। मराठा राज्य संघ पर पेशवा की पकड़ कमजोर होती चली गई और उनके शत्रु अंग्रेजों की शक्ति बढ़ती चली गई। मराठा राज्य संघ का प्रमुख पेशवा बाजीराव द्वितीय सैनिक प्रतिभा व कूटनीतिक प्रतिभा से सर्वथा वंचित होने के बाद भी एक बार फिर अपने नेतृत्व में मराठा शक्ति का पुनरुत्थान करना चाहता था किन्तु अष्टी के युद्ध में अंग्रेजों के हाथों उसकी निर्णायक पराजय के बाद अंग्रेजों द्वारा मराठा राज्य संघ को भंग कर दिया गया और पेशवा बाजीराव से सभी राजनीतिक व सैनिक शक्ति छीनकर उसे पेंशन देकर बिठूर भेज दिया गया।

बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब ने पेशवा के पद को पुनर्प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से 1857 के विद्रोह में भाग लिया किन्तु विद्रोह की असफलता ने उन्हें भारत छोड़कर नैपाल में शरण लेने के लिए विवश किया। अब भारतीय राजनीतिक मंच से पेशवा शब्द हमेशा-हमेशा के लिए हट गया।

1.3.7 छत्रपति

‘छत्रपति’ एक राजकीय उपाधि है जो कि 6 जून, 1674 में रायगढ़ में अपने राज्याभिषेक के अवसर पर एक स्वतन्त्र एवं पूर्ण सम्प्रभुता प्राप्त शासक के रूप में शिवाजी ने धारण की थी। ‘छत्रपति’ शब्द का उद्गम संस्कृत भाषा के ‘क्षेत्रपति’ (एक क्षेत्र का स्वामी) से

हुआ है। मराठी भाषा में 'छत्रपति' का तात्पर्य है - एक शासक जो कि अपनी प्रजा को अपनी छाया देता हो अर्थात् उसकी रक्षा एवं उसका पोषण करता हो। शिवाजी ने क्षत्रिय कुलवन्त की उपाधि धारण की थी और स्वयं क्षत्रियों में सिरमौर सिसौदिया कुल का वंशज होने का दावा किया था। इस परिप्रेक्ष्य में 'छत्रपति' का एक अन्य अर्थ - 'क्षत्रिय-पति' अर्थात् क्षत्रिय अथवा योद्धाओं का स्वामी भी होता है। 'छत्रपति' शब्द संस्कृत भाषा के 'सम्राट', अंग्रेज़ी भाषा के 'एम्परा' तथा फ़ारसी भाषा के 'बादशाह' अथवा 'पादशाह' के समतुल्य है।

एक पूर्ण सम्प्रभुता प्राप्त शासक के रूप में शिवाजी ने अपने नाम के सिक्के चलवाए, अपने राज्याभिषेक की तिथि से एक नया सम्वत् चलवाया, अपने दरबार को भव्यता प्रदान की, प्राचीन भारतीय शासकों की शासन-पद्धति से प्रेरित होकर अष्ट प्रधान का गठन किया, अपनी प्रजा को सुरक्षा तथा आत्मोन्नति का अवसर प्रदान किया, पड़ोसी राज्यों तथा दूरस्थ राज्यों से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए, अपने साम्राज्य की रक्षा तथा उसके विस्तार के लिए नियमित थल-सेना तथा नौ-सेना का गठन किया।

छत्रपति सम्भाजी की संगामेश्वर में मुगलों द्वारा गिरफ्तारी और फिर उसकी हत्या से 'छत्रपति' की प्रतिष्ठा में कमी आई। मराठा स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान 'छत्रपति' केवल नाममात्र की सत्ता का परिचायक रह गया। 1710 में सतारा और कोल्हापुर दोनों ही स्थानों पर दो 'छत्रपति' स्थापित हो गए। 1731 की वारना की संधि से दो छत्रपतियों की व्यवस्था को दोनों प्रतिद्वन्दी गुटों ने स्वीकार कर लिया।

छत्रपति शाह ने राज्य की वास्तविक सत्ता पेशवा को सौंप दी थी। परवर्ती छत्रपति सतारा व कोल्हापुर में पेशनर का सा जीवन व्यतीत करने लगे थे। 1818 में अंग्रेज़ों ने मराठा राज्य संघ के विघटन के बाद सतारा (केवल 1849 तक) और कोल्हापुर में नाम मात्र के 'छत्रपति' बने रहे किन्तु भारत की स्वतन्त्रता के बाद 'छत्रपति' पद का अस्तित्व विधिवत समाप्त हो गया।

1.3.8 हिन्दू-पद-पादशाही

पिछली चार शताब्दियों से भी अधिक समय से चले आ रहे मुस्लिम शासन के कारण हिन्दुओं ने न केवल अपनी स्वतन्त्रता खोई थी अपितु अपना वैभव और अपनी समृद्धि भी खोई थी। परन्तु मुस्लिम आक्रान्ताओं ने उनकी धार्मिक भावनाओं पर चोट कर उनको सबसे अधिक कष्ट पहुंचाया था। दक्षिण में विजय नगर साम्राज्य, उत्तर भारत में हेमू - हेमचन्द्र विक्रमादित्य, मेवाड़ में महाराणा प्रताप और जैसोर में महाराज प्रतापादित्य के स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना के प्रयास दीर्घजीवी नहीं रहे थे।

बादशाह औरंगज़ेब ने इस्लाम के संरक्षक बनने का दावा कर हिन्दुस्तान को दारुल-हर्ब (विधर्मियों का देश) से दारुल-इस्लाम (आस्तिकों अर्थात् मुसलमानों का देश) बनाने का बीड़ा उठाया था। हिन्दुओं की इस अपमानजनक और दुखदायी स्थिति देखकर समर्थ गुरु रामदास तथा शिवाजी ने हिन्दू-पद-पादशाही अर्थात् भारत में मुगल साम्राज्य एवं अन्य मुस्लिम राज्यों का उन्मूलन कर फिर से हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न देखा था। 1674 में शिवाजी का

राज्याभिषेक हुआ और उन्होंने हिन्दू धर्म, संस्कृति और आदर्शों के संरक्षण व पोषण हेतु स्वराज्य की स्थापना की। किन्तु शिवाजी के स्वराज्य की सीमा महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा तमिलनाडु के एक भाग तक ही सीमित थी। शिवाजी ने हिन्दू-पद-पादशाही का बीज बोकर उसकी पौध तो तैयार कर दी थी किन्तु अभी इस पौधे को सींचकर बड़ा करने का काम उन्होंने आने वाली पीढ़ियों पर छोड़ दिया था।

शिवाजी के स्वराज को हिन्दवी स्वराज तक विकसित करने और उनके हिन्दू-पद-पादशाही के स्वप्न को साकार करने का प्रयास पेशवा बालाजी विश्वनाथ से लेकर तीसरे पेशवा बालाजी बाजीराव तक के काल में हुआ था। पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने मराठा राज्य संघ का पुनर्गठन किया।

पेशवा बाजीराव प्रथम ने विघटित मुगल साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाने के लिए मराठा राज्य संघ को सशक्त बनाया। अब उसने मराठों के लिए रक्षात्मक नहीं अपितु आक्रामक नीति अपनाकर मराठा शक्ति का विस्तार किया। अपने भाई चिमनाजी अप्पा, होल्कर, सिंधिया, भोंसले, गायकवाड़, पवार आदि घरानों की सहायता से उसने मराठा शक्ति का अभूतपूर्व विस्तार कर उसे भारत की सर्व-प्रमुख शक्ति बना दिया।

पेशवा बालाजी बाजी राव के काल में मराठा शक्ति चरमोत्कर्ष पर पहुंची। महाराष्ट्र कोंकण, मालवा, गुजरात, बुन्देलखण्ड पर मराठों का अधिकार था ही अब उड़ीसा व पंजाब तक उनका दबदबा स्थापित हो गया। काशी, मथुरा, कुरुक्षेत्र आदि हिन्दू तीर्थों पर फिर से हिन्दुओं का अधिकार कराने में भी मराठों ने योगदान दिया।

अब पेशवा के नेतृत्व में मराठों की महत्वाकांक्षा समस्त भारत में एक हिन्दू साम्राज्य (हिन्दू पद-पादशाही) स्थापित करने की हो गई। पेशवा बालाजी बाजीराव ने दिल्ली को जीत कर उसे मराठा साम्राज्य का एक अंग बनाने तथा वहां पर अपने पुत्र विश्वासराव को सिंहासनारूढ़ करने का स्वप्न देखा। 1760 में सदाशिव राव भाऊ तथा विश्वासराव के नेतृत्व में उत्तर भारत की विजय के लिए मराठा इतिहास का सबसे बड़ा सैनिक अभियान प्रारम्भ हुआ। किन्तु मराठों की आपसी फूट, उनके पास संसाधनों की कमी और अब्दाली की सेना की तुलना में उनकी सैनिक अयोग्यता, अब्दाली को स्थानीय मुस्लिम शक्तियों के सहयोग व मराठों को देश की किसी भी शक्ति का सहयोग न मिलने के कारण उनका हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित करने का स्वप्न पानीपत के तृतीय युद्ध में चकनाचूर हो गया।

पेशवा माधवराव प्रथम और बाद में महादजी सिन्धिया ने मराठा शक्ति को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया किन्तु मराठों की आपसी फूट, उनकी पिछड़ी हुई रणनीति, उनमें कुशल नेतृत्व के अभाव तथा भारत में अंग्रेजों की शक्ति के विस्तार के साथ हिन्दू-पद-पादशाही की स्थापना की सम्भावना पूर्णरूपण समाप्त हो गई।

1.3.9 मराठा राज्य संघ

छत्रपति शिवाजी तथा सम्भाजी के शासनकाल में मराठा राज्य संघ अथवा 'महाराष्ट्र मण्डल' का अस्तित्व नहीं था क्योंकि राज्य पर छत्रपति का एकछत्र शासन था। छत्रपति सम्भाजी की निर्मम हत्या के बाद राजाराम ने मुगलों का प्रतिरोध करने तथा उनपर सैनिक आक्रमण करने के लिए मराठा राज्य संघ का विकास किया था। राजाराम ने मुगल सूबों में चौथ और सरदेशमुखी वसूलने का अधिकार भोंसले, निम्बालकर, दाभाडे, शिन्दे तथा अन्य मराठा सरदारों को सौंप दिया था। बाद में उसने विभिन्न क्षेत्रों में इन सरदारों की स्थायी नियुक्ति कर उन्हें वहां की जागीर भी दे दी। इन जागीरों से प्राप्त आय से मराठा सरदार जहां अपना निजी खर्च चला सकते थे वहीं इससे अपनी सेना का रख-रखाव भी कर सकते थे।

शाहू की मुगल कैद से रिहाई के समय कुछ मराठा सरदार शाहू के साथ थे तो कुछ ताराबाई के साथ और कुछ ने मुगलों की शरण ली थी। 1713 में बालाजी विश्वाथ ने पेशवा का पद सम्भालने के बाद मराठा राज्य संघ का पुनर्गठन किया। बालाजी विश्वाथ ने मराठा सरदारों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति और उनकी महत्वाकांक्षाओं को देखते हुए पेशवा के नेतृत्व में मराठा सरदारों को अविजित क्षेत्रों को जीतने तथा उन पर स्थायी रूप से अधिकार के एवज में उन्हें छत्रपति के नाम पर इन विजित क्षेत्रों का व्यावहारिक दृष्टि से वास्तविक शासक बनाए जाने का प्रलोभन दिया। अपनी कूटनीतिक प्रतिभा से बालाजी विश्वाथ ने पेशवा को मराठा राज्यसंघ का प्रमुख बनवा दिया।

पेशवा बाजीराव प्रथम ने विघटित मुगल साम्राज्य के खण्डहर पर मराठा साम्राज्य की नींव स्थापित करने की योजना बनाई। साम्राज्य विस्तार का यह गुरुतर कार्य छत्रपति के झण्डे के नीचे किन्तु पेशवा के नेतृत्व में मराठा राज्य संघ को करना था। मराठा सरदारों को अपने द्वारा जीते गए क्षेत्रों पर स्वयं अपने लिए तथा अपने परिवार के लिए स्थायी रूप से अधिकार करने की खुली छूट ने बाजीराव प्रथम के साथ उसके चिमनाजी अप्पा, होल्कर, सिन्धिया, गायकवाड़, भोंसले, पवार आदि साहसी मराठे सरदारों को खड़ा कर दिया। पूना में पेशवा, नागपुर में भोंसले, गुजरात में गायकवाड़, मालवा में होल्कर तथा ग्वालियर व उज्जैन में सिन्धिया ने अपने-अपने लिए लगभग स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की।

पेशवा बालाजी बाजीराव के काल में मराठा प्रभाव क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुई। अब मराठों ने पेशवा के नेतृत्व में हिन्दू-पद-पादशाही के स्वप्न को साकार करना चाहा। किन्तु मराठा राज्य संघ पर बालाजी बाजीराव की पकड़ अपने पिता के समान नहीं रह पाई। 1761 के पानीपत के युद्ध में मराठों की आपसी फूट स्पष्ट दिखाई दी और इसमें मराठों की निर्णायक पराजय ने मराठा राज्य संघ को अत्यन्त कमजोर कर दिया।

पेशवा माधराव प्रथम अन्तिम पेशवा था जिसके काल में मराठा राज्य संघ को पुनर्गठित करने का प्रयास किया गया था। 1772 में उसकी मृत्यु के बाद व्यावहारिक दृष्टि से मराठा राज्य संघ विघटित हो गया था और मराठे सरदार विभिन्न क्षेत्रों में स्वतन्त्र शासक के रूप

में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में व्यस्त हो गए। किन्तु 1775 से लेकर 1782 तक चले प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध के दौरान मराठों में फिर एकता दिखाई दी थी।

नाना फडनवीस ने रघुनाथराव (राघोबा) और अंग्रेजों की संयुक्त चालों को नाकाम किया और उसके जीवित रहते अंग्रेज मराठा राज्य-संघ को भंग नहीं कर पाए। अब सभी मराठा सरदार अपनी-अपनी अलग राह पर चल रहे थे। गायकवाड़ ने अंग्रेजों की आधीनता स्वीकार कर ली थी। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने मराठा राज्य-संघ के विनाश से भारत में ब्रिटिश सम्प्रभुता स्थापित की। 1817 में मराठा स्वायत्तता के लिए प्रयत्नशील भोसले को सीताबल्दी, होल्कर को महीदपुर में तथा पेशवा को कोरेगांव व अष्टी में अंग्रेजों ने पराजित किया। 1818 में मराठा राज्य संघ को भंग कर दिया गया। बाजीराव द्वितीय को पेशवा के पद से अपदस्थ कर पेंशन देकर बिठूर भेज दिया गया। इस प्रकार 1818 में मराठा राज्य संघ का पतन कर अंग्रेजों ने भारत में अपनी पूर्ण सम्प्रभुता स्थापित कर ली।

1.3.10 'देशमुख'

'देशमुख' एक ऐतिहासिक उपाधि थी जो कि उस व्यक्ति को दी जाती थी जिसे विशिष्ट क्षेत्रों में (विशेषकर महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा आंध्र प्रदेश में) एक भू-क्षेत्र अनुदान में दिया जाता था। मराठी भाषा में देशमुख का अर्थ है - देश अर्थात् जिला और मुख अर्थात् प्रमुख, यानी जिले का प्रमुख। 'देशमुख' को जो क्षेत्र अनुदान में मिलता था उसे 'देशमुखी' कहा जाता था। 'देशमुख' अनुदान में प्राप्त भू-क्षेत्र का वास्तव में शासक होता था। उसे इस क्षेत्र से कर एकत्र करने का अधिकार होता था और चूंकि कर एकत्र करना उसका अधिकार था तो उससे जुड़े हुए उस क्षेत्र की रक्षा करने के तथा न्याय-वितरण करने के दायित्व भी उसी के होते थे। धीरे-धीरे यह क्षेत्र 'वतन' अर्थात् वंशानुगत जागीर में परिवर्तित होते चले गए। 'देशमुख' उपाधि को हम यूरोपीय कुलीन व्यवस्था में ड्यूक अथवा काउण्ट के समकक्ष रख सकते हैं। देशमुख व्यवस्था की तुलना हम ज़मींदार अथवा जागीर प्रणाली से कर सकते हैं और इसे हम एक सामन्तीय व्यवस्था मान सकते हैं।

'देशमुख' (और 'देशपाण्डे') ज़मींदारों के वंशज थे जिन्हें शिवाजी ने उनके आनुवंशिक पदों से हटा दिया था पर उन्हें अपने पारम्परिक कर वसूलने का अधिकार दे दिया था। पेशवाओं ने इस व्यवस्था को कायम रखा था। राजनीतिक व्यवस्था में चाहे जो भी बदलाव आए, आमतौर पर शीर्षस्थ सत्ता ने इस स्थानीय प्रशासनिक व्यवस्था को बदलने का प्रयास नहीं किया। 'देशमुख' की संस्था को स्थानीय समर्थन मिलता रहा और यह संगठित सामुदायिक जीवन का एक अंग बनी रही। 'देशमुख' जागीरों, सम्पत्तियों के हस्तान्तरण और बटवारे से सम्बन्धित रिकॉर्ड रखते थे। परगने के निवासियों की सभाओं (गोत सभाओं) की अध्यक्षता 'देशमुख' ही करते थे और इन्हीं सभाओं में उत्तराधिकार, 'वतन' के क्रय-विक्रय एवं हस्तान्तरण विषयक दावों का निबटारा किया जाता था। 'देशमुख' प्रान्तीय व जिला-स्तरीय प्रशासन के विभागों के प्रभारियों - 'मामलतदारों' के भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण रखने का काम सम्भालते थे। इनके इस कार्य में वंशानुगत अधिकारी 'दराकदार' इनकी सहायता करते थे। उन्नीसवीं शताब्दी

में निज़ाम के राज्य में उसके प्रधानमंत्री सालारजंग ने अपने प्रशासनिक सुधारों में तेलंगाना में इस व्यवस्था को सम्मिलित किया था। महाराष्ट्र, कर्नाटक और तेलंगाना की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में 'देशमुखों' का दबदबा दीर्घ काल तक कायम रहा।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए-

1. चौथ
2. छत्रपति
3. हिन्दू-पद-पादशाही

1.4 सारांश

चौथ मराठों द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र से इतर क्षेत्र में वसूला जाने वाला कर था जो कि कुल राजस्व का चौथाई भाग होता था। इसे मराठे अपने अधिकृत क्षेत्र से बाहर के लोगों से वसूलते थे। एम० जी० रानाडे के अनुसार चौथ सैन्य कर था जो किसी वाह्य शक्ति के आक्रमण के समय सुरक्षा प्रदान करने के बदले में वसूल किया जाता था। परन्तु जदुनाथ सरकार इसको बिना किसी दायित्व की लूट मानते हैं।

विजित क्षेत्रों में मराठों द्वारा मांगा जाने वाला अतिरिक्त कर (कुल भू-राजस्व का दस प्रतिशत) सरदेशमुखी कहलाता था। सरदेशमुखी एकत्र करने के बदले में मराठे किसी भी प्रकार का प्रशासनिक दायित्व नहीं निभाते थे और केवल अपने सैनिक बल का उपयोग कर इस अतिरिक्त कर को वसूलते थे।

सरस्वती गंगाधर ने 15 वीं शताब्दी के अन्त में अपने प्रसिद्ध ग्रंथ गुरु चरित्र में पहली बार 'महाराष्ट्र धर्म' शब्द का प्रयोग किया था। परन्तु 'महाराष्ट्र धर्म' की पृष्ठभूमि तैयार करने का श्रेय पण्ढरपुर के सन्तों को जाता है। सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त नामदेव, सन्त चोखामेला, सन्त तुकाराम और समर्थ गुरु रामदास ने महाराष्ट्र के निवासियों को एकसूत्र में बंधने का उपदेश दिया। एम० जी० रानाडे यह मानते हैं कि शिवाजी के नेतृत्व में मराठों का राजनीतिक व सैनिक उत्थान महाराष्ट्र में हो रहे धार्मिक आन्दोलन का प्रतिबिम्बन था।

शिवाजी ने महान प्राचीन शासकों से प्रेरणा लेकर अपने अष्ट-सदस्यीय मन्त्रिमण्डल को अष्ट प्रधान का नाम दिया। अष्ट प्रधान के अन्तर्गत मन्त्री थे - पेशवा अथवा पन्त प्रधान, अमात्य अथवा मजूमदार, मन्त्री अथवा वाकियानवीस, सुमन्त अथवा दबीर, सचिव अथवा सुरनिस, सेनापति अथवा सरेनौबत, न्यायाधीश तथा पण्डित राव।

मराठों की सेना में सेनापति के बाद सेनाकर्ते दूसरा उच्चस्थ अधिकारी होता था। इसका कार्य सैनिक संगठन से सम्बद्ध था। 'सेनापति' तथा 'सेनाकर्ते' दो समानान्तर पद थे। सेनाकर्ते को हम मुगल काल के मीर बक्शी और सल्तनत काल के मीर-ए-अर्ज के समकक्ष रख सकते हैं।

'पेशवा' शिवाजी के शासनकाल में अष्ट प्रधान का प्रमुख होता था। बालाजी विश्वनाथ को 1713 में छत्रपति शाहू ने अपना पेशवा बनाया और इसके बाद यह पद वंशानुगत हो गया। पेशवा बाजीराव प्रथम ने होल्कर, सिंधिया, भोंसले, गायकवाड़, पवार आदि घरानों की सहायता से उसने मराठा शक्ति का अभूतपूर्व विस्तार किया। पेशवा बालाजी बाजी राव के काल में मराठों की महत्वाकांक्षा हिन्दू पद-पादशाही स्थापित करने की हो गई। किन्तु मराठों की आपसी फूट, लुटेरे के रूप में उनकी बदनामी और उनके शत्रुओं की संगठित शक्ति के कारण उनका यह स्वप्न अधूरा रह गया। माधवराव प्रथम के बाद कोई भी पेशवा योग्य सिद्ध नहीं हुआ। लॉर्ड वेलेज़ली तथा लॉर्ड हेस्टिंग्स ने भारत में अंग्रेजों को भारत की प्रमुख शक्ति बना दिया। अष्टी के युद्ध में पेशवा बाजीराव द्वितीय को पराजित कर अंग्रेजों ने 1818 में मराठा राज्य संघ को भंग कर दिया और पेशवा बाजीराव से सभी राजनीतिक व सैनिक शक्ति छीनकर उसे पेंशन देकर बिठूर भेज दिया।

'छत्रपति' एक राजकीय उपाधि है जो कि 6 जून, 1674 में रायगढ़ में अपने राज्याभिषेक के अवसर पर एक स्वतन्त्र एवं पूर्ण सम्प्रभुता प्राप्त शासक के रूप में शिवाजी ने धारण की थी। छत्रपति शाहू ने राज्य की वास्तविक सत्ता पेशवा को सौंप दी थी। परवर्ती छत्रपति सतारा व कोल्हापु में पेंशनर का सा जीवन व्यतीत करने लगे थे।

शिवाजी ने हिन्दू-पद-पादशाही का बीज बोकर उसकी पौध तो तैयार कर दी थी किन्तु इस पौधे को सींचकर बड़ा करने का काम उन्होंने आने वाली पीढ़ियों पर छोड़ दिया था। पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने शिवाजी के हिन्दू-पद-पादशाही के स्वप्न को साकार करने की योजना बनाई और इस उसने हेतु मराठा राज्य संघ का पुनर्गठन किया। पेशवा बाजीराव प्रथम ने आक्रामक नीति अपनाकर मराठा शक्ति का विस्तार कर उसे भारत की सर्व-प्रमुख शक्ति बना दिया। पेशवा बालाजी बाजी राव के काल में मराठों की महत्वाकांक्षा समस्त भारत में एक हिन्दू साम्राज्य (हिन्दू पद-पादशाही) स्थापित करने की हो गई। मराठा सेना ने इस उद्देश्य से 1760 में उत्तर भारत की ओर प्रस्थान किया किन्तु मराठों की आपसी फूट, उनकी सैनिक दुर्बलता और अब्दाली के सैन्य कौशल के कारण उनका हिन्दू-पद-पादशाही स्थापित करने का स्वप्न पानीपत के तृतीय युद्ध में चकनाचूर हो गया।

छत्रपति सम्भाजी की हत्या के बाद राजाराम ने मुगलों का प्रतिरोध करने तथा उनपर सैनिक आक्रमण करने के लिए मराठा राज्य संघ का विकास किया था। 1713 में बालाजी विश्वनाथ ने पेशवा का पद सम्भालने के बाद मराठा राज्य संघ का पुनर्गठन किया। पेशवा बाजीराव प्रथम ने मराठा राज्य संघ को उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया। पेशवा बालाजी बाजीराव के काल में मराठों ने पेशवा के नेतृत्व में हिन्दू-पद-पादशाही के स्वप्न को साकार करना चाहा। किन्तु मराठा राज्य संघ पर बालाजी बाजीराव की पकड़ अपने पिता के समान नहीं

रह पाई। 1761 के पानीपत के युद्ध में मराठों की आपसी फूट स्पष्ट दिखाई दी और इसमें मराठों की निर्णायक पराजय ने मराठा राज्य संघ को अत्यन्त कमजोर कर दिया। पेशवा माधराव प्रथम अन्तिम पेशवा था जिसके काल में मराठा राज्य संघ को पुनर्गठित करने का प्रयास किया गया था। पेशवा बाजीराव द्वितीय ने अपनी अयोग्यता और अनावश्यक महत्वाकांक्षा के कारण मराठा राज्य संघ के पतन के बीज 1802 में अंग्रेजों के साथ बेसीन की सन्धि करके ही बो दिए थे। 1817 में मराठा स्वायत्तता के लिए प्रयत्नशील भोसले को सीताबल्दी, होल्कर को महीदपुर में तथा पेशवा को कोरेगांव व अष्टी में अंग्रेजों ने पराजित किया। 1818 में मराठा राज्य संघ को भंग कर दिया गया।

‘देशमुख’ एक ऐतिहासिक उपाधि थी जो कि उस व्यक्ति को दी जाती थी जिसे विशिष्ट क्षेत्रों में (विशेषकर महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा आंध्र प्रदेश में) एक भू-क्षेत्र अनुदान में दिया जाता था। ‘देशमुख’ अनुदान में प्राप्त भू-क्षेत्र का वास्तव में शासक होता था। उसे इस क्षेत्र से कर एकत्र करने का अधिकार होता था और उस क्षेत्र की रक्षा करने के तथा न्याय-वितरण करने के दायित्व भी उसी के होते थे।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

क्रीग स्टेट:	युद्ध पर आधारित राज्य
आनुवंशिक:	पुश्तैनी
जयिश्चु रूप:	शत्रु पर विजय प्राप्त करने वाला रूप
मुल्कगीरी:	पड़ोसी राज्यों को लूटने के लिए किए जाने वाले सैनिक अभियान
हुजूर दफ्तर:	पूना में पेशवा का सचिवालय

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 3.1.1 चौथा
2. देखिए 3.1.7 छत्रपति।
3. देखिए 3.1.8 हिन्दू-पद-पादशाही।

1.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

सरकार, जदुनाथ - शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स, मिशीगन, 1920
 चौरसिया, आर० एस० - हिस्ट्री ऑफ़ दि मराठाज़, नई दिल्ली, 2004,
 सावरकर, वी० डी० - दि मराठा मूवमेन्ट (हिन्दू पद पादशाही),
 सारदेसाई, जी० एस० - दि न्यू हिस्ट्री ऑफ़ दि मराठाज़, बम्बई, 1957

1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

शर्मा, एस0 आर0 - मुगल एम्पायर इन इण्डिया, आगरा, 1974

सिनहा, एस0 एन0 - दि राइज ऑफ़ दि पेशवाज़, 1965, दिल्ली

1.9 निबंधात्मक प्रश्न

मराठा राज्य संघ के उत्थान एवं पतन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उपनिवेशवाद, मुक्त व्यापार, कारखाना, द्वैध शासन, साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद, वाणिज्यवाद

- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 उद्देश्य
- 2.3 उपनिवेशवाद, मुक्त व्यापार, कारखाना, द्वैध शासन, साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद तथा वाणिज्यवाद
 - 2.3.1 उपनिवेशवाद
 - 2.3.2 मुक्त व्यापार
 - 2.3.3: कारखाना
 - 2.3.4 द्वैध शासन
 - 2.3.4.1 बंगाल में द्वैध शासन की स्थापना
 - 2.3.4.2 1919 के गवर्नमेन्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन की व्यवस्था
 - 2.3.5 साम्राज्यवाद
 - 2.3.6 राष्ट्रवाद
 - 2.3.7 वाणिज्यवाद
- 2.4 सारांश
- 2.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 2.9 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

मध्यकालीन भारत में उद्योग एवं व्यापार की प्रगति का एक सशक्त उदाहरण राज्य-संरक्षित कारखाने थे। यूरोप में पुनर्जागरण के दौरान वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति ने एशिया, अमेरिका में यूरोपीय राज्यों के उपनिवेशों की स्थापना के युग का मार्ग प्रशस्त किया और इसके साथ ही उनके द्वारा बहु-आयामीय आर्थिक शोषण व राजनीतिक दमन के नए कीर्तिमान स्थापित किए गए। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, वाणिज्यवाद तथा मुक्त-व्यापार की नीति में सशक्त शासक राष्ट्रों द्वारा दुर्बल शासित राष्ट्रों पर अत्याचार एवं अन्याय का एक अनवरत क्रम दृष्टिगोचर होता है। 1765 और 1919 में द्वैध शासन की स्थापना ने प्रशासन में

शक्ति के विभाजन की अव्यावहारिकता को प्रदर्शित किया। राष्ट्रप्रेम की भावना का विकास तो प्राचीन सभ्यताओं के काल में ही हो चुका था किन्तु राष्ट्रवाद का विकास मुख्यतः 19वीं शताब्दी में हुआ। भारत तथा अन्य पराधीन राष्ट्रों में राष्ट्रवाद के विकास ने स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय आन्दोलनों को सबल बनाया। इस इकाई में आपको उपनिवेशवाद, मुक्त व्यापार, कारखाना, द्वैध शासन, साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद तथा वाणिज्यवाद से परिचित कराया जाएगा।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको अंग्रेजों द्वारा भारत में राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने से पूर्व भारत की उन्नत औद्योगिक स्थिति से परिचित कराने के अतिरिक्त साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, वाणिज्यवाद तथा द्वैध शासन तथा मुक्त-व्यापार की शोषक व दमनकारी नीतियों/व्यवस्थाओं की जानकारी देना है। औपनिवेशिक शासन के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रवाद के विकास पर भी इस इकाई में प्रकाश डाला जाएगा। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

- 1- अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत की औद्योगिक प्रगति के परिचायक कारखानों के विकास के विषय में।
- 2- साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, वाणिज्यवाद तथा मुक्त-व्यापार के विषय में।
- 3- द्वैध शासन प्रणाली की अव्यावहारिकता और उसके दोषों के विषय में।
- 4- राष्ट्रवाद के उद्भव और उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के विषय में।

2.3 उपनिवेशवाद, मुक्तव्यापार, कारखाना, द्वैधशासन, साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद तथा वाणिज्यवाद

2.3.1 उपनिवेशवाद

उपनिवेशवाद का अर्थ है - किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा अपने विभिन्न हितों को साधने के लिए किसी निर्बल किन्तु प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण राष्ट्र के विभिन्न संसाधनों का अपनी शक्ति के बल पर उपयोग करना। उपनिवेशवाद में उपनिवेश की जनता एक विदेशी राष्ट्र द्वारा शासित होती है, उसे शासन में कोई राजनीतिक अधिकार नहीं होता। वस्तुतः हम किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा निहित स्वार्थवश किसी निर्बल राष्ट्र के शोषण को उपनिवेशवाद कह सकते हैं। ब्रिटानिक रेडी रिफ़रेन्स एनसाइक्लोपीडिया के अनुसार उपनिवेशवाद किसी शक्ति का अपने अधीनस्थ क्षेत्र तथा उसके निवासियों पर नियन्त्रण है। कॉलिन्स इंग्लिश डिक्शनरी में उपनिवेशवाद को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है -

एक शक्ति (देश) द्वारा अपने से दुर्बल शक्ति (देश) पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने की नीति एवं उसका क्रियान्वयन। उपनिवेशवाद - देशज अथवा दूसरे क्षेत्रों से बलपूर्वक लाए

गए (दास, अर्ध-दास, बंधुआ मजदूर आदि) बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यक विदेशी शासकों के मध्य असमान सम्बन्ध है। इसमें शासित प्रजा के जीवन को प्रभावित करने वाली आधारभूत नीतियों का निर्धारण तथा उनका क्रियान्वयन औपनिवेशिक शक्ति के हितों को ध्यान में रखकर औपनिवेशिक शासकों की राजधानी में किया जाता है। औपनिवेशिक शक्तियां अधीनस्थ प्रजाजनों के साथ किसी भी प्रकार के सांस्कृतिक समझौते को अस्वीकृत करती हैं क्योंकि वो खुद को उनसे श्रेष्ठ मानती हैं और यह भी समझती हैं कि उन्हें शासित शक्तियों पर शासन करने का नैतिक अधिकार है। उपनिवेशवाद के निहितार्थों में उपनिवेश के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, उपनिवेशों के लिए नए बाजार का निर्माण तथा उपनिवेशों की जीवन शैली को अपनी राष्ट्रीय सीमा से परे विस्तारित करना सम्मिलित है। 'व्हाइट मैन्स बर्डेन' श्वेतों द्वारा उपनिवेशों की स्थापना के बाद वहां के निवासियों के मध्य अपनी संस्कृति के प्रचार-प्रसार को न्यायोचित ठहराने का प्रयास था। यह यूरोपीय जातियों का स्व-आरोपित नैतिक दायित्व था जिसके अनुसार वे अपना कर्तव्य मानती रहीं कि अश्वेत जातियों, विशेषकर अधीनस्थ उपनिवेशों की प्रजा का नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, आर्थिक एवं राजनीतिक उत्थान उन्हीं को करना है। रुडयार्ड किपलिंग ने अपनी एक कविता में श्वेत जाति के इस नैतिक दायित्व का उल्लेख किया था।

आधुनिक उपनिवेशवाद का आरम्भ भौगोलिक खोजों के युग के साथ हुआ। स्पेन और पुर्तगाल ने समुद्र पार नए भू-क्षेत्रों की खोज की और उन्हें जीत कर वहां अपने व्यापारिक बन्दरगाहों की स्थापना की। यूरोपीय औपनिवेशिक काल 15 वीं से 19 वीं शताब्दी तक था। 15 वीं शताब्दी में पुर्तगाल, स्पेन, ब्रिटेन, नीदरलैण्ड्स और फ्रांस आदि यूरोपीय देशों ने एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका में अपने उपनिवेशों की स्थापना की थी। प्रारम्भ में औपनिवेशिक शक्तियों ने अपने गृह-क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए वाणिज्यवादी नीतियों का पालन किया और यह सुनिश्चित किया कि उनके उपनिवेशों के बाह्य व्यापार पर उनका एकाधिकार हो, (उनके उपनिवेश केवल उनके गृह क्षेत्र के साथ व्यापार करने के लिए बाध्य हों) और उनकी प्रतिद्वन्दी शक्तियां उनके उपनिवेशों में किसी भी प्रकार की व्यापारिक गतिविधियां न कर सकें। भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी युद्धों का कारण भारत में अपना-अपना व्यापारिक एकाधिकार स्थापित करना था। 19वीं शताब्दी के मध्य तक शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य ने वाणिज्यवादी व्यापारिक प्रतिबन्धों का परित्याग कर सीमा-शुल्कों पर सीमित प्रतिबन्धों वाली मुक्त-व्यापार की नीति अपना ली।

भारत ब्रिटेन का सबसे बड़ा उपनिवेश था। उपनिवेशों के व्यापार पर एकाधिकार करने, उनकी औद्योगिक प्रगति में अवरोध डालने, उपनिवेशों की कृषि के व्यावसायीकरण करने, की नीति के उदाहरण हम भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बाद देख सकते हैं -

नमक के उत्पादन व विक्रय, शोरा व्यापार (बारूद बनाने के लिए आवश्यक तत्व) नील के उत्पादन व निर्यात, अफ्रीम के उत्पादन व निर्यात पर एकाधिकार, भारतीय उद्योग की प्रगति में अवरोध, गन्ना, तिलहन, नील, अफ्रीम, कपास, पटसन आदि व्यावसायिक फ़सलों के

उत्पादन पर बल, कुटीर उद्योगों के पतन, अकालों तथा महामारी की आवृत्ति और उनकी भयावहता में वृद्धि, अकाल के समय भी अनाज का निर्यात, खाद्य पदार्थों के स्थान पर व्यापारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी वाणिज्यिक फ़सलों के उत्पादन को वरीयता, प्रशासनिक तथा सैनिक अपव्यय, होम चार्ज, भारतीय ऋण, भारत को ब्रिटिश माल का सबसे बड़ा बाज़ार और ब्रिटिश कारखानों के लिए आवश्यक कच्चे माल की सबसे बड़ी मण्डी बनाना, ब्रिटिश पूंजीपतियों को भारत में लाभकारी एवं सुरक्षित पूंजी-निवेश के अवसर उपलब्ध कराना, मुक्त-व्यापार की एक-पक्षीय नीति अपना कर भारतीय सामान विदेशी बाज़ारों के लिए महंगा और भारत में अंग्रेज़ी माल सस्ता कराना, धन का भारत से इंग्लैण्ड की ओर निर्बाध प्रवाह आदि भारत में औपनिवेशिक शासन की आर्थिक विरासत थी।

रंगभेद, जातिभेद, फूट डाल कर शासन करना, औपनिवेशिक प्रजा के राजनीतिक अधिकारों की सर्वथा उपेक्षा करना तथा अपने अधिकारों की मांग करने पर उनका निर्ममतापूर्वक दमन करना आदि औपनिवेशिक शासकों की सामान्य नीति थी।

अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम, फ्रांस की क्रान्ति, इटली व जर्मनी के एकीकरण, प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान लोकतान्त्रिक मूल्यों की महत्ता और उसकी समाप्ति पर अनेक देशों को औपनिवेशिक शासन से मुक्ति दिए जाने और उपनिवेशों में अहिंसात्मक व हिंसात्मक स्वतन्त्रता आन्दोलनों से उपनिवेशवादी शक्तियों को आघात लगा और बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक तो उपनिवेशवाद का दुनिया से अस्तित्व ही लगभग समाप्त हो गया।

2.3.2 मुक्त व्यापार

मुक्त-व्यापार अथवा लेज़र फ़ेयर एक आर्थिक परिवेश है जिसमें व्यापारिक एवं औद्योगिक गतिविधियों में सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। यह व्यक्ति के आर्थिक स्वातन्त्र्य का पक्षधर है। मुक्त-व्यापार की नीति को लोकप्रिय बनाने का श्रेय 18 वीं शताब्दी के फ्रांसीसी वाणिज्य अधीक्षक विन्सेन्ट दी गोर्ने तथा फ्रांसीसी व्यापारी एम० ली जेन्ट्रे को जाता है। इंग्लैण्ड में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ, दि इकॉनॉमिस्ट पत्र के संस्थापक जेम्स विल्सन तथा रिचर्ड कॉब्डेन ने और अमेरिका में सिडनी फिन ने इस विचारधारा का विकास किया था। मुक्त व्यापार के पक्षधरों के अग्रंकिर्त तर्क थे:

1. मुक्त-व्यापार से दोनों पक्षों को लाभ होता है। इसमें कोई भी ऐसे बाज़ार माल खरीद सकता है जहां पर वह सस्ते से सस्ता हो और कोई भी अपना माल ऐसे बाज़ार में बेच सकता है जहां पर उसे उसका अधिक से अधिक दाम मिले।
2. मुक्त-व्यापार में सभी देशों को आर्थिक लाभ होगा और विश्व की कुल सम्पत्ति में वृद्धि होगी।
3. मुक्त-व्यापार से विभिन्न राष्ट्रों के मध्य तथा विभिन्न समुदायों के मध्य सद्भाव बढ़ेगा।

1. 1813 के चार्टर एक्ट द्वारा मुक्त-व्यापार की नीति को बढ़ावा दिया गया और पिछली दो शताब्दियों से चला आ रहा ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। इस व्यवस्था ने ब्रिटेन के मुक्त व्यापारियों को भारत में अपनी व्यापारिक गतिविधियां करने की खुली छूट दे दी। इस व्यवस्था ने इंग्लैण्ड में हुई औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड की आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद अधिशेष उत्पादन की भारत के बाज़ार में व्यापक स्तर पर खपत और भारत के कच्चे माल की ब्रिटिश कारखानों में निर्बाध आपूर्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अब तक लगभग आत्मनिर्भर रहने वाली भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था, लंकाशायर, मानचेस्टर और शेफ़ील्ड के उद्योगपतियों द्वारा नियन्त्रित की जाने लगी। मुक्त व्यापार की नीति की आर्थिक राष्ट्रवाद के पक्षधरों ने आलोचना करते हुए निम्न तर्क रखे- 1- अपने देश के पक्ष में व्यापार सन्तुलन रखने के लिए आयात पर नियन्त्रण लगाया जाना आवश्यक है अन्यथा देश का धन निर्बाध रूप से औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों तक पहुंचता जाएगा।

2-देश की नवजात औद्योगिक संस्थाएं औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों से आयातित सामान की गुणवत्ता और उनकी कम कीमतों का मुकाबला नहीं कर सकतीं अतः उनको राज्य की ओर से संरक्षण दिया जाना आवश्यक है।

मुक्त-व्यापार की एक-पक्षीय नीति अपना कर अंग्रेजों ने भारतीय सामान विदेशी बाज़ारों के लिए महंगा और भारत में अंग्रेजी माल सस्ता करा दिया। इससे भारतीय कारीगरों के हाथ से स्थानीय और विदेशी, दोनों ही बाज़ार निकल गए। ब्रिटिश पूंजीपतियों ने रेलवेज, जूट उद्योग, चाय तथा कॉफी के बागान, बैंक, जहाजरानी और भारतीय ऋण में पूंजी-निवेश किया। मुक्त-व्यापार की भारत की अर्थव्यवस्था के प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण पौण्ड की तुलना में रुपये में भारी गिरावट देखी गई। मुक्त-व्यापार के पक्षधरों ने अपने देश के उद्योग को संरक्षण देना जारी रखा। भारतीय उत्पादों, विशेषकर कपड़े पर 15 प्रतिशत का निर्यात कर पूर्ववत् लगाया जाता रहा।

रेलों के चलन से भारतीय उद्योग के विनाश का मार्ग प्रशस्त हुआ। अंग्रेजों की स्वार्थपरक नीतियों के कारण भारतीय कुटीर उद्योग उजड़ गया। कारीगरों ने अपने पुश्तैनी धंधे छोड़ खेती करना या मज़दूरी करना शुरू कर दिया। भारत कच्चे माल की मण्डी बन गया। मुक्त-व्यापार की नीति के कारण भारत से कपास, जूट और अनाज का निर्यात निरन्तर बढ़ता रहा। परिवारों की औसत आय में कमी आई, खेती पर बोध बढ़ा, अकालों की आवृत्ति बढ़ी और अशिक्षा और दारिद्र्य का साम्राज्य स्थापित हुआ। दादा भाई नौरोजी की पुस्तक पॉवर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया में अंग्रेजों की आर्थिक दोहन की नीति के कुपरिणामों यथा भारत की बढ़ती हुई गरीबी, औद्योगिक पिछड़ापन और अकालों के कारण हुए विनाश आदि को दर्शाया गया था।

2.3.3 कारखाना

सल्तनत काल और मुगल काल में राज्य द्वारा संरक्षित एवं नियन्त्रित, उत्पाद बनाने वाली संस्था को कारखाना कहा जाता था। भारत की मुख्यतः ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उत्पादन एवं आपूर्ति

की भिन्न पृष्ठभूमि से आए हुए मुस्लिम शासकों के लिए अपनी विशिष्ट निजी आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए राज्य द्वारा समर्थित एवं नियन्त्रित कारखानों की स्थापना की गई। इन कारखानों में मुख्यतः शाही परिवार तथा सरकारी विभागों के उपयोग में आने वाली ऐसी सामग्री तैयार की जाती थी जो कि बाज़ार में सहज रूप से उपलब्ध नहीं होती थी। सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने ऐसे कई कारखानों की स्थापना की थी और उसके उत्तराधिकारी सुल्तान फ़िरोज़ तुगलक ने भी कई कारखानों की स्थापना की थी और साथ ही साथ उनमें व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की थी।

बादशाह अकबर के शासनकाल में कारखानों के लिए दीवान-ए-बयूतत तथा मीर-ए-सामां के आधीन एक अलग विभाग स्थापित किया गया। इन कारखानों में युवा प्रशिक्षुओं के प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया गया। प्रशिक्षुओं को एक उस्ताद की देखरेख में वर्षों तक सम्बन्धित हुनर के सभी आवश्यक गुर सिखाए जाते थे। धीरे-धीरे प्रशिक्षु स्वयं अपने हुनर में उस्ताद बन जाते थे। इन कारखानों में एक उच्च राज्य अधिकारी अपनी देखरेख में सामान तैयार करवाता था। उसके इस कार्य में उसके अनेक सहायक (मुतसरीफ़) उसकी सहायता के लिए नियुक्त किए जाते थे।

इन कारखानों में धातु-कर्म, खनन, सिक्कों का निर्माण (टकसाल), वस्त्र-निर्माण, अस्त्र-शस्त्र निर्माण, आभूषण-निर्माण आदि कार्य किए जाते थे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत आने वाले फ्रांसीसी यात्री फ्रैंकोइस बर्नियर ने मुगल कारखानों में तैयार किए गए उत्पादों की गुणवत्ता की प्रशंसा की है। फ़तहपुर सीकरी के कारखानों में सिक्कों का निर्माण, उच्च कोटि के वस्त्रों का निर्माण, अर्ध-बहुमूल्य एवं बहुमूल्य पत्थर को तराशने का कार्य, मीनाकारी, हाथीदांत का काम किया जाता था। आगरा, लाहौर आदि नगरों में भी शाही कारखाने थे। प्रान्तीय शासकों की देखरेख में अहमदाबाद, औरंगाबाद, बुरहानपुर, काश्मीर आदि क्षेत्रों में भी कारखाने स्थापित किए गए थे। बंगाल में शाही कारखानों में शाही परिवार तथा आभिजात्य वर्ग के लिए सर्वश्रेष्ठ और सबसे कीमती वस्त्र तैयार किए जाते थे।

अकबर स्वयं कारखानों में जाकर विशिष्ट उत्पादों के निर्माण में अभिरुचि लेता था। बादशाह जहांगीर को उस्ताद दाऊद ने कारखाने में उल्कापात के पदार्थ और लोहे के सम्मिश्रण से एक नायाब कटार बनाकर पेश की थी। शाहजहां ने अपने कारखाने में बना सोने का बना रत्नजड़ित शमादान मक्का के पवित्र स्थल के लिए भेजा था।

शाही मुगल कारखाने अपने समय में सामूहिक रोज़गार तथा उत्पादन के सबसे बड़े केन्द्र थे। इन कारखानों में बड़ी संख्या में कारीगर रखे जाते थे जिन्हें नकद वेतन दिया जाता था जबकि बाज़ार में कारीगर को उत्पाद के विक्रय का लाभांश प्राप्त होता था। कारखानों में कारीगरों को नकद वेतन दिए जाने से उन्हें उत्पादन की मात्रा बढ़ाने व उनकी गुणवत्ता बनाए रखने में कोई उत्साह नहीं रहता था। किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि कारखानों में उत्पादों की गुणवत्ता सदैव बनी रहती थी। शाही कारखानों के अतिरिक्त स्वयं अमीर कारीगरों, विशेषकर बुनकरों ने अपने

कारखाने भी स्थापित किए। लखनऊ और काश्मीर में ऐसे कारखानों में एक साथ 300 तक कारीगर काम करते थे।

अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के पतन के बाद मुगलों, अधीनस्थ शासकों तथा अमीरों के आर्थिक संसाधनों में कमी आने व राजनीतिक अराजकता की स्थिति में कारखानों की अवनति होती चली गई। अंग्रेजों ने भारत में राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के बाद उत्पादन, क्रय-विक्रय, संग्रहण एवं वितरण की प्रणाली में आमूल परिवर्तन कर दिया। इसके परिणामस्वरूप कारखानों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

2.3.4 द्वैध शासन

2.3.4.1 बंगाल में द्वैध शासन की स्थापना

द्वैध शासन का तात्पर्य है - दोहरी सरकार अर्थात् एक-दूसरे से स्वतन्त्र दो शासकों, संस्थाओं, व्यक्तियों द्वारा संचालित सरकार।

द्वैध शासन, बंगाल में क्लाइव द्वारा प्रचलित शासन प्रणाली थी जिसमें कि बंगाल का शासन दो स्वतन्त्र प्राधिकरणों (संस्थाओं) - नवाब और ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा चलाया जाता था। मुगल बादशाह शाह आलम ने 1764 के बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों के हाथों पराजित होकर 1765 की इलाहाबाद की संधि द्वारा अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी (राजस्व एकत्र करने का अधिकार) प्रदान की जबकि इन क्षेत्रों की सुरक्षा और उनके प्रशासन का दायित्व बंगाल के नवाब का था। इस प्रकार 1765 में बंगाल में द्वैध शासन स्थापित हुआ। क्लाइव बंगाल के प्रत्यक्ष शासन से बचना चाहता था क्योंकि ऐसी स्थिति में इंग्लैण्ड के साथ यूरोपीय शक्तियों के कूटनीतिक सम्बन्ध खराब होने की आशंका थी। अंग्रेज भारतीय प्रशासन, कानून और परम्पराओं से अनभिज्ञ थे अतः प्रत्यक्ष शासन सम्भालने में उनको कठिनाई होती। इस व्यवस्था में अंग्रेजों ने बिना दायित्व के शक्ति प्राप्त की जिसके घातक परिणाम हुए। कम्पनी और नवाब ने जनता के कष्टों की नितांत उपेक्षा की। शान्ति एवम् कानून व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। अराजकता के वातावरण में व्यापार और वाणिज्य को भी अपार हानि हुई। कम्पनी के कर्मचारियों का निजी व्यापार भारतीय व्यापार के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। 1770 में बंगाल के अकाल में द्वैध-शासन की भ्रष्ट व्यवस्था के कारण भयंकर विनाश हुआ। 1772 में इस व्यवस्था को बदल दिया गया।

2.3.4.2 1919 के गवर्नमेन्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट द्वारा प्रांतों में द्वैध शासन की व्यवस्था

1919 के गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट में प्रान्तीय स्तर पर द्वैध शासन प्रणाली लागू की गई थी। कुछ महत्वपूर्ण विषयों को सुरक्षित रखा गया जिन पर कि गवर्नर अथवा लेफ्टिनेन्ट गवर्नर का सीधा नियन्त्रण था, इनमें प्रमुख थे - वित्त, कानून एवं शान्ति व्यवस्था, संचार, पुलिस तथा अकाल सहायता। इन विषयों का प्रशासन गवर्नर/लेफ्टिनेन्ट गवर्नर तथा उसकी कार्यकारी परिषद द्वारा संचालित होना था। शेष विषयों को हस्तान्तरित विषयों की श्रेणी में रखा गया

जिनको कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों में से गठित मन्त्रिमण्डल के अधीन रखा गया। इन हस्तान्तरित विषयों में शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, उद्योग, स्थानीय स्वशासन आदि सम्मिलित थे। इन हस्तान्तरित विषयों पर भी गवर्नर अथवा लेफ्टिनेन्ट गवर्नर को हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया था।

द्वैध शासन की संकल्पना और संरचना दोनों ही दोषपूर्ण थीं। शासकीय कार्य का एक-दूसरे से स्वतन्त्र दो इकाइयों में विभाजन नितान्त अव्यावहारिक था। सुरक्षित और हस्तान्तरित विषयों का विभाजन भी दोषपूर्ण था। इन विषयों को भी एक-दूसरे से पूरी तरह अलग करके दो स्वतन्त्र इकाइयों को नहीं सौंपा जा सकता था। जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों में से आए हुए मन्त्री अपने क्षेत्र की जनता के प्रति जवाबदेह थे इसलिए उनके लिए जनता के हित सर्वोपरि थे जबकि गवर्नर अथवा लेफ्टिनेन्ट गवर्नर और नौकरशाही की निष्ठा ब्रिटिश ताज तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति थी और उनके लिए साम्राज्यवादी हित ही सर्वोपरि थे इसलिए मन्त्रियों का गवर्नर अथवा लेफ्टिनेन्ट गवर्नर, तथा इण्डियन सिविल सर्विस अथवा इण्डियन पुलिस के अधिकारियों से तालमेल बैठ पाना असम्भव था। मन्त्री अपने ही विभाग के उच्च अधिकारियों पर अपना नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सकते थे। अपनी जनता और विधायिका के प्रति उत्तरदायी होने के साथ-साथ मन्त्री गवर्नर अथवा लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के अधीन भी थे और वही उनको नियुक्त अथवा अपदस्थ करने का अधिकार भी रखता था।

सुरक्षित विषयों का वित्तीय आधार सुदृढ़ था जब कि हस्तान्तरित विषयों को वित्तीय आवंटन में प्रायः उपेक्षा का सामना करना पड़ता था। हस्तान्तरित विषय सुरक्षित विषयों की तुलना में कम महत्वपूर्ण थे। भारतीयों के साथ-साथ साइमन कमीशन ने भी द्वैध शासन की कार्य-प्रणाली को नितान्त असफल माना था। 1935 के गवर्नमेन्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट में प्रान्तों को स्वायत्त शासन दिए जाने के प्रावधान ने प्रान्तों में द्वैध शासन की व्यवस्था को समाप्त कर दिया।

2.3.5 साम्राज्यवाद

साम्राज्यवाद वह नीति है जिसमें कोई राज्य दूसरे राज्यों के भू-क्षेत्रों पर अधिकार करता है अथवा उनकी अर्थ-व्यवस्था व राजनीतिक व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। इसमें सैनिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक दृष्टि से सशक्त राज्य अपनी आक्रामक नीति से अपने से कमजोर राज्यों पर तथा उनके निवासियों पर शासन करते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति और पराधीन शक्ति में एक असमान सम्बन्ध होता है। पराधीन शक्ति के संसाधनों का तथा उसकी श्रम-शक्ति का अपने हितों के लिए उपयोग करना साम्राज्यवादी शक्ति अपना अधिकार समझती है। उसकी गृह-नीति अथवा विदेश नीति का वही निर्धारण करती है। उसकी सेना को कमजोर करती है अथवा नष्ट कर देती है। साम्राज्यवादी शक्ति प्रायः अपने निवासियों के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्य पराधीन शक्ति के निवासियों पर स्थापित करती है।

शासकों की 'ग्रीड फ़ॉर गोल्ड एण्ड लस्ट फ़ॉर ग्लोरी' की भावना ने साम्राज्यवाद को प्राचीन काल से ही पोषित किया है। ईरान के साइरस, मैसीडोनिया के एलेक्जेंडर दि ग्रेट, चीन के चिन

शी हुआंग, पवित्र रोमन सम्राट चार्ल्स दि ग्रेट और मंगोलिया के चंगेज खां ने अपने सैन्य बल द्वारा विशाल साम्राज्यों की स्थापना की। विश्व-इतिहास में केवल सम्राट अशोक को हम धार्मिक एवं सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रतिनिधि कह सकते हैं। आधुनिक काल में ब्रिटिश साम्राज्य ही एक ऐसा साम्राज्य था जिसमें सूरज कभी डूबता नहीं था। स्पेनिश, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, इटैलियन, बेल्जियन, डच आदि यूरोपीय शक्तियों ने अमेरिका, एशिया और अफ्रीका में अपने उपनिवेश स्थापित कर पराधीन राष्ट्रों की एक अटूट श्रृंखला स्थापित कर दी।

सैनिक विजय प्राप्त करने हेतु जन-संहार, विजय प्राप्त करने के बाद फिर से जन-संहार, विध्वंस, लूट, पराजित राज्य के निवासियों के साथ पशुवत व्यवहार और उनका हर सम्भव दोहन, उनकी धार्मिक भावनाओं तथा उनकी सांस्कृतिक विरासत पर चोट, उन पर अपनी भाषा, अपना धर्म, अपने सांस्कृतिक मूल्य लादना, उनके नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों का दमन, उनकी स्त्रियों का अपमान एवं यौन-शोषण आदि अन्यायपूर्ण गतिविधियों को हम साम्राज्यवाद से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ देखते हैं। इस पर विडम्बना यह कि साम्राज्यवादी शक्तियां हमेशा यह दावा करती थीं कि उन्होंने पराजित राज्य अथवा राष्ट्र की जनता का उद्धार किया है। लॉर्ड डलहौजी ने अपनी साम्राज्य विस्तार की नीति के अन्तर्गत अवध को कुशासन के बहाने और व्यपगत के सिद्धान्त द्वारा अनेक राज्यों के अधिग्रहण के समय उन राज्यों की प्रजा का उद्धार करने का दावा किया था। भारत में अंग्रेज हमेशा यह दावा करते थे कि उन्होंने भारतीयों को अराजकता से मुक्ति दिलाकर शान्ति एवं सुरक्षा प्रदान की है और उन्हें अज्ञान और बर्बरता से मुक्ति दिलाकर जागरूक व सभ्य बनाया है। इस विषय में व्हाइट मैन्स बर्डेन की हास्यास्पद गर्वोक्ति शासक वर्ग के अहंकार तथा आत्म-प्रशंसा के भाव का प्रतिनिधित्व करती है।

उपनिवेशवाद द्वारा पराजित राष्ट्र की भूमि पर अधिकार, वाणिज्यवाद द्वारा पराजित राष्ट्रों के व्यापारिक लाभ पर एकाधिकार, मुक्त-व्यापार के नाम पर औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े पराधीन राष्ट्रों का निर्बाध दोहन करना, पराजित राष्ट्रों की औद्योगिक प्रगति में अवरोध उत्पन्न करना, उनको शासक देश के उद्योग हेतु आवश्यक कच्चे माल की मण्डी बनाना और उनके बाजारों में अपने देश का बना तैयार माल भरना, रंगभेद व जातिभेद की नीति अपनाना, अपने धर्म के प्रचारकों को सहायता देना, अपने धर्म का परित्याग कर शासक वर्ग के धर्म अपनाने वालों को संरक्षण देना आदि भी साम्राज्यवाद के सामान्य लक्षण कहे जा सकते हैं।

साम्राज्यवाद के विरुद्ध हर काल में पराजित राष्ट्रों तथा पराधीन राष्ट्रवासियों ने सशस्त्र विरोध किया है किन्तु साम्राज्यवाद के विरुद्ध अहिंसक आन्दोलन कर भारतीयों ने एक नया इतिहास रचा था और अपने अभियान में सफलता प्राप्त कर शेष पराधीन राष्ट्रों को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए एक नया मार्ग सुझाया था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीतिक साम्राज्यवाद का लगभग उन्मूलन हो गया है किन्तु आर्थिक, सैनिक एवं सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का दौर अभी समाप्त नहीं हुआ है अपितु वह अब पहले की तुलना में और अधिक शक्तिशाली व व्यापक हो गया है।

2.3.6 राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद शब्द का उद्भव राष्ट्र शब्द से हुआ है। राष्ट्रवाद, राष्ट्र से बनी भाववाचक संज्ञा है। अतः जहां राष्ट्र एक विशिष्ट जन-समूह की ओर इंगित करता है वहां राष्ट्रवाद उस जन-समूह में पाई जाने वाली एक सी भावनाओं का द्योतक है। राष्ट्रवाद, राष्ट्र के निवासियों में देशप्रेम, राजभक्ति तथा परस्पर आत्मीयता की भावना को अभिव्यंजित करता है। राष्ट्रवाद देशवासियों में 'हम' की भावना का विकास करता है। राष्ट्रवाद एक आस्था है, एक धर्म है अथवा एक राजनीतिक विचारधारा है जिसमें कि एक विशिष्ट जन-समूह एक राष्ट्र के रूप में अपनी एक अलग पहचान बनाता है। राष्ट्रवादी भावना के विकास में राष्ट्र-ध्वज, राष्ट्र-गान, राष्ट्र-भाषा आदि राष्ट्र की विशिष्ट पहचान के प्रतीकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। राष्ट्रवाद की भावना को विकसित करने में अनेक तत्व सहायक होते हैं, जैसे -

जन-समूह के मध्य जातीय एकता होना, समान धर्म का होना, जन-समूह का निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होना, भाषा, संस्कृति में समानता होना तथा समान इतिहास तथा समान हितों का होना।

प्राचीन काल में भारतीयों में राष्ट्रवादी भावना के सर्वत्र दर्शन होते हैं। वेदों में राष्ट्र की रक्षा और सुरक्षा, एकता और संगठन पर अनेकों बार प्रकाश डाला गया है। इनमें अपने नगरों, नदियों, वनों और पर्वतों के प्रति अपार प्रेम दर्शाया गया है, अपनी मातृभूमि, मातृ संस्कृति और मातृभाषा का समादर करने की प्रेरणा दी गई है। राष्ट्र की देवी को राष्ट्र का सर्वस्व कहा गया है; अपने राष्ट्र के नाम को अपने राष्ट्र के सार्वभौम सम्राट भरत के नाम से सम्बद्ध बताकर उसके प्रति आत्मीयता का भाव जोड़ा गया है किन्तु वेद आर्य जाति तथा आर्य संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं जब कि भारत में अनार्य जातियों व अनार्य संस्कृतियों का भी अस्तित्व था। भारत में मौर्य, गुप्त तथा मुगल साम्राज्य में राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकता स्थापित हुई जिसने देशवासियों को भावनात्मक दृष्टि से भी एकसूत्र में बांधने में योगदान दिया।

सर सैयद अहमद खान ने भारत को विभिन्न राष्ट्रों का समूह बताया था। भारत के विषय में सर जॉन स्ट्रेची ने कहा था -

‘भारत के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि न यह कोई देश है और न कभी था। यहां यूरोपीय धारणाओं के अनुकूल भौतिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक एकता है ही नहीं।’

सर जॉन सीले के विचार भी यही भाव व्यक्त करते हैं -

‘भारत कोई राजनीतिक इकाई नहीं है, यह केवल एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है, जैसे कि यूरोप अथवा अफ्रीका। यह किसी देश के क्षेत्रफल या भाषा को व्यक्त नहीं करता अपितु यह कई राष्ट्रों और भाषाओं की ओर संकेत करता है।’

उपरोक्त विचारों में किंचित सत्यता का पुट अवश्य है। अनेकता में एकता का दावा करते हुए भी भारतीय यूरोपीय देशों के निवासियों की भांति एक संस्कृति, एक जाति, एक भाषा तथा एक धर्म

से जुड़े हुए नहीं हैं। साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद और भाषावाद ने भारत में राष्ट्रवाद के विकास में बाधा पहुंचाई है। अंग्रेजों का दावा था कि उन्होंने ही भारत को एक राष्ट्र के रूप में विकसित कर उसके निवासियों में राष्ट्रवाद की भावना का विकास किया था।

वास्तव में राष्ट्रवाद एक आधुनिक भावना है। यह भावना राष्ट्रप्रेम की द्योतक है। यूरोप में 16 वीं तथा 17 वीं शताब्दी के धर्म सुधार आन्दोलनों ने राष्ट्रवाद की चेतना का विकास किया। अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम तथा फ्रांस की क्रान्ति के पश्चात यह भावना पूरे विश्व में फैल गई। एक ही राष्ट्रियता के निवासियों ने स्वयं को संगठित कर राष्ट्रीय राज्यों (नेशन स्टेट) की स्थापना के प्रयास किए। यूरोप के जो राष्ट्र पराधीन थे, उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ कर दिए। परिणामस्वरूप बेल्जियम, ग्रीस, पोलैण्ड, हंगरी, नौर्वे, इटली, जर्मनी तथा बाल्कन प्रायद्वीप में राष्ट्रीय एकता व स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष प्रारम्भ हो गए। राष्ट्रवाद की भावना के विकास ने 'स्वायत्त निर्णय के अधिकार' के सिद्धान्त को जन्म दिया जिसका कि तात्पर्य है - 'प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य निर्णय का अधिकार है और उसमें किसी बाहरी शक्ति को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है।' इस विषय में उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में जर्मनी तथा इटली के एकीकरण तथा उनके स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में विकास ने पूरे विश्व के परतन्त्र राष्ट्रों में राष्ट्रवादी भावनाओं के विकास के लिए अनुकूल वातावरण बनाया।

उपनिवेशों में शासित जनता ने राष्ट्रवादी भावना का पोषण कर अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। 1857 के विद्रोह में उर्दू पत्र पयामे आज़ादी के कौमी तराने में राष्ट्रवादी भावना के दर्शन होते हैं। बंकिमचन्द्र चटर्जी रचित 'वन्दे मातरम्' गीत, इकबाल का कौमी तराना 'सारे जहां से अच्छा', हमारा तिरंगा, 'जय हिन्द' का नारा आदि भारत में राष्ट्रवाद की भावना के प्रसार में सहायक सिद्ध हुए। आर्थिक राष्ट्रवाद के उदय ने भारत में आर्थिक स्वदेशी की भावना का विकास किया। आगे चलकर भारत में राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक आत्मनिर्भरता की भावना के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता का भी विकास हुआ।

भारत में तथा विश्व के अन्य भागों में उग्र राष्ट्रवाद के विकास ने संकुचित राष्ट्रीयता एवं असहिष्णुता की भावना को विकसित किया। इटली तथा जर्मनी में अति राष्ट्रवाद के विकास ने अधिनायकतन्त्र तथा आक्रामक साम्राज्यवादी विचारधारा का पोषण किया। वास्तव में किसी देश में राष्ट्रवादी भावना तभी तक कल्याणकारी है जब तक कि वह अन्य राष्ट्रों की अस्मिता और स्वतन्त्रता का सम्मान करती हो अन्यथा द्वितीय विश्व युद्ध जैसी त्रासदी का हम सबको सामना करना पड़ सकता है।

2.3.7 वाणिज्यवाद

वाणिज्यवाद वह आर्थिक अवधारणा है जिसमें राज्य की सैनिक सुरक्षा के लिए विदेश-व्यापार पर राज्य के नियन्त्रण का अत्यन्त महत्व होता है। इसमें राज्य द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि व्यापार-सन्तुलन सदैव उसके पक्ष में रहे। वाणिज्यवाद में व्यापारिक लाभ के असंगत अधिकार अथवा एकाधिकार पर बल दिया जाता है। वाणिज्यवाद ने भौगोलिक खोजों के युग से लेकर

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व तक अर्थात् 16 वीं शताब्दी से लेकर 18 वीं शताब्दी के अन्त तक और राष्ट्रीय राज्यों के उदय के काल में पश्चिमी यूरोप के देशों की आर्थिक नीतियों को एक प्रकार से संचालित किया। नौ-सैनिक शक्ति के विकास तथा माल-वाहक जहाजों की क्षमता व गुणवत्ता में उल्लेखनीय सुधार ने यूरोपीय शक्तियों को पूरी दुनिया के व्यापार पर अपना अधिकार करने के लिए प्रेरित किया। अब यह विचारधारा जोर पकड़ने लगी थी कि धन के द्वारा ही कोई देश शक्तिशाली बन सकता है। सैनिक दृष्टि से पिछड़े किन्तु प्राकृतिक संसाधनों में समृद्ध राष्ट्रों को अपना उपनिवेश बनाकर, वहां के आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार पर अपना एकाधिकार कर महत्वाकांक्षी राष्ट्र अपरिमित धन कमा सकते थे। स्वाभाविक था कि धन एकत्र करने के लिए शक्तिशाली देशों के मध्य उपनिवेश स्थापित करने की होड़ मच जाय। वाणिज्यवाद बहुधा यूरोपीय युद्धों का कारण बना। भारत में आंग्ल-फ्रांसीसी युद्धों के पीछे भी वाणिज्यवादी होड़ का हाथ था। अमेरिका के निवासियों द्वारा स्वतन्त्रता संग्राम भी मुख्यतः इंग्लैण्ड के व्यापारिक प्रभुत्व के विरुद्ध आरम्भ हुआ था।

वाणिज्यवाद में व्यापार सन्तुलन को अपने पक्ष में बनाए रखने हेतु उपाय

1. आयातित तैयार माल पर ऊंची दर पर सीमा शुल्क लगाया जाना।
2. समुद्र पार उपनिवेशों का जाल बिछाना।
3. उपनिवेशों के अन्य राष्ट्रों से व्यापारिक सम्बन्ध रखने पर प्रतिबन्ध लगाना।
1. सोने-चांदी का निर्यात न होने देना और आयातित माल का भुगतान किसी भी स्थिति में सोने-चांदी के रूप में न करना।
2. विदेशी जहाजों में व्यापारिक गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगाना।
3. निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए विभिन्न उद्योगों को राज्य की ओर से आर्थिक सहायता उपलब्ध कराना।
4. उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिए शोध को बढ़ावा व आर्थिक सहायता देना।
5. श्रमिकों के पारश्रमिक को सीमित करना।
6. राज्य के संसाधनों का पूर्ण सदुपयोग करना।

अंग्रेज व्यापारी टॉमस मन (1571-1641) को वाणिज्यवाद का जनक कहा जाता है। उसकी 1630 में लिखी गई पुस्तक ट्रेज़र बाई फ़ोरेन ट्रेड में वाणिज्यवाद की अवधारणा का विकास किया गया है। फ्रांस में जीन बोदिन तथा कोल्बर्ट ने वाणिज्यवाद का पोषण किया। कोल्बर्ट ने फ्रांस के प्रधानमंत्री के रूप में स्वदेशी उद्योग को संरक्षण दिया, विदेश से निष्णात कारीगर बुलवा कर अपने यहां के कारीगरों को प्रशिक्षण दिलाया, सड़कों तथा नहरों का जाल बिछवाकर आन्तरिक तथा बाह्य व्यापार की उन्नति के प्रयास किए। आस्ट्रिया के वोन हॉर्निक ने राष्ट्रीय सम्पदा बढ़ाने के लिए भूमि का कृषि, खनन व उत्पादन हेतु अधिकतम प्रयोग पर बल दिया। उसने अपने देश में बनने वाली किसी भी वस्तु के आयात को अनुचित माना और देश की

आवश्यकता पूर्ति के बाद बचे हुए उत्पादों के निर्यात से देश में सोने-चांदी की आवक पर बल दिया। इंग्लैण्ड में ट्यूडर तथा स्टुअर्ट काल में वाणिज्यवाद का बोलबाला रहा। वाणिज्यवाद के बल पर ही इंग्लैण्ड विश्व की सबसे बड़ी व्यापारिक एवं साम्राज्यवादी शक्ति बन गया।

वाणिज्यवाद में नैतिकता, मानवीयता और न्याय का कोई स्थान नहीं था। इसमें शक्तिशाली को दूसरे को कुचलने और उसका शोषण करने का पूरा अधिकार था (और शक्तिशाली केवल धन एकत्र करके ही बना जा सकता था)। वाणिज्यवाद में राज्य और व्यापारीगण, धन एकत्र करने की होड़ में एक दूसरे के हिस्सेदार थे।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुई औद्योगिक क्रान्ति के बाद मुक्त-व्यापार की नीति का पोषण किया जाने लगा और वाणिज्यवादी विचारधारा पृष्ठभूमि में चली गई।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए-

1. मुक्त-व्यापार
2. बंगाल में द्वैध शासन
3. वाणिज्यवाद

2.4 सारांश

सल्तनत काल और मुगल काल में राज्य द्वारा समर्थित एवं नियन्त्रित कारखानों की स्थापना की गई। इन कारखानों में धातु-कर्म, खनन, सिक्कों का निर्माण (टकसाल), वस्त्र-निर्माण, अस्त्र-शस्त्र निर्माण, आभूषण-निर्माण आदि कार्य किए जाते थे।

साम्राज्यवाद वह नीति है जिसमें कोई राज्य दूसरे राज्यों के भू-क्षेत्रों पर अधिकार करता है अथवा उनकी अर्थ-व्यवस्था व राजनीतिक व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है।

किसी शक्तिशाली राष्ट्र द्वारा निहित स्वार्थवश किसी निर्बल राष्ट्र के शोषण को हम उपनिवेशवाद कह सकते हैं। उपनिवेशवाद किसी शक्ति का अपने अधीनस्थ क्षेत्र तथा उसके निवासियों पर नियन्त्रण है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से लेकर 19 वीं शताब्दी तक उपनिवेशवाद का पोषण किया गया।

वाणिज्यवाद में व्यापारिक लाभ के असंगत अधिकार अथवा एकाधिकार पर बल दिया जाता है। वाणिज्यवाद औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना तथा अनेक यूरोपीय युद्धों का कारण बना।

मुक्त-व्यापार एक आर्थिक परिवेश है जिसमें व्यापारिक एवं औद्योगिक गतिविधियों में सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। इस व्यवस्था ने इंग्लैण्ड में हुई औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड के कारखानों में बने माल की भारत के बाजार में व्यापक स्तर पर खपत और भारत के कच्चे माल की ब्रिटिश कारखानों में निर्बाध आपूर्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

द्वैध शासन बंगाल में क्लाइव द्वारा 1765 में प्रचलित की गई शासन प्रणाली थी जिसमें कि बंगाल का शासन दो स्वतन्त्र प्राधिकरणों - नवाब और ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा चलाया जाता था। 1919 के गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट में प्रान्तों में द्वैध शासन की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था दोषपूर्ण एवं अव्यावहारिक थी और दोनों ही बार यह प्रयोग असफल सिद्ध हुआ।

आधुनिक राष्ट्रवाद का विकास 19 वीं शताब्दी में हुआ था। राष्ट्रवाद के विकास ने पराधीन राष्ट्रों को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी थी।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

व्हाइटमैन्स बर्डेन - श्वेत जाति का दुनिया भर के निवासियों को सभ्य बनाने का दायित्व।

मुक्त-व्यापार की एक-पक्षीय नीति - दो पक्षों के मध्य होने वाले व्यापार में ऐसी व्यवस्था करना कि केवल एक ही पक्ष के हिस्से में समस्त व्यापार पहुंचे।

आमूल परिवर्तन - क्रान्तिकारी बदलाव।

ग्रीड फ़ॉर गोल्ड एण्ड लस्ट फ़ॉर ग्लोरी - धन का लोभ और यश की लालसा।

2.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 2.3.2 मुक्त व्यापार
2. 2.3.4.1 बंगाल में द्वैध शासन की स्थापना
3. देखिए 2.3.7 वाणिज्यवाद

2.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

चन्द्रा, बिपन - नेशनलिज़्म एण्ड कोलोलोनियलिज़्म इन मॉडर्न इण्डिया, नई दिल्ली, 1979

धर्म कुमार - दि कैम्ब्रिज इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया वोल्यूम 2, कैम्ब्रिज, 1982

भट्टाचार्य, सब्यसाची - आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास, दिल्ली, 1990

बैनर्जी, ए0 सी0 (सम्पादक) - इण्डियन कॉन्सटीट्यूशनल डवलपमेन्ट 1757-1947, वो0 1, कलकत्ता, 1961

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

चौधरी, के0 एन0 - दि ट्रेडिंग वर्ड ऑफ़ एशिया एण्ड दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी, कैम्ब्रिज, 1978

सरकार, जगदीश एन0 - ए स्टडी ऑफ़ एटीन्थ सेन्चुरी इण्डिया, कलकत्ता, 1976

सेन, सुदीप्त - एम्पायर ऑफ़ फ्री ट्रेड: दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी एण्ड दि मेकिंग ऑफ़ दि कोलोनियल मार्केट प्लेस, फिल्लडेफ़िया, 1998

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

महाजनी, ब्लैक होल, दस्तक, भू-स्वामी, रैयत, निलहे, ठगी प्रथा, गोद प्रथा, निस्स्युन्दन का सिद्धान्त

- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 उद्देश्य
- 3.3 महाजनी, ब्लैक होल, दस्तक, भू-स्वामी, रैयत, निलहे, ठगी प्रथा, गोद प्रथा, निस्स्युन्दन का सिद्धान्त
 - 3.3.1 महाजनी
 - 3.3.2 ब्लैक होल
 - 3.3.3 दस्तक
 - 3.3.4 भू स्वामी
 - 3.3.5 रैयत
 - 3.3.6 निलहे
 - 3.3.7 ठगी प्रथा
 - 3.3.8 गोद प्रथा
 - 3.3.9 निस्स्युन्दन का सिद्धान्त
 - 3.3.9.1 अंग्रेजों का शिक्षा-प्रसार का सीमित दायित्व
 - 3.3.9.2 निस्स्युन्दन सिद्धान्त' की असफलता
 - 3.3.9.3 निस्स्युन्दन सिद्धान्त' के लाभ
- 3.4 सारांश
- 3.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 3.7 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 3.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

अंग्रेजों की शोषक भू-राजस्व नीति के फलस्वरूप ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में महाजनों ने भारतीय ग्रामीणों का निर्बाध आर्थिक दोहन किया था। ब्लैक होल दुर्घटना के अतिरिक्त वृत्तान्त

से अंग्रेजों ने सिराज-उद्-दौला के विरुद्ध अपने षडयन्त्रों को उचित ठहराने का असफल प्रयास किया था। बादशाह फ़र्रुखसियर द्वारा कर-मुक्त व्यापार दस्तक का अंग्रेजों द्वारा दुरुपयोग का विरोध करने पर मीर कासिम को बंगाल के नवाब के पद से हाथ धोना पड़ा। अंग्रेजों की शोषक भू-राजस्व व्यवस्था का एक स्तम्भ ज़मींदार अर्थात् भू-स्वामी थे और इसके सबसे बड़े शिकार थे - रैयत अर्थात् किसान। नील के बागानों के मालिक निलहे, किसानों के आर्थिक शोषण का एक कुत्सित उदहरण थे। ठग वंशानुगत लुटेरे थे। लॉर्ड विलियम बेंटिंग के शासनकाल में कर्नल स्लीमन तथा उसके सहयोगियों ने उनका दमन किया था। निःसन्तानों व पुत्रहीनों द्वारा पुत्र को गोद लेने की प्रथा को भारत में धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मान्यता प्राप्त थी किन्तु अंग्रेजों ने उन्नीसवीं शताब्दी में, विशेषकर डलहौजी के काल में व्यपगत के सिद्धान्त को अपनाकर पुत्रहीन शासकों के राज्यों को उनकी मृत्यु के बाद हड़प लिया। 1858 में महारानी के घोषणापत्र द्वारा व्यपगत का परित्याग कर दिया गया। ब्रिटिश शासकों ने उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक निःस्युन्दन का सिद्धान्त अपनाकर आधुनिक शिक्षा-प्रसार को मुठ्ठी भर लोगों तक सीमित कर दिया। इस इकाई में आपको उपरोक्त बिन्दुओं से अवगत करया जाएगा।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के विभिन्न चरणों और अंग्रेजों की साम्राज्यवादी, प्रशासनिक, शैक्षिक व आर्थिक नीतियों के कुछ महत्वपूर्ण अंगों से आपको परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

- 1- आर्थिक क्षेत्र में महाजनी, दस्तक, भू-स्वामी, रैयत तथा निलहे के विषय में।
- 2- साम्राज्य विस्तार की नीति के अन्तर्गत ब्लैक होल तथा गोद प्रथा के विषय में।
- 3- शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने की नीति के अन्तर्गत ठगी प्रथा के दमन के विषय में।
- 4 - शिक्षा-प्रसार के सीमित दायित्व से सम्बन्धित निःस्युन्दन के सिद्धान्त के विषय में।

3.3 महाजनी, ब्लैक होल, दस्तक, भू-स्वामी, रैयत, निलहे, ठगी प्रथा, गोद प्रथा, निःस्युन्दन का सिद्धान्त

3.3.1 महाजनी

‘महाजनी’ ब्याज पर ऋण के आदान-प्रदान से सम्बन्धित व्यवसाय को कहा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व भारत में आधुनिक बैंकों का अस्तित्व नहीं था और जब भारत में बैंकों की स्थापना हुई भी तो मुख्यतः उनका कार्य-क्षेत्र शहरों तक ही सीमित रहा। इस कारण महाजनों ने

भारतीय अर्थ-व्यवस्था में, विशेषकर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में आधुनिक बैंकों की भूमिका निभाई।

महाजन पूरे देश में फैले हुए थे। महाजन आज की तुलना में बहुत ही ऊंची ब्याज दरों पर ऋण देते थे। यह ब्याज दरें इतनी अधिक होती थीं कि ऋण लेने वाला आम तौर पर मूल धन पर ब्याज चुकाते-चुकाते ही परलोक सिधार जाता था और बाद में अपना पहले से भी अधिक बढ़ा हुआ कर्जा अपने बच्चों के ऊपर छोड़ जाता था। ऋण वसूलने के लिए महाजन बल प्रयोग भी करते थे और पैसे न मिलने की सूरत में ऋण लेने वाले व्यक्ति की ज़मीन, जायदाद, मवेशी आदि जब्त कर लेते थे। हजारों-लाखों ग्रामीण महाजनों के बंधुआ मजदूर बनने के लिए विवश होते थे। प्रेमचन्द की कहानी सवा सेर गेहूं में आतिथ्य सत्कार के लिए महाजन से मात्र सवा सेर गेहूं का ऋण लेने वाले एक किसान की बेबसी और महाजन द्वारा किसान के शोषण की पराकाष्ठा का बड़ा मार्मिक चित्रण किया गया है।

बंगाल, बिहार, उड़ीसा और पूर्वी उत्तर प्रदेश में भूमि के स्थायी बन्दोबस्त की शोषक व्यवस्था स्थापित हो जाने के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में महाजन अत्यधिक प्रभावशाली हो गए। लगान चुकाने अथवा दैविक आपदा से निपटने के लिए किसान की मदद के लिए महाजन आगे आते थे और फिर हमेशा-हमेशा के लिए उसे अपने जाल में फांस लेते थे। ब्रिटिश शासन काल में कुटीर उद्योग के पतन से भी ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो चली थी। लगान चुकाने, जन्मोत्सव, शादी, मृतक संस्कार आदि के समय उन्हें महाजन की चौखट पर जाना ही पड़ता था। महाजन उनकी अशिक्षा का लाभ उठाकर उल्टे-सीधे कागज़ों पर उनका अंगूठा लगवा लेते थे।

महाजनों के शोषण से ग्रामीणों को मुक्ति दिलाने के स्थान पर सरकारी कर्मचारी, ज़मींदार उनके साथ सांठ-गांठ कर लेते थे। अनेक महाजन तो स्वयं ज़मींदार बन गए थे।

कृषि-विकास, कुटीर उद्योग का पुनरुत्थान, शिक्षा-प्रसार, धार्मिक-सामाजिक उत्सवों पर होने वाले खर्च में कमी, बचत करने की प्रवृत्ति का विकास तथा कम ब्याज दरों पर ऋण उपलब्ध कराने वाली सहकारी बैंकों की स्थापना से ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में महाजनों के दुष्प्रभाव को रोका जा सकता था। भारत में आर्थिक व राजनीतिक चेतना के प्रसार के बाद महाजनी व्यवस्था के पंजे से ग्रामीणों को मुक्त कराने के प्रयास किए गए। कांग्रेस के नरमपंथियों ने सरकार के समक्ष भू-राजस्व में कमी, किसानों को ज़मींदारों व महाजनों के चंगुल से छुड़ाने की मांग रखी। समाजवादी तथा साम्यवादी विचारधारा के विकास से महाजनों के शोषण के विरुद्ध वातावरण विकसित हुआ। कई स्थानों पर महाजनों पर आक्रमण भी किए गए। सभी किसान आन्दोलनों में ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के उन्मूलन को महत्व दिया गया। सरकार की ओर से गिनती की कुछ सहकारी बैंकों की स्थापना की गई। 'डेकेन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ़ एक्ट' तथा 'पंजाब लैण्ड एलियनेशन एक्ट' के द्वारा किसानों को इस विषय में राहत पहुंचाने का प्रयास किया

गया। बाद में बुन्देलखण्ड, पश्चिमोत्तर प्रान्त और मध्य प्रान्त में भी इसी प्रकार के एक्ट्स बनाए गए किन्तु इनसे भी किसान महाजनों के चंगुल से नहीं निकल सके।

3.3.2 ब्लैक होल

1756 में फ्रांसीसियों से युद्ध की सम्भावना देखकर अंग्रेजों ने बंगाल में अंग्रेजों के मुख्य सैनिक केन्द्र फ़ोर्ट विलियम को और अधिक सुदृढ़ करने के लिए निर्माण कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस पर अंग्रेजों की गतिविधियों से पहले ही नाराज नवाब ने उन्हें इस काम को रोकने का आदेश दिया जिसकी कि अंग्रेजों ने अवज्ञा कर फ़ोर्ट में अपना निर्माण कार्य जारी रखा। 20 जून, 1756 को नवाब ने फ़ोर्ट विलियम पर अधिकार कर लिया और वहां मौजूद लोगों को कैद कर ब्लैक होल में डाल दिया।

ब्लैक होल कलकत्ते के पुराने फ़ोर्ट विलियम में एक छोटे आकार की (18 फ़ुट लम्बी और 14 फ़ुट, 10 इन्च चौड़ी, कुल क्षेत्रफल - 267 वर्ग फ़ीट) मात्र एक खिड़की वाली काल कोठरी थी। बंगाल के नवाब सिराज-उद्-दौला पर तथाकथित एक भुक्तभोगी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना के एक शल्य चिकित्सक डॉक्टर हॉल्वेल ने यह आरोप लगाया था कि उसने 20 जून, 1756 को फ़ोर्ट विलियम पर अधिकार करने के बाद वहां पर मौजूद 146 लोगों को (जिनमें कि कुछ महिलाएं और बच्चे भी शामिल थे) शाम 8 बजे ब्लैक होल में बन्द कर दिया। रात भर काल कोठरी में बन्द कैदी गर्मी, प्यास और दम घुटने के कारण चीखते रहे किन्तु कोई भी उनकी मदद के लिए नहीं आया। अगले दिन सवेरे 6 बजे जब इस काल कोठरी का दरवाजा खोला गया तब बन्दियों में से 123 गर्मी, भगदड़ और दम घुटने की वजह से अपना दम तोड़ चुके थे। नवाब ने मृतकों को एक खाई में फिंकवा दिया। हॉल्वेल का यह वृतान्त 1758 के एनुअल रजिस्टर में प्रकाशित हुआ था।

अंग्रेजों ने नवाब सिराज-उद्-दौला की इस तथाकथित अमानवीय क्रूरता के बाद उसके विरुद्ध अपने द्वारा किए गए सभी षडयन्त्रों को उचित ठहराया। ब्लैक होल ट्रेजेडी सिराज-उद्-दौला पर एक धिनौना आरोप है किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है। डॉक्टर हॉल्वेल ने इस दुर्घटना के लिए मुख्यतः नवाब के निम्न स्तरीय कर्मचारियों को दोषी ठहराया है किन्तु उसने नवाब पर यह आरोप लगाया है कि उसने इस दुर्घटना के बाद किसी भी प्रकार का अफ़सोस नहीं जताया।

अंग्रेज शासकों की ओर से ब्लैक होल दुर्घटना की सत्यता पर कभी प्रश्न चिह्न नहीं लगाया गया। स्टैनली वोल्पर्ट ब्लैक होल दुर्घटना को सत्य मानता है किन्तु उसके अनुसार इसमें ब्लैक होल में बन्द किए गए कैदियों की संख्या 64 व मृतकों की संख्या 43 थी। वोल्पर्ट इस दुर्घटना के लिए नवाब को दोषी नहीं मानता है। डॉक्टर हॉल्वेल के दिए आंकड़ों को एक बंगाली जर्मींदार भोलानाथ चन्दर ने झुठलाने के लिए ब्लैक होल के आकार के एक कक्ष में व्यक्तियों को ठूस-

टूंस कर भरकर यह दिखाया कि इतने छोटे कमरे में इतने अधिक व्यक्तियों का बन्द किया जाना सम्भव ही नहीं है। डॉक्टर हॉल्वेल के वृतान्त की किसी अन्य भुक्तभोगी ने पुष्टि नहीं की है। भारतीय इतिहासकारों ने ब्लैक होल दुर्घटना को अंग्रेजों की कपोल कल्पना कहा है। वास्तव में ब्लैक होल दुर्घटना एक मनगढ़न्त कल्पना नहीं तो कम से कम एक अतिरंजित वृतान्त तो है ही। अंग्रेज नवाब सिराज-उद्-दौला की तथाकथित क्रूरता का हवाला देकर उसके विरुद्ध रचे गए अपने सभी षडयन्त्रों को उचित ठहराना चाहते थे।

3.3.3 दस्तक

1717 में मुगल बादशाह फ़र्रुखसियर ने एक फ़रमान द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल (जिसमें बिहार व उड़ीसा भी शामिल थे) में बिना चुगी व्यापार करने का विशेषाधिकार (दस्तक) दिया था। इसके लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी को परवाने प्रदान किए जाते थे। यह विशेषाधिकार कम्पनी के व्यापार के लिए था न कि कम्पनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार के लिए। कम्पनी के कर्मचारी बादशाह फ़र्रुखसियर के 1717 के फ़रमान के अन्तर्गत अन्तर्देशीय व्यापार हिस्सेदारी के विशेषाधिकार का दावा करते थे और इस सुविधा का खुद लाभ उठाने के साथ-साथ पैसे लेकर अपने नाम पर इस सुविधा का लाभ दूसरों को भी देते थे। बंगाल के नवाबों ने 1717 के शाही फ़रमान द्वारा अंग्रेजों को बिना चुगी व्यापार करने की सुविधा का दुरुपयोग करने पर सदैव अपना विरोध जताया। 1757 में कठपुतली नवाब मीर जाफ़र की नियुक्ति के बाद अंग्रेजों ने दस्तक का और भी दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक भारतीय व्यापारियों और विदेशी व्यापारियों (जैसे आर्मीनियन व्यापारी) ने अंग्रेजों को पैसे देकर दस्तक का दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। कम्पनी के भारतीय गुमाशते भी इस बहती गंगा में अपने हाथ धो रहे थे। जिन व्यापारियों ने दस्तक के दुरुपयोग के लिए अंग्रेजों के साथ साठ-गांठ नहीं की थी उन्हें व्यापारिक क्षेत्र में इस साठ-गांठ में शामिल व्यापारियों से स्वस्थ प्रतियोगिता करने में अत्यन्त कठिनाई हो रही थी। दस्तक के दुरुपयोग से कर वसूली में गिरावट आ रही थी। मीर कासिम ने नवाब बनने के बाद अंग्रेजों द्वारा दस्तक के दुरुपयोग किए जाने पर आपत्ति उठाई। बंगाल के गवर्नर वैनिसटार्ट ने इस मामले में नवाब से समझौते का प्रस्ताव रखा किन्तु स्वयं इस अवैध व्यापार में लिप्त कलकत्ता काउंसिल के अधिकांश सदस्यों के विरोध के कारण इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया। व्यापारिक अधिकारों में एकरूपता स्थापित करने तथा दस्तक का दुरुपयोग रोकने के लिए मीर कासिम ने मार्च, 1763 में दो वर्ष के लिए समस्त व्यापारिक करों और चुंगियों को माफ़ कर दिया। अंग्रेजों को नवाब का यह निर्णय स्वीकार्य नहीं था। इस निर्णय को कलकत्ता काउंसिल ने बादशाह फ़र्रुखसियर के 1717 के फ़रमान की भावना के विरुद्ध बताया। मीर कासिम पर यह आरोप लगाया गया कि वह अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का षडयन्त्र रच रहा है। जुलाई, 1763 में अंग्रेजों ने मीर कासिम के विरुद्ध युद्ध की

औपचारिक घोषणा कर दी और मीर जाफ़र को बंगाल के नवाब के पद पर पुनर्स्थापित कर दिया।

दस्तक के विवाद में मीर कासिम का कोई दोष नहीं था। उसने अंग्रेज़ों द्वारा दस्तक के दुरुपयोग को रोकने का भरसक प्रयत्न तो किया परन्तु इस प्रयास में स्वयं उसका पतन हो गया।

3.3.4 भू स्वामी

लॉर्ड कॉर्नवालिस के शासनकाल में 1793 में बंगाल, बिहार, उड़ीसा में भूमि का स्थायी बन्दोबस्त लागू किया गया। बाद में इसका विस्तार वर्तमान उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग और कर्नाटक के उत्तरी भाग में किया गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ज़मींदार के रूप में एक भू-स्वामी वर्ग का उदय हुआ। मुगल काल में ज़मींदारी वंशानुगत होती थी। भू-स्वामियों की तुलना हम मध्यकालीन इंग्लैण्ड के स्कवायर तथा लेअर्ड से कर सकते हैं।

कॉर्नवालिस के समय में भू-स्वामियों की चार श्रेणियां थीं -

1. पूर्व में स्वतन्त्र रह चुके शासक जिन्होंने मुगलों की आधीनता स्वीकार कर ली थी।
2. वंशानुगत ज़मींदार जो कि शासक को एक निश्चित भूमि कर देते थे।
3. मुगलों के काल में नियुक्त राजस्व एकत्र करने वाले अधिकारी जिनके कि पद आगे चलकर वंशानुगत हो गए थे।
4. ग्रान्ट ऑफ़ दीवानी के बाद राजस्व एकत्र करने के लिए नियुक्त अधिकारी।

इन चार श्रेणियों में से भू-स्वामी कहलाने का अधिकार स्वाभाविक रूप से पहली दो श्रेणियों का अधिक था किन्तु कॉर्नवालिस के स्थायी बन्दोबस्त में भू-स्वामी के निर्धारण में उपरोक्त चारो श्रेणियों में अन्तर नहीं किया गया। निर्धारित भू-राजस्व का 1/10 अथवा 1/11 भाग ज़मींदारों को अपने पास रखने का अधिकार था। ज़मींदारों को कृषि-विकास और कृषि योग्य भूमि के विस्तार के लिए प्रेरित किया गया और अपने प्रयासों से उसकी अपनी ज़मींदारी में राजस्व-प्राप्ति की वृद्धि में सरकार की कोई भी हिस्सेदारी नहीं होनी थी। प्रारम्भ में भू-राजस्व की निर्धारित राशि इतनी अधिक थी कि ज़मींदारों के लिए सरकारी खज़ाने में पूरी लगान भरना अत्यन्त कठिन हो गया था। किन्तु बाद में कृषि योग्य भूमि के विस्तार तथा खेती की तकनीक में विकास के कारण उनकी आय में वृद्धि हुई और अपनी समृद्धि के लिए वो ब्रिटिश शासन के कृतज्ञ हुए। इस प्रकार अंग्रेज़ों को भारत में एक नया स्वामिभक्त वर्ग प्राप्त हो गया। भूमि के स्थायी बन्दोबस्त ने किसानों को निर्धनता की कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। एक ओर उनका अनियन्त्रित शोषण करने के लिए ज़मींदार थे तो दूसरी ओर महाजन थे।

अधिकांश ज़मींदार शहरों में रहकर अपने गुमाशतों के माध्यम से किसानों से कर वसूला करते थे। किसान को भूमि कर चुकाने के लिए और प्रायः अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महाजन से कर्ज लेना पड़ता था। मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास गोदान में ज़मींदारी व्यवस्था में ज़मींदारों की शोषक एवं दमनकारी प्रवृत्ति तथा किसानों की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण किया गया है।

सरकार ने लैण्ड टेनेन्सी एक्ट्स के माध्यम से किसानों की दशा सुधारने के निष्फल प्रयास किए किन्तु उनकी दशा में कोई सुधार नहीं हुआ।

ज़मींदार अर्थात् इस नए भू-स्वामी वर्ग ने भारतीय पुनर्जागरण अथवा नव-जागरण एवं पुनरुत्थानवादी आन्दोलन में उल्लेखनीय भूमिका निभाई थी। भारत में राजनीतिक चेतना के प्रसार के साथ किसानों की दुर्दशा सुधारने की दिशा में सार्थक प्रयास हुए। कांग्रेस, समाजवादी दल, वामपंथियों और स्वयं जागरूक किसानों ने किसान आन्दोलनों का नेतृत्व किया। भू-राजस्व में कमी करने की और ज़मींदारी व्यवस्था के उन्मूलन की मांग की गई और अन्ततः भारत की स्वतन्त्रता के बाद ज़मींदारी व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया गया।

3.3.5 रैयत

रैयत शब्द समस्त भारत में कृषकों के लिए प्रयुक्त किया जाता था। रैयत काश्तकार एवं कृषक होते थे अथवा खेतिहर मज़दूर होते थे। काश्तकार रैयत को अपनी भूमि पर खेती करने का पुश्तैनी अधिकार होता था। 16 वीं शताब्दी में शेरशाह ने अपनी भू-राजस्व व्यवस्था में शासक और कृषकों के बीच मध्यस्थों को हटा दिया था और भू-राजस्व निर्धारण में भूमि की नापजोख की व्यवस्था की थी। शेरशाह ने लगान के नकद भुगतान को वरीयता दी। मुगल काल में रैयत की दो श्रेणियां-

खुद-काश्त और पै-काश्त होती थीं। खुद-काश्त अपनी भूमि से स्थायी रूप से जुड़े रहते थे। खुद-काश्त रैयत के भूमि पर खेती करने के पुश्तैनी अधिकार होते थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल में टॉमस मुनरो तथा एलेक्जेंडर रीड ने मद्रास प्रेसीडेन्सी में रैयतवारी व्यवस्था का प्रारूप तैयार किया था। टॉमस मुनरो के 1820 में मद्रास के गवर्नर बनने पर इसे मद्रास में लागू किया गया। बाद में इसका विस्तार बॉम्बे प्रेसीडेन्सी, मालाबार, कोयम्बटूर, कुर्ग, पूर्वी बंगाल तथा आसाम के एक भाग में तथा बर्मा विजय के बाद वहां भी किया गया। इस व्यवस्था में सरकार और किसानों के बीच मध्यस्थ की भूमिका हटा दी गई। भूमि की नापजोख की गई तथा भूमि की किस्म के अनुसार उसकी उत्पादन क्षमता का भी अनुमान लगाया गया और उसके बाद लगान का निर्धारण किया गया। लगान का नकदी में लिया

जाना निश्चित किया गया। रैयत को अपनी भूमि बेचने अथवा उसे हस्तान्तरित करने का अधिकार दिया गया।

रैयतवारी व्यवस्था किसानों के लिए हितकारी सिद्ध नहीं हुई इसमें भू-राजस्व एकत्र करने वाले निम्न-पदीय कर्मचारियों ने उनका भरपूर शोषण किया। रैयत को पूरा लगान चुकाने के लिए प्रायः सूदखोरों से ऊंची ब्याज दर पर कर्ज लेना पड़ता था। रमेश चन्द्र दत्त ने लॉर्ड कर्जन के नाम खुले पत्र में रैयतवारी व्यवस्था तथा किसानों के कर निर्धारण में ज्यादती को दक्षिण भारत में किसानों की दरिद्रता और बार-बार अकाल पड़ने के लिए जिम्मेदार ठहराया था।

3.3.6 निलहे

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के बाद कपड़ों को रंगने के काम में नील की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता पड़ने लगी थी। 1777 में लुई बोनार्ड ने बंगाल में नील की खेती प्रारम्भ की। उसको हम भारतीय इतिहास का पहला निलहा साहब कह सकते हैं। बंगाल के बर्दवान, बाकुरा, बीरभूम और मुर्शिदाबाद में नील की खेती का विस्तार हुआ। बाद में बिहार में भी इसका विस्तार हुआ। नील की खेती किए जाने वाले विशाल भू-क्षेत्रों को नील के बागों की संज्ञा दी गई। इन बागों पर आमतौर पर गोरों का ही अधिकार था और नील के बागों के भू-स्वामियों को निलहा साहब के रूप में जाना जाता था। इन निलहे साहबों पर सरकार का वरद हस्त रहता था और ज़मींदार व महाजन भी किसानों का शोषण करने में इनके सहायक रहते थे। सबसे पहले निलहे साहब सदैव आर्थिक संकट से जूझ रहे किसानों को कर्ज देकर उन्हें अपने चंगुल में फंसा लेते थे। निरीह किसान ब्याज की बहुत ऊंची दरों के कारण अपने ऋण से कभी उबर नहीं पाते थे और फिर पीढ़ी दर पीढ़ी बंधुआ मज़दूर बनकर इन निलहे साहबों के लिए नील की खेती करने के लिए विवश हो जाते थे। निलहे किसानों को कृषिदास, अर्ध-दास अथवा बंधुआ मज़दूरों से अधिक कुछ नहीं समझते थे।

1833 में कम्पनी की सरकार ने एक एक्ट द्वारा निलहों को अपना व्यापार एवं अपना लाभ बढ़ाने के लिए किसानों पर अत्याचार करने की खुली छूट दे दी थी।

1839 में बंगाल में हाजी दादू मियां के नेतृत्व में निलहे साहबों के अत्याचारों के विरुद्ध फ़ैराज़ी आन्दोलन हुआ तथा 1859 में बिश्चरन बिस्वास तथा दिगम्बर बिस्वास के नेतृत्व में बंगाल में निलहों के अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह हुए।

हरिश्चन्द्र मुखोपाध्याय ने अपने पत्र दि हिन्दू पैट्रिएट तथा दीन बंधु मित्र ने अपने नाटक नील दर्पण (1858-59) में नील की खेती करने वाले किसानों की दयनीय दशा का मार्मिक चित्रण किया था। नील दर्पण के दो पात्र निलहे साहब जे० जे० वुड तथा पी० पी० रोज के माध्यम से

निलहों की तथा उनके परिवार की महिला सदस्यों तक की अमानवीयता, उनकी शोषक प्रवृत्ति आदि का मार्मिक चित्रण किया गया है। उनके इस अत्याचार में मजिस्ट्रेट, पुलिस वाले, राजस्व कर्मचारी, जेलर, निरीक्षक, पण्डित, डॉक्टर आदि सभी की मिलीभगत है।

1860 में निलहों के अत्याचार व किसानों की दुर्दशा की जांच हेतु इण्डिगो कमीशन स्थापित किया गया। इस कमीशन की रिपोर्ट में डब्लू० एल० टॉवर ने लिखा-

‘बिना खून के दागों के एक थैली भर नील भी इंग्लैण्ड नहीं पहुंचता है।’

कपड़े रंगने के लिए रासायनिक रंगों के प्रयोग से बाज़ार में नील की मांग कम पड़ने लगी और नील की खेती का क्षेत्र कम हो गया किन्तु जहां भी नील की खेती होती थी वहां निलहों का अत्याचार पूर्ववत् जारी रहा।

बिहार के चम्पारन जिले में हज़ारों भूमिहीन कृषिदासों, बंधुआ मज़दूरों तथा निर्धन किसानों को अपना व अपने परिवार पेट पालने के लिए ज़रूरी अनाज बोने के स्थान पर नील तथा अन्य नकदी फ़सलों को बोने के लिए बाध्य किया जाता था। निलहे साहबों के लठैत निरीह किसानों पर मनमाने ढंग से अत्याचार करते थे। नील की खेती करने वाले किसानों को बाज़ार भाव की 1/40 कीमत दी जाती थी। 1917 में गांधीजी ने नील की खेती करने वाले चम्पारन के किसानों के हितों की रक्षार्थ आन्दोलन का नेतृत्व किया। गांधीजी के प्रयासों से नील के बागानों के मालिकों के किसानों पर किए जाने वाले अत्याचार रोकने के लिए 1917 का ‘चम्पारन एग्रेसियन बिल’ प्रस्तावित किया गया और दमनकारी तिनकथिया प्रणाली रद्द कर दी गई।

3.3.7 ठगी प्रथा

ठगों का आतंक अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की अराजकतापूर्ण राजनीतिक स्थिति में शान्ति एवं व्यवस्था पूर्णरूपेण नष्ट हो जाने के कारण बहुत बढ़ गया था। ठग वंश परम्परागत लुटेरे एवं हत्यारे थे जो अपने अपराध एकरूप प्रणाली से किया करते थे। ठग अन्धविश्वासपूरित कथाओं से अपने चारों ओर सुरक्षा की एक दीवार खड़ी कर दिया करते थे। ठग हैदराबाद से लेकर अवध तक और बुन्देलखण्ड से लेकर राजपूताने तक फैले हुए थे और इन्हें स्थानीय शासकों व ज़मींदारों का संरक्षण प्राप्त था। ठगों के संरक्षणों को उनकी लूट में से एक हिस्सा भी प्राप्त होता था। ठग चाहे मुसलमान हों या हिन्दू, वह मां काली के भक्त थे और उनका यह विश्वास था कि जब तक वो ठग विद्या के नियमों का पालन करते रहेंगे और उससे सम्बन्धित शगुनों का पालन करते रहेंगे तब तक मां काली का वरद हस्त उनके सर पर बना रहेगा। ठग अपनी उत्पत्ति मां काली द्वारा रक्तबीज के रक्त से उत्पन्न राक्षसों के वध के समय से जोड़ते थे। ठग यह प्रचार

करते थे कि जो भी उनको हानि पहुंचाने का प्रयास करेगा उसे मां काली के कोप का भाजन होना पड़ेगा।

लॉर्ड हेस्टिंग्स के शासनकाल में पिण्डारियों के दमन के बाद लॉर्ड विलियम बेंटिंग के शासन काल में ठगों का उन्मूलन करने का निश्चय किया गया। कर्नल स्लीमन, रैम्जे, रेनॉल्ड्स, मैल्कम, ग्राहम, एफ० सी० स्मिथ, लुडलो, मेजर विल्सन, कर्नल स्टेवार्ट तथा अन्य अधिकारियों को यह गुरुतर दायित्व सौंपा गया।

ठगों की अपनी एक गुप्तचर व्यवस्था थी जो कि उनके सम्भावित शिकारों की धन-सम्पत्ति और उनकी आगामी यात्राओं की अग्रिम सूचना उन तक पहुंचाती थी। ठग अपनी आपराधिक गतिविधियों को छुपाने के लिए किसी न किसी सम्मानजनक व्यवसाय से भी जुड़े रहते थे और उसी व्यवसाय के सम्बन्ध में अपने साथियों के साथ यात्रा करने के दौरान रास्ते में सहयात्रियों से मित्रता कर, उनका विश्वास प्राप्त कर लेते थे। अपने सरदार का गुप्त संकेत पाते ही किसी सुनसान इलाके में फिर एक ठग अपने शिकार के गले में पीछे से कपड़े का फन्दा डाल देता था और दूसरा ठग उसकी टांगों को आगे खींच लेता था। दम घुटने से शिकार की मृत्यु हो जाती थी। बाद में उसका माल-असबाब लूट कर, शिकार का शव जंगल में अथवा किसी उजाड़ क्षेत्र में गाड़कर ठग आगे बढ़ जाते थे।

कर्नल स्लीमन ठगों के दमन का महानायक था। स्लीमन ने अपनी जांच-पड़ताल के दौरान यह पता लगाया कि ठग अपने दल में स्त्रियों और बच्चों को भी साथ रखते थे इसलिए उनपर किसी को कोई शक नहीं होता था। ठगों के डर से या मां काली के प्रकोप के डर से उनके विरुद्ध कोई गवाही देने के लिए भी तैयार नहीं होता था। वैसे भी अपने शिकार को तो वो जीवित छोड़ते भी नहीं थे।

अंग्रेजों ने ठगों के दमन हेतु कठोर कानून बनाए और एक विशाल पुलिस दल ठगों को पकड़ने के लिए खड़ा किया गया। यह कानून भी बनाया गया कि चाहे जिस इलाके में ठगी की वारदात हो पर ठगों पर मुकदमा ब्रिटिश अदालतों में ही चलाया जाएगा। ग्वालियर के सिन्धिया, हैदराबाद के निज़ाम आदि भारतीय शासकों को ठगों दमन में ब्रिटिश अधिकारियों को सहयोग देने का निर्देश दिया गया। कुछ ठगों को पकड़ कर, फिर उन्हें क्षमा करने का आश्वासन देकर उनसे ठगों की कार्य-प्रणाली, उनके ठिकानों, उनके संरक्षकों आदि की जानकारी प्राप्त की गई।

कुछ ही समय में ठगों के सैकड़ों गैंग नष्ट कर दिए गए। इस प्रकार ठगों का दमन कर अंग्रेजों ने शान्ति-व्यवस्था स्थापित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की।

3.3.8 गोद प्रथा

बच्चे को गोद लेने का और फिर उसे अपना उत्तराधिकारी बनाने का अधिकार भारत में हर धर्मावलम्बी को आदिकाल से रहा है। प्रायः निःसन्तानों में इस परम्परागत अधिकार का प्रयोग किया जाता था। चूंकि भारत में आमतौर पर पुत्र को ही परिवार का उत्तराधिकारी माना जाता है अतः निःसन्तान अथवा पुत्रहीन व्यक्ति अपना उत्तराधिकारी बनाने के लिए अपने ही कुल अथवा आत्मीय जन के परिवार का कोई छोटा बालक गोद ले लेते थे। निःसन्तान विधवाओं को भी बच्चा गोद लेने का अधिकार होता था। शासक वर्ग में चूंकि उत्तराधिकार का विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था, अतः निःसन्तान अथवा पुत्रहीन शासकों में पुत्र गोद लेना एक सर्वमान्य प्रथा थी। दत्तक पुत्र को एक औरस सन्तान के सभी वैधानिक, सामाजिक व धार्मिक अधिकार प्राप्त थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में साम्राज्य विस्तार के लिए अपनी मित्र, सहयोगी एवं अधीनस्थ शक्तियों के साथ स्वार्थ सिद्धि हेतु वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि कोई किसी शत्रु के साथ करता है। मराठा राज्य संघ के पतन के बाद अंग्रेज भारत में अपनी सम्प्रभुता स्थापित कर चुके थे। किन्तु अंग्रेज अभी भी सीधे अपने अधिकार वाले क्षेत्र को बढ़ाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने 'डॉक्ट्रिन ऑफ़ लैप्स' अर्थात् व्यपगत का सिद्धान्त अपनाया। इस सिद्धान्त का कोई नैतिक, ऐतिहासिक अथवा परम्परागत आधार नहीं था। यह केवल स्वार्थ सिद्धि हेतु मत्स्य-न्याय का एक निर्लज्ज उदाहरण था। लॉर्ड डलहौजी के शासनकाल से बहुत पहले सर्वप्रथम 1824 में किन्नोर का अधिग्रहण व्यपगत के सिद्धान्त के अन्तर्गत हुआ था। 1834 में कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स ने भारत सरकार को भेजे गए एक पत्र में उसे निःसन्तान अथवा पुत्रहीन भारतीय शासकों द्वारा पुत्र गोद लिए जाने की प्रक्रिया को वैधता देने में संकोच करने का निर्देश दिया था।

व्यपगत के सिद्धान्त के अन्तर्गत 1839 में माण्डवी, 1840 में कोलाबा तथा जलौन व 1842 में सूरत का अधिग्रहण किया गया। 1848 में भारत का गवर्नर जनरल का पद भार सम्भालते ही लॉर्ड डलहौजी साम्राज्य विस्तार में जुट गया था।

डलहौजी ने संरक्षित राज्य (ऐसा राज्य जिसने सहायक संधि पर हस्ताक्षर किए हों) जहां कि शासक की मृत्यु बिना नैसर्गिक उत्तराधिकारी (औरस पुत्र) के हो गई हो तो उन राज्यों को व्यपगत के सिद्धान्त के अन्तर्गत ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का निश्चय किया। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उसने सतारा (1848), सम्भलपुर (1849), जैतपुर (1849), बघात (1850), छोटा उदयपुर (1852), झांसी (1853) और नागपुर (1854) का अधिग्रहण किया। व्यपगत के सिद्धान्त का पालन करते हुए उसने कर्नाटक के नवाब तथा तंजौर के राजा की उपाधियां ज़ब्त कर लीं एवं पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब की आठ लाख रुपये वार्षिक की पेंशन रोक दी।

लॉर्ड डलहौजी के व्यपगत के सिद्धान्त और अवध के हस्तांतरण ने जन-आक्रोश को बढ़ाया। उसकी साम्राज्य विस्तार की नीतियां 1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण बनीं। व्यपगत के सिद्धान्त के अनुपालन से प्रभावित नाना साहब और झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने 1857 के विद्रोह में अंग्रेजों के विरुद्ध भाग लिया। 1857 के विद्रोह के दमन के बाद 1858 में महारानी के घोषणा पत्र में व्यपगत के सिद्धान्त के अनुपालन को रद्द करते हुए भारतीय शासकों को यह आश्वासन दिया गया कि किसी भी स्थिति में उनके राज्य का ब्रिटिश साम्राज्य में अधिग्रहण नहीं किया जाएगा।

3.3.9 निःस्युन्दन का सिद्धान्त

3.3.9.1 अंग्रेजों का शिक्षा-प्रसार का सीमित दायित्व

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार ने भारत में शिक्षा प्रसार के लिए 1813 के चार्टर एक्ट में एक लाख वार्षिक और 1833 के चार्टर एक्ट में लाख रुपये वार्षिक की राशि आवंटित की थी इसलिए सरकार की ओर से सम्पूर्ण जनता को शिक्षा सुलभ कराना सम्भव ही नहीं था। उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में कम्पनी की सरकार द्वारा 'अधोमुखी निःस्युन्दन का सिद्धान्त' अपनाया गया जिसका अर्थ था - शिक्षा समाज के उच्च वर्ग को दी जाए और इस वर्ग के माध्यम से शिक्षा छन-छन कर जनसाधारण तक पहुंचे।

आर्थिक विषमताओं और सीमित संसाधनों के कारण इस नीति को व्यावहारिक माना गया। लॉर्ड मैकाले ने 1835 के अपने अंग्रेजी शिक्षा के विवरणपत्र में इसी नीति का पालन करते हुए कुछ चुने हुए भारतीयों को ही अंग्रेजी शिक्षा उपलब्ध कराए जाने की सिफारिश की थी -

'चूंकि हमारे साधन सीमित हैं अतः जन-समूह को शिक्षित करने का प्रयास करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। हमको इस समय एक ऐसे वर्ग को तैयार करने का भरसक प्रयास करना चाहिए जो हमारे (शासक वर्ग) और लाखों शासितों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभा सके।'

लॉर्ड ऑकलैण्ड के काल में जब अंग्रेजी शिक्षा का विधिवत प्रचलन किया गया तो उसके शिक्षा आदेश में निःस्युन्दन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया -

'सरकार को समाज के उच्च वर्ग को शिक्षा देनी चाहिए जिससे सभ्यता छन-छन कर जनता के मध्य तक पहुंचे।'

भारत में शिक्षित शहरी मध्य वर्ग अंग्रेजी शिक्षा के दूरगामी लाभों को समझकर उसे ग्रहण करने में और उसके फलस्वरूप सरकारी सेवाओं में स्थान प्राप्त करने में उत्सुक था। अन्ततः इस वर्ग को ही अंग्रेजी शिक्षा से लाभान्वित कराने का निश्चय किया गया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जनता में शिक्षा प्रसार का प्रत्यक्ष दायित्व अपने ऊपर नहीं लिया। लगभग 1870 तक अंग्रेजी शासन ने 'निस्युन्दन सिद्धान्त' पर अमल किया।

3.3.9.2 'निस्युन्दन सिद्धान्त' की असफलता

1. अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीय आमतौर पर सरकारी सेवाओं तथा अन्य लाभकारी व्यवसायों में जाना चाहते थे न कि अल्प-वेतन उपलब्ध कराने वाले शिक्षण व्यवसाय में।
2. अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय वर्ग की विचारधारा पश्चिमोन्मुख हो गई, उसे अपनी श्रेष्ठता का अहंकार हो गया और वह निर्धन व पाश्चात्य शिक्षा से वंचित भारतीयों को तिरस्कार व उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा। इन परिस्थितियों में आम जनता में शिक्षा प्रसार का दायित्व निभाने की इस वर्ग में कोई अभिरुचि नहीं थी। प्रसिद्ध प्राच्यवादी एच० एच० विल्सन ने 1853 में पार्लियामेन्ट की सेलेक्ट कमेटी के समक्ष कहा था -

'वास्तव में हमने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त एक ऐसा वर्ग बना दिया है जिसे अपने देशवासियों के साथ कोई सहानुभूति नहीं है और अगर है भी तो बहुत ही कम।'

3. 'अधोमुखी निस्युन्दन सिद्धान्त' में भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा प्रसार करने वाली पाठशालाओं तथा विद्यालयों की उपेक्षा की गई जिसके फलस्वरूप सार्वजनिक शिक्षा-प्रसार को क्षति पहुंची। मद्रास में मुनरो, बम्बई में एल्फिन्सटन और बंगाल में एडम्स की इस सिद्धान्त का अनुपालन करते हुए शिक्षा प्रसार के प्रयास निष्फल हुए जब कि पश्चिमोत्तर प्रान्त में टॉम्सन ने 'निस्युन्दन सिद्धान्त' का परित्याग कर देशी भाषाओं के माध्यम से जन-साधारण में शिक्षा प्रसार का प्रयास किया और वह अपने लक्ष्य में सफल रहा। 1854 के चार्ल्सवुड के शिक्षा सम्बन्धी खरीते में टॉम्सन के शिक्षा-प्रसार सम्बन्धी प्रयासों को महत्व दिया गया और 'निस्युन्दन सिद्धान्त' की प्रायः उपेक्षा की गई।

19 वीं शताब्दी के आठवें दशक के प्रारम्भ तक ब्रिटिश भारत में सरकार द्वारा शिक्षा प्रसार का कोई स्पष्ट दायित्व नहीं लिया गया और 'निस्युन्दन सिद्धान्त' का ही अनुपालन किया जाता रहा।

3.3.9.3 'निस्युन्दन सिद्धान्त' के लाभ

अपनी तमाम कमियों के बावजूद इस सिद्धान्त का पालन करते हुए अंग्रेजों ने भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रारम्भ किया। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त प्रबुद्ध भारतीयों ने व्यक्तिगत प्रयासों से सार्वजनिक शिक्षा हेतु स्कूलों, माध्यमिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की स्थापना की, भारतीय नवजागरण में इस वर्ग की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही और भारत में राजनीतिक चेतना के प्रसार में व बाद में राष्ट्रीय आन्दोलन में इस वर्ग का ही मुख्यतः नेतृत्व रहा। भारत में आधुनिक प्रेस, विशेषकर भारतीय भाषाओं के प्रेस के विकास में इस वर्ग का अमूल्य योगदान रहा।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए-

1. ब्लैक होल
2. निलहे
3. गोद प्रथा

3.4 सारांश

'महाजनी' ब्याज पर ऋण के आदान-प्रदान से सम्बन्धित व्यवसाय को कहा जाता है। महाजन आज की तुलना में बहुत ही ऊंची ब्याज दरों पर ऋण देते थे। हजारों-लाखों ग्रामीण महाजनों के बंधुआ मजदूर बनने के लिए विवश होते थे। स्थायी बन्दोबस्त स्थापित हो जाने के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में महाजन अत्यधिक प्रभावशाली हो गए।

ब्लैक होल कलकत्ते के पुराने फ़ोर्ट विलियम में एक छोटे आकार की काल कोठरी थी। बंगाल के नवाब सिराज-उद्-दौला पर तथाकथित एक भुक्तभोगी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेना के एक शल्य चिकित्सक डॉक्टर हॉल्वेल ने यह आरोप लगाया था कि उसने 20 जून, 1756 को फ़ोर्ट विलियम पर अधिकार करने के बाद वहां पर मौजूद 146 लोगों को ब्लैक होल में बन्द कर दिया जिसमें 123 गर्मी, भगदड़ और दम घुटने की वजह से मौत का शिकार हो गए। अंग्रेजों ने नवाब की इस अमानवीय क्रूरता के बाद उसके विरुद्ध अपने द्वारा किए गए सभी षडयन्त्रों को उचित ठहराया।

1717 में मुगल बादशाह फ़र्रुखसियर ने एक फ़रमान द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल में बिना चुगी व्यापार करने का विशेषाधिकार (दस्तक) दिया था। कम्पनी के कर्मचारी बिना चुगी दिए व्यापार करने की सुविधा का खुद लाभ उठाने के साथ-साथ पैसे लेकर अपने नाम पर इस

सुविधा का लाभ दूसरों को भी देते रहे। मीर कासिम ने नवाब बनने के बाद अंग्रेजों द्वारा दस्तक के दुरुपयोग किए जाने पर आपत्ति उठाई। मीर कासिम ने मार्च, 1763 में दो वर्ष के लिए समस्त व्यापारिक करों और चुंगियों को माफ़ कर दिया। अंग्रेजों को नवाब का यह निर्णय स्वीकार्य नहीं था। अंग्रेजों ने मीर कासिम को अपदस्थ कर मीर जाफ़र को फिर से बंगाल का नवाब बना दिया।

लॉर्ड कॉर्नवालिस की भूमि के स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत ज़मींदार के रूप में एक भू-स्वामी वर्ग का उदय हुआ। निर्धारित भू-राजस्व का 1/10 अथवा 1/11 भाग ज़मींदारों को अपने पास रखने का अधिकार था। भूमि के स्थायी बन्दोबस्त ने किसानों को निर्धनता की कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। भारत की स्वतन्त्रता के बाद ज़मींदारी व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया गया।

रैयत काश्तकार एवं कृषक होते थे अथवा खेतिहर मजदूर होते थे। टॉमस मुनरो तथा एलेक्जेंडर रीड ने मद्रास प्रेसीडेन्सी में रैयतवारी व्यवस्था का प्रारूप तैयार किया था। 1820 में मद्रास में लागू किया गया। बाद में इसका विस्तार बॉम्बे प्रेसीडेन्सी, तथा अन्य क्षेत्रों में किया गया। भू-राजस्व एकत्र करने वाले निम्न-पदीय कर्मचारियों ने रैयत का भरपूर शोषण किया। इस व्यवस्था में निर्धारित लगान चुकाना रैयत के बस में नहीं था। रैयतवारी व्यवस्था एक शोषक एवं दमनकारी व्यवस्था थी।

इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के बाद कपड़ों को रंगने के काम में नील की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता पड़ने लगी थी। बंगाल व बिहार में नील की खेती का विस्तार हुआ। नील के बागों के भू-स्वामियों को निलहा कहा जाता था। इन निलहों पर सरकार का वरद हस्त रहता था और ज़मींदार व महाजन भी किसानों का शोषण करने में इनके सहायक रहते थे। दीन बंधु मित्र ने अपने नाटक नील दर्पण (1858-59) में नील की खेती करने वाले किसानों की दयनीय दशा का मार्मिक चित्रण किया था। 1917 में गांधीजी ने नील की खेती करने वाले चम्पारन के किसानों के हितों की रक्षार्थ आन्दोलन का नेतृत्व किया। और 'चम्पारन एग्रेरियन बिल' पारित कराने में सफलता प्राप्त की।

ठग वंश परम्परागत लुटेरे एवं हत्यारे थे। ठग भारत के एक बड़े भाग में फैले थे। इन्हें स्थानीय शासकों व ज़मींदारों का संरक्षण प्राप्त था। ठग मां काली के भक्त थे। लॉर्ड विलियम बेंटिंग के शासन काल में ठगों का उन्मूलन करने का निश्चय किया गया। कर्नल स्लीमन ठगों के दमन का महानायक था। ठगों का दमन कर अंग्रेजों ने शान्ति-व्यवस्था स्थापित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की।

भारत में दत्तक पुत्र को एक औरस सन्तान के सभी वैधानिक, सामाजिक व धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में साम्राज्य विस्तार के लिए व्यपगत का सिद्धान्त अपनाया। डलहौज़ी से पूर्व भी अनेक राज्यों का इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अधिग्रहण किया गया। डलहौज़ी के शासनकाल में इस नीति के अन्तर्गत सतारा, सम्भलपुर, जैतपुर, बघात, छोटा

उदयपुर, झांसी और नागपुर का अधिग्रहण किया। 1858 में महारानी के घोषणा पत्र में व्यपगत के सिद्धान्त को रद्द कर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में कम्पनी की सरकार द्वारा 'अधोमुखी निःस्युन्दन का सिद्धान्त' अपनाया गया जिसका अर्थ था - शिक्षा समाज के उच्च वर्ग को दी जाए और इस वर्ग के माध्यम से शिक्षा छन-छन कर जनसाधारण तक पहुंचे। लॉर्ड मैकॉले तथा लॉर्ड ऑकलैंड ने इसी नीति का पालन करते हुए कुछ चुने हुए भारतीयों को ही अंग्रेजी शिक्षा उपलब्ध कराए जाने की सिफारिश की थी। 19 वीं शताब्दी के आठवें दशक के प्रारम्भ तक ब्रिटिश भारत में सरकार द्वारा शिक्षा प्रसार का कोई स्पष्ट दायित्व नहीं लिया गया।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

मवेशी - जानवर

पुश्तैनी - वंशानुगत

बंधुआ - अनुबन्धित

रक्तबीज - एक वरदान प्राप्त राक्षस, जिसका जितनी बूंद भी रक्त धरती पर गिरता था, उतने ही और रक्तबीज उत्पन्न हो जाते थे।

निःस्युन्दन - छन्नीकरण

3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 3.3.2 ब्लैक होल

2. देखिए 3.3.6 निलहे

3. देखिए 3.3.8 गोद प्रथा

3.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

नायक, जे0 पी0, नूरुल्ला, एस0 - ए स्टूडेन्ट्स हिस्ट्री ऑफ़ एजुकेशन इन इण्डिया 1800-1973, 1992, मद्रास

मुकर्जी, एन0 - दि रैयतवारी सिस्टम इन मैड्रास, 1797-1827, कलकत्ता, 1962

देसाई, ए0 आर0 (सम्पादक) - पीजेन्ट स्ट्रगल्स इन इण्डिया, बम्बई, 1979

स्ट्रोकस, ई0 - दि इंग्लिश यूटिलिटेरियन्स इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड, 1959

3.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

गोपाल, राम - ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, बम्बई, 1963

दत्त, के0 के0 - बैंगाल सूबा, कलकत्ता, 1936

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में भू-स्वामियों तथा महाजनों की भूमिका का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

पुनर्जागरण, अंधविश्वास, थियोसोफ़िस्ट, शुद्धि आन्दोलन, देवदासी, वुड्स डिस्पैच, सिविल सेवा, गवर्नर जनरल

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 उद्देश्य
- 4.3 पुनर्जागरण, अंधविश्वास, थियोसोफ़िस्ट, शुद्धि आन्दोलन, देवदासी, वुड्स डिस्पैच, सिविल सेवा तथा गवर्नर जनरल
 - 4.3.1 पुनर्जागरण
 - 4.3.2 अंधविश्वास
 - 4.3.3 थियोसोफ़िस्ट
 - 4.3.4 शुद्धि आन्दोलन
 - 4.3.5 देवदासी
 - 4.3.6 वुड्स डिस्पैच
 - 4.3.7 सिविल सेवा
 - 4.3.8 गवर्नर जनरल
- 4.4 सारांश
- 4.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 4.7 संदर्भ ग्रंथ सूची
- 4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
- 4.9 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

यूरोपीय पुनर्जागरण ने विश्व को और भारतीय पुनर्जागरण ने भारत को आधुनिक युग की प्रगतिशील धारा में प्रविष्ट कराया। अंधविश्वास का मूल कारण मनुष्य का अज्ञान है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय सुधारकों ने धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में व्याप्त अंधविश्वासों के उन्मूलन हेतु यार्थक प्रयास किए। थियोसोफ़िस्ट रहस्यवादी विचारधारा में आस्था रखता है। श्रीमती एनीबीसेन्ट ने थियोसोफ़िकल सोसायटी के माध्यम से भारतीय पुनरुत्थानवादी आन्दोलन को सशक्त बनाया। हिन्दू पुनरुत्थान के पक्षधर आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन द्वारा धर्मपरिवर्तन करने वालों की हिन्दू समाज में प्रविष्टि को सम्भव बनाया। प्राचीन काल से चली आ रही देवदासी प्रथा धार्मिक विकृति और नारी के शोषण का उदाहरण थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से सुधारकों द्वारा इस कुप्रथा के उन्मूलन हेतु प्रयास किए गए। भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति का दूसरा महत्वपूर्ण चरण वुड्स डिस्पैच था। इसमें निस्युन्दन सिद्धान्त के स्थान पर जन-साधारण में शिक्षा प्रसार की नीति अपनाई गई थी। इण्डियन सिविल सर्विस ब्रिटिश भारतीय शासन-तन्त्र का एक प्रमुख आधार थी। इसके सदस्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के रक्षक थे। 1773 से लेकर 1833 तक बंगाल का गवर्नर जनरल और 1833 से 1950 तक भारत का गवर्नर जनरल भारत का सर्वोच्च प्रशासक रहा। 1858 से यह ब्रिटिश ताज के प्रतिनिधि के रूप में वाइसराय भी कहलाया। इस इकाई में आप पुनर्जागरण, अंधविश्वास, थियोसोफ़िस्ट, शुद्धि आन्दोलन, देवदासी, वुड्स डिस्पैच, सिविल सेवा तथा गवर्नर जनरल के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको भारतीय पुनर्जागरण, पुनरुत्थानवादी आन्दोलन, ब्रिटिश प्रशासन तथा ब्रिटिश शिक्षा नीति के महत्वपूर्ण अंगों से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

- 1- भारतीय पुनर्जागरण तथा इसी के अन्तर्गत अंधविश्वास तथा देवदासी प्रथा के उन्मूलन के विषय में।
- 2- पुनरुत्थानवादी आन्दोलन के अन्तर्गत शुद्धि आन्दोलन तथा भारत में थियोसोफ़िकल सोसायटी के क्रियाकलाप के विषय में।
- 3- ब्रिटिश प्रशासन के महत्वपूर्ण अंग सिविल सेवा तथा गवर्नर जनरल के विषय में।
- 4- ब्रिटिश शिक्षा नीति के दूसरे महत्वपूर्ण चरण चार्ल्स वुड डिस्पैच के विषय में।

4.3 पुनर्जागरण, अंधविश्वास, थियोसोफिस्ट, शुद्धि आन्दोलन, देवदासी, वुड्स डिस्पैच, सिविल सेवा तथा गवर्नर जनरल

4.3.1 पुनर्जागरण

पुनर्जागरण का शाब्दिक अर्थ है फिर से जागना। ऐतिहासिक सन्दर्भ में 14 वीं शताब्दी से 17 वीं शताब्दी के दौरान यूरोप में विकसित सांस्कृतिक आन्दोलन को हम पुनर्जागरण कहते हैं। यूरोपीय पुर्जागरण का सूत्रधार पेटार्क माना जाता है। पुनर्जागरण में विज्ञान, कला, शिक्षा तथा राजनीति के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। सन् 1453 में कुन्सतुनतुनिया (कॉन्सटैन्टिनोपल) के पतन के बाद ग्रीक विद्वानों ने प्राचीन ग्रीक तथा लैटिन ग्रंथों से शेष यूरोपवासियों को परिचित कराया और इसके फलस्वरूप यूरोप ने मध्यकाल की पिछड़ी परम्परावादी मानसिकता व अकर्मण्यता से उबर कर एक बौद्धिक युग में प्रवेश किया। विज्ञान, तकनीक, साहित्य, कला आदि सभी क्षेत्रों में अभिनव प्रयोग करने की प्रवृत्ति अब प्रबल हो गई थी। राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रवादी विचारधारा के विकास के साथ राष्ट्रीय राज्यों का उदय हुआ और लोकतान्त्रिक मूल्यों की स्थापना का शुभारम्भ हुआ। इस प्रकार पुनर्जागरण ने यूरोप को आधुनिक युग में प्रविष्ट कराया।

भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण अथवा नवजागरण 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक, साहित्यिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जागृति के रूप में अभिव्यक्त हुआ। भारतीय पुनर्जागरण अथवा नवजागरण का अग्रदूत हम राजा राममोहन राय को मान सकते हैं।

राजा राममोहन राय ने परम्परा के नाम पर अंधविश्वास, धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक, सामाजिक व लैंगिक असमानता, अनुपयोगी शिक्षा-पद्धति तथा शासन के दमनकारी व शोषक स्वरूप को अस्वीकार किया। उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में कृषि, उद्योग व व्यापार में हुई प्रगति को भारत में अपनाए जाने पर बल दिया। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की महत्ता और जन-जागृति में प्रेस की सृजनात्मक भूमिका समझने वाले वह पहले भारतीय थे।

ईश्वर चन्द्र विद्यासागर भारतीय स्त्रियों के उद्धारक थे। उन्होंने स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। विधवा विवाह को मान्यता दिलाने में उन्हें सफलता मिली। नवजागरण काल में बी० एम० माल्बरी तथा पण्डिता रमा बाई ने स्त्री-समाज से जुड़ी सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के प्रयास किए। दलित समाज के उत्थान के लिए आर्य समाज जैसा पुनरुत्थानवादी आन्दोलन अत्यन्त सजग था। जोतिबा फुले नवजागरण काल में दलित चेतना के अग्रदूत थे। सर सैयद अहमद तथा उनके सहयोगी अल्ताफ़ हुसेन हाली ने मुसलमानों को नवजागरण की प्रगतिशील विचारधारा को अपनाने की प्रेरणा दी। दादा भाई नौरोजी तथा उनके साथियों ने रहनुमाई मजदेआसन सभा के माध्यम से पारसी समाज में जागृति के प्रयास किए। नामधारी व

निरंकारी आन्दोलनों ने सिक्ख समाज में फैली धार्मिक, सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन पर बल दिया।

नवजागरण काल में परम्परागत धार्मिक शिक्षा के स्थान पर धर्म-निर्पेक्ष आधुनिक शिक्षा को महत्ता दी गई। साहित्य, भाषा, कला, अर्थ शास्त्र, इतिहास, कानून की शिक्षा के साथ तकनीकी और वैज्ञानिक शिक्षा को भी महत्व दिया गया।

नवजागरण काल में साहित्य को दरबार से निकाल कर जन-साधारण तक पहुंचाया गया। भारतीय भाषाओं का विकास कर उनमें उपयोगी मौलिक एवं अनुवादित ग्रंथों की रचना की गई। इस काल में सामाजिक परिष्कार, आर्थिक व राजनीतिक जागृति के प्रति समर्पित पत्रकारिता का विकास हुआ।

नवजागरण काल में दादा भाई नौरोजी के नेतृत्व में आर्थिक राष्ट्रवाद के विकास ने जहां एक ओर औपनिवेशिक शासन की शोषक नीतियों का पर्दाफाश किया वहीं दूसरी ओर इसने भारतीयों को आर्थिक आत्म-निर्भरता व स्वदेशी की महत्ता का पाठ पढ़ाया।

नवजागरण काल में भारतीयों ने अपनी हीन भावना का परित्याग कर आत्म-गौरव तथा आत्म-विश्वास का विकास किया। नवजागरण ने भारत में राजनीतिक चेतना का प्रसार किया। नागरिक अधिकार, लोक-कल्याणकारी शासन, शासन में भारतीयों की हिस्सेदारी, मताधिकार और अन्ततः उत्तरदायी सरकार की स्थापना की मांगों ने भारतीयों को पहले सरकार का सलाहकार, फिर आलोचक और बाद में विरोधी बना दिया। भारतीय नवजागरण ने भारत को सर्वतोमुखी प्रगति की ओर अग्रसर किया।

4.3.2 अंधविश्वास

अलौकिक चमत्कारी शक्तियों में बुद्धि, विवेक और तर्क से परे अटूट विश्वास रखने की प्रवृत्ति के लिए निन्दात्मक शब्द 'अंधविश्वास' का प्रयोग किया जाता है। ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र, प्रेत-विद्या, जादू, टौना, गण्डा, ताबीज़, मन्त्र, बलि प्रथा, काला जादू, मूठ, शुभ-अशुभ का भेद, शगुन, असगुन आदि अनगिनत अंधविश्वास मानव जीवन को प्रभावित करते आए हैं। सभी धार्मिक व सामाजिक कुरीतियों के पीछे भी कोई न कोई अंधविश्वास जुड़ा रहता है।

सभी क्षेत्रों के सभी धर्मावलम्बियों, सम्प्रदायों और समुदायों में अनादिकाल से अंधविश्वासों का प्रभुत्व रहा है। मनुष्य के अज्ञान अथवा सीमित ज्ञान ने हर घटना के पीछे उसके कारणों को समझ पाने में उसे असमर्थ बना दिया और कुटिल एवं धूर्त व्यक्तियों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए इनके कारणों की व्याख्या करने के लिए चमत्कार व अलौकिक शक्तियों का आश्रय लेकर उसे पथभ्रष्ट किया। ईसाई धर्म में धन प्राप्त कर धर्म पुरोहित पाप-मुक्ति तथा स्वर्ग जाने हेतु अधिकार

पत्र निर्गत करते थे। हिन्दुओं में यह मान्यता थी कि श्राद्ध के दिनों में पण्डितों को दिया गया दान और कौओं को खिलाए गए पकवान पुरखों तक पहुंच जाते हैं।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व धार्मिक और सामाजिक अंधविश्वासों के विरुद्ध विश्व-व्यापी आन्दोलन हुआ। पन्द्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में हुए बौद्धिक जागरण में हर बात को बुद्धि और विवेक की कसौटी पर परखने पर बल दिया गया। कबीर, मार्टिन लूथर, कोपरनिकस, गैलीलियो आदि ने पूर्व निश्चित धारणाओं व परम्पराओं के विरुद्ध आवाज़ उठाई।

भारत में धर्म, आस्था और परम्परा के नाम पर पुरोहित, मौलवी, ओझा, ज्योतिषी, सयाने, फ़कीर, दरवेश, कापालिक, अघोरी आदि भोली जनता का आर्थिक दोहन तो कर ही रहे थे, साथ ही उसे दिग्भ्रमित कर दलितों, निरीह कन्याओं और स्त्रियों का हर सम्भव शोषण भी कर रहे थे। कन्या का यदि कौमार्यावस्था में ही विवाह न किया जाए तो उसके माता-पिता व भाई-बंधु नरक जाते हैं, मृत पति की चिता में उसके साथ सह-मरण करने से स्त्री व उसके परिवार-जनों का लोक-परलोक सुधर जाता है, विधवा स्त्री यदि केश-मुण्डन न कराए तो उसके बाल उसके मृत पति को स्वर्ग लोक से जाने से रोकने में बन्धन का काम करते हैं, आदि अंधविश्वासों ने धर्म को विकृत कर दिया था। भारत में यह सब कुछ तब घट रहा था जब पाश्चात्य जगत में वैचारिक क्रान्ति आ चुकी थी और हर बात को बुद्धि तथा विवेक की कसौटी पर परखा जा रहा था।

19 वीं शताब्दी में सती प्रथा, नर बलि, कुलीन प्रथा, बालिका-वध, बाल-विवाह, चरक पूजा, दरगाहों में जाकर मन्त मांगना आदि आम बात हो गई थी। ठग खुद को मां काली की सन्तान बताकर और जनता के अंधविश्वास का लाभ उठाकर निडर होकर अपनी आपराधिक गतिविधियां करते रहते थे। तन्त्र, मन्त्र और काले जादू को भी अब धर्म में स्थान मिल चुका था। ओझाओं तथा कलन्दरों और फ़कीरों का भी सामाजिक प्रभुत्व स्थापित हो चुका था।

भारतीय पुनर्जागरण काल में सुधारकों, ईसाई मिशनरियों तथा उदार ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीयों में फैले अंधविश्वासों के विरुद्ध अभियान छेड़ा। शिक्षा-प्रसार को अंध-विश्वास उन्मूलन के लिए आवश्यक शर्त माना गया और धार्मिक विकृतियों को दूर कर धर्म के विशुद्ध रूप को पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, जोतिबा फुले, पण्डिता रमा बाई, सैयद अहमद खान आदि ने अंधविश्वास के विरुद्ध वातावरण विकसित किया। सैयद अहमद खान के सहयोगी अलताफ़ हुसेन हाली ने अपनी पुस्तक मजालिस-उन-निसा में समाज में, विशेषकर स्त्री समाज में प्रचलित अंधविश्वासों पर विस्तृत चर्चा की है।

लॉर्ड विलियम बेंटिंग ने सती प्रथा को एक अपराध घोषित करा दिया और नर बलि पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

शिक्षा-प्रसार व धार्मिक-सामाजिक जागृति के साथ अंधविश्वास का प्रभुत्व कम अवश्य हुआ है किन्तु आज भी समाज के हर वर्ग में अंधविश्वास किसी न किसी रूप में विद्यमान है। शिक्षित व तथाकथित जागरूक भी बिल्ली द्वारा रास्ता काटने को अनदेखा नहीं कर पाते, शनिवार को शनि महाराज के नाम पर दान देते हुए कितने लोग मिल जाते हैं, कितनी ही मांओं को अपने बच्चे की नजर उतारते हुए और कितने ही मुरीदों को दरगाहों पर मन्नत मांगते हुए देखा जा सकता है। आज भी ज्योतिषी, ओझा, फ़कीर, तान्त्रिक, स्वयं-भू भगवान आदि अपने चमत्कारों और अपनी करामातों का ढोल पीटकर हमारे अंधविश्वास की आंच में अपनी रोटियां सेक रहे हैं। अंधविश्वास का उन्मूलन हमारी प्रगति के लिए नितान्त आवश्यक है और इसके लिए अनवरत रूप से सामाजिक जागृति हेतु व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रयास किए जाने की आवश्यकता है।

4.3.3 थियोसोफ़िस्ट

‘थियोसोफ़ी’ शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द ‘थियोसोफ़िया’ से हुई है जिसका कि शाब्दिक अर्थ है - दिव्य ज्ञान। एक थियोसोफ़िस्ट, साधना, ध्यान, दिव्य-अनुभूतियों तथा ज्ञान के माध्यम से प्रकृति एवं परम सत्ता के गूढ़ रहस्यों की खोज करता है। थियोसोफ़िस्ट ब्रह्माण्ड के रहस्यों की खोज करता है तथा ब्रह्माण्ड, प्रकृति एवं मनुष्य के मध्य अटूट बन्धन को समझने का प्रयास करता है। थियोसोफ़िस्ट का परम लक्ष्य ज्ञानोदय (परम सत्ता का ज्ञान) तथा मोक्ष है। थियोसोफ़िकल विचारधारा में प्राचीन यूनान, प्राचीन मिस्र, यहूदी, नव-अफ़लातूनी, इस्लाम के अन्तर्गत सूफ़ी तथा भारतीय रहस्यवाद का समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

17 वीं शताब्दी में जैकब बोर्मे ने थियोसोफ़ी को दिव्य-ज्ञानबोध के रूप में परिभाषित किया। 18 वीं शताब्दी में जॉन जैकब ब्रुकर की 1741 में रचित पुस्तक हिस्टोरिया क्रिटिका फ़िलोसोफ़िया में थियोसोफ़िकल विचारधारा पर प्रकाश डाला गया। जर्मन दार्शनिक सैमुअल रिक्टर ने इस विचारधारा को समृद्ध बनाने में अपना योगदान दिया। थियोसोफ़िकल सोसायटी की स्थापना अमेरिका में, 1875 में, मैडम हेलेना ब्लैवेट्सकी, कर्नल ऑलकॉट तथा विलियम क्वान जज द्वारा की गई। इसके तीन प्रमुख लक्ष्य थे -

1. विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास करना।
2. प्राच्य धर्म, प्राच्य दर्शन और विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहित करना।
3. प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना तथा मनुष्य में निहित दैविक शक्ति का विकास करना।

थियोसोफिकल सोसायटी की विचारधारा वेदो, उपनिषदों तथा बौद्ध साहित्य से विशेष रूप से प्रभावित थी। वसुधैव कुटुम्बकम् तथा सर्वेश्वरवाद की अवधारणा इसने भारतीय दर्शन से ही ग्रहण की थी। थियोसोफिकल सोसायटी सभी धर्मों में एक ही परम सत्य के दर्शन करती थी। थियोसोफिकल सोसायटी ने हिन्दू धर्म की प्रचलित मान्यताओं को अंगीकार किया। इसने भारतीय स्त्रियों की दशा सुधारने का पक्ष तो लिया किन्तु उन्हें स्वेच्छाचारी पाश्चात्य महिलाओं का अनुकरण करने के स्थान पर सावित्री और सीता को अपना आदर्श बनाने के लिए प्रेरित किया। इसने देवदासी प्रथा जैसी प्राचीन किन्तु निन्दनीय प्रथा को परिष्कृत कर उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास किया।

श्रीमती एनीबीसेन्ट ने 1893 में थियोसोफिकल सोसायटी के अड्यार (मद्रास) केन्द्र की कमान सम्भाली। उनके प्रयास से अनेक प्रभावशाली भारतीय इसके सदस्य बने। प्राचीन हिन्दू धर्म, ब्रह्म विद्या और गुह्य विद्या का उन्होंने प्रचार-प्रसार किया। थियोसोफिकल सोसायटी ने हिन्दुओं को अपने धर्म और अपनी संस्कृति पर गर्व करने का संदेश दिया। श्रीमती एनीबीसेन्ट ने भगवद् गीता का अनुवाद किया और रामायण तथा महाभारत पर संक्षिप्त भाष्य लिखे। थियोसोफिकल सोसायटी ने पाश्चात्य देशों को वेद, उपनिषद, पुराण, बौद्ध दर्शन, रामायण तथा महाभारत से परिचित कराया। श्रीमती बीसेन्ट ने भारतीय दर्शन, नीतिशास्त्र, हिन्दू पूजा-अर्चन विधि, योगशास्त्र, तन्त्र-विद्या, गुरु की महत्ता, आत्मा-परमात्मा के मिलन, पुनर्जन्म, आत्मा के अमरत्व, अवतारवाद तथा बहुदेववाद में अपनी आस्था व्यक्त की। हिन्दुओं की सहिष्णुता की नीति को थियोसोफिस्टों ने समस्त मानवजाति के लिए उपयोगी एवं कल्याणकारी बताया।

4.3.4 शुद्धि आन्दोलन

आर्य समाज ने वैदिक धर्म पर प्रहार करने वालों के प्रति आक्रामक रूप धारण किया। वैदिक धर्म की रक्षा करते हुए उन्होंने मुस्लिम और ईसाई धर्म प्रचारकों की आक्रामकता का उनकी ही शैली में उत्तर दिया। आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन तथा गो-रक्षा आन्दोलन विवादास्पद रहे।

मुसलमानों ने मुस्लिम प्रभुत्व काल में तलवार के बल पर अथवा प्रलोभन देकर अथवा इस्लाम के अन्तर्गत सामाजिक समानता व मुस्लिम-विश्वबंधुत्व का हवाला देकर एक विशाल जनसमूह को इस्लाम कुबूल करने के लिए बाध्य अथवा प्रेरित किया था। ईसाई मिशनरियों ने भी ईसाई शासकों की शह पाकर लाखों हिन्दुओं को सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक व शैक्षिक लाभ का प्रलोभन देकर अथवा ईसाई धर्म की अतिरिजित श्रेष्ठता का हवाला देकर लाखों हिन्दुओं को ईसाई धर्म में दीक्षित किया था। जिन हिन्दुओं ने अपना धर्म परिवर्तित कर लिया था, उनके लिए अपने धर्म में वापस लौटने के सभी मार्ग हिन्दू समाज ने अवरुद्ध कर दिए थे परन्तु दयानन्द सरस्वती ने शुद्धि आन्दोलन के द्वारा ऐसे लोगों के लिए अपनी शुद्धि करा के फिर से हिन्दू बनने का रास्ता साफ़ कर दिया। आर्य समाज द्वारा अपनाई गई इस धार्मिक आक्रामकता का परिणाम

साम्प्रदायिक कटुता में वृद्धि के रूप में दिखाई दिया। परन्तु आर्य समाज को इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि इसने हिन्दुओं में व्याप्त हीनभावना का उन्मूलन करने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की।

शुद्धि आन्दोलन को कट्टरपंथी हिन्दू समाज ने सहज ही स्वीकार नहीं किया। 1910 में शुद्धि सभाओं का गठन किया गया। 1922 में असहयोग आन्दोलन को वापस लिए जाने तथा 1923 में तुर्की में कमालपाशा के नेतृत्व में लोकतन्त्र की स्थापना के बाद भारत में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में एक बार फिर से दरार पड़ने लगी थी। साम्प्रदायिक शक्तियां फिर सर उठाने लगी थीं। आर्य समाज, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा हिन्दू महासभा द्वारा पोषित गो-रक्षा व शुद्धि-संघटन, और कट्टरपंथी मुसलमानों के तब्लीक तथा तन्जीम जैसे प्रतिक्रियावादी आन्दोलनों की लहर ने साम्प्रदायिक दंगों को भड़काने में अहम भूमिका निभाई थी। 1923 से लेकर 1926 तक संयुक्त प्रान्त के पश्चिमी भाग में बड़ी संख्या में मलकाना राजपूतों को पुनः धर्म परिवर्तित कर हिन्दू बनाया गया। शुद्धि सभा के मुख्य संचालक स्वामी श्रद्धानन्द ने मलकाना राजपूतों के शुद्धि द्वारा मुसलमान से फिर हिन्दू धर्म में परिवर्तित होने की घटना को 'पुनर्जागरण की उषा वेला' कहा था। 1926 में की एक धर्मांध मुसलमान ने हत्या कर दी। पंजाब में लाला लाजपत राय ने लाखों मुसलमानों की शुद्धि कराकर उन्हें हिन्दू धर्म में पुनर्प्रविष्ट कराया था।

शुद्धि आन्दोलन पर परवर्ती काल में आर्य समाज का एकाधिकार नहीं रहा और इसका कलेवर सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन से अधिक राजनीतिक आन्दोलन का हो गया।

4.3.5 देवदासी

नृत्य को भारतीय भक्ति परम्परा में सदैव आदरपूर्ण स्थान दिया गया है। प्राचीन काल से ही भारत के मन्दिरों में ईश्वर की आराधना करने में नृत्य एवं गायन की परम्परा रही है। इस परम्परा को स्थायित्व देने के लिए और मन्दिरों में आयोजित कार्यक्रमों की शोभा बढ़ाने के उद्देश्य से देवदासी प्रथा का विकास किया गया था। देवदासी किसी मन्दिर के आराध्यदेव के साथ प्रतीकात्मक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उसके प्रति अपना जीवन समर्पित कर देती थी और नृत्य और संगीत के माध्यम से उसके प्रति अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति करती थी। कालिदास के मेघदूत में उज्जैन के महाकाल मन्दिर में नृत्यांगनाओं द्वारा महाकाल की प्रतिमा के समक्ष नृत्य करने का उल्लेख मिलता है। पुराणों में भी इस प्रथा का उल्लेख मिलता है। 10 वीं शताब्दी तक यह प्रथा भारत के विभिन्न क्षेत्रों के मन्दिरों में पोषित की जाने लगी और धीरे-धीरे मन्दिरों की प्रतिष्ठानुसार देवदासियों की संख्या का निर्धारण होने लगा। दक्षिण में चोल शासकों ने देवदासी प्रथा को प्रोत्साहित किया। वृहदेश्वर मन्दिर में 400 देवदासियां नित्य पूजा-अर्चना के समय तथा विशेष रूप से मन्दिर में आयोजित धार्मिक उत्सवों के समय नृत्य करती थीं।

देवदासियों को कौमार्यावस्था से ही अपने आराध्यदेव के सेवा-कार्य में लगा दिया जाता था। इष्टदेव के साथ उनके प्रतीकात्मक विवाह का एक समारोह किया जाता था। अपने इष्टदेव के सम्मुख नृत्य करने के अतिरिक्त उन्हें मन्दिर से जुड़े अन्य कार्य भी करने पड़ते थे और इसके लिए उन्हें पूजा के विधि-विधान का ज्ञान भी दिया जाता था।

देवदासियों को शास्त्रीय नृत्य का प्रशिक्षण दिया जाता था। तमिलनाडु में सादिर अथवा दासी अट्टम (भरत नाट्य) और उड़ीसा में पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में ओडिसी नृत्य कर देवदासियां मन्दिरों के समारोहों की शोभा बढ़ाती थीं। देवदासियों को मन्दिर में पुजारी के बाद सबसे अधिक महत्व दिया जाता था। राज परिवारों का संरक्षण मिलने के कारण समाज में भी इनका मान था। भगवान से इनका विवाह कर दिए जाने के कारण इन्हें नित्य सुमंगली अर्थात् चिर-सुहागिनी कहा जाता था। चैतन्य महाप्रभु ने देवदासियों को जयदेव के गीत गोविन्द के पदों पर नृत्य करने की प्रेरणा दी थी।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में देवदासियों के अलग-अलग नाम थे। इन्हें वेंकटसनी, नैली, मुरली, थेरादियान, येल्लम्मा, महरी, जोगिनी आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था।

वास्तव में देवदासी प्रथा धर्म के विकृत रूप और धर्म के नाम पर स्त्री के यौन-शोषण का एक जीवन्त उदाहरण था। देवदासियां नित्य ही राज-परिवारों के अथवा धर्म-पुरोहितों के अथवा समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त परिवारों के पुरुषों की वासना का शिकार होती थीं। इस अनाचार से उत्पन्न उनकी पुत्रियां भी देवदासियां बना दी जाती थीं और उनके पुत्र मन्दिर से जुड़े कामों में लगा दिए जाते थे। इन देवदासियों की वृद्धावस्था प्रायः एकाकीपन और अभाव में बीतती थी। देवदासी प्रथा में धर्म और समाज के ठेकेदार एक कन्या को धर्म के नाम पर आजीवन एक बन्दिनी, एक दासी अथवा एक वेश्या का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करते थे। यह कृत्य व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना का हनन था।

ब्रिटिश काल में राज-रजवाड़ों के पतन के बाद देवदासी प्रथा को राजाओं का संरक्षण मिलना बहुत कम हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक इनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। ईसाई मिशनरियों, ब्रिटिश अधिकारियों तथा भारतीय समाज सुधारकों ने देवदासी प्रथा को वेश्यावृत्ति के समतुल्य मानकर इसके उन्मूलन के प्रयास किए। एम० जी० रानाडे, केशव ढोढो कर्वे, मुथु लक्ष्मी रेड्डी, सी० पी० रामस्वामी अय्यर, पेरियार, एस० मुथैया मुदलियार आदि ने उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में इस प्रथा के उन्मूलन हेतु अभियानों का नेतृत्व किया। दि इण्डियन सोशल रिफॉर्मर, लाहौर प्योरिटी सर्वेन्ट, रिफॉर्मिस्ट मूवमेन्ट तथा अबोलिशन मूवमेन्ट की भी इसके विरोध में भूमिका रही। भाग्य रेड्डी वर्मा ने इस प्रथा को निजाम के राज्य में एक अपराध घोषित करवा दिया था। थियोसोफिकल सोसायटी जैसे पुनरुत्थानवादी आन्दोलन ने देवदासी प्रथा में आई विकृतियों को दूर कर इसके शुद्ध रूप को पुनर्जीवित करने का प्रयास

किया था। थियोसोफिस्ट रुक्मिणी अरुण्डेल ने सादिर अथवा दासीअट्टम को भरतनाट्यम नाम दिया और कला के क्षेत्र में सम्मानित स्थान दिलाया। देवदासी प्रथा के पीछे धार्मिक अवनति, अशिक्षा, निर्धनता और अंधविश्वास का हाथ था। प्रायः दलित समाज की असहाय कन्याओं के माता-पिता को धन का तथा सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रलोभन देकर देवदासी बनने के लिए तैयार किया जाता था।

वीरेसालिंगम पांतलु द्वारा स्थापित मैड्रास हिंदू सोशल रिफॉर्म कमेटी ने देवदासी प्रथा का विरोध किया और 1892 में मद्रास के गवर्नर तथा भारत के गवर्नर जनरल से इस प्रथा के उन्मूलन हेतु कानून बनाए जाने की अपील की। 1934 में 'बॉम्बे देवदासी प्रोटेक्शन एक्ट' पारित कर कन्याओं का भगवान को समर्पित किया जाना गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। 1947 में मद्रास में भी इसी प्रकार का कानून बनाया गया। देवदासी के विवाह को मान्यता दी गई तथा उसकी सन्तानों को वैध माना गया। पूर्व देवदासियों के पुनर्वास हेतु सरकार की ओर से तथा सामाजिक संस्थाओं की ओर से प्रयास किए गए। धीरे-धीरे शिक्षा के प्रसार तथा सामाजिक जागृति के कारण इस कुप्रथा का प्रसार कम होता चला गया। 1988 में सम्पूर्ण भारत में देवदासी प्रथा को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

4.3.6 वुड्स डिस्पैच

पश्चिमोत्तर प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर टॉम्सन (1843-1853) ने देशी भाषाओं के माध्यम से प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा दिए जाने के लाभ का प्रत्यक्ष प्रमाण देते हुए 'निस्युन्दन सिद्धान्त' के अन्तर्गत अंग्रेजी शिक्षा का सीमित जनसंख्या तक प्रचार करने की अव्यावहारिकता को गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी तथा कोर्ट ऑफ़ डायरेक्टर्स के समक्ष दर्शाया था। अब शिक्षा के क्षेत्र में विशद सर्वेक्षण की आवश्यकता थी। 1853 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर के नवीनीकरण के समय एक संसदीय समिति नियुक्त की गई। 19 जुलाई, 1854 को ईस्ट ऑफ़ इण्डिया कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' के अध्यक्ष चार्ल्सवुड द्वारा कम्पनी के डायरेक्टरों की ओर से भारत के गवर्नर जनरल को एक खरीता भेजा गया जिसमें भारत में शिक्षा-प्रसार के उद्देश्य तथा शिक्षा-सुधार की योजनाओं की विस्तृत चर्चा की गई थी। इस खरीते को 'चार्ल्सवुड डिस्पैच' के नाम से जाना जाता है।

शिक्षा के उद्देश्य के विषय में इस डिस्पैच में कहा गया -

'यह हमारे पुनीत कर्तव्यों में से एक है कि हम अपनी सामर्थ्य भर भारत के मूल निवासियों को शिक्षा के नैतिक व मौलिक वरदान से लाभान्वित होने का अवसर प्रदान करें।'

मैकॉले के विचारों को दोहराते हुए इस डिस्पैच में यह आशा व्यक्त की गई कि इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करके भारतीयों का एक ऐसा विश्वस्त वर्ग विकसित होगा जिसकी निष्ठा पर सन्देह किए बिना उसे सरकारी नौकरियों में रखा जा सकेगा।

शिक्षित भारतीयों में पाश्चात्य माल की अच्छी खपत की सम्भावना की दृष्टि से भारत में शिक्षा प्रसार को ब्रिटिश उद्योग एवं व्यापार के लिए भी लाभकारी बताया गया। पौराणिक ज्ञान की तुलना में पाश्चात्य ज्ञान की श्रेष्ठता व उपयोगिता के विषय में इस डिस्पैच में व्यक्त विचार भी मैकॉले के विचारों की प्रतिध्वनि हैं किन्तु इसमें संस्कृत, फ़ारसी, अरबी जैसी शास्त्रीय भाषाओं की ऐतिहासिक व कानूनी दृष्टि से भारत में उपयोगिता तथा क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा-प्रसार की व्यावहारिकता को भी स्वीकार किया गया।

1. इस डिस्पैच के अन्तर्गत बंगाल, मद्रास, बम्बई, पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा पंजाब में लोक शिक्षा निदेशक (डायरेक्टर ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन्स) के आधीन शिक्षा विभागों की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया।
2. दूसरा प्रस्ताव भारत में लन्दन विश्वविद्यालय के नमूने पर कलकत्ता, बम्बई व मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना करने के विषय में था।
3. तीसरा प्रस्ताव क्रमबद्ध (ग्रेडेड) स्कूलों और विद्यालयों का भारत में जाल बिछाने के सम्बन्ध में था। इसमें सबसे नीचे प्राथमिक स्कूल, मिडिल स्कूल, हाईस्कूल तथा सबसे ऊपर विश्वविद्यालय आते थे।

इस डिस्पैच में 'निस्युन्दन सिद्धान्त' की सीमित उपयोगिता के परिप्रक्ष्य में उसका परित्याग कर जन-साधारण तक व्यावहारिक शिक्षा के प्रसार की नीति अपनाए जाने की सिफ़ारिश की गई। शिक्षा प्रसार हेतु सरकार के पास सीमित संसाधन को देखते हुए सहायता-अनुदान (ग्रान्ट्स-इन-एड) का सुझाव दिया गया। भारतीयों तथा ईसाई मिशनरियों द्वारा निजी प्रयासों से स्कूल, कॉलेजों, पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं आदि की स्थापना किए जाने को इसने प्रोत्साहन दिया। मेधावी छात्र-छात्राओं को छात्रवृत्ति दिए जाने का भी प्रस्ताव रखा गया। अध्यापकों के प्रशिक्षण हेतु प्रत्येक प्रान्त में प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना का भी प्रस्ताव रखा गया। स्त्री-शिक्षा के प्रसार को भी महत्व दिया गया। विभिन्न विषयों पर अंग्रेज़ी भाषा की उपयोगी पुस्तकों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद हेतु अनुवादकों को पुरस्कार दिए जाने की सिफ़ारिश की गई। व्यावसायिक शिक्षा के विस्तार हेतु स्कूल व कॉलेजों की स्थापना की भी संस्तुति की गई।

वुड्स डिस्पैच को 'भारतीय शिक्षा के इतिहास का मैग्नाकार्टा' (भारतीय इतिहास में मील का पत्थर) कहना ब्रिटिश भारतीय शासकों की अनुचित गर्वोक्ति थी। यह सही है कि इस डिस्पैच में

ब्रिटिश शासन में भारतीय शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्तों की व्याख्या की गई थी और भविष्य के लिए शिक्षा-नीति का निर्धारण किया गया था किन्तु इसमें सरकार ने सार्वजनिक शिक्षा प्रसार का दायित्व स्वीकार नहीं किया था। इस डिस्पैच में भारत के औद्योगिक विकास हेतु समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं की गई थी अपितु यह अपेक्षा की गई थी। वुड्स डिस्पैच में प्राथमिक शिक्षा के विकास पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया। **1882** के हन्टर आयोग ने यह सुझाया था कि कम से कम प्राथमिक शिक्षा तक के विकास का दायित्व सरकार निजी प्रयासों के स्थान पर स्वयं लेना स्वीकार करे।

4.3.7 सिविल सेवा

ब्रिटिश प्रशासन के तीन प्रमुख स्तम्भ थे- इण्डियन सिविल सर्विस, भारतीय सेना तथा पुलिस। इनके दायित्व क्रमशः प्रशासन चलाना, रक्षा करना तथा शांति व्यवस्था बनाए रखना था। भारतीय नागरिक सेवा को वह फ़ौलादी ढांचा माना जाता है जिसने कि भारत में ब्रिटिश शासन को आगे बढ़ाया और सुदृढ़ किया। ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के कारण भारतीय प्रशासनिक सेवा के गठन की आवश्यकता पड़ी थी।

पहले कम्पनी के कर्मचारी निजी व्यापार करने के साथ प्रशासनिक दायित्व भी निभाते थे। लॉर्ड कार्नवालिस ने अधिकारियों के निजी व्यापार पर रोक लगाई। उसी ने इण्डियन सिविल सर्विसेज़ का गठन किया। **1800** में कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से प्रशासनिक अधिकारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। **1853** के चार्टर एक्ट के द्वारा इन सेवाओं के चयन के लिए प्रतियोगिता परीक्षा प्रारम्भ की गई और इन में भारतीयों के प्रवेश की व्यवस्था की गई परन्तु परीक्षा अंग्रेज़ी में और केवल इंग्लैण्ड में आयोजित किए जाने के कारण यह आम भारतीयों की पहुंच के बाहर रही। भारत में ब्रिटिश नौकरशाही प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों के प्रवेश की विरोधी थी। लॉर्ड लिटन की भी यही विचारधारा थी। वह भारतीयों के लिए उच्च प्रशासनिक सेवाओं के द्वार बन्द करना चाहता था परन्तु ऐसा करना **1858** के महारानी के घोषणापत्र में दिए गए जातीयता, राष्ट्रियता एवं वर्णगत समानता की नीति का खुलेआम विरोध होता। इसलिए उसने भारतीयों के लिए भारतीय नागरिक सेवा में प्रविष्टि के मार्ग में रुकावटें खड़ी करने की नीति अपनाई। **1877** में उसने इण्डियन सिविल सर्विसेज़ में प्रवेश के लिए अभ्यर्थियों की न्यूनतम आयु **21** से घटाकर **19** वर्ष कर दी। स्वाभाविक था कि इस व्यवस्था से इस प्रतियोगिता के लिए उन अभ्यर्थियों की संख्या तो बढ़ गई जिनकी मातृभाषा अंग्रेज़ी थी किन्तु भारतीयों को तो अंग्रेज़ी जैसी विदेशी भाषा में निष्णात होकर प्रतियोगिता में उतरने के लिए वर्षों के अध्ययन की आवश्यकता थी। इसलिए भारतीय सिविल सर्विस की प्रतियोगिता के लिए अभ्यर्थियों की न्यूनतम आयु **21** से घटाकर **19** करने से

भारतीय अभ्यर्थियों के चयन की सम्भावना पहले से भी कम हो गई। भारतीय राजनीतिज्ञों तथा भारतीय प्रेस ने लिटन के इस निर्णय की कटु आलोचना की।

सत्येंद्रनाथ टैगोर, इण्डियन सिविल सर्विस में चुने गए पहले भारतीय थे। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को उनके राजनीतिक विचारों के कारण इण्डियन सिविल सर्विस के लिए अयोग्य ठहरा दिया गया था। इण्डियन सिविल सर्विस में भारतीयों को अत्यधिक सीमित स्थान दिए जाने के दो मुख्य कारण थे -

1. उच्च पदों पर वेतन बहुत अधिक था अतः रंगभेद व जातिभेद में विश्वास करने वाली ब्रिटिश सरकार इनको अंग्रेजों के लिए ही सुरक्षित रखना चाहती थी।
2. अंग्रेजों को भारतीयों की योग्यता, ईमानदारी और स्वामिभक्ति पर पूरा भरोसा नहीं था अतः इतने ज़िम्मेदारी के पदों पर भारतीयों की नियुक्ति करने में उन्हें संकोच था।

नरमपंथियों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के तुरन्त बाद यह मांग रखी कि उच्च सेवाओं का भारतीयकरण किया जाए अर्थात् अधिक से अधिक उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्ति हो और इण्डियन सिविल सर्विस परीक्षा के लिए न्यूनतम आयु में वृद्धि की जाए तथा उसकी परीक्षा को भारत में भी कराया जाए। किन्तु 1947 तक भी इसमें भारतीयों की कुल हिस्सेदारी अंग्रेजों की तुलना में बहुत कम थी। इण्डियन सिविल सर्विस विश्व की सबसे अधिक विकसित और सक्षम प्रशासनिक सेवाओं में एक थी परन्तु राजसी वैभव का जीवन बिताने वाले इसके सदस्य भारतीयों के हितों के प्रति प्रायः उदासीन और राजनीतिक दमन के पक्षधर थे।

4.3.8 गवर्नर जनरल

1773 के रेग्युलेटिंग एक्ट में बंगाल के गवर्नर जनरल को भारत की सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्थापित किया गया और गवर्नर जनरल व गवर्नरों की कार्यकारिणी का गठन हुआ। वारेन हेस्टिंग्स बंगाल का पहला गवर्नर जनरल बनाया गया। इस एक्ट में गवर्नर जनरल की शक्तियां सीमित थीं। उसका अपनी कार्यकारिणी तथा अन्य प्रान्तों की सरकारों पर कोई खास नियन्त्रण नहीं था। 1784 के पिट्स इण्डिया एक्ट तथा 1886 के पूरक एक्ट में गवर्नर जनरल के अधिकारों तथा कर्तव्यों को बढ़ाया गया। 1833 के चार्टर एक्ट में शक्ति का केन्द्रीयकरण करने के उद्देश्य से बंगाल के गवर्नर जनरल को भारत का गवर्नर जनरल बना दिया गया और बम्बई तथा मद्रास की सरकारों से कानून बनाने का अधिकार तक छीन लिया गया और यह दायित्व गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के विधि सदस्य को सौंपा गया। अगस्त, 1858 में भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त कर भारत को ब्रिटिश ताज के अधीन कर दिया गया और गवर्नर जनरल को भारत के सर्वोच्च प्रशासक का कार्य करने के साथ-साथ वाइसराय (ब्रिटिश साम्राज्य का

प्रतिनिधि) की भूमिका निभाने का दायित्व भी सौंप दिया गया। 1861, 1892 तथा 1909 के इण्डियन काउंसिल्स एक्ट में भारतीयों को किंचित राजनीतिक एवं संवैधानिक सुधार दिए जाने के बाद भी भारतीय प्रशासन पर गवर्नर जनरल की पकड़ मज़बूत बनी रही। 1919 के गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट में केन्द्रीय विधान सभा का विस्तार किया गया परन्तु केन्द्रीय विधान मण्डल को गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारी परिषद को संचालित अथवा नियन्त्रित करने का कोई अधिकार नहीं दिया गया। गवर्नर जनरल को महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लेने का अधिकार था और उसकी शक्ति इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री और संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति से भी अधिक थी। 1935 के गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट में केन्द्र में द्वैध शासन की व्यवस्था की गई जिसमें गवर्नर जनरल को रक्षा, विदेश, संचार और धार्मिक मामलों के शासन का दायित्व दिया गया। रिज़र्व बैंक, मुद्रा, भारतीय ऋण, रेलवे बोर्ड, ब्रिटिश भारतीय सेना आदि पर भी केन्द्रीय विधान परिषद का कोई अधिकार नहीं रखा गया। गवर्नर जनरल की सम्मति के बिना कोई वित्तीय बिल केन्द्रीय विधान परिषद में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। गवर्नर जनरल को भारत सचिव की निगरानी में अत्यधिक सर्टिफ़ाइंग शक्तियां दी गईं।

भारत का गवर्नर जनरल मुगल बादशाहों जैसे शाही ठाठबाट का जीवन बिताता था। अपनी गर्मियां वह शिमला के राजमहल में बिताता था। उसके आवागमन के लिए विशेष रेलगाड़ी की व्यवस्था की गई थी। नई दिल्ली में बने वाइसराय रेज़ीडेन्स की भव्यता के सामने लन्दन का बकिंघम पैलेस एक कुटिया सा लगता है।

लॉर्ड माउन्टबैटन परतन्त्र भारत के अन्तिम व स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल थे और सी० राजगोपालाचारी 26 जनवरी, 1950 से पूर्व तक अर्थात् भारत में गणतन्त्र की स्थापना से पूर्व तक भारत के अन्तिम गवर्नर जनरल थे।

अभ्यास प्रश्न

निम्नांकित पर चर्चा कीजिए-

1. अंधविश्वास
2. शुद्धि आन्दोलन
3. सिविल सेवा

4.4 सारांश

14 वीं शताब्दी से 17 वीं शताब्दी के दौरान यूरोप में विकसित सांस्कृतिक आन्दोलन को हम पुनर्जागरण कहते हैं। पुनर्जागरण में विज्ञान, कला, शिक्षा तथा राजनीति के क्षेत्र में

क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण अथवा नवजागरण 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक, साहित्यिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जागृति के रूप में अभिव्यक्त हुआ।

ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र, प्रेत-विद्या, जादू, टौना, गण्डा, ताबीज़, मन्त्र, बलि प्रथा, काला जादू, मूठ, शुभ-अशुभ का भेद, शगुन, असगुन आदि अनगिनत अंधविश्वास मानव जीवन को प्रभावित करते आए हैं। भारतीय पुनर्जागरण काल में सुधारकों, ईसाई मिशनरियों तथा उदार ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीयों में फैले अंधविश्वासों के विरुद्ध अभियान छेड़ा। शिक्षा-प्रसार को अंध-विश्वास उन्मूलन के लिए आवश्यक शर्त माना गया।

थियोसोफिस्ट ब्रह्माण्ड के रहस्यों की खोज करता है तथा ब्रह्माण्ड, प्रकृति एवं मनुष्य के मध्य अटूट बन्धन को समझने का प्रयास करता है। थियोसोफिस्ट का परम लक्ष्य ज्ञानोदय (परम सत्ता का ज्ञान) तथा मोक्ष है। थियोसोफिकल सोसायटी की विचारधारा वेदो, उपनिषदों तथा बौद्ध साहित्य से विशेष रूप से प्रभावित थी। इसने हिन्दुओं को अपने धर्म और अपनी संस्कृति पर गर्व करने का संदेश दिया।

आर्य समाज ने वैदिक धर्म पर प्रहार करने वालों के प्रति आक्रामक रूप धारण किया। जिन हिन्दुओं ने अपना धर्म परिवर्तित कर लिया था, उनके लिए अपने धर्म में वापस लौटने का मार्ग शुद्धि आन्दोलन के द्वारा खोल दिया गया।

देवदासी किसी मन्दिर के आराध्यदेव के साथ प्रतीकात्मक वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उसके प्रति अपना जीवन समर्पित कर देती थी और नृत्य और संगीत के माध्यम से उसके प्रति अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति करती थी। देवदासी प्रथा धर्म के विकृत रूप और धर्म के नाम पर स्त्री के यौन-शोषण का एक जीवन्त उदाहरण था।

ईसाई मिशनरियों, ब्रिटिश अधिकारियों तथा भारतीय समाज सुधारकों ने देवदासी प्रथा को वेश्यावृत्ति के समतुल्य मानकर इसके उन्मूलन के प्रयास किए। 1988 में सम्पूर्ण भारत में देवदासी प्रथा को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

19 जुलाई, 1854 के 'चार्ल्सवुड डिस्पैच' में 'निस्युन्दन सिद्धान्त' की सीमित उपयोगिता के परिप्रक्ष्य में उसका परित्याग कर जन-साधारण तक व्यावहारिक शिक्षा के प्रसार की नीति अपनाए जाने की सिफ़ारिश की गई थी। वुड्स डिस्पैच को 'भारतीय शिक्षा के इतिहास का मैग्नाकार्टा' कहा जाता है।

भारतीय नागरिक सेवा को वह फ़ौलादी ढांचा माना जाता है जिसने कि भारत में ब्रिटिश शासन को आगे बढ़ाया और सुदृढ़ किया। लॉर्ड कार्नवालिस ने इंग्लैंडन सिविल सर्विसेज़ का गठन

क्रिया। इण्डियन सिविल सर्विस में भारतीयों को अत्यधिक सीमित स्थान दिए गए। इसके सदस्य भारतीयों के हितों के प्रति प्रायः उदासीन और राजनीतिक दमन के पक्षधर थे।

1773 के रेग्युलेटिंग एक्ट में बंगाल के गवर्नर जनरल को भारत की सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्थापित किया गया। 1833 के चार्टर एक्ट में शक्ति का केन्द्रीयकरण करने के उद्देश्य से बंगाल के गवर्नर जनरल को भारत का गवर्नर जनरल बना दिया गया। 1858 में भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त कर भारत को ब्रिटिश ताज के अधीन कर दिया गया और गवर्नर जनरल को भारत के सर्वोच्च प्रशासक का कार्य करने के साथ-साथ वाइसराय (ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिनिधि) की भूमिका निभाने का दायित्व भी सौंप दिया गया। सी० राजगोपालाचारी भारत के अन्तिम गवर्नर जनरल थे।

4.5 पारिभाषिक शब्दावली

लोक-कल्याणकारी शासन - जनता के कल्याण के प्रति समर्पित शासन

थियोसोफिस्ट - दिव्य ज्ञान का अन्वेषक

मूठ - अपने शत्रु को हानि पहुंचाने के उद्देश्य से किए जाने वाले काले जादू का एक प्रकार।

सादिर - भरत नाट्यम्

डिस्पैच - खरीता

वाइसराय - ताज का प्रतिनिधि

4.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए 4.3.2 अंधविश्वास।
2. देखिए 4.3.4 शुद्धि आन्दोलन।
3. देखिए 4.3.7 सिविल सेवा।

4.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

मर्सी, विसकाउंट - दि वाइसरायज़ एण्ड गवर्नर जनरलज़ ऑफ़ इण्डिया, 1757-1947, लन्दन, 1949

रॉय, एन० सी० - दि सिविल सर्विस इन इण्डिया, कलकत्ता, 1960

नायक, जे० पी०, नूरुल्ला, एस० - ए स्टूडेन्ट्स हिस्ट्री ऑफ़ एजुकेशन इन इण्डिया 1800-1973, मद्रास, 1992

दत्त, के० के० सोशल हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया, नई दिल्ली, 1975

मजूमदार, आर० सी० (सम्पादक)-ब्रिटिश पैरामाउंट्सी एण्ड इण्डियन रिनेसा, भाग दो, बम्बई, 1965

कुमार, रविन्दर: एसेज इन दि सोशल हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया, दिल्ली, 1983

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

देसाई, नीरा - वोमैन इन मॉडर्न इण्डिया, बम्बई, 1957

रे, भारती (सम्पादक) - एसेज ऑन इण्डियन वीमेन, दिल्ली, 1995

शुक्ल, रामलखन (सम्पादक) - आधुनिक भारत का इतिहास, दिल्ली, 2003

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

भारत के आधुनिकीकरण में भारतीय पुनर्जागरण के योगदान का आकलन कीजिए।

